संस्कृत व्याकरण-दर्शन

संस्कृत व्याकरण-दर्शन

रामसुरेश त्रिपाठी

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-६ पटना-६

मूल्य : रु० ४०.००

प्रथम संस्करण . १९७२

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८ फैज बाजार, दिल्ली-६

मुद्रक · जी० आर० कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा
अजय प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

आवरण : हरिपाल त्यागी

प्राक्कथन

"वाक्यपदीय विशेषतः आख्यातार्थ का अध्ययन" विषय पर एक प्रबन्ध मैंने आगरा विश्वविद्यालय मे १९६५ में प्रस्तुत किया था जो पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। कई वर्षों तक वह प्रबन्ध कई कारणो से अप्रकाशित पड़ा रहा। उसे संस्कृत व्याकरण-दर्शन के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। व्याकरण-दर्शन से सम्बद्ध वाक्य विषयक विचार मूल प्रबन्ध मे नही थे। उनका समावेश यहाँ कर लिया गया है, शेष ग्रन्थ प्रायः अपने मूल रूप मे है।

इस ग्रन्थ मे हरिवृत्ति शब्द से वाक्यपदीय पर स्वयं भर्तृहरि द्वारा लिखी हुई वृत्ति अभिप्रेत है। श्री गगाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड मे श्लोको की सख्या मे व्यतिक्रम है। किन्तु पाठको की सुविधा की दृष्टि से श्लोकों की संख्या जैसे छपी है वैसे ही इस ग्रन्थ मे उद्धृत है। संस्कृत व्याकरण-दर्शन एक दुरूह विषय है। इस पर धीरे-धीरे किसी-किसी तरह से मैं कुछ लिख सका हूँ। यहाँ जो कुछ विचार व्यक्त किये गए हैं वे सब प्राचीन आचार्यों के है। उनके विचारो को ठीक से समझने मे भ्रम हो जाना अस्वाभाविक नही है। इस निवेदन के साथ यह ग्रन्थ विज्ञ पाठको के सामने प्रस्तुत है।

व्याकरण-दर्शन की ओर मेरी रुचि स्वर्गीय गुरुवर पं० अम्बिका प्रसाद उपाध्याय, भूतपूर्व प्रधानाध्यापक, व्याकरण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, की कृपा से हुई थी। अब उनका सादर स्मरण ही संभव है।

मैं राजकमल प्रकाशन के अधिकारियो का अनुगृहीत हूँ जिन्होने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया।

—रामसुरेश त्रिपाठी

अनुक्रम

१

संस्कृत व्याकरणदर्शन की उपलब्ध सामग्री

संस्कृत व्याकरणदर्शन का आरंभ सुदूर प्राचीन काल में हो गया था। व्याकरण की रचना के लिए अनेक पारिभाषिक शब्दो का आश्रय लेना पड़ा। लक्षण बनाए गए। लक्षणों पर विचार आरंभ हुआ। मतभेद सामने आए। दर्शन आरभ हुआ। जिज्ञासा दर्शन है। विचार की प्रक्रिया दर्शन है। गहरा चिंतन, सूक्ष्म विचार और सत्य के प्रति निष्ठा किसी भी विचारधारा को दर्शन का रूप दे देते हैं। इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण का भी एक अपना दर्शन है। इसके बीज वैदिक साहित्य मे मिल जाते है :

> **ओंकारं पृच्छामः को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्यय इति।**[1]

यदि इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया जाए, तो पूरा व्याकरणदर्शन सामने आ जाता है। जब धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात आदि के प्रति जिज्ञासा थी तो इनका समाधान भी किया गया था और इनके विशेषज्ञ आचार्य प्रसिद्ध हो चले थे :

> **आख्यातोपसर्गानुदात्तस्वरितलिङ्गविभक्तिवचनानि च संस्थानाध्यायिन आचार्याः पूर्वे बभूवुः।**[2]

यास्क ने नाम, आख्यात आदि के विवरण प्रस्तुत किए हैं और प्रसंगवश कतिपय पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण की दार्शनिक प्रक्रिया ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व विकसित हो चुकी थी। किन्तु जैसे पाणिनि के पूर्व के व्याकरणो को बहुत ही अल्प सामग्री आज उपलब्ध है वैसे ही पूर्वाचार्यों के व्याकरण सम्बन्धी दार्शनिक विचार भी अल्प ही सुरक्षित रह पाए हैं। जिन आचार्यों के मत उपलब्ध है उनका व्याकरणदर्शन की दृष्टि से सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

जैसे संस्कृत व्याकरण का सुव्यवस्थित रूप पाणिनि से आरभ होता है वैसे ही व्याकरणदर्शन का भी स्पष्ट रूप पाणिनि से आरभ होता है। पाणिनि ने (छठी शताब्दी, ईसवी पूर्व) अष्टाध्यायी की रचना शब्दानुशासन की दृष्टि से की थी किन्तु उन्हें अनेक परिभाषा-सूत्रों की रचना करनी पड़ी। अनेक संज्ञाशब्द बनाने पड़े और पारिभाषिक शब्दों के लक्षण देने पड़े। फलतः व्याकरणदर्शन की एक विस्तृत पृष्ठभूमि पाणिनि ने स्वयं

१. गोपथ ब्राह्मण प्रथम प्रपाठक, १।२४, डॉ० ड्यूके गोर्टर संपादित
२. गोपथ ब्राह्मण प्रथम प्रपाठक, १।२७

तैयार कर दी थी। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त विभाषा, पदविधि, आदेश, विप्रतिषेध, उपमान, लिङ्ग, क्रियातिपत्ति, कालविभाग, वीप्सा, प्रत्ययलक्षण, भावलक्षण, शब्दार्थप्रकृति जैसे सैकड़ों शब्द इस बात के प्रतीक हैं कि वे उन दिनों के दार्शनिक वादों से पूर्णरूप से अवगत थे और स्वयं उच्चकोटि के चिन्तक थे। उनके अनेक सूत्र अपने आप में एक दर्शन हैं जैसे :

स्वतंत्रः कर्ता १।४।५४
तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३
अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५
कर्मणि च येन संस्पर्शात् कर्तुः शरीरसुखम् ३।३।११६
समुच्चये सामान्यवचनस्य ३।४।५
तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९
प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ आदि

वस्तुतः पाणिनि प्रमाणभूत आचार्य हैं। बाद के वैयाकरणों ने व्याकरण से सम्बद्ध जो कुछ विचार व्यक्त किए हैं उनका अनुमोदन वे किसी-न-किसी तरह पाणिनि के सूत्रों से करते हैं। व्याकरणदर्शन से सम्बद्ध भी सभी मत पाणिनि की मान्यताओं से परिपुष्ट किए जाते हैं। किसी प्राचीन आचार्य की उक्ति है कि जो कुछ वृत्ति ग्रन्थों में है, जो कुछ वार्तिकों में है, वह सब सूत्रों मे ही है :

सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।
उदाहरणमन्यस्य प्रत्युदाहरणं पशोः ॥[3]

व्याकरणदर्शन की दृष्टि से भी यह उक्ति दूर तक ठीक है।

व्याडि (पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व)

पाणिनि के समय के आसपास ही व्याडि नाम के आचार्य हुए थे। उन्होने 'संग्रह' नाम का व्याकरणदर्शन का ग्रन्थ लिखा था। भर्तृहरि के आधार पर जान पड़ता है कि वह पाणिनि सम्प्रदाय से सबद्ध ग्रन्थ था।

"संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः। तत्रैकतन्त्रत्वात् व्याडेश्च प्रामाण्यादिहापि सिद्ध-शब्द उपात्तः।"[४]

व्याडि स्वतंत्र विचारक थे। संग्रह मे उन्होंने, भर्तृहरि के कथनानुसार, चतुर्दश सहस्र वस्तुओं पर विचार किया था।[५] संग्रह भर्तृहरि के समय से बहुत पहले ही लुप्त हो चुका था।[६] संग्रह के कुछ उद्धरण भर्तृहरि के ग्रन्थों मे मिल जाते हैं। उनमें भी अधिकांश वाक्यपदीय की भर्तृहरि द्वारा रचित वृत्ति में हैं। जो दो-तीन उद्धरण दूसरे लेखकों द्वारा दिए गए हैं वे भी भर्तृहरि से ही लिए जान पड़ते हैं।[७] पतंजलि ने संग्रह के बारे में कहा

३. द्वादशारनयचक्र की न्यायागमानुसारिणी व्याख्या में उद्धृत, पृ० ५३६
४. महाभाष्य दीपिका, पृ० २३, पूना संस्करण
५. चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रंथे—महाभाष्य दीपिका, पृ० २१
६. संग्रहेऽस्तमुपागते—वाक्यपदीय २।४८४
७. अब तक उपलब्ध संग्रह के सभी उद्धरण इस ग्रंथ में यथास्थान दे दिए गए हैं।

है : शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः ।[८] पतंजलि का शोभना शब्द संग्रह के गौरव को व्यक्त कर देता है।

जो उद्धरण उपलब्ध हैं उनसे ज्ञात पड़ता है कि व्याडि ने संग्रह में प्राकृतध्वनि, वैकृतध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य, अर्थ, मुख्यगौणभाव, संबंध, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय आदि पर विचार किया था। उन्होंने 'दशधा अर्थवत्ता' मानी थी।[९] शब्द के स्वरूप पर मौलिक विचार प्रस्तुत किए थे। शब्द के नित्य और अनित्य स्वरूप पर भी संग्रह में पर्याप्त विवेचन किया गया था और दोनों पक्षों में गुण-दोष के विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया था कि व्याकरण के नियम शब्द के नित्य पक्ष और शब्द के कार्य पक्ष दोनों ही दृष्टि से होने चाहिएँ। उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनकी सर्वाधिक देन निम्न-लिखित मानी जा सकती है :

१. शब्द द्वारा द्रव्य का अभिधान : इस मान्यता के आधार पर भारतीय चिन्तन परम्परा में व्याडि का एक दर्शन ही खडा हो गया। वाजप्यायन ने शब्द द्वारा जाति का अभिधान निश्चित किया था। व्याडि और वाजप्यायन दोनों के दर्शन व्याकरणशास्त्र मे गृहीत हैं। पाणिनि के अनेक सूत्रों की व्याख्या दोनों दर्शनों के आधार पर की जाती है। कात्यायन ने दोनों मतो के विवरण दिए हैं और उन्हीं के आधार पर द्रव्यवाद व्याडि का माना जाता है (द्रव्याभिधानं व्याडिः)।[१०] भर्तृहरि ने भी इसका समर्थन किया है :

   वाजप्यायनस्याकृतिः, व्याडेस्तु द्रव्यम्।[११]

२. अर्थसिद्धान्त : व्याडि ने शब्द और अर्थ मे अर्थ को अधिक महत्त्व दिया है। उनके मत में पद और वाक्य का निर्णय अर्थ द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में, भाषा के स्वरूप और उसके अवयव का निर्णायक वाक्य का अर्थ है :

   न हि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
   पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ।।[१२]

३. अपभ्रंश की प्रकृति शब्द है—शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारः[१३] सम्भवतः अपभ्रंश शब्द का सबसे प्राचीन उल्लेख यही है। व्याडि ने अपभ्रंश की प्रकृति (मूल) संस्कृत को माना है। भर्तृहरि इस मत से पूर्ण रूप में सहमत नहीं हैं। किन्तु अपभ्रंश पर विचार प्रस्तुत करने वाले प्रथम आचार्य व्याडि हैं।

---

८. महाभाष्य २।३।६६, पृ० ४६८, कीलहार्न संस्करण

९. "तदुभयं परिगृह्य दशधा अर्थवत्ता स्वभावभेदिका इति संग्रहे प····।" वाक्यपदीय २।२०७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

१०. महाभाष्य १।२।६४, पृ० २४४

११. महाभाष्य दीपिका, पृ० ११

१२. वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति, पृ० ४२ पर उद्धृत

१३. वाक्यपदीय १।१४८ हरिवृत्ति, पृ० १३४, हेलाराज, संबंध समुद्देश ३०, पृ० १४१, पूना संस्करण

४. सिद्ध शब्द : कात्यायन ने अपने प्रथम वार्तिक का आरंभ सिद्ध शब्द से किया है। इस प्रसंग में पतंजलि ने बताया है कि कात्यायन ने 'सिद्ध' शब्द संग्रह से लिया है। संग्रह में मूल प्रयोग यों था :

किं कार्यः शब्दः, अथ सिद्ध इति।[१४]

पतंजलि के अनुसार सिद्ध शब्द नित्य अर्थ का वाचक है। जो हो, सिद्ध शब्द व्याकरण में एक विशेष अर्थ में स्वीकृत हुआ जिसका ठीक अर्थ बताना कठिन है। उपपत्ति, निष्पत्ति और मंगल तीनों शब्दों के अर्थों को एक में मिला कर जो अर्थ झलकेगा कुछ ऐसा ही अर्थ सिद्ध शब्द का स्वीकृत हुआ और इस शब्द का ग्रंथ के अंत में व्यवहार आरंभ हुआ। पिछले दो हजार वर्ष से संस्कृत व्याकरण के मर्मज्ञ लेखक अपनी कृतियों के अंत में सिद्ध शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं और यह परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। मेरे विचार में इस सिद्ध शब्द का श्रेय व्याडि को है।

कात्यायन *(ईसा पूर्व चौथी शताब्दी)*

पाणिनि के सदृश मेधा रखने वाले कात्यायन का भी योग व्याकरणदर्शन में बहुत अधिक है। व्याकरण के प्रकृत स्वरूप का तो उन्होंने विस्तार किया ही, व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का भी विकास अनुपम रूप से किया। उनका प्रथम वार्तिक 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे…' एक ओर उनके दार्शनिक झुकाव को द्योतित करता है तो दूसरी ओर एक वाक्य में संपूर्ण व्याकरणदर्शन है।

व्याकरणदर्शन का कोई अंग ऐसा नहीं है जिस पर कात्यायन की दृष्टि न गई हो। अपनी व्यापक दृष्टि के कारण उन्होंने सूत्रों की व्याख्या की एक अपूर्व शैली का आश्रय लिया जिसमें केवल उक्त-अनुक्त का ही स्थान नहीं था अपितु व्याख्यान के माध्यम से अनेक न्यायवाक्यों का सर्जन था। आज जिन्हें परिभाषा कहा जाता है और सीरदेव आदि ने जिन्हें परिभाषावृत्ति में परिभाषा रूप में लिख रखा है वे प्रायः सभी कात्यायन की मेधा के परिणाम हैं। उनके वाक्य और उनकी दृष्टियाँ परिभाषा और न्याय का रूप लेती हैं। कात्यायन ने व्याकरणदर्शन को लोकविज्ञान से सम्बद्ध किया। व्याकरणदर्शन अवयवावयवीभाव, अधिकरण आदि की व्याख्या लोकविज्ञान के आधार पर करता है। इनकी व्याख्या दूसरे दर्शनों में अन्य है।

कात्यायन ने उत्सर्ग, अपवाद, विधि, प्रतिषेध, निपातन, स्थानी, आदेश, लिङ्ग, नियम आदि सामान्य—विशेष प्रकारों से अपनी व्याख्यान-पद्धति को दार्शनिक रंग दे दिया है। कैयट ने अनेक स्थलों पर उसका उन्मीलन किया है। विशेषकर जहाँ वार्तिककार और महाभाष्यकार में मतभेद हैं। जैसे :

> भिन्नदेशत्वाद् विरोधाभावादनेकेनापि प्रत्ययेन प्रदीपेनेव घटादेः गार्ग्यायण्यां-इकञीभ्यां स्त्रीत्वस्यैवाज्ञातादेरेकस्यार्थस्य द्योतनमविरुद्धं मन्यमानो वार्तिककारः उत्सर्गप्रतिषेधं शास्ति। भाष्यकारस्तु विरोधमन्तरेणापि सामान्यविशेः

---

१४. संग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितं नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति … किं कार्यः शब्दोऽथ सिद्ध इति—महाभाष्य दीपिका, पृ० २१

बाधकं विशेषविधिमन्यत्रावीहशात्।[१५]

कात्यायन ने अपने वार्तिकों में प्रकृत्यर्थ विशेषणवाद, प्रत्ययार्थ विशेषणवाद, सामानाधिकरण्यवाद, अर्थनियमवाद, प्रकृतिनियमवाद आदि वादों का समावेश किया और पाणिनि के अनेक सूत्रों का इनके आधार पर विवेचन किया।

प्राचीन वैयाकरणों में हेलाराज ने वार्तिकों का विशेष अध्ययन किया था। उन्होंने वार्तिकों पर वार्तिकोन्मेष नामक ग्रन्थ भी लिखा था। वाक्यपदीय के प्रकीर्णक काण्ड की व्याख्या करते समय हेलाराज उन वार्तिकों का उल्लेख करते चलते हैं जिनका आश्रय भर्तृहरि ने लिया है। तृतीय काण्ड का वृत्तिसमुद्देश कात्यायन के कुछ वार्तिकों की व्याख्यामात्र है। हेलाराज ने वार्तिकों के उद्धरण दे-देकर इसे स्पष्ट कर दिया है। इससे बढ़कर कात्यायन की दार्शनिक देन का सूचक और क्या प्रमाण हो सकता है!

संस्कृत व्याकरणदर्शन को, संस्कृत भाषा को, सपूर्ण वाङ्मय को कात्यायन की एक विशेष देन है और वह है उनकी वाक्य की परिभाषा।

पतंजलि (ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी)

पतजलि के महाभाष्य की उपमा सागर से दी जाती है। वह सागर की तरह उत्ताल है। सागर की तरह अगाध है। सागर की तरह रत्न छिपाए है। भर्तृहरि की दृष्टि में पतंजलि तीर्थदर्शी हैं। महाभाष्य, संग्रह का प्रतिकंचुक (प्रतिनिधिकल्प) है और सभी न्यायबीजों का अधिष्ठान है:

> कृतेऽथ पतंजलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना। सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥ 'संग्रहप्रतिकञ्चुके'[१६]

न्यायबीज शब्द पर टिप्पणी करते हुए पुण्यराज ने लिखा है:

> तत्र भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत् सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमिति। अतएव महत् शब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके।[१७]

पुण्यराज ने पुन: लिखा है:

महाभाष्यं हि बहुविधि विद्यावादबलमार्वं व्यवस्थितम्,[१८] अर्थात् महाभाष्य में अनेक विद्यावाद, दर्शनप्रवाद हैं।

जो कुछ वार्तिकों में है वह सब तो महाभाष्य में है ही, बहुत कुछ अन्य भी है। इसलिए महाभाष्य व्याकरण और व्याकरणदर्शन दोनों का आकर ग्रंथ है। महाभाष्यकार की अलग से देन बताना कठिन है। उन्होंने जो कुछ कहा है सूत्रों और वार्तिकों के भाष्य के रूप मे कहा है। जिनके मूल, सूत्र और वार्तिकों मे नहीं हैं वे भाष्यकार की देन माने जा सकते हैं। अथवा जहाँ भाष्यकार का सूत्रकार और वार्तिककार से विरोध है वे सब मौलिक विचार महाभाष्यकार के हैं। प्राचीन टीकाकारों ने ऐसे सब स्थल चुन रखे हैं

१५. महाभाष्य प्रदीप ५।३।७२
१६. वाक्यपदीय २।४८५, ४८८
१७. वाक्यपदीय टीका २।४८५
१८. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४८८

जहाँ वार्तिककार का मत भिन्न है और भाष्यकार का मत भिन्न है। व्याकरणदर्शन की दृष्टि से भी ऐसे स्थलों पर प्राचीन आचार्यों की दृष्टि गई है और भर्तृहरि ने भी अनेक स्थलों पर वार्तिककार के दर्शन, भाष्यकार के दर्शन और सूत्रकार के दर्शन की अलग-अलग चर्चा की है। वस्तुत. सूत्रकार और वार्तिककार आदि के मत भी पतंजलि की व्याख्या के सहारे ही स्वरूप ग्रहण करते हैं। अतः सपूर्ण व्याकरणदर्शन महाभाष्य में जहाँ-तहाँ बिखरा पड़ा है। भर्तृहरि ने उन विचारों को अपने ढंग से एकत्र किया है जो व्याकरणदर्शन के नाम से अलग वस्तु जान पड़ती हैं। इस विषय में अभी भी अवकाश है और महाभाष्य में आए दार्शनिक विचारों का क्रमबद्ध संकलन नवीन रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें सबसे अधिक कठिनाई परस्पर विरोधी मतों के भ्रमजाल में से तथ्य ग्रहण की है। व्याकरण की परम्परा से सर्वथा अवगत, महाभाष्य मे विष्यात हरदत्त मिश्र ने यह घोषणा की थी कि महाभाष्य को संपूर्ण रूप में समझना किसी के लिए दुष्कर है।[१९] आज तो हम केवल उसका दर्शन ही कर पाते हैं। अस्तु, जैसे व्याकरण का वैसे ही व्याकरणदर्शन का भी सर्वस्व महाभाष्य है। माघ ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक को शब्दविद्या का सौन्दर्य कहा है।[२०]

महाभाष्य में वर्ण, शब्द, आकृतिपदार्थ, द्रव्यपदार्थ, गुणपदार्थ, लिङ्ग, वचन, संख्या, वृत्ति, वाक्य, वाक्यार्थ आदि पर पर्याप्त विचार मिलते हैं। यहाँ पतंजलि के कुछ वाक्य लिखे जा रहे हैं जो अपने पीछे एक-एक दर्शन छिपाए हैं और महाभाष्यकार के व्यापक भावभूमि के सकेतक हैं :

> सर्ववेदपारिषदं हि इदम् शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्था शक्य आस्थातुम्
> —महाभाष्य २।१।५८
>
> संस्कृत्य संस्कृत्य पदानि उत्सृज्यन्ते—महाभाष्य १।१।१
>
> प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिम् आश्र-यन्ति—महाभाष्य १।८।५६
>
> न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।९४
>
> इह व्याकरणे य. सर्वाल्पीयान् स्वरव्यवहारः स मात्रया भवति, नार्धमात्रया व्यवहारोऽस्ति। महाभाष्य ८।१।१

वसुरात (लगभग ४०० ईसवी सन्)

वसुरात भर्तृहरि के गुरु थे। विभिन्न दर्शनों के आधार पर व्याकरणदर्शन की व्याख्या उन्होने आरम्भ की थी। उन्ही की प्रेरणा से भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की रचना की थी। वसुरात व्याडि के संग्रह से प्रभावित थे। भर्तृहरि भी थे। इसलिए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय को स्वयं 'आगमसंग्रह' कहा है और उसकी मान्यताओं को अपने गुरु की देन माना है। इस प्रसग मे पुण्यराज ने लिखा है :

> अथ कदाचित् योगतो विचार्य तत्रभवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीत इति स्वरचितस्यास्य ग्रन्थस्य गुरुपूर्वकमभिधातुमाह

१९. तस्य निःशेषतो मन्ये प्रतिपत्तापि दुर्लभः। पदमंजरी, १।१।३, पृ० ४६

२०. शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा—शिशुपालवध, २।११२

न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः ॥[21]

वसुरात के स्वतंत्र मत का उल्लेख मल्लवादिक्षमाश्रमण ने किया है और वसुरात को भर्तृहरि का उपाध्याय बतलाया है। मल्लवादि ने भर्तृहरि के मत से भिन्न रूप में वसुरात के मत का उल्लेख किया है। इससे जान पड़ता है कि वसुरात के कुछ वक्तव्य परंपरया कुछ काल तक सजीव थे। शब्द से अर्थ के प्रत्यायन के सम्बन्ध में और अभिजल्प-दर्शन के सम्बन्ध में वसुरात और भर्तृहरि में, मल्लवादि के अनुसार, कुछ मतभेद था। मल्लवादि ने दोनों की समीक्षा की है :

> ...निमित्तार्थोऽप्यभिजल्पस्य तथा घटते, नान्यथा। अर्थाभिमुख्येन जल्पत्यर्थं शब्दः, तं प्रयुंक्तेऽर्थः अभिजल्पयति तदुभयम् एवाभिजल्प इत्युच्यते। एतदुक्तं भवति अर्थविषयः शब्दः शब्दार्थकल्पनायां युक्ततरः स्यात्, न तु स्वतः परिकल्पिते शब्दप्रेरिते। एवं तावद् भर्तृहर्यादिदर्शनमनुसृतम्। यत्तु वसुरातो भर्तृहरेरुपाध्यायः स च स्वरूपानुगतमर्थमविभागेन सन्निवेशयति। तेन द्वावपि शब्दोऽर्थः स्यातामुपपन्नमिति प्राप्यताद् अत्यन्ताद् अदर्शनाद् तैमिरिकदर्शनमिदं तत्त्वदृष्टिं प्रत्यासीदति। अभिजल्पस्वरूपं तु पुनस्तेनापि निरस्तम्[22]।
>
> —द्वादशारनयचक्र, पृ० ८००-८०१

भर्तृहरि

भर्तृहरि का काल-निर्णय

वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि के समय का ठीक-ठीक निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। कुछ दिनों पूर्व तक भर्तृहरि के समय के बारे में इत्सिंग की उक्ति प्रमाण मानी जाती थी। इत्सिंग ने भर्तृहरि के ग्रन्थों और उनके वैराग्य का उल्लेख करते हुए लिखा है : "वह धर्मपाल का समकालिक था।...उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं।"[23] मृत्यु वाले कथन के आधार पर भर्तृहरि की मृत्यु का समय ६५० ईसवी सन् के आसपास ठहरता है। परन्तु इत्सिंग के अनुसार भर्तृहरि और धर्मपाल समकालिक थे। उसके अनुसार धर्मपाल ने भर्तृहरि के 'पे इन' ग्रन्थ (प्रकीर्णक) पर टीका भी लिखी थी। धर्मपाल की मृत्यु सन् ५७० में हो गई थी।[24] यदि धर्मपाल की समकालिकता वाली इत्सिंग की उक्ति को महत्त्व दिया जाए तो भर्तृहरि का समय ईसवी ५५० के आसपास ठहरता है। इत्सिंग के कथन के आधार पर भी भर्तृहरि के समय में लगभग सौ वर्ष का अन्तर आ जाता है और उनका समय ५५० ईसवी से लेकर ६५० ईसवी के बीच सिद्ध होता है।

---

२१. वाक्यपदीय २।४९०

२२. इस विषय पर शब्दस्वरूप के विचार के अवसर पर इस ग्रंथ में विचार किया गया है

२३ इत्सिंग की भारत यात्रा, सन्तराम बी० ए० द्वारा अनूदित, १९२५; पृष्ठ २७४,२७५

२४. इन्ट्रोडक्शन टु वैशेषिक फिलासफी एकार्डिंग टु दशपदार्थी शास्त्र, द्वारा, एच० यी० १९१७, पृ० १०

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में वार्तांक्ष, औदुम्बरायण, बैजि, सौभव, हर्यक्ष, व्यानग्रहकार[२५] तथा चन्द्राचार्य का उल्लेख किया है।[२६] इनमें चन्द्राचार्य के विषय में राजतरंगिणी में उल्लेख है। भर्तृहरि और कल्हण दोनों ने चन्द्राचार्य को महाभाष्य का उद्धारक माना है।[२७] चन्द्राचार्य कश्मीर-नरेश अभिमन्यु के समकालिक थे। अतः उनका समय ४५ से ६५ ईसवी माना जाता है। भर्तृहरि इसके पहले के नहीं हो सकते। अतएव प्रथम शताब्दी भर्तृहरि के काल-निर्णय की पूर्व-सीमा है।

भर्तृहरि के काल-निर्णय की उत्तर-सीमा निश्चित रूप से ६०० ईसवी है। प्रथम भास्कर द्वारा लिखित आर्यभटीय भाष्य मे निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण वाक्य मिले हैं :

यथा प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारादिभिः उपायैः साधु शब्दः साध्यते, एवमत्रापि। तस्मादुपाया उपेय साधकाः तेषां न नियमः।

उक्तंच—

उपादायापि हेया ये तानुपायान् प्रचक्षते।

उपायानां च नियमो नावश्यमवतिष्ठते॥ इति।

तस्मादुपायमात्रत्वान्नदोषः। —आर्यभटीय भाष्यम्, गी० ३, हस्तलेख पृ० २१[२८]

इस उद्धरण का 'उपादायापि' यह श्लोक वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड का ३८वाँ श्लोक है। सौभाग्यवश प्रथम भास्कर ने अपना समय अंकित कर दिया है :

सर्वेषां कल्पादेर्गत कालात्गणनीयमतो गतिस्तेषां तदानयनमिदानीं कल्पादेरब्द-निरोधादयं अब्दराशिरितीरितः खाग्न्यद्रिरामार्क रस वसुरन्ध्रेन्दवः अहेरपि १९८६१२३७३० अस्मिन् बुधादिपात भगण गुणिते स्वयुगविभक्ते भगणादयः पातभोगा लभ्यन्ते। —आर्यभटीयभाष्यम् गी० ८, हस्तलेख पृ० ३३

गणना करने पर प्रथम भास्कर द्वारा निर्दिष्ट वर्ष ईसवी सन् ६२९ होता है।[२९]

---

२५. वाक्यपदीय २.३४७, २१०, ४८७, ४८६

२६. व्यानग्रहकार का उल्लेख महाभाष्य, त्रिपादी (हस्तलेख पृ० ३६० मद्रास) में भी है

२७. राजतरंगिणी १।१७५

२८. यह हस्तलेख लखनऊ यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी में है

२९. ७२ युग=१ मनु

४३२०००० = १ युग

१०८०००० = १/४ युग = युगपाद

कलियुगारम्भ = ३१७९ वर्ष शकारम्भ से पूर्व

शकारंभ काल में कल्पादि मे गतकाल = ६ मनु + २७ युग + ३ युगपाद + ३१७९

अतः ६ × ७२यु + २७यु = ५२९ युग। ५२९ × ४ = २११६ युगपाद

२११६ युगपाद + ३ युगपाद = २११९ युगपाद कलियुगादि में गतकल्पयुगपाद

२११९ × १०८०००० = १९८६१२०००० कलियुगादि में गतकल्पवर्ष।

१९८६१२०००० + ३१७९ = १९८६१२३१७९ = शकारम्भ काल में कल्पादि से अतीत वर्ष

अतः १९८६१२३१७९ — ७८ = १९८६१२३१०१ ईस्वी सन् के आरम्भ में कल्पादि से गत वर्ष।

१९८६१२३१०१ को प्रथम भास्कर के भाष्य के आरम्भकालिक गत कल्प वर्ष १९८६१२३७३० में से घटाने पर ६२९ ईस्वी सन् होता है। अतः प्रथम भास्कर ने ६२९ ई० में भाष्य लिखा था (उपर्युक्त गणित के लिए मैं अपने मित्र प्रो० श्रीचन्द्र शास्त्री, प्राध्यापक ज्योतिष-विभाग,

प्रथमभास्कर के द्वारा वाक्यपदीय के श्लोक के उद्धृत होने के कारण और प्रथमभास्कर का समय ६२६ ई० निश्चित रूप से ज्ञात होने के कारण भर्तृहरि के समय-निर्णय की उत्तर-सीमा ६०० ई० के आगे नहीं लाई जा सकती। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों में यह प्रमाण सर्वश्रेष्ठ है। निश्चित रूप में भर्तृहरि ६०० ई० के पहले हुए थे। अब यह विचारणीय है कि यह सीमा और कितने पीछे हटाई जा सकती है।

जैनाचार्य मल्लवादि क्षमाश्रमण कृत द्वादशार नयचक्र महाशास्त्र भर्तृहरि के समय पर प्रकाश डालता है। इस ग्रंथ में भर्तृहरि के गुरु वसुरात का उल्लेख है। कई स्थानों पर **"इति भर्तृहर्यादि मतम्, वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यस्य मतं तु"**, **"एवं तावद् भर्तृहरि वर्शनमुक्तम् यस्त् वसुरातो भर्तृहरेरुपाध्याय:"** आदि रूप में भर्तृहरि और उनके गुरु वसुरात के मतों का उल्लेख है। यह ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य के पहले का है। विशेषावश्यक भाष्य की रचना ५०६ ई० में हुई थी।[30] इस दृष्टि से वाक्यपदीय की रचना ४५० ई० के पूर्व हुई होगी।

मल्लवादि की तरह पुण्यराज भी वसुरात को भर्तृहरि के गुरु मानते हैं।[31] चीनी भाषा में अनूदित वसुबन्धु के जीवन-वृत्तान्त से यह पता चलता है कि वसुबन्धु और वसुरात दोनों समकालिक थे और दोनो में शास्त्रार्थ हुआ था। श्री विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार वसुबन्धु का समय ३३७-४१७ ई० है।[32] ह्वेनच्याग और इत्सिंग के अनुसार वसुबन्धु का समय ४०० ई० के आसपास होना चाहिए। इत्सिंग धर्मपाल और धर्मकीर्ति को अर्वाचीन लिखता है और वसुबन्धु और असग को मध्यकालिक।[33] भर्तृहरि के वसुरात के शिष्य होने के कारण उनका समय भी ४२५ ई० के समीप निश्चित होता है।

हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण की टीका में—**अन्येतु शब्द ब्रह्म एवेदं विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया यत इत्याहु:** इस रूप मे वाक्यपदीय की प्रथम कारिका का उद्धरण दिया है। हरिस्वामी ने अपने समय का संकेत किया है .

> **श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशतु: ।**
> **धर्माध्यक्षे हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामति: ।।**
> **यवाब्दानां कलेर्जग्मु: (यदाबीनां कलेर्जग्मु:) सप्तत्रिंशच्छतानि वै ।**
> **चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदाभाष्यमिद कृतम् ।।**

इसके अनुसार हरिस्वामी ने ग्रथ की समाप्ति ३७४० कलि वर्ष मे (तदनुसार ६३९ ई० मे) की थी। परन्तु अवन्ती मे उस समय किसी नृप विक्रम का होना इतिहास से सिद्ध नही है। डा० मगलदेव शास्त्री ने पुलकेशी द्वितीय के पुत्र विक्रम प्रथम के अवन्ति के प्रशासक होने की सम्भावना की है (प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्राजेक्शन्स ऑफ द सिक्स्थ ओरियण्टल

हिन्दू विश्वविद्यालय का आभारी हूँ। —लेखक)

३०. द्रष्टव्य : विशाल भारत जून १९४९ में मुनि जम्बू विजय का लेख

३१. वाक्यपदीय २। ४८६

३२. तत्त्वसंग्रह की भूमिका

३३. इत्सिंग की भारत यात्रा, पृ० २७७

कान्फ्रेन्स, पटना १९३०, पृष्ठ ५९८)। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने षट्त्रिंशत् पाठ अनुकूल माना है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय पञ्चत्रिंशच्छतानि पाठ का अनुमान करते हैं :

"हमारी समझ तो यह आता है कि भ्रम से पञ्चत्रिंशच्छतानि का सप्त त्रिंशच्छतानि हो गया है और चत्वारिंशत्समाश्चान्या. का अर्थ है अन्य संवत् का ४० वर्ष। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का अपना संवत् भी चलता था और अपने वंश का भी। प्रमाण की दृष्टि से उसके मथुरास्तम्भ का यह अभिलेख पर्याप्त है : श्री चन्द्रगुप्तस्य विक्रम. राज्य. संवत्सरे पंचमे ५ कालानुवर्तमान संवत्सरे एकषष्ठे (सेलेक्ट इन्सक्रिप्शंस, पृ० २७०)। यह गणना से ३८० ई० ठहरता है। इस दृष्टि से इस चत्वारिंशत् का मान हुआ (३८०+४०—५) ४१५ ई०, जो इस विक्रमादित्य का अन्तिम वर्ष कहा जा सकता है और सामान्यतः कवि के २५०० वर्ष बीतने का परिचायक है।"

—चन्द्रबली पाण्डेय, कालिदास, पृ० १२, १९५५

परन्तु हरिस्वामी ने "अथवा सूत्राणि यथा विष्णुद्देश इति प्राभाकराः" के रूप में प्रभाकर का भी उल्लेख किया है (युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत व्याकरण का इतिहास, पृष्ठ २४९)। कुमारिल और प्रभाकर के पौर्वापर्य का अभी अन्तिम निर्णय नहीं हुआ है। स्वर्गीय श्री गंगानाथ झा प्रभाकर को कुमारिल के पूर्ववर्ती मानते थे। यदि हरिस्वामी का समय ६३९ ई० भी माना जाए तो भी यह स्मरण रखने की बात है कि हरिस्वामी के गुरु श्री स्कन्दस्वामी ने निरुक्त १।२, पृष्ठ २८ पर अपने भाष्य मे वाक्यपदीय की कारिका 'पूर्वावस्थामजहद्' (साधनसमुद्देश ११६) उद्धृत किया है। अतः इस आधार पर भी वाक्यपदीयकार का समय ५५० ई० के आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

युक्तिदीपिका (सांख्यकारिका की टीका) मे वाक्यपदीय के श्लोक उद्धृत है। इस ग्रंथ में कुमारिल या धर्मकीर्ति का नाम नहीं है। इस ग्रंथ की रचना ५५० ई० के पहले की जान पडती है।[३४]

वाक्यपदीय १/३१ की हरिवृत्ति में निम्नलिखित वक्तव्य है :

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रया बुद्धिवृत्त्या विशिष्टज्ञानस्य प्रवृत्तिराख्यायते।

यह वक्तव्य योगसूत्र भाष्य मे भी २।२० और ४।२२ मे ज्यो-का-त्यों पाया जाता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह वाक्य पचशिख का है। सभव है भर्तृहरि ने भी पचशिख ले लिया हो। फिर भी ऐसे कई उद्धरण हैं, जिनसे यह जान पड़ता है कि योगसूत्र-भाष्यकार वाक्यपदीय से परिचित है और उसकी शब्दावली ले रहे हैं।

योगसूत्रभाष्य २/६ में **भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते** —यह वाक्य मिलता है। वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति मे भी यह वाक्य मिलता है। योगसूत्र ३/१७ के भाष्य के साथ वाक्यपदीय के कई वाक्य और सिद्धान्त मिलते-जुलते हैं। इन्हें आकस्मिक कहकर नहीं टाला जा सकता।

काशिका वृत्ति ४।३।८८ मे वाक्यपदीय का उल्लेख है। काशिका निश्चित-रूप से

३४. हिस्ट्री आफ फिलासफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न भाग १ में सतकरी मुकर्जी का लेख, पृ० २४२

४०० ई० के बाद की और ५५० ई० के पहले की रचना है। काशिका ५।२।१२० में केदार सिक्के का उल्लेख है। केदार नामक सिक्के को केदार संज्ञक कुषाणों ने लगभग तीसरी शताब्दी में चलाया था।[३५] काशिका ३।३।४२ में प्रमाणसमुच्चय का उल्लेख है जो दिङ्नाग का ग्रन्थ है। काशिका ३।१।३८ में 'कल्पनापोढ' शब्द का उल्लेख है। यह शब्द भी दिङ्नाग की प्रत्यक्ष-परिभाषा से लिया गया है। दिङ्नाग का समय ४०० ई० है।

काशिका ६/३/३४ में दृढभक्तिरित्येवमादिषु स्त्रीपूर्वपदस्याविवक्षितत्वात् सिद्धमिति समाधेयम् यह वाक्य है। इसमें रघुवंश १२/१६ के 'दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे' की ओर संकेत जान पड़ता है।

काशिका १/३/२३ मे किरातार्जुनीय ३/१४ का 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' का उल्लेख है। किरातार्जुनीय की रचना ४७५ ई० के पूर्व की है। यह महाराज दुर्विनीत (राज्यकाल ई० ४८२-५२२) की टीका से स्पष्ट है।

काशिका के टीकाकार न्यासकार का उल्लेख भामह (ई० ६००) ने किया है:[३६]

शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन च।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथंचिदुदाहरेत्॥

इस श्लोक में न्यासकार से तात्पर्य जिनेन्द्र बुद्धि से ही है। उसे कोई दूसरा न्यासकार समझना भ्रम है। जिनेन्द्र बुद्धि ने २/२/१६ और ३/२/८७ के न्यास मे तृच के साथ षष्ठी समास का निषेध किया है। इस दृष्टि से काशिका वृत्ति का समय ई० ५०० के बाद नहीं बढ़ाया जा सकता।

बाणभट्ट ने भी काशिकावृत्ति का संकेत किया है[३७] और यह संकेत भी काशिका का समय ५०० ई० के आसपास सिद्ध करता है।

अतः काशिका वृत्ति के आधार पर वाक्यपदीयकार का काल ४५० ईस्वी के पहले सिद्ध होता है।

वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभ के समय के आधार पर भी वाक्यपदीय पाँचवीं शताब्दी अथवा इससे पूर्व की रचना है। वृषभ ने लिखा है कि वह देवयश का पुत्र और विष्णुगुप्त नरेश का भृत्य था :

विमलचरितस्य राज्ञो विदुषः श्री विष्णुगुप्तदेवस्य।
भृत्येन तदनुभावाच्छ्रीदेवयशस्तनूजेन॥
बन्धेन विनोदार्थं श्रीवृषभेण स्फुटाक्षर नाम।
क्रियते पद्धतिरेषा वाक्यपदीयोदधेः सुगमा॥

---

३५. वासुदेवशरण अग्रवाल—'हर्षचरित एक अध्ययन' पृ० ५४

३६. काव्यालंकार ६।३६

३७. वाणस्य चत्वारः पितृव्यपुत्रा भ्रातरः प्रसन्नवृत्तयो गृहीतवाक्याः कृतगुरुपदन्यासा न्यायवादिनः सुकृतसंग्रहाभ्याससुरवो लब्धसाधुशब्दा लोक इव व्याकरणेऽपि...परस्परमुखानि व्यलोकयन्।

—हर्षचरित तृतीय उच्छ्वास, पृ० १३२, बम्बई संस्करण

विष्णुगुप्त का समय ५३५ और ५५० ई० के बीच में माना जाता है।[३८ (अ)] यह विष्णुगुप्त सम्राट नरसिंह गुप्त का पौत्र और कुमारगुप्त तृतीय का पुत्र था। उसकी एक मुद्रा नालन्दा में मिली है। वराहमिहिर (४८७ ई० में जन्म और ५८७ ई० में मृत्यु) ने भी बृहत्संहिता में विष्णुगुप्त का उल्लेख किया है।[३८ (ब)] अतः इन प्रमाणों के आधार पर टीकाकार वृषभ का समय ५५० ई० के समीप सिद्ध होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वृषभ वाक्यपदीय पर कई टीकाओं के होने का निर्देश करते हैं :

यद्यपि टीका बह्व्यः पूर्वाचार्यैः सुनिर्मला रचिताः।
सन्तः परिश्रमशास्त्रयापि चैमां ग्रहीष्यन्ति ॥

अत: ५५० ई० तक वाक्यपदीय पर कई टीकाओं का होना यह प्रमाणित कर देता है कि वाक्यपदीय की रचना इससे बहुत पहले हुई होगी।

भर्तृहरि का जीवन

भर्तृहरि के जन्म-स्थान और उनके जीवन के बारे मे प्रामाणिक रूप में कुछ भी ज्ञात नहीं है। एक श्लोक के अनुसार जिसकी प्रामाणिकता निश्चित रूप से संदिग्ध है, वे शबरस्वामी की क्षत्राणी पत्नी से उत्पन्न उनके पुत्र थे। इत्सिंग के अनुसार ये सात बार परिव्राजक और सात बार गृहस्थ बने थे। अत में परिव्राजक रूप में इन्हें शान्ति मिली थी। इत्सिंग की उक्ति भी किंवदन्ती से अधिक मूल्य नहीं रखती।

इत्सिंग के अनुसार वे बौद्ध थे। मैक्समूलर ने इन्हें विज्ञानमात्र सम्प्रदाय का बौद्ध माना है।[३९] वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वबिन्दु मे—

यदाहुः बाह्या अपि परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिषु ज्ञानं तद्विदामानुमानिकम् ॥

तत्त्वबिन्दु, मद्रास, पृ० ६०

ऐसा लिखा है। यह कारिका वाक्यपदीय १।३५ (लाहौर संस्करण) की है। बाह्या से तात्पर्य वेदबाह्य अर्थात् नास्तिक या बौद्ध से है।

परन्तु व्याकरण सम्प्रदाय मे कभी भी भर्तृहरि का वेदबाह्य के रूप मे उल्लेख नही मिलता। वाक्यपदीय मे श्रुति-स्मृति की महिमा पर्याप्त गाई गई है और स्पष्ट शब्दों मे यहां तक कहा गया है कि जो शब्द का सस्कार है, वह परमात्मा की सिद्धि[४०] है। वाक्यपदीय के श्लोक आस्तिक हृदय के उद्गार हैं। उसमें आविर्भूतज्योति वाले ऋषियों का सादर स्मरण है और भर्तृहरि ने अनादि निधन-शब्द तत्त्व की सिद्धि विशेष रूप मे श्रुति के आधार पर ही प्रतिपादित की है। बौद्ध दर्शन ग्रथो में भर्तृहरि का उल्लेख बौद्ध रूप मे नही

---

३८. (अ) न्यू हिस्ट्री आफ इण्डियन पीपुल, गुप्त वाकाटक एज २००-५५० ए० डी०, वाल्यूम सिक्स्थ, पृ० २१४

३८. (ब) सुधाकर द्विवेदी, गणक तरंगिणी, पृ० १५

३९. मैक्समूलर का तक कुरू के नाम पत्र, इत्सिंग की भारत यात्रा की प्रस्तावना में उद्धृत, पृ० १०

४०. वाक्यपदीय १।१३३

है। जैन ग्रंथों में भर्तृहरि का बहुत उल्लेख है किन्तु वहाँ भी बौद्ध रूप में नहीं। अतएव इत्सिंग वाली कथा किसी अन्य भर्तृहरि से सम्बन्ध रखती होगी। वाचस्पति मिश्र की उक्ति भी उपर्युक्त आधार पर नितान्त चिन्त्य है। बहुत सम्भव है उपर्युक्त श्लोक वाचस्पति मिश्र ने किसी बौद्ध ग्रंथ से उद्धृत किया हो। वाक्यपदीय के श्लोक सभी प्रकार के ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं।

हाँ, वाक्यपदीय के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्हें किसी सम्प्रदाय से द्वेष नहीं था। वस्तुतः भर्तृहरि अत्यन्त शिष्ट व्यक्ति थे। उनके जैसे सुसंस्कृत विचारक संस्कृत वाङ्मय में कम हैं। वे खण्डन-मण्डन में नहीं पड़ते। अनेक विभिन्न मतों का बहुत ही सौजन्य के साथ उल्लेख करते हैं। कहीं-कहीं तो यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है कि भर्तृहरि का अपना मत कौन है। संस्कृत के प्राचीन टीकाकारों और विचारकों में अपने प्रतिपक्षी को या नास्तिक दर्शन के मानने वाले को खरी-खरी सुनाने और उनकी बुद्धि पर तरस खाने की आदत बहुत प्राचीन काल से देखी जाती है। भर्तृहरि ऐसी अहंमन्यता से सर्वथा मुक्त हैं।

वे उच्चकोटि के विचारक थे। बहुश्रुत थे। उन्होंने स्वयं लिखा है: "भिन्न-भिन्न आगमों के सिद्धान्तों के अध्ययन से प्रज्ञा और विवेक की प्राप्ति होती है। बुद्धि विशद होती है। केवल अपने तर्क और अपने दर्शन के पारायण से मनुष्य कितना जान सकता है! जो विभिन्न प्राचीन दर्शनों की उपेक्षा करते हैं और मिथ्या अभिमानवश वृद्धजनों की उपासना विद्या के लिए नहीं करते उनकी विद्या पूर्णरूप में सफल नहीं होती।"[४१] वाक्यपदीय को 'आगम संग्रह' का रूप देते हुए उन्होंने लिखा है कि व्याकरणदर्शन तथा अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों (न्याय प्रस्थान मार्ग) का अनुशीलन कर लेने के बाद इसकी रचना की गई है। भर्तृहरि की निरहकारिता का एक प्रमाण तो यही है कि वाक्यपदीय ऐसे प्रौढ और अप्रतिम ग्रथ को उन्होंने अपनी कृति न कहकर अपने गुरु की रचना माना।

अभिनवगुप्त जैसे आचार्य भर्तृहरि का सादर स्मरण करते हैं। वे सदा भर्तृहरि का 'तत्रभवान्' शब्द के साथ उल्लेख करते हैं। भर्तृहरि का सौजन्य, उनकी अगाध विद्वत्ता और उनकी चतुर्दिग् प्रसिद्धि आदि सबका द्योतक अभिनवगुप्त का निम्नलिखित उद्गार है—"प्राय. देखा जाता है कि ससार में जनता लोक-प्रसिद्धि के आधार पर किसी में विश्वास करती है और उसकी ओर अग्रसर होती है। यह विश्वास उसके नाम के बराबर सुनाई देने से, अथवा उसके आचरण, कवित्व, विद्वत्ता आदि की प्रसिद्धि के कारण जगता है। जैसे कि जब कहा जाता है कि यह उसी भर्तृहरि का श्लोक-प्रबन्ध है जिसने यह किया था, जिसकी उदारता ऐसी थी, जिसका इस शास्त्र मे ऐसा सार है और इसलिए उनकी कृति आदरणीय है तब जनता उस ओर स्वयं झुक जाती है।"[४२]

४१. वाक्यपदीय २।४६२।४६३

४२. "इह बाहुल्येन लोको लोकप्रसिद्ध्या संभावनाप्रत्ययबलेन प्रवर्तते। स च संभावनाप्रत्ययो नामश्रवणवशात् प्रसिद्धान्यतदीयसमाचारकवित्वविद्वत्तादिसमनुस्मरणेन भवति। तथाहि भर्तृहरिणेदं कृतं यस्यायमौदार्यमहिमा, यस्यास्मिन् शास्त्रे एवंविधः सारो दृश्यते, तस्यायं श्लोकप्रबन्धस्तस्मादादरणीयमेतदिति लोकः प्रवर्तमानो दृश्यते इति।"

—ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ५५१, (चौखम्भा संस्करण)

भर्तृहरि के ग्रन्थ

वैयाकरण भर्तृहरि के निम्नलिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं : महाभाष्य त्रिपादी (महाभाष्य-दीपिका), वाक्यपदीय और वाक्यपदीय १, २ पर स्वोपज्ञ वृत्ति। इनके शब्दधातुसमीक्षा नामक ग्रंथ का भी उल्लेख मिलता है।

भर्तृहरि ने महाभाष्य के प्रथम अध्याय के तीन पाद पर व्याख्या लिखी है। तीन पाद पर होने के कारण उस विवरण को त्रिपादी कहते थे। व्याकरण सम्प्रदाय में भर्तृहरि 'टीकाकार' के रूप मे भी प्रसिद्ध हैं। यह प्रसिद्धि इसी भाष्य व्याख्या के कारण है। भर्तृहरि कृत भाष्यत्रिपादी का उल्लेख वर्धमान[४३] और हेलाराज आदि ने किया[४४] है। संप्रति यह व्याख्या केवल १।१।५३ तक मिलती है। इसके एक हस्तलेख की एक प्रतिलिपि श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के पास मैंने देखी है।[४५] प्रथम आह्निकों पर कैयट का प्रदीप भर्तृहरि की भाष्यदीपिका का लघु संस्करण है। कहीं-कहीं पूरे-के-पूरे वाक्य ज्यों-के-त्यों लिए गए हैं। भर्तृहरि की टीका का उल्लेख नागेश ने भी किया है।[४६] इत्सिंग ने इसे 'भर्तृहरि शास्त्र' लिखा है और इसे चूर्णि की व्याख्या कहा है जो ठीक है। व्याकरण सम्प्रदाय में भाष्यकार चूर्णिकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वयं भर्तृहरि ने महाभाष्यकार को चूर्णिकार कहा है।[४७] इस ग्रंथ के कई महत्त्वपूर्ण वाक्यों का संकलन श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने संस्कृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में कर दिया है।

भर्तृहरि कृत शब्दधातुसमीक्षा का उल्लेख उत्पल ने शिव दृष्टि की टीका मे किया है।[४८] इस ग्रन्थ के केवल दो श्लोक मिलते हैं जो वहीं उद्धृत हैं। इनमे से एक श्लोक भर्तृहरि के नीतिशतक का प्रथम श्लोक है। उत्पल की दृष्टि से वाक्यपदीय और नीतिशतक के कर्ता एक ही भर्तृहरि हैं ऐसा जान पड़ता है। उत्पल का उद्धरण यों है :

न केवलं यावदेव पदवाक्यविज्ञानेन सम्यग्ज्ञानात्मत्व एव उक्तो यावच्छब्दधातुसमीक्षायामपि विद्वद्भर्तृहरिणा

विक्कालाद्यनवच्छिन्नेन व्यापकत्वं विहन्यते।
अवश्य व्यापको यो हि सर्ववित्सु स वर्तते॥

---

४३. भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णकयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्याः व्याख्याता च। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २।

४४. त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदीकृता।
तस्मै समस्त विद्याश्रीकान्ताय हरये नमः॥ हेलाराज, प्रकीर्णकप्रकाश के अन्त में।

४५. अब छप चुका है।

४६. नागेश ने हरिटीका का उल्लेख इन स्थलों में किया है—महाभाष्यप्रदीपोद्योत, १।२।८, १।२।४०, १।३।२१।

४७. अस्मिंस्तु दर्शने पाणिनिना मुखग्रहणं पठितमिति दृश्यते। चूर्णिकारस्तु भागप्रविभागमाश्रित्य प्रत्याचष्टे (भाष्यदीपिका, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का हस्तलेख) पृष्ठ १७६।

४८. भर्तृहरि के शब्दतत्त्वाद्वैत ग्रंथ की चर्चा अन्यत्र भी है—तेन यदाहुः 'शब्दतत्त्वाद्वैत नाम काव्यं भर्तृहरेरात्माद्वैतं' 'महाभाष्य व्याख्या, हस्तलेख, मद्रास, आर० ४४१६।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥
इति लक्षणेन दिक्कालाद्यनवच्छिन्नो विशिष्यमाणता निर्दिष्टा ।

—शिवदृष्टि पृष्ठ ८४

भर्तृहरि की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना वाक्यपदीय है। इसमें तीन काण्ड हैं। पहला आगम काण्ड, दूसरा वाक्य काण्ड और तीसरा पद काण्ड कहलाता है। पूर्व के आचार्य वाक्यपदीय शब्द से वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड ही समझते थे। तीसरा काण्ड प्रकीर्णक नाम से भी प्रसिद्ध था। हेलाराज ने 'वाक्यपदीय (पहला और दूसरा काण्ड) पर शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी थी और प्रकीर्णक पर 'प्रकीर्णकप्रकाश नाम की टीका लिखी है। स्वयं भर्तृहरि वाक्यपदीय के दूसरे काण्ड के अन्त मे पुस्तक की समाप्ति करते जान पडते हैं परन्तु वहीं उन्होंने तीसरे काण्ड की भी सूचना दे दी है :

वर्त्मनामत्र केषाञ्चित् वस्तुमात्रमुदाहृतम् ।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा ॥

—वाक्यपदीय २।४९१

पुण्यराज ने तृतीय काण्ड को पूर्व के दोनों काण्डों का निष्यन्दभूत कहा है। वस्तुतः तृतीय काण्ड में व्याकरणदर्शन की अनेक मान्यताओं पर अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के संकेत के साथ विचार किया गया है। प्रकीर्णक उस तरह के ग्रन्थों को कहते थे जिनमें विषय-विभाग ठीक-ठीक बिना किए ही विचार किया जाता था (प्रकीर्णकत्वं च ग्रन्थस्य विषय-विभागेन बिना प्रवृत्तत्वमुच्यते—कल्लिनाथ, सगीत रत्नाकर ३।१)। इत्सिंग ने इसी को 'पेइ-न' कहा है जिसकी पहचान सबसे पहले किलहार्न ने प्रकीर्णक से की।[४९] प्रकीर्णक खण्डितरूप मे ही मिलता है और पुण्यराज को भी इसके कुछ समुद्देशों का पता नही था। लक्षणसमुद्देश और बाधासमुद्देश इन दो का उल्लेख है पर वे मिलते नहीं हैं। पुण्यराज अथवा हेलाराज को भी वे नही मिले थे। लक्षणसमुद्देश का उल्लेख भर्तृहरि ने स्वयं किया है :

तत्र द्वादश षट् चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेशं सविरोधं-विस्तरेणव्याख्यास्यते

—वाक्यपदीय २।७६ पर हरिवृत्ति, पृष्ठ ४५ लाहौर संस्करण

बाधासमुद्देश का उल्लेख भी भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति में किया था। इसका निर्देश पुण्यराज ने किया है . 'यस्मादुक्तम् सेयमपरिणामविकल्पा बाधा विस्तरेण बाधासमुद्देशे समर्थयिष्यते' इति'

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७, पृष्ठ ५०

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर एक वृत्ति भी स्वय लिखी थी। श्री चारुदेव शास्त्री ने इस वृत्ति को लाहौर से छापा है। अब तक केवल प्रथम काण्ड

४९. द्रष्टव्य—इण्डियन एण्टीक्वेरी, १८८३, खण्ड १२, पृष्ठ २२६, 'इत्सिंग की भारत यात्रा' के परिशिष्ट में अनूदित।

पर और द्वितीय काण्ड के एक-चौथाई हिस्से पर ही वृत्ति छपी है। श्री चारुदेव शास्त्री ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि भर्तृहरि ने स्वयं वृत्ति लिखी थी और बनारस की पुस्तक में प्रथम-काण्ड की वृत्ति भर्तृहरि की वृत्ति का संक्षिप्त रूप[५०] है। भर्तृहरिवृत्ति के पोषक कई प्रौढ़तर प्रमाण मुझे भी मिले हैं जिनमें कुछ का निर्देश यहाँ किया जा रहा है।

अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग पृष्ठ २२६ पर लिखा है :

तथाह तत्रभवान् भर्तृहरिः प्रतिसंहृतक्रमान्तः सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती। सा च अचला च चला च, प्रतिलब्धा समाधाना च, सन्निविष्ट-ज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासासंसृष्टार्थ प्रत्यवभासा च सर्वार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तप्रत्यवभासा च इति।

यह अश वाक्यपदीय १।१४३ (१४४) की हरिवृत्ति पृष्ठ १२६ पर ज्यों का त्यों मिलता है।

धर्मकीर्ति के प्रमाण कार्तिक की टीका मे कर्णकगोमी ने लिखा है :

यदाह भर्तृहरिः सर्वेषां पृथगर्थवत्ता सर्वेषु प्रतिशब्दं कृत्स्नार्थ परिसमाप्तेः। तथा यदेव प्रथमं पदमुपादीयते तस्मिन् सर्वे रूपार्थोपग्राहिणि नियमानुवाद-निबन्धनानि पदान्तराणि विज्ञायन्त इति।[५१]

गद्यमय होने के कारण यह अश अवश्य ही हरिवृत्ति का होगा। अब तक के प्रकाशित हरिवृत्ति मे यह अश नही है।

पुण्यराज ने एक स्थान पर लिखा है :

एतेषां च विस्तरं सोपपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्विष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रंशाल्लेखक प्रमादा-दिना वा लक्षणसमुद्देशश्च पद काण्ड मध्ये न प्रसिद्धः।[५२]

पुण्यराज का यह कहना कि ग्रथकार ने अपनी वृत्ति मे लक्षणसमुद्देश का उल्लेख स्वयं किया है ठीक है क्योकि वाक्यपदीय २।७६ की वृत्ति में लक्षणसमुद्देश का उल्लेख है।

भर्तृहरि के विवरण का उल्लेख वृषभ ने भी किया है :

यद्यपि च सक्कुपात्तामादिनिधनश्रुतिस्तथापि कारिकाविवरणग्रंथादवसीयते अर्थद्वयांगीकरणेन शास्त्रकृतोपात्तेति।

वृषभ, वाक्यपदीय १।१, ३ पृष्ठ

अतः भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर वृत्ति लिखी थी और चारुदेव शास्त्री ने जिस वृत्ति को प्रकाशित किया है वह भर्तृहरि की ही है।

हरिवृत्ति का अपना स्वतंत्र मूल्य है। अनेक गम्भीर विषयों का विवेचन इस वृत्ति मे किया गया है। भाषा के दार्शनिक इतिहास के लिए तो वह अत्यन्त मूल्यवान है।

५०. द्रष्टव्य—वाक्यपदीय प्रथम काण्ड की भूमिका, लाहौर संस्करण, पृष्ठ १६-१८

५१. प्रमाणवार्तिक, पृ० ४६४, राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित

५२. वाक्यपदीय २।८७ लाहौर संस्करण

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भर्तृहरिशतक और ब्रह्मसूत्र की टीका तथा मीमांसासूत्र पर वृत्ति—इन ग्रंथो को भी भर्तृहरि ने लिखा था ऐसा सुना जाता है पर इन ग्रंथों को वैयाकरण भर्तृहरि की रचना मानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है।

वाक्यपदीय के अन्य टीकाकार

भर्तृहरि की स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त वाक्यपदीय पर बहुत-सी टीकाएँ लिखी गई थी। वृषभ ने पूर्वाचार्यों की टीकाओं का संकेत किया है।

वृषभदेव

इस समय उपलब्ध टीकाओं मे वृषभ की टीका उल्लेखनीय है। वृषभ का समय ५५० ई० है। यह ऊपर सप्रमाण निश्चय किया जा चुका है। वृषभ ने वाक्यपदीय और हरिवृत्ति दोनों पर टीका लिखी है। पहले वह वाक्यपदीय के श्लोक का भाव देते हैं। इसके बाद हरिवृत्ति के शब्दो की व्याख्याएँ करते हैं। वह व्याकरणशास्त्र और अन्य आगमो मे निष्णात जान पडते हैं। हरिवृत्ति के अनेक दुरूह अंशों का परिज्ञान वृषभ की टीका के सहारे ही सम्भव है। इनकी टीका का नाम वाक्यपदीयपद्धति है।[५३] यह टीका प्रथम काण्ड पर ही उपलब्ध है। इसे चारुदेव शास्त्री ने लाहौर से प्रकाशित किया है।

पुण्यराज

पुण्यराज ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड (वाक्य काण्ड) पर टीका लिखी है। उनका दूसरा नाम राजानक शूरवर्मा था। उन्होने लिखा है कि मैने शशाक के शिप्य से वाक्य काण्ड पढा था। यह कौन शशाक है इसके बारे मे विशेष पता नही है। पुण्यराज का समय ९०० ई० के आसपास जान पडता है। पुण्यराज ने अपनी टीका मे अनेक ग्रथो और लेखको का उल्लेख किया है। जैसे, काशिका वृत्ति,[५४] कुमारिल के श्लोकवार्तिक[५५], भर्तृहरि शतक[५६] का एक श्लोक, राघवानन्द नाटक का एक श्लोक आदि उसमे उद्धृत है।[५७] राघवानन्द वैंकटेश्वर की रचना है।

पुण्यराज ने 'इन्दोर्लक्ष्मस्मरविजयिन' यह श्लोक वाक्यपदीय २/२४९ की टीका

---

५३. ट्रावन्कोर लाइब्रेरी के हस्तलेख नं० २०७ वाली प्रति मे यह पुष्पिका है : इति वृषभरचिताया वाक्यपदीयपद्धतौ प्रथमं काण्डं समाप्तम्।

५४. "यथैव कर्मणीति किं मातुर्गुणैः स्मरणमिति कथं प्रत्युदाहृतम्"—वाक्यपदीय २।२०० पृ० १६४, यह अंश काशिका में २।३।५२ पर है। पुण्यराज ने यहीं 'कारकान्तरे त्वेकैवेति वृत्तिकारा.' भी लिखा है

५५ वाक्यपदीय २.६८ मे मीमासाश्लोकवार्तिक का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत है—
यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥ —मीमासाश्लोकवार्तिक, स्फोटवाद ६९

५६. मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतः—भर्तृहरि शतक, वाक्यपदीय २।८६ में उद्धृत है

५७. रामोऽसौ भुवनेषु 'श्रेणीभूत विशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः—वाक्यपदीय २।८६। काव्य प्रकाश की व्याख्या चंद्रिका में यह श्लोक राघवानन्द नाटक का कहा गया है।

में उद्धृत किया है। यह श्लोक राजशेखर का कहा जाता है। परन्तु राजशेखर के ग्रंथों में नहीं मिलता। वस्तुत: यह राजशेखर का श्लोक नहीं हो सकता क्योंकि कुन्तक ने इस श्लोक को उद्धृत किया है। कुन्तक और राजशेखर समकालिक हैं। नीचे लिखे वक्तव्य से जान पड़ता है कि पुण्यराज आनन्दवर्धन के बाद हुए थे परन्तु थोड़े ही दिन बाद या समकालिक क्योंकि ध्वनि के भेद-उपभेद से वे पूर्णतया अवगत नहीं जान पड़ते :

एतेन श्लोकेन प्रकारद्वयेन लक्षणा प्रदर्शिता। कदाचिन्मुख्यार्थस्यागेनैवान्यस्योपलक्षणमेतदेवाविवक्षितवाच्यमुच्यते। कदाचिन्मुख्यार्थाविरामोपायपूर्वकमन्यार्थोपलक्षणमेतदेव विवक्षितान्यपरवाच्यमुक्तं विज्ञेयम्।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३१५

इस उद्धरण में अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य दो शब्द आए हैं जो आनन्दवर्द्धन के गढे हुए हैं। साथ ही इनका उल्लेख लक्षणा के साथ किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि की पर्याप्त चर्चा पुण्यराज के समय मे नही थी। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि मुकुल भट्ट ने ध्वनि के उपर्युक्त भेदों को लक्षणा मे अन्तर्भाव किया था :

समवायसम्बन्धनिबन्धनायां तु लक्षणायाम् अविवक्षितवाच्यता छत्रिणो यान्तीत्यत्रैवोदाहार्या।

—अभिधावृत्तिमात्रिका पृष्ठ २०

पुण्यराज ध्वनि के भेदों को लक्षणा के भीतर लेते हुए मुकुलभट्ट से प्रभावित जान पडते हैं। मुकुलभट्ट भट्टकल्लट के पुत्र और प्रतिहारेन्दुराज के गुरु थे। भट्टकल्लट अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के समकालिक थे (राजतरंगिणी ५।६६)। इसलिए मुकुल भट्ट का समय ९०० ई० है। पुण्यराज ९०० ई० के बाद के हैं। पर वे अभिनवगुप्त (१००० ई०) के पूर्व हुए होंगे अन्यथा ध्वनि को लक्षणा के भीतर स्वीकार बिना विशेष युक्ति के नही कर सकते थे।

पुण्यराज ने वाक्यपदीय २।२४३ की टीका मे निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

सतां च न निषेधोस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः॥

श्री के० एम० शर्मा ने बालंभट्ट के आधार पर इस श्लोक को खण्डनखण्डखाद्य का माना है और इसी आधार पर पुण्यराज को भी हर्ष के बाद का बारहवी शताब्दी का माना[४८] है। परन्तु यह उचित नही जान पड़ता। मुद्रित खण्डनखण्डखाद्य मे उपर्युक्त श्लोक नही मिलता। इसके अतिरिक्त यह बहुत प्रसिद्ध श्लोक है और अनेक ग्रथों मे उद्धृत पाया जाता है। हेलाराज ने भी वाक्यपदीय ३, पृष्ठ ११७ पर इसे उद्धृत किया है। श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य मे दूसरो की कारिकाओं का भी उल्लेख किया है। अतः यदि किसी प्रति मे उपर्युक्त श्लोक मिले भी तो वह श्री हर्ष का ही है नही कहा जा सकता। सम्भवत: यह श्लोक धर्मकीर्ति का है।

---

४८. एनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च १९४२, पृ० ४११-१२

पुण्यराज ने अपनी टीका में संक्षेप-शैली को अपनाया है, फिर भी वह सौष्ठव- पूर्ण और गम्भीर है। भर्तृहरि की तरह पुण्यराज भी मीमांसा दर्शन के मर्मज्ञ जान पड़ते हैं।

हेलाराज

हेलाराज ने वाक्यपदीय (प्रथम और द्वितीय काण्ड) पर शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी थी। इसका उल्लेख उन्होंने कई स्थानों पर किया है।[५९] अब तक यह टीका उपलब्ध नहीं हो सकी है। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड (प्रकीर्णक) पर प्रकीर्णप्रकाश नाम की इनकी टीका है जो काशी से छपी है और साधन क्रिया समुद्देश से लेकर वृत्ति समुद्देश तक ट्रावंकोर से भी दो भागों में शुद्ध रूप में छपी है।

हेलाराज कश्मीरी थे। वे मुक्तापीड के मन्त्री लक्षण के वंशज थे और उनके पिता का नाम भूतिराज था। अभिनवगुप्त ने अपने साहित्यिक गुरु इन्दुराज के पिता का नाम भी भूतिराज बताया है।[६०] यदि भट्टेन्दुराज और हेलाराज भाई हों तो हेलाराज का समय ९७५ ई० के आसपास होना चाहिए। हेलाराज कैयट के बाद के जान पड़ते हैं। वाक्यपदीय के वृत्तिसमुद्देश के संपादक श्री रवि वर्मा ने कैयट और हेलाराज के कई समान वाक्यों का उद्धरण दिया है और संकेत किया है कि हेलाराज कैयट के बाद के जान पड़ते हैं। मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। वस्तुतः हेलाराज कैयट के बाद के है। हेलाराज ने कैयट के कई व्याख्यानों का उनका बिना नाम दिये खण्डन किया है। जैसे, हेलाराज ने लिखा है :

'धातुरर्थः प्रयोजनमस्येत्येतत्तु भाष्यव्याख्यानमयुक्तम्।'

—वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश, पृष्ठ १७३

हेलाराज ने यहाँ जिस भाष्यव्याख्यान का उल्लेख किया है वह कैयट का है। कैयट ने लिखा है :

धात्वर्थः क्रिया, सा अर्थः प्रयोजनं यस्य साधनस्य तस्मिन् वर्तमानाद् उपसर्गात्तु स्वार्थे वति प्रत्ययः।

—कैयट प्रदीप ५।१।११८, ४।१।७८ भी द्रष्टव्य

अलंकार सर्वस्व (११३५ ई०) में कैयट के 'भाष्याब्धौ क्वातिगभीरम्' इस वाक्य का उल्लेख है।[६१] ई० ११७२ में लिखी दुर्घट वृत्ति में कैयट का कई बार नाम आया है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'व्याकरण का इतिहास' में कैयट का समय ई० १०३५ के लगभग अनुमान से निश्चित किया है। श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य कैयट का

---

५९. विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति। (वाक्यपदीय ३।४६ पृ० ३६।

६०. "श्रीभूतिराजतनयः स्वपितृप्रसादः" तंत्रालोक ३७।६०, डा० के० सी० पाण्डेय द्वारा अभिनवगुप्त ऐन हिस्टारिकल ऐण्ड फिलासफिकल स्टडी, पृ० १४३ पर उद्धृत।

६१. अलंकार सर्वस्व अंतिम श्लोक की वृत्ति। इस पर डा० वी० राघवन् ने प्रकाश डाला था।

समय ९०० ई० सन् के आसपास मानते हैं।[६२] इस आधार पर हेलाराज और इन्दुराज को सहोदर भाई माना जा सकता है क्योंकि इन्दुराज का भी यही समय है।

हेलाराज ने वाक्यपदीय ३, द्रव्य समुद्देश ६ की टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

> एकदेशेन सारूप्ये सर्वं स्यात् सर्ववेदनम्।
> सर्वात्मना तु सारूप्ये ज्ञानमज्ञानतां व्रजेत्॥

यह तत्त्वसंग्रह की १३५८वी कारिका है। तत्त्वसंग्रह के लेखक शान्तरक्षित का समय ७५० ई० है।

माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में वाक्यपदीय के व्याख्याता हेलाराज का उल्लेख किया है :

> कर्मप्रवचनीयेन वै पञ्चमेन सह पदस्य पञ्चविधत्वं इति हेलाराजो व्याख्यातवान्।

इसलिए १३वीं शताब्दी के पूर्व हेलाराज हुए थे। १००० ई० इनका समय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती।[६३]

हेलाराज अतीव प्रतिभासम्पन्न लेखक थे। शब्दप्रभा और प्रकीर्णकप्रकाश के अतिरिक्त इन्होंने क्रियाविवेक, वार्तिकोन्मेष और अद्वयसिद्धि नाम के ग्रन्थो की भी रचना की थी। इन पुस्तकों का उल्लेख उनकी टीका मे मिलता है।

हेलाराज की लेखनी मे अद्भुत शक्ति है। वे महाभाष्य मे निष्णात, आगम शास्त्र के पण्डित, विभिन्न दर्शनों के परिज्ञाता और वाक्यपदीय के परम मर्मज्ञ हैं। इनकी टीका में जो मौलिकता और चारुता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

धर्मपाल

इत्सिग के अनुसार धर्मपाल ने भर्तृहरि के पेइ-न (प्रकीर्णक) पर टीका लिखी थी। धर्मपाल की टीका के बारे मे अन्यत्र कोई उल्लेख नही मिलता। इत्सिग के अनुसार-

---

६२. परिभाषा वृत्ति की भूमिका, पृ० ८।

६३. हेलाराज ने कई श्लोकों और वाक्यों के उद्धरण दिए हैं जो अन्य कवियों के हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है, क्योंकि वे उद्धरण उनके काल पर प्रकाश डालते हैं। इन श्लोकों और वाक्यों का मूल अभी तक नहीं मिल पाया है :

> ईर्ष्यावशेन कलुषत्वमुपागतस्य
> दूरान्मुखस्य तव सुन्दरि साम्यमेत्य।
> चेनः प्रहर्षभरपूरितपूर्णदेहः
> स्वाङ्गेष्वपि प्रसममद्य न माति चन्द्रः॥
>
> वाक्यपदीय, ३, वृत्तिसमुद्देश २७३ में उद्धृत
>
> रोलम्ब शबल (गरल) व्याल तमालश्यामलं नभः।
> नभोनिर्मलनिस्त्रिंश व्यमपाकाय वे॥
>
> —वही, वृत्तिसमुद्देश २७२

भर्तृहरि और धर्मपाल समकालिक थे। धर्मपाल शीलभद्र के गुरु थे। ह्वेनच्यांग (६२५ ई०) के समय में शीलभद्र इतने अधिक वृद्ध थे कि वह ह्वेनच्यांग को पढ़ा नहीं सकते थे। धर्मपाल की मृत्यु ५७० ई० में हो गई थी। धर्मपाल अपने समय में नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य थे।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय का अन्यदर्शन के क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा। छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत में जितने महान चिन्तक उत्पन्न हुए वे सब किसी-न-किसी रूप में भर्तृहरि-दर्शन से परिचित जान पड़ते हैं। भारतीय चिन्तन परपरा मे एक खटकने वाली प्रथा प्राचीन काल से ही दिखाई देती है। वह है अपने सप्रदाय अथवा दर्शन का सर्वथा पोषण और दूसरो के विचारों का खण्डन। जो विचारक जिस दर्शन से नाता जोड लेता था, वह अपनी प्रतिभा का उपयोग उसी के समर्थन में करता था और अन्य मत उसे त्रुटिपूर्ण दिखाई देते थे। सप्रदायनिरपेक्ष रूप मे स्वतंत्र विचारक भारतीय दर्शन के इतिहास मे अल्प है। भर्तृहरि के मतो की समीक्षा भी प्राय: साम्प्रदायिक आधार पर की गई है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे अन्य दर्शनों के भी विचारो को स्थान दिया था किन्तु समीक्षकों ने उन सब विचारों को वाक्यपदीय मे लिखे देखकर भर्तृहरि का ही मानकर उनकी समीक्षा की है। इसके एक रोचक उदाहरण का उल्लेख आवश्यक है। भर्तृहरि ने वाक्यकाण्ड के आरम्भ मे वाक्य के कई लक्षण एक साथ दे रखे हैं। ये लक्षण निश्चित रूप में सगृहीत हैं। भर्तृहरि ने भी स्वय 'वाक्य प्रति मतिर्भिन्ना' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि ये वाक्यलक्षण सगृहीत हैं। उन्होने 'न्याय दर्शिनाम्' शब्द से यह भी सकेत कर दिया है कि इन लक्षणो का सम्बन्ध मीमासा दर्शन से है। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने भी इसे मीमासकों का वाक्यलक्षण माना है और तदनुरूप व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु कुमारिल भट्ट को ये लक्षण वाक्यपदीय में दिखलाई दिए और सबका उन्होने खण्डन कर दिया। कुमारिल के श्लोकवार्तिक के टीकाकार सुचरितमिश्र और पार्थसारथि मिश्र ने भी वैयाकरणो के मत के रूप मे वाक्यपदीय मे दिए वाक्यलक्षण को उद्धृत कर उनका खण्डन किया। कहने का तात्पर्य यह है कि समीक्षा करते समय आवश्यक छानबीन नही की जाती थी। अवश्य ही दूसरे दर्शन के आचार्यो द्वारा उल्लिखित वाक्यपदीय सम्बन्धी मत अनेक दृष्टियों से बहुत उपादेय हैं और स्वय भर्तृहरि के समझने मे बहुत सहायक होते हैं।

बौद्ध दार्शनिकों में धर्मकीर्ति ने भर्तृहरि की मान्यताओं की समीक्षा की है। यद्यपि धर्मकीर्ति ने भर्तृहरि का नाम नहीं लिया है किन्तु उनकी मान्यताओं का उल्लेख अवश्य किया है। प्रमाणवार्तिक के टीकाकार कर्णकगोमी और प्रज्ञाकर गुप्त ने भी वाक्यपदीय की अनेक कारिकाओं को उद्धृत कर उनकी समीक्षा की है। कर्णकगोमी की टीका में भर्तृहरि की वृत्ति का एक अश मिल गया है जो प्रकाशित वृत्ति में खण्डित

है। शांतरक्षित और कमलशील भी भर्तृहरि से प्रभावित हैं। कमलशील ने कई कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट किया है। किसी बौद्ध आचार्य ने 'शब्दार्थचिन्ताविवृत्ति' नाम का एक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा था ऐसा रत्नश्रीज्ञान रचित काव्यादर्श की टीका से जान पड़ता है।[६४]

जैन आचार्यों में मल्लवादिक्षमाश्रमण, वादिदेव सूरि, प्रभाचन्द्र आदि ने वाक्यपदीय के अनेक सिद्धान्तों पर विचार किया है। वादिदेव सूरि के सामने हरिवृत्ति भी थी और इसके कुछ अंश वहीं मिलते हैं।

भर्तृहरि की सबसे अधिक समीक्षा कुमारिल भट्ट ने की है। श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक दोनों में स्थान-स्थान पर भर्तृहरि का नाम दिए बिना किन्तु इनकी कारिकाओं के संकेत देते हुए कुमारिल ने वर्ण, पद, वाक्य, प्रतिभा, स्फोट-सम्बन्धी वाक्यपदीय मे आए मतों की आलोचना की है। भट्ट उम्बेक, सुचरित मिश्र और पार्थसारथि ने वाक्यपदीय की कई कारिकाओं के उद्धरण दिए हैं और उनका खण्डन किया है। मीमांसको मे मण्डन मिश्र व्याकरणदर्शन के प्रति उदार हृदय रखते थे। उन्होंने कुमारिल के कई तर्कों के उत्तर दिए हैं। किन्तु स्फोटसिद्धि की रचना का मुख्य उद्देश्य, मेरी समझ मे, व्याकरण के सिद्धान्त के समर्थन की अपेक्षा धर्मकीर्ति का खण्डन है। वस्तुतः स्फोटसिद्धि के अधिकाश वाक्यसमूह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के हैं, अल्प मण्डनमिश्र के हैं। वाचस्पति मिश्र ने मीमांसादर्शन की दृष्टि से तत्त्व-बिन्दु की रचना की है। इसमे भी वाक्यपदीय की आलोचना है।

प्राचीन नैयायिको मे जयन्त भट्ट ने न्यायमजरी मे व्याकरणदर्शन की कुछ मान्यताओ की आलोचना की है। जयन्त भट्ट अच्छे वैयाकरण भी थे। उनका हृदय व्याकरणदर्शन की ओर है और मस्तिष्क न्यायदर्शन की ओर।

छठी शताब्दी से लेकर दसवी शताब्दी तक के प्रसिद्ध वैयाकरणो मे काशिकाकार (जयादित्य और वामन), न्यासकार, कैयट और भोज प्रमुख है। यद्यपि इन आचार्यों ने व्याकरणदर्शन पर ग्रन्थ नहीं लिखे हैं किन्तु इनकी टीकाओ मे व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री है। इनमे न्यासकार बड़े ही मौलिक विचारक थे। कैयट (ई० ६००) ने महाभाष्यप्रदीप मे वाक्यपदीय का बहुत आधार लिया है और वाक्यपदीय के अनेक उलझे मतों को थोड़े मे स्पष्ट रूप मे रखने मे वे बेजोड़ हैं। महाभाष्य के दार्शनिक सकेतो को वे स्पष्ट करते चलते हैं। ऐसे अवसर पर उनकी शैली यो होती है

६४. एतच्च विस्तरेण शब्दार्थचिन्ताविवृतौ चिन्तितम् इति ततोवधार्यम्।—रत्नश्रीज्ञान, काव्यलक्षण टीका—पृ० १४३। यह विवृति प्रमाणवार्तिक के शब्द चिन्ता प्रकरण पर थी अथवा किसी शब्दार्थचिन्ता ग्रन्थ पर थी, अज्ञात है। प्रमाणवार्तिक के 'शब्द चिन्ता प्रकरण' मे उद्धृत वक्तव्य का सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। उद्धरण में वाक्यपदीय की भी एक कारिका है जिसमें पाठभेद है। उद्धरणकल्प उद्धरण में क्रिया की प्रधानता सिद्ध की गई है।

'भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनम् अशिश्रियत्'
'ग्रामस्य शब्दरूपत्वापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य'[६५]

कयट का प्रदीप एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है।

भोज (९७५ ई०) के सरस्वतीकण्ठाभरण मे तो नहीं किन्तु शृंगार-प्रकाश मे व्याकरणदर्शन सम्बन्धी अपार सामग्री है। भोज ने व्याकरणदर्शन से सम्बद्ध प्रायः सभी पक्षों पर विचार किया है। और सब जगह से सामग्री एकत्र कर उसे विस्तृत रूप दे दिया है। इस ग्रन्थ में वाक्यपदीय की बहुत कारिकाएँ उद्धृत हैं। सबसे अधिक हर्ष की बात तो यह है कि वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड की लगभग दो सौ कारिकाओं की हरिवृत्ति शृंगारप्रकाश मे विभिन्न स्थलों पर ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। भोज ने उन्हें ऐसे ढग से अस्तव्यस्त रूप मे रखा है कि प्रथम दृष्टि में उन्हें पहचानना सरल नही है। महाभाष्यत्रिपादी (दीपिका) के भी कुछ भाग शृंगारप्रकाश मे उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त अनेक उद्धरण अज्ञात वैयाकरणो के हैं। कही-कही भोज ने भर्तृहरि की समीक्षा भी की है। उनके प्रतिभादर्शन का उन्ही के शब्दों मे उल्लेख कर भोज ने उससे असहमति व्यक्त की है। स्फोट और शब्दब्रह्मवाद का अपने ढग से उल्लेख किया है।

ग्यारहवी शताब्दी से लेकर सत्रहवी शताब्दी तक संस्कृत के वैयाकरणों का एक जाल-सा बिछा हुआ है। इस बीच कुछ ग्रन्थ व्याकरण के दार्शनिक पक्ष को सामने रखकर लिखे गए थे उनमे भी कुछ ही उपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थो मे भी प्रकाशित ग्रन्थ अल्प हैं। इन प्रकाशित ग्रन्थो के सब लेखक भी मूल रूप से दार्शनिक विचारधारा के नही थे। उन्होने जैसे व्याकरण के अन्य पक्षो पर विचार किया वैसे ही व्याकरणदर्शन पर भी कुछ लिखा। किन्तु इस रूप मे भी बहुत-सी उपादेय सामग्री अभी तक सुरक्षित है। इस अवधि में व्याकरणदर्शन पर लिखने वालों मे पुरुषोत्तमदेव, सायण, शेष श्रीकृष्ण और भट्टोजि दीक्षित प्रमुख हैं। पुरुषोत्तमदेव (बारहवी शताब्दी) ने व्याकरण की अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उनमे उनका कारकचक्र व्याकरणदर्शन से सम्बन्ध रखता है। सायण (चौदहवी शताब्दी) अपने युग के अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होने सर्वदर्शन सग्रह में पाणिनिदर्शन के नाम से व्याकरणदर्शन का परिचय दिया है। शेष श्रीकृष्ण अकबर के समय मे थे और भट्टोजि दीक्षित के गुरु थे। उन्होने शब्दाभरण नाम का एक प्रौढ ग्रन्थ लिखा था जो आज अनुपलब्ध है। इनका 'स्फोटतत्त्व निरूपण' प्रकाशित है। इनके प्रक्रियाप्रकाश और पदचन्द्रिका-विवरण मे भी व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वो की चर्चा है। पदचन्द्रिका उनका स्वतन्त्र व्याकरण है। शेष श्रीकृष्ण के पुत्र शेष नारायण ने महाभाष्य पर सूक्तिरत्नाकर नाम की टीका लिखी है। इसमे मीमासादर्शन और व्याकरणदर्शन का कई स्थलों पर तुलनात्मक विवेचन मिलता है। भट्टोजि दीक्षित (१६०० ई०) ने शब्दकौस्तुभ मे व्याकरण के दर्शन पक्ष पर भी यथास्थान विचार किया है। इनमे आई हुई कारिकाओं का सग्रह वैयाकरणसिद्धान्तकारिका के नाम से ज्ञात है। इनमे व्याकरण के दार्शनिक

६५ महाभाष्यप्रदीप १।१।६४, १।४।२६

पदार्थ उल्लिखित हैं।

सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अनेक आचार्यों ने संस्कृत व्याकरणदर्शन की सुरक्षा में योग दिया जिनमें कुछ नैयायिक भी हैं। इनमें उल्लेखनीय कौण्डभट्ट, नागेश भट्ट, जगदीश भट्टाचार्य, कृष्ण मिश्र, भरत मिश्र आदि हैं। कौण्ड भट्ट ने वैयाकरणभूषण लिखा जो भट्टोजि दीक्षित की कारिकाओं की व्याख्या है। उसका लघु संस्करण वैयाकरणभूषणसार नाम से प्रसिद्ध है। वैयाकरण भूषण विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है और पहली बार एक वैयाकरण ने मीमांसकों, नैयायिकों और वेदान्तियों के आक्षेपो के उत्तर देने का प्रयत्न किया है। वैयाकरणभूषणसार पर प्रकाशित टीकाओं में हरिराम काले की काशिका महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। हरिवल्लभ ने भी इस पर दर्पण नाम की टीका लिखी है।

नागेश भट्ट (१७०० ई०) ने व्याकरणदर्शन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ 'वैयाकरण-सिद्धान्तमंजूषा' लिखा है। इसका एक लघु संस्करण परमलघुमंजूषा है। मंजूषा की कला टीका पृ० ५३०, ५३५ पर गुरुमंजूषा का भी उल्लेख है। नागेश ने वाक्यपदीय विशेषकर पुण्यराज और हेलाराज के आधार पर इसकी रचना की है। किन्तु मीमांसा और न्याय के पदार्थों पर भी विचार किया है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। नागेश ने स्फोटवाद पर एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है जो अड्यार से प्रकाशित है। नागेश की मंजूषा पर रामसेवक त्रिपाठी के पुत्र कृष्ण मिश्र की कुञ्जिका नाम की टीका है। इस पर कला टीका नागेश के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड की लिखी हुई है। दोनो ही टीकाएँ सारगर्भित हैं।

जगदीश भट्टाचार्य की 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' भी प्रसिद्ध पुस्तक है। श्री गिरिधर भट्टाचार्य रचित 'विभक्त्यर्थनिर्णय' और गोकुलनाथ रचित 'पदवाक्यरत्नाकर' उल्लेखनीय हैं। भरत मिश्र ने स्फोटवाद पर छोटी-सी किन्तु विचारपूर्ण पुस्तक लिखी है। कृष्णमिश्र ने व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। नागेश की मंजूषा पर इनकी टीका का उल्लेख हो चुका है। व्याकरणदर्शन से सम्बन्ध रखने वाले इनके कई छोटे-छोटे ग्रन्थ भी प्रकाशित हैं। इनमे वादसुधाकर, लघुविभक्त्यर्थनिर्णय और वृत्तिदीपिका उल्लेखनीय हैं। कृष्णमिश्र के पुत्र लक्ष्मीदत्त का पदार्थदीपक भी व्याकरणदर्शन का ग्रंथ है। मौनी श्रीकृष्णभट्ट की स्फोटचन्द्रिका, रसभनन्दि का कारकसम्बन्धोद्योत, अचलोपाध्याय का वाक्यवाद, श्री हरियशोमिश्र की वाक्यदीपिका (वाक्यवाद टीका) भी उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। बीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे व्याकरणदर्शन पर अल्प कार्य हुआ है। डॉ० गोपीनाथ जी कविराज, प्रो. के. एस. ए. अय्यर और प० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय ने व्याकरणदर्शन पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती की दो पुस्तकें 'फिलासफी ऑफ संस्कृत ग्रामर' और 'लिंग्विस्टिक स्पैकुलेशन ऑफ द हिन्दूज' इस अवधि की प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। पं० रामाज्ञा पाण्डेय का प्रतिभादर्शन और पं. सभापति उपाध्याय रचित मंजूषा की टीका भी उल्लेखनीय हैं।

इधर व्याकरणदर्शन की ओर कई विद्वानों का ध्यान गया है और इस विषय मे शोधकार्य हो रहे हैं। डॉ० के० राघवन् पिल्लै ने वाक्यपदीय का अंग्रेजी में अनुवाद

किया है। प्रो. अय्यर ने भी प्रथम काण्ड सवृत्ति का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। पं. रघुनाथ शास्त्री ने वाक्यपदीय प्रथम काण्ड पर वृषभ के आधार पर संस्कृत में टीका लिखी है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से वाक्यपदीय से सम्बद्ध विषय पर कुछ प्रबन्ध अंग्रेजी और हिन्दी में प्रस्तुत किए गए हैं जिनमें उल्लेखनीय डॉ० गौरीनाथ शास्त्री का 'फिलासफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग' है।

२
वाक्-ध्वनि-वर्ण-शब्द

व्याकरण का सम्बन्ध भाषा से है और भाषा का मूल रूप वाक् है। वाक् का एक स्वतंत्र दर्शन है। वाक् के बिना जगत् सूना और जीवन पंगु है। संसार के प्रायः सारे व्यवहार वाग्-व्यापार पर ही निर्भर हैं। सभ्यता और संस्कृति इसकी गोद मे फूलती-फलती हैं। वाक् केवल विचारों के विनिमय का ही माध्यम नही, अपितु विश्व में जो कुछ सत्य है, शिव है, सुन्दर है उन सब का भी व्यंजक है। वाक् का एक स्थूल रूप है, एक सूक्ष्म रूप है। स्थूल रूप मे वाक् भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। सूक्ष्म रूप मे वाक् ब्रह्ममय है, चिति तत्त्व है। वाक् तत्त्वमेव चितिक्रियारूपमित्यन्ये (वाक्यपदीय १।१२७ हरिवृत्ति)। भर्तृहरि ने वाक् की महिमा का उद्घाटन मुख्य रूप मे तीन तरह से किया है, श्रुति के आधार पर, आगम के आधार पर और भाषाविज्ञान के आधार पर। वेदों और उपनिषदों में वाक् पर पर्याप्त विचार किया गया है। भर्तृहरि ने श्रुतियों के उन वाक्यो को उद्धृत किया है जिनमे वाक् सृष्टि का मूल तत्त्व मानी गयी है। सम्पूर्ण सृष्टि नाम और रूप इन दो वर्गों मे विभाजित है। दोनों एक ही के विवर्त हैं। रूप अपने सूक्ष्म रूप मे नाम है :

नामैवेदं रूपत्वेन वर्तते रूपं चेद नामभावेवतस्थे।
एके तदेकमविभक्तं विमेजुः प्रागिवान्ये भेदरूपं वदन्ति॥

—वाक्यपदीय १।१२ हरिवृत्ति मे उद्धृत

वेद मे वाक् को सूक्ष्म और अर्थ से अविभक्त तत्त्व कहा गया है और इसके नाना रूप माने गये हैं :

सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमनभिष्यन्दमानाम्।
उतान्ये विदुरन्यामिव च एनां नानारूपामात्मनि संनिविष्टाम्॥

—वाक्यपदीय १।१ हरिवृत्ति में उद्धृत

वेद को ब्रह्मराशि कहा गया है। वेद ब्रह्म का प्राप्ति उपाय है और अनुकार भी है। प्राप्ति शब्द का प्रयोग यहाँ पारिभाषिक है। भर्तृहरि के अनुसार 'मेरा' या 'मैं' इस अहंकार-ग्रंथि का सर्वथा उन्मूलन ब्रह्म की 'प्राप्ति' है। कुछ लोगों के मत मे विकारों का अपने मूलप्रकृतिरूप मे हो जाना प्राप्ति है। प्राप्ति के निम्नलिखित नव विकल्प भर्तृहरि ने वाक्यपदीय १।५ की वृत्ति में गिनाए हैं—

(१) **वैकरण्य**—चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों, हाथ-पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियों,

बुद्धि और मन इन सब की निवृत्ति को वैकरण्य कहते हैं। क्योंकि संसार का परिज्ञान इन्द्रियों द्वारा ही होता है, इन्द्रियों की निवृत्ति से संसार की निवृत्ति मान ली गई है।

(२) असाधना—वृषभ के अनुसार असाधना का अर्थ अबहिः साधना है। बाह्य संसार में अनुकूल विषयों की साधना भी की जाती है। उससे भी तृप्ति होती है। परन्तु अन्तःसाधना का ही महत्त्व अधिक है।

(३) परितृप्ति—वह तृप्ति जिसमे कोई इच्छा नहीं रह जाती।

(४) आत्मतत्त्वम्—वह अवस्था जिसमे बाह्य परिस्थिति सर्वथा ओझल हो जाती है और व्यक्ति केवल आत्मानुभूति मे लीन हो गया रहता है। उपनिषदों में इस परिस्थिति को प्रिय स्त्री से आलिंगित पुरुष की आत्मविभोर परिस्थिति के प्रतीक के द्वारा व्यक्त किया है (आत्मतत्त्व यदुपनिषत्सु वर्ण्यते यथेष्टया स्त्रिया परिष्वक्तो न किंचन वेद इति—बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२१—वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।५)।

(५) आत्मकामत्व—रूप, रस आदि विषय-भोगों की कामना न होना और केवल आत्मा की कामना होना आत्मकामत्व है। आत्मतत्त्व और आत्मकामत्व मे भेद यह है कि आत्मतत्त्व मे आत्मानुभूति की गहराई द्योतित है जबकि आत्मकामत्व में बाह्य विषयो मे अनासक्ति लक्षित है।

(६) अनागन्तुकार्थत्व—आगन्तुक या परिवर्तनशील भोगो में तितिक्षा का होना। श्रीमद्भगवद्गीता मे सस्पर्शज भोगों को उत्पन्न होनेवाला (आगामी) माना गया है।

(७) परिपूर्ण शक्तित्व—सब तरह के सामर्थ्य का होना।

(८) कालवृत्तियों का आत्ममात्रा में असमावेश—जन्म, विपरिणाम आदि विकार कालवृत्ति के रूप हैं। कालवृत्ति के धर्मों का आत्मवृत्ति के धर्मों से पृथक् परिज्ञान कालवृत्तियो का आत्ममात्रा मे असमावेश है।

(९) सर्वात्मना नैराश्य—सर्वथा निरीह होना। नैराश्य परमसुख माना गया है।

प्राप्ति के उपर्युक्त भेद एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न न होकर एक-दूसरे से मिले हुए हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि वेद के प्रसग में प्राप्ति शब्द का जो पारिभाषिक अर्थ मीमांसादर्शन मे गृहीत है उससे अतिरिक्त अर्थ यहाँ भर्तृहरि द्वारा गृहीत हुआ है।

वेद ब्रह्म का अनुकार अर्थात् अनुकरण माना गया है। ऋषियों ने दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थों का सर्व साधारण के लाभ के लिए प्रवचन किया है। यह प्रवचन वाक् के द्वारा ही सम्भव है। यद्यपि वाक् सूक्ष्म, नित्य तथा अतीन्द्रिय है फिर भी ध्वनि-नाद के सयोग से वह अभिव्यक्त होकर भेद के द्वारा अभेद के प्रतिपादन में समर्थ होती है। सूक्ष्म और अतीन्द्रिय वाक् प्रतिभा द्वारा क्रमशक्ति के साहचर्य से ज्ञान के रूप मे, अर्थ के रूप मे परिणत होती है और उपदेश का विषय बनती है। अतीन्द्रिय के बोध को समझाने के लिए भर्तृहरि ने स्वप्न वृत्त का उदाहरण दिया है। स्वप्न में बिना बाह्य व्यापारों के विषय अनुभूत होते हैं और उनका अन्वाख्यान किया जाता है।

यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मभ्योपरेभ्यः प्रवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति स्वप्नवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्त इत्येष पुराकल्पः।

—वाक्यपदीय १।५ हरिवृत्ति पृ० १३ (द्रष्टव्य-निरुक्त १।२०।२)

अतीन्द्रिय, प्रज्ञास्वरूप वाक् कैसे ज्ञान का अथवा प्रत्यक्ष का विषय होती है इस पर भर्तृहरि की तरह योगसूत्र १।४३ के भाष्य में व्यास ने भी प्रकाश डाला है। उनके मत मे शब्द के साहचर्य से अतीन्द्रिय और असंकीर्ण प्रज्ञा ज्ञान के रूप मे बदल जाती है और प्रत्यक्ष का विषय होती है। योगियों को सूक्ष्म प्रज्ञा का दर्शन "निर्वितर्क समाधि" मे होता है। किन्तु निर्वितर्क समाधिज दर्शन शब्द संकेत के साहचर्य से परि-शुद्ध स्मृति मे ग्राह्यस्वरूप वाला हो जाता है। बिना शब्द का सहारा लिए उस निर्वि-तर्क समाधिज ज्ञान का उपदेश दूसरों को दिया ही नही जा सकता और न वह दूसरों से गृहीत हो सकता है। ग्राह्यस्वरूप वाली अवस्था को 'निर्वितर्का समापत्ति' कहते हैं। दृष्ट मन्त्रों का वाणीरूप में व्यक्त होने का प्रकार यही माना जाता है। इसी पद्धति से वेद प्रकाश में आए। इसमें यास्क, व्यास और भर्तृहरि एकमत[1] हैं।

वाक् की महिमा उसके व्यावहारिक दृष्टि से भी स्पष्ट है। वाक् और ज्ञान के विषय मे दो तरह के मत प्रचलित रहे हैं। कुछ लोग मानते हैं कि शब्द प्रकृति है और ज्ञान उसका विकार है। कुछ आचार्य ज्ञान को प्रकृति और शब्द को उसका विकार मानते हैं। पहले पक्ष के अनुसार शब्द-भावना बीज-रूप मे मस्तिष्क मे उद्बुद्ध होती है। इसके बाद उसके अर्थ का संवेदन होता है। दूसरे पक्ष के अनुसार अर्थ-ज्ञान पहले होता है। बाद मे उसके लिए शब्द की सृष्टि होती है। इसलिए ज्ञान प्रकृति और शब्द उसका विकार है। भर्तृहरि पहले पक्ष के समर्थक हैं। उनके मत में शब्द भावना अनादि है। शब्द की अभिव्यक्ति के प्रकार अर्थात् प्रयत्न भी स्वाभाविक (प्रतिभा-जन्य) हैं।

अनादिश्चैषाशब्दभावना प्रतिपुरुषमवस्थितज्ञानबीजपरिग्रहा। न ह्यस्तस्याः कथञ्चित्पौरुषेयत्वं संभवति। तथा ह्यनुपदेशसाध्याः प्रतिभागम्या एव करणविन्यासादय.।

—वाक्यपदीय १।१२३ हरिवृत्ति पृ० ११०

शब्दानुविद्ध ज्ञान के द्वारा वस्तु का अवभास होता है। सुप्तावस्था मे भी जाग्रत् अवस्था की तरह ज्ञानवृत्ति व्यापारित रहती है। केवल अन्तर यह है कि स्वप्नावस्था मे शब्दभावनाबीज अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे रहते हैं। अतः उस अवस्था ो आचार्यों ने तामसी अवस्था (अस्पष्ट अवस्था) कहा है।[2]

सभी प्रकार के ज्ञान निम्नलिखित तीन प्रकार से व्यावहारिक अनुभव के विषय

१. द्रष्टव्य-वाक्यपदीय १।१५ हरिवृत्ति पृ० १३-१४, निरुक्त १।२० और योगसूत्र व्यास भाष्य १।४३ और गोपीनाथ जी कविराज का लेख शैव एंड शाक्त स्कूल, हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टर्न एंड वैस्टर्न, वाल्यूम फर्स्ट, पृष्ठ ४०१, ४०२।

२. हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१२४, पृष्ठ १११।

होते हैं—(१) स्मृतिनिरूपणा (२) अभिजल्प निरूपणा और (३) आकार निरूपणा के द्वारा।

शब्दानुविद्ध बुद्धि के द्वारा 'यह है', 'ऐसा है' आदि का जो स्मरण होता है वह स्मृति-निरूपणा कहा जाता है। स्मृति के द्वारा शब्द और अर्थ का अभेद-ज्ञान अभिजल्प निरूपणा कहलाता है। 'यह वह है' इस रूप मे जब शब्द का अर्थ के साथ अध्यास किया जाता है उसे शब्द का अभिजल्प कहा जाता है। भर्तृहरि ने अभिजल्प की परिभाषा यों की है :

सोऽयमिति सम्बन्धाद्रूपमेकी कृतं यदा।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते ॥

—वाक्यपदीय २।१३०

कुछ लोगों के मत में 'वह' इस तरह के अनुसधान में स्मृति, 'यह वही है' इस तरह के बोध मे प्रत्यभिज्ञा, 'वह उसके तरह है' इस तरह के ज्ञान में उत्प्रेक्षा, 'यह वही है' इस तरह की धारणा में अनुयोगव्यवच्छेद होता है और ये सभी विकल्प अभिजल्प के ही भेद हैं।[३]

'यह इसका साधन है', 'यह इनका साध्य है' इसे आकारनिरूपणा कहते हैं। स्मृति-निरूपणा से ज्ञान का, अभिजल्पनिरूपणा से शब्द का और आकारनिरूपणा से अर्थ का निरूपण होना है ऐसा कुछ आचार्य मानते है।[४]

भर्तृहरि के मत मे जिस तरह प्रकाशकत्व अग्नि का धर्म है, चैतन्य आत्मा का धर्म है उमी नरह ज्ञान भी शब्द का धर्म है। बिना शब्द के ज्ञान हो ही नही मकता। यदि वाक् न हो, जगत् प्रकाशित ही न हो। वाक् ही प्रकाशक है। वही समस्त विद्याओं, कलाओं तथा विज्ञान का आधारभूत है। सभी विद्यायें वाक् रूप मे बुद्धि मे निबद्ध है। वाक् न हो तो घट-पट आदि की सत्ता ही न हो। वाक् से ही वस्तु का निष्पादन होता है। वह सूक्ष्म-रूप मे बुद्धि मे स्थित है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति ही वस्तु है। वाक् तत्त्व और चेतना नत्त्व एक ही बात है। वाक् तत्त्वमेव चितिक्रियारूपमित्यन्ये।[५]

वृषभ के अनुसार वाक् और चैतन्य मे अभेद इस दृष्टि से है कि परा प्रकृति मे भावो के आकार ग्रहण के रूप मे विवर्त होता है और वह चैतन्य के रूप मे परिणत होता है। (यनश्च भावनामाकारपरिग्रहेण परा प्रकृतिः विवर्तते, तच्चैतन्यात्मना परिणमत इति वाक्चैतन्ययोरभेद।—वाक्यपदीय १।२७ टीका, पृष्ठ ११४)

---

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, प्रथम भाग, पृष्ठ ११५

४. वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।११६, पृष्ठ १०७ (स्मृतिनिरूपणयेति ज्ञानस्य निरूपणमाह। अभिजल्पनिरूपणयेति शब्दस्याह। आकारनिरूपणयेत्यर्थस्याह। सर्वं एवैते शब्दानुविद्धा व्यवहाराङ्गं न स्वलक्षणरूपेणेति।)

५. वाक्यपदीय १।१२५, १२६, १२७।

तीन तरह की वाक्

वैखरी

भर्तृहरि ने वाक् के तीन अवयव माने हैं। वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती। भर्तृहरि के अनुसार वैखरी सभी तरह के अभिव्यक्त शब्दों का प्रतीक है। यह व्यापाररूप और कार्यरूप दोनों है। व्यक्तवर्ण और अव्यक्तवर्ण, साधुशब्द और असाधु-शब्द (अपभ्रंश), गाड़ी के पहिये की चरचराहट, नगाड़े की आवाज, बाँसुरी की ध्वनि और वीणा की झकार जैसे अपरिमित ध्वनि-समूह का द्योतक शब्द वैखरी है और इसलिये वैखरी के अपरिमित भेद सम्भव हैं।[६] चरचराहट, झकार आदि यद्यपि शब्दभेद के रूप मे गृहीत होते हैं, वाक् के भेद के रूप मे नही, फिर भी अर्थवाद के आधार पर वैखरी की व्याख्या में इनका स्थान[७] है। वैखरी शब्द का निर्वचन विखर शब्द से किया जाता है जिसके अनेक तरह से अर्थ किये गये है :

(१) **विखरः शरीरं, तत्र भवा तत्पर्यन्त चेष्टा संपादिकेत्यर्थः।**

—अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग ३, पृ० १८७

(२) **वक्तृभिः विशिष्टायां खरावस्थायां स्पष्टरूपायां भवा वैखरी।**

—वादिदेवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर १।७, पृष्ठ ८९

(३) **विखर इति देहेन्द्रिय संघात उच्यते तत्र भवा वैखरी।**

—जयन्तभट्ट, न्यायमंजरी, पृ० ३४३ चौखम्बा सस्करण १९३६

(४) **विशिष्टं खमाकाश मुखरूपं राति गृह्णाति इति विखरः प्राणवायुसंचार-विशिष्टः वर्णोच्चारः, तेनाभिव्यक्ता वैखरीति।**

—जयरथ, अलंकारसर्वस्व, टीका, पृ० २

वैखरी संज्ञा वर्णों के उच्चारण से सम्बद्ध है। वैखरी की विशेषता यह है कि यह स्वसंवेद्य और परसंवेद्य दोनों है। व्याकरण की दृष्टि से वैखरी का महत्त्व बहुत अधिक है। इसी के आधार पर साधु-असाधु विचार चलता है। और कुछ आचार्य यहाँ तक मानते हैं कि वैखरी का संस्कार अन्य सभी वाक् के अवयवों के सस्कार का उपलक्षण है। येय वैखरी वाक् तस्यां सस्क्रियमाणाया सर्वा एव सस्कृता भवन्ति तज्जातीयकत्वात्—वृषभ, वाक्यपदीय १।१४३, पृष्ठ १२८)।

---

६. परैः संवेद्यं यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी। श्लिष्टा व्यक्तवर्णसमुच्चारणा प्रसिद्धसाधुभावा भ्रष्टसंस्कारा च। तथा याऽक्षे, या दुन्दुभौ, या वेणौ (या) वीणायामित्यपरिमाणभेदा।

—वाक्यपदीय १।१४३, हरिवृत्ति, पृष्ठ १२६

'वैखरी करणव्यापारानुग्रहा श्रोत्रज्ञानविषया शब्दबुद्धिः।'

—महाभाष्यव्याख्या, हस्तलेख, मद्रास, आर. ४४३६

७. ननु वाचो भेदकथनमेतत्, न तु शब्दमात्रभेदकथनम्। तत्कथं शाकटाच्च उपातः। उच्यते, अर्थवाददर्शनादिदमुपात्तम्।

—वृषभ, वाक्यपदीय १।१४३

मध्यमा

मध्यमा को भर्तृहरि ने 'अन्तः संनिवेशिनी' कहा है। उसका व्यापार भीतरी है। वह सूक्ष्म प्राणशक्ति के सहारे परिचालित होती है। उसका उपादान केवल बुद्धि है। वक्ता की बुद्धि में शब्द क्रम रूप से प्रतिभासित से होते हैं। उसमे क्रमसंनिवेश नहीं भी हो सकता है। मध्यमा मे बुद्धिगत आकार के अवभास से क्रम, और एक बुद्धि होने के कारण और शब्द का बुद्धि से अभिन्न होने के कारण अक्रम दोनों रूप माने जाते हैं—(बुद्धिस्थत्वात् अन्तःसनिवेशित्वक्रमाद्याकारेण प्रत्यवभासनात् क्रमवत्वमेकबुद्धित्वादव्यतिरेकादक्रमत्वम्—वृषभ, वाक्यपदीय १।१४३, पृ० १२६)। मध्यमा मे यद्यपि प्राणवृत्ति का संचार माना जाता है फिर भी प्राणवृत्ति का अतिक्रमण कर शब्द के उपादान के रूप मे केवल बुद्धिमात्र भी रह सकती है। दूसरे शब्दो मे, चिन्तन शब्द से जो कुछ द्योतित होता है उसे मध्यमा का रूप दिया जा सकता है। भर्तृहरि के अनुसार द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता इन तीनो वृत्तियों मे शब्द के उच्च, मन्द (शनैः), उपांशु, परमोपांशु और सहृतक्रम ये पांच औपाधिक भेद माने जाते हैं।[८] इनमे उपांशु और परमोपांशु मध्यमा के प्रतीक हैं। उपांशु मौन भाषण को कहते हैं। इसमें प्राणवृत्ति का सचार रहता है। पर वाक् किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा गृहीत नही हो सकती। वह दूसरों द्वारा सर्वथा असवेद्य होती है। प्राणवृत्ति की सहायता के बिना जब शब्द अपने एकमात्र उपादान बुद्धि मे ही समाविष्ट रहता है उस अवस्था को परमोपांशु कहते हैं।

> तत्र प्राणवृत्त्यनुग्रहे सत्येव यत्र शब्दरूपं परैरसंवेद्यं भवति तदुपांशु।
> अन्तरेण तु प्राणवृत्त्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादानएव शब्दात्मा तत् परमोपांशु।
>
> —वाक्यपदीय २।१६ हरिवृत्ति, पृ० १६.

मध्यमा के भीतर ये दोनों अवस्थाएं आ जाती है और इनके आधार पर मध्यमा के दो भेद माने जा सकते हैं। वाक् के तीन भेद—वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती मे मध्यमा मध्य अवस्था को अभिव्यजित करती है और इसलिए उसे मध्यमा कहते हैं।

पश्यन्ती

पश्यन्ती का स्वरूप भर्तृहरि ने निम्नलिखित रूप मे व्यक्त किया है : प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्ट क्रमशक्तिः पश्यन्ती। सा चला च अचला च, प्रतिलब्धा समाधाना च, आवृता विशुद्धा च संनिविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा चेत्यपरमितभेदा।"

—वाक्यपदीय १।१४३ हरिवृत्ति, पृष्ठ १२६

पश्यन्ती प्रतिसंहृतक्रमा है। प्रतिसहृतक्रम परमोपांशु के एक डग और परे की

---

८. वाक्यपदीय २।१६, हरिवृत्ति, पृष्ठ १७, लाहौर संस्करण।

स्थिति है। क्रम नाम की एक शक्ति है। उसके साथ बुद्धि का योग होता है। बुद्धि द्वारा अव्यक्त शब्द में शब्दों के क्रम का अध्यारोप होता है। ये अध्यारोपित शब्दक्रम जब दूसरे निमित्तों से युक्त होते हैं—प्रवक्ता की मानसिक चेष्टाओं से परिचालित होते हैं उनका साक्षात्कार-सा होता है। इस पूरी प्रक्रिया को प्रतिसंहृतक्रम कहते हैं। (यत्र तु प्रतिसंहृत-क्रमशक्तियोगया बुद्धया निमित्तान्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्देऽध्यारोपितं हि शब्दानां क्रम-रूपमिव साक्षात् क्रियते तत् प्रतिसंहृतक्रमम्—वाक्यपदीय २।१९ हरिवृत्ति)। पश्यन्ती में क्रम शक्ति सन्निहित रहती है इसलिए उसमें, क्रमों में भेद के कारण, भेद होना चाहिए। पर वस्तुतः भेद नहीं होता क्योंकि क्रम आरोपित होते हैं, वास्तविक नहीं। जब बुद्धि में क्रमरूप का पूर्णतया उपसंहार हो जाता है, वह असंप्रख्यात अवस्था की-सी हो जाती है और लोक व्यवहार (शब्द व्यवहार) से अतीत होती है। वाक् की अन्य विकसित अव-स्थाओं का मूल पश्यन्ती है, इसलिए उन सबका इसके साथ सम्बन्ध है और उनके स्वरूपों का बीज भी इसमें हैं। अतः पश्यन्ती चला और अचला दोनों है। वह चला है क्योंकि शब्दात्मा की अभिव्यक्ति में गति होती है। टीकाकार वृषभ के अनुसार पश्यन्ती चला इसलिए है कि रूप, रस आदि विषयो में लीन बुद्धि साधारण व्यक्ति को वाक् की तरह जान पड़ती है। (रूपादिषु विषयेष्वर्वाग्दर्शनानां विक्षिप्तोत्पद्यते बुद्धिर्वागेव हि सा—वाक्यपदीय १।१४३ टीका) वह अचला है क्योंकि अपने स्वरूप मे वह निस्पन्द है। वह प्रतिलब्धा है क्योकि उसमें क्रम आदि की अलग-अलग उपलब्धि सभव है। वह समाधाना भी है क्योकि क्रम आदि उसमें एक साथ समाहित भी हैं। वह आवृत्ता है क्योंकि वह अपभ्रंश आदि से सकीर्ण है। वह विशुद्धा भी है क्योकि वाक् के रहस्य को जानने वाले (वाग्योगविद्) उसके अक्रमरूप के अथवा अपभ्रंश से असकीर्ण रूप के दर्शन करते है. वह सर्वथा शुद्ध स्वरूप वाली है। वह सन्निविष्टज्ञेयाकारा है क्योकि उसमे ज्ञेय का रूप आविष्ट (जुटा) रहता है, जैसे ज्ञान मे ज्ञेय का रूप अनुस्यूत रहता है। उसमे ज्ञेय का आकार पूरा लीन भी रहता है और ऐसा भी हो सकता है कि उसमे ज्ञेय के आकार का बिल्कुल ही परिज्ञान न हो। उस दशा मे वह निराकारा है। उसमे शब्द के अर्थों का, गो-अश्व आदि का अलग-अलग अवभास हो सकता है। इस दशा में उसे परिच्छिन्नार्थ प्रत्यवभासा कहते है। सन्निविष्टज्ञेयाकारा और परिच्छिनार्थ-प्रत्यवभासा इन दो रूपो मे भेद केवल इतना है कि एक मे ज्ञेय का आकार ज्ञान मे सन्निहित रहता है और दूसरे मे शब्द मे अर्थ का आकार सन्निहित रहता है। एक ऐसी भी दशा सभव है जिसमे शब्द और अर्थ एक-दूसरे मे बिल्कुल गुँथे हुए से जान पड़ते हैं—संसृष्ट रहते है। प्रतिर्लीनाकार और संसृष्टार्थप्रत्यवभास इन दो रूपों मे यह भेद है कि पहले मे आकार का परिज्ञान अत्यन्त कठिन है पर दूसरे मे शब्द और अर्थ के आकार का अलग-अलग तो नही परन्तु संसृष्ट रूप मे ज्ञान सभव है। ऐसा भी हो सकता है कि अर्थों का अवभास अनुद्बुद्ध रह जाय, उनका बिल्कुल ही भान न हो। उस समय पश्यन्ती प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा है। इस तरह पश्यन्ती अनेक भेद वाली है। परन्तु अपने मूल रूप मे वह क्रमरहित है, स्वप्रकाशा है और संविद् रूप है।

वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती के लिए इतिहास के निदर्शन का उल्लेख करते हुए

भर्तृहरि ने महाभारत के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है। उद्धृत श्लोको में कुछ श्लोक महाभारत के आश्वमेधिकपर्व के २१वें अध्याय में पाठभेद के साथ मिलते हैं। भर्तृहरि द्वारा उद्धृत श्लोकों का सारांश निम्नलिखित है :—

भारती वाणी (संस्कृत) दिव्य और अदिव्य भेद से दो प्रकार की है। उसमे एक प्राण और अपान के बीच रहती है और दूसरी बिना प्राणवृत्ति के ही रहती है और अप्रेर्यमाणा-सी है। उससे प्राण उत्पन्न होता है और प्राण से युक्त होकर वह व्यवहार का साधन बनती है। व्यवहारनिबन्धन वाक् के भी तीन रूप हैं। घोषिणी, जातनिर्घोषा और अघोषा। घोषिणी और निर्घोषा में निर्घोषा का अधिक महत्त्व है। भर्तृहरि ने तीन प्रकार के वाक् के लिए भी महाभारत का उद्धरण दिया है। महाभारत के अनुसार वैखरी वाक् प्राणवृत्तिनिबन्धना है अर्थात् प्राणो के आधार पर उसकी भित्ति निर्मित है। मध्यमा वाक् का उपादान बुद्धि है और उसमे क्रम रहता है। परन्तु प्राणवृत्ति नही रहती। पश्यन्ती में क्रम का उपसंहार हो गया रहता है, उसमे किसी प्रकार का विभाग नही होता। वह स्वप्रकाशा है और नित्य है। वाक् के स्थूल भेदो से संपृक्त होने पर भी उसमें कोई विकार नही होता। वह अमृतकला है।[९]

यह ध्यान देने की बात है कि भर्तृहरि परा वाक् का कही उल्लेख नही करते। वे वाक् के केवल तीन अवयव पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ही स्वीकार करते हैं। भर्तृहरि के इस व्यवहार से कुछ प्राचीन आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि व्याकरण-दर्शन मे परा वाक् का कोई स्थान नही है। अभिनवगुप्त ने लिखा—"ननु **पश्यन्त्येव परं तत्त्वमिति जरद्वैयाकरणाः मन्यन्ते**"[१०] अर्थात् प्राचीन वैयाकरणो के अनुसार पश्यन्ती ही परमतत्त्व है, परा वाक् नही। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी मे अभिनवगुप्त ने वैयाकरणों के साथ शास्त्रार्थ किया है और समझाने का प्रयास किया है कि वैयाकरणो को भी परा वाक् की सत्ता माननी चाहिए।[११] क्षेमराज ने भी लिखा—"**शब्दब्रह्ममय पश्यन्तीरूपं आत्मतत्त्वमिति वैयाकरणा**"।[१२] अर्थात् वैयाकरणो के मत मे पश्यन्ती ही परम तत्त्व है। वाक् के तीन प्रकार का उल्लेख सुचरित मिश्र ने मीमांसाश्लोकवार्तिक की काशिका नाम्नी टीका मे किया है—**त्रेधा हि वाचं विभजन्ते वैखरी मध्यमा सूक्ष्मा चेति। यथोक्तम्**—

शब्दब्रह्मं वतैषां हि परिणामि प्रधानवत्।
वैखरीमध्यमासूक्ष्मा वागवस्था विभागतः॥ —काशिका टीका पृष्ठ २४८

भर्तृहरि ने परा वाक् का उल्लेख क्यो नही किया, उसकी सत्ता क्यो नही मानी, यह प्रश्न विचारणीय है। उनके 'त्रय्या वाचः परं पदम्' (वाक्यपदीय १।१४४) इस वाक्य से स्पष्ट है कि वे वाक् के केवल तीन ही अवयव मानते हैं। परा वाक् की चर्चा भी उनके समय अवश्य रही होगी। उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या मे

---

९. वाक्यपदीय १।१४३ हरिवृत्ति में उद्धृत।
१०. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १९१।
११. द्रष्टव्य, वही, द्वितीय भाग, पृष्ठ १९५।
१२. प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ४३ अड्यार संस्करण।

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' यह ऋक्मंत्र उद्धृत किया है। इससे यह स्पष्ट है कि वे चार भेद से अवगत थे। वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती के साथ परा वाक् की चर्चा अवश्य चल पडी थी। तभी यहाँ उपर्युक्त मंत्र उद्धृत किया जा सकता है। केवल तीन भेद मानने से उक्त मंत्र के चत्वारि शब्द का सामंजस्य नही बैठता।

इस प्रश्न पर पहले के कुछ विद्वानो का ध्यान गया था। नागेश ने इस प्रश्न का एक उत्तर निकाला। उनके मत में भर्तृहरि के त्रयी वाक् कहने का कारण यह है कि वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती इन तीनों तक प्रकृति-प्रत्यय-विभाग का ज्ञान होता है। यद्यपि पश्यन्ती लोकव्यवहार से सर्वथा परे है फिर भी योगियो को उसमे भी प्रकृति-प्रत्यय का विभाग दृष्टिगोचर होता है। परा वाक् में प्रकृति-प्रत्यय आदि का ज्ञान योगियों को भी नही होता। इसलिए भर्तृहरि ने परा वाक् का उल्लेख नही किया और वाक् को केवल तीन अवयव वाली माना ·

पश्यन्ती तु लोकव्यवहारातीता, योगिनां तु तत्रापि प्रकृति-प्रत्यय-विभागावगतिरस्ति; परायां तु नेति त्रय्या इत्युक्तम्

—उद्योत, महाभाष्य पस्पशाह्निक।

परन्तु नागेश की यह उक्ति युक्तिसगत नही है। क्योकि भर्तृहरि जब शब्द-ब्रह्म और शब्द से जगत् का विकास जैसे गूढ़ विचार सामने रख सकते हैं तो परा वाक् के नाम लेने मे उन्हे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए थी और परा वाक् की सत्ता, चाहे जिस किसी रूप मे भी मानते हुए वाक् को त्रयी वाक् कहना असंगत होता। नागेश ने प्रमाण के रूप में 'स्वरूप ज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी' यह वाक्य उद्धृत किया है। परन्तु वाक्यपदीय की हरिवृत्ति मे, न्यायमंजरी में और स्याद्वादरत्नाकर मे 'परावागनपायिनी' के स्थान पर सूक्ष्मावागनपायिनी पाठ मिलता है। कही-कही सूक्ष्मा के स्थान पर 'सैषा' पाठ है। अस्तु, नागेश की उक्ति से उपर्युक्त प्रश्न का समाधान नही होता।

हेलाराज का ध्यान इस प्रश्न पर अवश्य गया होगा। क्योकि एक स्थान पर वे पश्यन्ती को ही परा वाक् के रूप में व्यवहृत करते हैं :

संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्द ब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्व शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते। विवर्त दशायां तु वैखर्यात्मना भेदः

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, द्रव्य समुद्देश ११।

इससे तो इतना स्पष्ट हो जाता है कि हेलाराज के अनुसार भर्तृहरि परा की सत्ता नही मानते और पश्यन्ती को ही परम तत्त्व मानते हैं। परन्तु यह प्रश्न अभी बना हुआ है कि परा वाक् को स्वीकार करने मे उनके सामने क्या कठिनाइयाँ थी।

एक कठिनाई का संकेत उत्पल ने किया है। उत्पल के मत में यदि वैयाकरण प्रत्यभिज्ञादर्शन में गृहीत पश्यन्ती के स्वरूप को मान लें तो उन्हें ईश्वर की भी सत्ता (उपगम) माननी पड़ेगी :

पश्यन्ती च नेश्वरप्रत्यभिज्ञोक्त न्यायेन शब्दनात्मिका परमेश्वरशक्तिरिष्यते भवद्भिः, ईश्वरोपगमप्रसंगात्, अपितु सूक्ष्मो वाच्यामेवेम स्थितः वाचकः शब्द इत्येवं शब्दात्मासौ। —शिवदृष्टि २।३५, पृष्ठ ५८।

वैयाकरणभूषण के एक टीकाकार कृष्ण मित्र ने स्फोट को ही परा वाक् माना है, परा वाक् ही शब्दब्रह्म है। "अत्र परावाक् स्फोट शब्देनोच्यते। सैव शब्दब्रह्म इत्युच्यते" (कृष्णमित्र, वैयाकरणभूषण टीका, मैन्युस्क्रिप्ट पृष्ठ १)। परन्तु ऐसा जान पड़ता है, परा वाक् को वाक्यपदीय में स्थान न देने का मुख्य कारण भर्तृहरि का 'प्रतिभावाद' है। प्रतिभावाद पर आगे विवेचन किया जायगा। यहाँ केवल यह दिखलाना है कि भर्तृहरि के मत से वाक् का मूल प्रतिभा है वाग् विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति' (वाक्यपदीय १।१४ हरिवृत्ति, पृष्ठ २७)।

वे प्रतिमा, सत्ता और महासत्ता को एक ही तत्त्व मानते हैं।

तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भाव-विकारप्रकृतिं सत्तां साध्यसाधनशक्तियुक्ताम् सम्यगवबुद्ध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति।

—वाक्यपदीय १।१३२ हरिवृत्ति, पृ० ११८।

शैवागम मे विश्व का विकास परा वाक् से व्यक्त किया गया है। भर्तृहरि विश्व का विवर्त प्रतिभा से मानते हैं। प्रतिभा से विश्व का विकास मानने पर उन्हे परा वाक् नाम की किसी अन्य वस्तु के मानने की आवश्यकता नही रह जाती। शैवागम मे भी परा वाक् और परा सत्ता को एक ही माना गया है :

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्य तदैश्वर्यं परमात्मनः॥
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥

उत्पलकारिका १३,१४।

भर्तृहरि ने पर शब्द का आध्यात्मिक अर्थ मे केवल एक बार प्रयोग किया है और उसे प्रतिभा के अर्थ मे किया है"....भेदानुरागमात्रंच परस्मिन् अभेदे शब्दात्मनि संनिवेशयति" (वाक्यपदीय १।११८ हरिवृत्ति, पृ० १०५) टीकाकार वृषभ ने यहाँ परस्मिन् का अर्थ प्रतिभारूपी शब्दतत्त्व किया है (परस्मिन् इति प्रतिभाख्ये शब्दतत्त्वे—वृषभ पृ० १०६)।

शिवदृष्टिकार, उत्पल और उनके अनुगामी अभिनवगुप्त आदि ने वैयाकरणो द्वारा परा वाक् के गृहीत न किए जाने पर जो आक्षेप लगाए हैं उन पर विचार करने के पूर्व कश्मीर शैवागम मे गृहीत परा पश्यन्ती आदि का सक्षेप मे उल्लेख यहाँ आवश्यक है।

कश्मीर शैवागम में वाक्

शैवागम की दृष्टि में परमेश्वर ही शब्द-राशि है। उसकी शक्ति भिन्न और अभिन्न रूप में विचित्र है। मातृका के वर्गाष्टक रुद्र के शक्त्यष्टक हैं और पचास वर्ण रुद्र की पचास शक्तियाँ हैं। आगमों मे प्रकाश शरीर वाले विमर्शात्मा भगवान् का स्वरूप शब्दनामय

माना गया है।[१३] शैवागम में वाक् को एक सूक्ष्म सत्ता या शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति (शब्दाद्वयवाद नहीं) के रूप में मानने का प्रधान कारण यह है कि कश्मीर के आभासवादी वाक् को पाणि आदि की तरह इन्द्रिय रूप नहीं देना चाहते। उनके मत में संपूर्ण ज्ञान और बोध संवित्मय हैं। 'प्रकाश' और 'विमर्श' इन दो तत्त्वों में सपूर्ण विश्व आ जाता है। प्रकाश और विमर्श दो विभिन्न वस्तु नहीं हैं, किन्तु एक ही के दो पहलू हैं। विश्व का वाच्य अंश प्रकाश है और वाचक अंश विमर्श है। वाच्य और वाचक मे कोई भेद नही है :

न च वाच्यं पृथक् जातु वाचकाद् व्यवतिष्ठते।

—मालिनीतन्त्र वार्तिक, पृ० ४०।

इसलिए शब्द विमर्श से अभिन्न है, फलतः शिवरूप है और स्व-पर प्रकाशक है—'इत्थं शिवात्मकविमर्शपदादभिन्नः

शब्दः स्फुटत्वत इह स्वपरप्रकाशः।[१४]

चार प्रकार की वाक्

वाक् के चार प्रकार के भेद की चर्चा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद का 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' यह मन्त्र[१५] उपर्युक्त भेद का आधार मान लिया गया है। परन्तु चार से वैदिक ऋषि का तात्पर्य क्या था वह आज तक स्पष्ट न हो सका है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे चार प्रकार की वाक् का तात्पर्य मनुष्य की भाषा, पशुओ की बोली, पक्षियों के कूजन और क्षुद्र जन्तुओ जैसे सरीसृप आदि की ध्वनियाँ—इन चार रूपो मे बतलाया गया है।[१६] प्राचीन वैयाकरण चार प्रकार की वाक् का अभिप्राय नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में समझते थे। यास्क ने अपने समय मे प्रचलित अन्य अर्थों का भी उल्लेख किया है।[१७] बहुत बाद में चार प्रकार के वाक् का विवरण परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार रूपों मे किया जाने लगा। महाभाष्यकार पतञ्जलि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) तक यह अर्थ स्वीकृत नही हुआ था। मुझे ऐसा जान पड़ता है, ये चार भेद पहले-पहल तन्त्र-ग्रन्थो में व्यवहृत हुए। उसका प्रभाव बाद के उपनिषदो पर पडा और वैयाकरण भर्तृहरि भी इन भेदों से प्रभावित हुए। परन्तु भर्तृहरि ने परा वाक् को अपने दर्शन में स्थान नही दिया। शेष तीन पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की, जो तन्त्र-ग्रन्थों मे गृहीत व्याख्याओ से बहुत दूर तक भिन्न है। शैवागम के लेखक जो सभी भर्तृहरि के बाद हुए और प्रायः सभी भर्तृहरि के व्याकरण-दर्शन से परिचित हैं, वैखरी आदि की व्याख्या के लिए तन्त्रों की अपेक्षा वाक्यपदीयकार के अधिक ऋणी हैं। अवश्य ही वे, भर्तृहरि के

१३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १९९।
१४. मालिनीतन्त्रवार्तिक, पृष्ठ ४१।
१५. ऋक्संहिता १।१६४।४५।
१६. शतपथ ब्राह्मण ४।१।३।१६
१७. द्रष्टव्य निरुक्त १३।९ परिशिष्ट

विपरीत परा वाक् की सत्ता मानते हैं और पश्यन्ती आदि का विवेचन आगम की मान्यताओं के अनुसार करते हैं फिर भी वे अपने मत की पुष्टि के लिए वाक्यपदीय के अवतरण आदर के साथ उद्धृत करते हैं। अस्तु, आगमों में वाक् के चार भेद परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी स्वीकृत कर लिए गए और इनकी चर्चा इतनी अधिक हुई कि बाद का सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य और लोक-साहित्य उनके प्रभाव में आ गए। और नव्य वैयाकरणों ने भी परा को स्थान देते हुए चार भेद मान लिए।

वैखरी

शैवागम के अनुसार वाक् का वैखरी रूप क्रियाशक्ति से परिचालित है। इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, और क्रियाशक्ति ये तीन शैवागम की आधारशिला हैं। क्रियाशक्ति का प्रतिनिधित्व वैखरी करती है। वैखरी क्रियाशक्तिरूपा है। जिह्वा-व्यापार वागिन्द्रिय का उपलक्षण है और वह विमर्श स्वभाव वाला है। सभी तरह के व्यापार या क्रियायें—विमर्श रूप के भीतर आ जाती हैं। वैखरी में दो रूप मिलते हैं। एक सघोष और दूसरा अघोष। सघोष से यहाँ तात्पर्य अन्य द्वारा श्रूयमाण से है, जो दूसरों द्वारा स्पष्ट सुन लिया जाता है। अघोष से तात्पर्य यहाँ उपांशु से है अर्थात् ऐसा उच्चारण जो स्वत. सुनाई दे परन्तु जो दूसरो को न सुनाई दे सके। सघोष और अघोष दोनो रूप शब्दानुविद्ध होते हैं। स्वतन्त्र वर्ण के उच्चारण मे सुने जाने की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। पद भी, यदि उसमे अल्प वर्ण हो, अच्छी तरह सुने जा सकते है। परन्तु वाक्य मे श्रूयमाणताबुद्धि अस्पष्ट रहती है क्योंकि बुद्धि वर्णों के संकलन और स्मरण की क्रिया मे सलग्न रहती है इसलिए स्फुट श्रवण सभव नही। अतएव वैयाकरण भी वाक्यस्फोट को बुद्धिग्राह्य ही मानते है।

वैखरी मध्यमा का बाह्य प्रसार है। प्रमाता का स्थान-करण अभिहनन रूप जो व्यापार है, वैखरी पहले उसका रूप धारण करती है, पुन उन व्यापारो से सपादित शब्दरूप धारण करती है और श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होकर भिन्न रूप से आभासित होती हुई तथा वेद्य अथवा ग्राह्य वस्तु के स्वरूप को छूती हुई सी परिस्पष्ट होती है। वैखरी व्यापार रूप और कार्यरूप दोनों हैं।

अभिनवगुप्त ने सामान्य वैखरी और विशेष वैखरी के आधार पर वैखरी के कई रूप माने है :

> **वचनं सप्तधा। तद् यथा मध्यमारूपंतत्-प्ररोहात्मकं सामान्यवैखर्यात्मकं तत्प्ररोहात्मकं विशेषशब्दात्मकं वैखरीस्वभावं आवेशोचित-विशेषवैखरीरूपं तत्प्रबन्धं विच्छेदं च।** —अभिनवभारती, तृतीय भाग, पृ० ३०७

शैवागम में गृहीत वैखरी का उपर्युक्त स्वरूप भर्तृहरि के मत से मेल खाता है। वैखरी शब्द का निर्वचन अभिनवगुप्त ने विखर शब्द मे किया है जिसका अर्थ शरीर है।

> **विखरः शरीरं, तत्रभवा तत्पर्यन्त चेष्टा संपादिकेत्यर्थः।**
>
> —अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग २, पृ० १८७

विशेष खर, अपेक्षाकृत रूखर, ध्वनि के प्रतीक होने के कारण इसका नाम वैखरी पड़ा होगा।

मध्यमा

अन्तःकरण मन, बुद्धि और अहंकार लक्षणवाला है। मध्यभूमि में, पुर्यष्टक प्राणाधार मे वह विश्राम करता है। विमर्श शक्ति जब अन्तःकरण को प्रेरित करती है, तब वह शक्ति मध्यमा वाक् कहलाती है। विमर्श शक्ति से प्रेरित अन्तःकरण मे विकल्पना नामक व्यापार पैदा होता है, जिसके भीतर संकल्प, निश्चय और अभिमनन व्यापार गृहीत हैं। उस समय वह विमर्शमयी वाक् संकल्प-वस्तु (ग्राह्य अथवा वाच्य और संकल्प करने वाले (ग्राहक अथवा वाचक) को स्पष्ट रूप से क्रम से ग्रहण करती है। चैत्र के घट देखने की क्रिया मे इस घट को मैं चैत्र देख रहा हूँ इस रूप मे ग्राह्य और ग्राहक दोनो का स्पष्ट भान होता है। चिन्तनप्रधान होने के कारण मध्यमा को चिन्तन शब्द से भी कहते है। इसलिए मध्यमा ज्ञानशक्ति रूप भी मानी जाती है। ज्ञानशक्ति इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति के बीच की वस्तु है। मध्य मे होने के कारण मध्यशक्ति के प्रतीक वाक् को भी मध्यमा वाक् कहते हैं।

कश्मीर शैवागम में मध्यमा ही विकल्प भूमि मानी जानी है। विकल्प के प्राण अभिलाषस्पर्श हैं, विकल्प में ही वाचक का स्वरूप निहित है, जो सदा अहभाव रूप मे होता है। किसी शब्द का संकेत आदि भी विकल्प भूमि मे ही होता है। अभिनवगुप्त के मत में, जो शब्द सुनाई देता है, वास्तव मे वह वाचक नही है। उसके पूर्व का मध्यमास्थित जो उसका स्वरूप है वही वाचक है। क्योकि वाच्य और वाचक मे 'यह वही है' ऐसा अध्यास माना जाता है। स्वलक्षण का स्वलक्षणान्तर में अध्यास संभव नही है। इसलिए शब्द का जो शब्दनरूप और क्रमिक रूप है वह मध्यमावस्था मे ही स्फुट हो गया रहता है। श्रोत्रग्राह्य जो शब्द है, वह मध्यस्थित शब्द-रूप का एक विकसित या पल्लवित रूप है। विकल्प्य घट से बाह्यघट मे कोई भेद नही होता। दोनो का रूप एक ही माना जाता है। वही घटाभाम देश आदि अन्य आभासो के सहारे स्वलक्षणभाव प्राप्त करता है। यही बात शब्द के विषय मे ठीक है। वही शब्द स्थूलरूप में पूर्ण आभासित होने पर भी दूसरे अभासो से भेद करने के लिए श्रोत्रग्राह्य शरीर वाला माना जाता है। यही उसका स्वलक्षण है।[१८]

अभिनवगुप्त के मत मे स्मित मध्यमा का सूचक है क्योकि स्मित एक तरह का भीतरी सजल्प है जो मध्यमा का रूप है—

"स्मितं ह्यन्तः संजल्परूपां मध्यमां सूचयति"—

—अभिनवभारती, भाग तृतीय, पृ० ३०७

---

१८. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृ० १६२

पश्यन्ती

पश्यन्ती में ग्राह्य और ग्राहकगत क्रम देश और काल-दृष्टि से यद्यपि सभव है, परन्तु वह स्फुट नहीं होता। क्योंकि पश्यन्ती का विमर्श निर्विकल्पक होता है, वह अक्रम है और इसलिए उसमे विभाग संभव नहीं है। जिस तरह प्रसेवक (बोरा) अपने भीतर अन्नराशि को समेटे रहता है, उसी तरह पश्यन्ती में भी ग्राह्य और ग्राहकगत क्रम अन्तःसंकुचित रहते है। अतः पश्यन्ती को संहृतक्रम वाली कहते हैं। उसमे शब्द अन्तर्लीन-से रहते हैं। अतः उसे सूक्ष्म भी कहते हैं। उसमें रस सर जैसे पद और देवदत्ततुरगादि जैसे वाक्य क्रमहीन रूप में पिण्डीभूत-से हो गये रहते हैं, एक में मिले रहते है। जिस तरह सूत्र अधिक से अधिक भाव को अपने अन्दर समेटे रहते हुए भी सूक्ष्म कहा जाता है उसी तरह पश्यन्ती का 'अभिजल्प' भी सूक्ष्म माना जाता है। भर्तृहरि ने भी पश्यन्ती को 'प्रतिसंहृतक्रमा' और 'समाविष्टक्रमशक्तिः' कहा है।

पश्यन्ती को इच्छाशक्ति रूप माना गया है। मध्यमा ज्ञानशक्तिरूपा है और वैखरी क्रियाशक्तिरूपा है। इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का अनुग्राहक है। वैसे ही पश्यन्ती भी मध्यमा और वैखरी का अनुग्राहक है। पश्यन्ती को बोध्य और बोधस्वभावा भी माना गया है। उसमे वस्तु का अवभास परिपूर्ण रहता है। इच्छा-शक्ति का प्रकाश रूप अप्रतिहत होता है। इच्छाशक्तिमयी पश्यन्ती विद्याशक्ति और उसके प्रसारस्वरूप बुद्धि और इन्द्रिय वर्ग को समेटती हुई निर्विकल्पक ज्ञान को उद्बुद्ध करती है।

कश्मीर शैवागम की दृष्टि मे, पश्यन्ती मे चिन्तन की भी सत्ता है। इसी-लिए वह पश्यन्ती को परा वाक् के रूप में नही स्वीकार करता :

यतः पश्यन्त्यां प्रमाणोपपन्न चिन्तामयत्व ततः पश्यन्त्याः परत्वं शिवदृष्टि-शास्त्रे निवारितम् ।[१९]

साथ ही पश्यन्ती देश और काल से, उसके मत मे, संकुचित है और जैसा कि उसके नाम (पश्यन्ती शब्द) से ध्वनित होता है वह दृश् क्रिया अथवा देखने के व्यापार के कारण सकर्मक, विषयगर्भित है। देश और काल से सकुचित वस्तु परिपूर्ण नही हो सकती। अतः पश्यन्ती को परा वाक् का महत्त्व नही दिया जा सकता।

शैवदर्शन के किसी-किसी आगम मे पश्यन्ती को अवश्य परा वाक् कहा गया है। परन्तु सोमानन्द और उत्पल ऐसे स्थलो मे परा का पश्यन्ती में उपचार मानते है। श्रीकिरणसंहिता में नाद बिन्दु आदि के रूप मे पश्यन्ती मे परा का उपचरित रूप स्वीकृत है।[२०]

पश्यन्ती को देश और काल से संकुचित इसलिए मानते हैं कि यदि पश्यन्ती देश और काल से असकुचित मानी जाएगी तब मध्यमा में जो विकल्प होता है और

---

१९. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृ० १९२

२०. शिवदृष्टि ३।१५, और उस पर उत्पल की टीका।

बैखरी में जो दूसरे के लिए कहा जाता है या बोला जाता है वह सब देश और काल से असंकुचित ही माना जाएगा। क्योंकि नील को देखकर पीत का विकल्प नहीं होता और न उसे पीत शब्द से व्यक्त करते हैं। अतः शैवागम मे पश्यन्ती को अविकल्पिका मानते हुए भी उसे देश-काल से संकुचित मानते हैं। पश्यन्ती निर्विकल्पकदशारूपा है। अहभाव, जिसमें घट, पट, संपूर्ण विश्व निमग्न रहता है, स्वयं सकोच-रहित है तब वह पश्यन्ती को कैसे संकुचित कर सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में अभिनवगुप्त आदि की मान्यता है कि मायीय अहंभाव संकुचित ही होता है। मायीय व्यक्तियों का अहंभाव देह आदि की वासना से सकुचित रहता है। उनका इदंभाव भी दूसरे प्रमेयो के परिहार से संकुचित रहता है। अन्य प्रमेयों की सत्ता दूसरे प्रमाताओं की दृष्टि से भी है। पुनः उसी प्रमेय की कुछ अवस्था उसी प्रमाता को नही भी दिखाई दे सकती है जैसे कामिनी को वैराग्यायतन नही भी दिखाई दे सकता है। अतः माया-प्रमेताओं का अहंभाव और इदंभावमय निर्विकल्पक रूप प्रमाता और प्रमेय दोनो दृष्टि से सकुचित होता है। परा वाक् मे, उनके मत में, जो अहंभाव का विमर्श है, वह मायीय अहभाव के विमर्श से भिन्न है और वह सर्वथा असकुचित है। इसलिए परा वाक् मे संकोच संभव नही है। वह अहभाव शुद्ध है, नित्य है, चित् स्वरूप है। वह देश-काल, आदि-अन्त से रहित है। वही परा है। अतः परा वाक् मे पूर्वोक्त सदेह नही उठ सकता। शैवागम शास्त्र के अनुसार चित् या 'चिन्मात्र' शरीर, प्राण, बुद्धि आदि से सकुचित नहीं है। चित् की चित्राभासकारित्व नाम की एक शक्ति है। विश्व के वाच्यगत या वाचकगत भेद को जब अभिव्यक्त करना होता है, उस अभिव्यक्त करने वाली या उल्लसित करने वाली भगवान् की इच्छा को विश्वावभासनेच्छा कहते हैं। उस इच्छा के समय ईश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमाता नही होता। इसलिए किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उन भावो के किसी अन्य रूप मे आभासित होने की सभावना ही नही है। इसलिए अहंभाव सर्वथा असंकुचित होता है।

अभिनवगुप्त ने पश्यन्ती के पश्यन्ती, महापश्यन्ती और परमपश्यन्ती ये तीन रूप व्यक्त किए हैं। पश्यन्ती ज्ञानशक्तिस्वभावा, महापश्यन्ती प्रत्यगात्मरूप और परमपश्यन्ती महापश्यन्तियो का अविभक्त रूप है। परमपश्यन्ती के द्वारा आनद महिमा उल्लसित होती है। उल्लसित आनंद परा वाक् का प्रतीक है।[२१]

परा

कश्मीर शैवागम की परा रहस्यात्मक है। वह चितिस्वरूप है। नित्य है। वही महासत्ता है :

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥

---

२१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १९७।

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ।।[२२]

ग्रागमों में अनाहत शब्द से जिस महान् विश्वव्यापी शब्दव्यापार का बोध होता है तन्मयी परा वाक् है ।

भगवान् का अपने भोग के प्रति जो आस्वाद या चमत्कार है, वह परा वाक् है ।

पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी प्रति वाच्य के साथ भिन्न-भिन्न है । परा वाक् वैसी नहीं है । शब्द के जितने अभिधेय हैं चाहे वे ग्राह्य रूप मे हो या वाचक रूप में, वे सब परा के गर्भ में रहते हैं और अक्रम रूप में रहते हैं । इसे मयूराण्डरसन्याय से स्पष्ट किया जाता है । मयूर के अण्डे के रस में सभी नील पीत आदि रग जो बाद में अभिव्यक्त होंगे, छिपे रहते हैं वैसे ही सभी वर्ण परा के पेट में पड़े रहते हैं ।

सपूर्ण वाङ्मय शब्दनामय है । वह परामर्श के संवेदन से युक्त है । वही विश्व है । यह शब्दनारूपात्मा विश्व यथाक्रम से परा मे अविकसित, पश्यन्ती में विकासोन्मुख, मध्यमा मे विकसित होता हुआ और वैखरी मे अलग-अलग परामर्श के रूप में विकास प्राप्त हो गया रहता है ।[२३]

इस तरह कश्मीर शैवागम मे वाक्तत्त्व और चितितत्त्व एक ही है । शक्ति और शक्तिमान् मे अभेद की दृष्टि से वाक् और शिव भी अभिन्न हैं ।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि शैवागम मे वाक् के भेदो का विवेचन व्याकरण-दर्शन से विशेषकर भर्तृहरि की वाग्-व्याख्या से प्रभावित है । अभिनवगुप्त ने तो अनेक स्थलो पर वाग्-विचार के प्रसग मे भर्तृहरि का स्मरण किया है । व्याकरण भी एक तरह का आगम है । वाक् के सबध मे कश्मीर शैवागम और भर्तृहरि-दर्शन मे मुख्य भेद पश्यन्ती और परा के संबंध मे है । उत्पल ने शिवदृष्टि मे और अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी मे भर्तृहरि के परा वाक् न मानने पर आक्षेप किया है पर प्राय. सभी आक्षेप अपनी विशेष मान्यता के कारण हैं । जिस तरह से शैवागम के अनुयायी पश्यन्ती, परा आदि के स्वरूप-निर्धारण में स्वतत्र हैं वैसे ही भर्तृहरि भी स्वतत्र हैं । पश्यन्ती या परा एक आनुमानिक तथ्य है और विभिन्न दर्शन मे उनके विभिन्न स्वरूप सभव हैं । भर्तृहरि का वाग्-दर्शन स्थूल से सूक्ष्म की ओर गया है और अन्ततः शक्ति स्वरूप प्रतिभा या महासत्ता पर आधारित है । शैवागम का वाग्दर्शन शिव-शक्ति पर केन्द्रित है । वाक्यपदीय का वाग्विवेचन धार्मिक मान्यता से तटस्थ और विचार सौंदर्य से परिपूर्ण है । शैवागम का वाग्विवेचन पहले से स्वीकृत मान्यताओ पर आधारित है और जहाँ कही भी उसमे विचार-सौन्दर्य है वह सब मूलतः भर्तृहरि का ही है । उनके मत मे उत्पल ने पश्यन्ती को जड इसलिए माना है कि वह (विषय) कोटि की है । (विषयार्पितात्मा) और देश-काल से सकुचित है । परन्तु यह उत्पल की अपनी मान्यताएँ हैं । भर्तृहरि ने पश्यन्ती का स्वरूप दृश् क्रिया

२२. प्रत्यभिज्ञादर्शन, उत्पल की कारिकायें ।
२३—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, प्रथम भाग, पृष्ठ १५ ।

के आधार पर नहीं गढ़ा है और न उसे देश-काल से सीमित माना है। अभिनवगुप्त ने यह सुझाव रखा कि यदि पश्यन्ती को देश-काल से संकुचित नहीं मानेंगे तो मध्यमा और वैखरी में भी वाक् को असकुचित ही मानना पड़ेगा।[२४] इसलिए पश्यन्ती को देश-काल से सकुचित ही मानना चाहिए। परन्तु यही तर्क शैवागम की 'परा' के विरुद्ध भी रखा जा सकता है क्योंकि इस तर्क के अनुसार 'परा' की नित्य असंकुचित आदि विशेषताएँ वैखरी में भी आ जानी चाहिए। अभिनवगुप्त के मत में वाक् को करण रूप में मानने पर वह कर्मेन्द्रियवर्ग की वस्तु होगी इसलिए उसे कर्तृरूप (वक्ति) में स्वीकार करना चाहिए। परन्तु भर्तृहरि ने स्वय शब्द तत्त्व को अनादि-निधनब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसलिए अभिनवगुप्त का उपर्युक्त आक्षेप निःसार है।

बाद के वैयाकरणों ने परा वाक् को स्वीकार कर लिया परन्तु उन पर कश्मीर शैवागम का प्रभाव न पड़कर तन्त्रग्रन्थो का पडा। नागेश ने परा, पश्यन्ती आदि का विवेचन तंत्र-ग्रंथो के आधार पर किया है जो प्राचीन व्याकरण सम्प्रदाय के मतव्यो से मेल नही खाता।

भाषा

संस्कृत

सस्कृत का प्राचीन नाम भाषा था। बोलचाल की भाषा होने से इसे भाषा कहते थे। 'भाष्यते इति भाषा'। बाद के वैयाकरण जिनमे पाणिनि मुख्य हैं, वैदिक संस्कृत से अथवा छान्दस भाषा से लौकिक सस्कृत को अलग करने के लिए इसके लिए भाषा शब्द का व्यवहार करते थे। जब बोलचाल मे अपभ्रश भाषाएँ अपना घर करने लगी तो उनसे पाणिनि की 'भाषा' को अलग करने के लिए सस्कृत शब्द का प्रचलन हुआ। अपभ्रश शब्दो को प्रकृति-प्रत्यय के झमेलो मे डालने की आवश्यकता प्रारभ मे नही थी। एक तरह से वे असस्कृत थे। जिन शब्दो को प्रकृति-प्रत्यय के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता था वे ही सस्कृत शब्द थे। और ऐसे शब्दों से गठित भाषा सस्कृत भाषा थी। सस्कृत शब्द सस्कार किया हुआ के अर्थ को व्यक्त करता है। यास्क ने संस्कार शब्द का उल्लेख किया है और भाष्यकार ने भी पदो के सस्कार का उल्लेख किया है। (सस्कृत्य संस्कृत्य पदानि उत्सृज्यन्ते, महाभाष्य १।१।१) सस्कृत का अर्थ शुद्ध की हुई भाषा नही है जैसा कि बहुत-से लोग समझते हैं। यह उन शब्दों को व्यक्त करती है जो प्रकृति-प्रत्यय के द्वारा बनाए जा सकते हैं, जिनकी सिद्धि की जाती है। भर्तृहरि ने स्वरूप संस्कार शब्द का प्रयोग किया है (**शब्द ब्रह्मणो हि स्वरूपसंस्कार. साधुत्वप्रतिपत्त्यर्थः**, वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।११) वृषभ ने सस्कार का भाव स्पष्ट करते हुए कहा है कि किसी विशेष या उत्कर्ष का आधान यहाँ संस्कार से तात्पर्य नही है अपितु प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभाग से है। **न विशिष्टोत्पत्तिरत्र संस्कारः, अपितु प्रकृति**

---

२४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १६३।

प्रत्ययादिविभागान्वाख्यानम् (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १९३) कालिदास ने संस्कृत के लिए **संस्कारवत्येव गिरा,** (कुमारसंभव १।२८) शब्द का प्रयोग किया है। इस पर मल्लिनाथ ने लिखा है—**संस्कारो व्याकरणजन्या शुद्धिः। संस्कारपूतेन परं वरेण्यं** (कुमारसंभव १।९०)। इसमें भी संस्कारपूत शब्द का उपर्युक्त ही भाव है। संस्कृत शब्द का भाषा के अर्थ मे व्यवहार वाल्मीकि रामायण में हुआ है। साथ ही संस्कृत से इतर भाषा का भी संकेत है। पतंजलि के समय में प्राकृत बोलचाल में आ गई थी।[२५] भर्तृहरि के समय तक संस्कृत लोक जीवन से दूर जा पडी थी और इसलिए 'दैवी वाक्' मान ली गई थी। (वाक्यपदीय १।१५५)।

अपभ्रंश

संस्कृत के वैयाकरण अपभ्रंश शब्द से उन शब्द-समुदायो को द्योतित करते हैं जिनके मूल (प्रकृति) संस्कृत शब्द रहे हैं। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ उनके मत मे संस्कृत से विकसित हुई है। अपभ्रंश के विषय में वाक्यपदीय मे कई उल्लेखनीय बातें दी गई है और अनेक तरह की विचारधाराओं का संकेत किया गया है।

भर्तृहरि के मत मे संस्कारहीन शब्द को अपभ्रंश कहते हैं। भर्तृहरि ने संग्रहकार के एक वाक्य का उल्लेख किया है जिसमें संस्कृत को अपभ्रंश की प्रकृति माना गया है। **शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारः** (वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१४८)। उनके मत मे ऐसे अपभ्रंश की जिसका मूल संस्कृत न हो स्वतन्त्र सत्ता नही है (**नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतन्त्रः कश्चिद् विद्यते। सर्वस्यैव साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः**।—वाक्यपदीय १।१४८ टीका)।

अपभ्रंश शब्दो के बारे मे चार मूल्यवान विचार भर्तृहरि ने व्यक्त किए है—

(१) शुद्ध संस्कृत शब्द के उच्चारण के असामर्थ्य से या प्रमाद से उसका अशुद्ध उच्चारण चल पडता है और वह कालान्तर मे शब्द मान लिया जाता है। गो शब्द से गावी शब्द उच्चारण की अशक्ति या प्रमाद से चल पडा।

(२) बहुत-से अपभ्रंश शब्द प्रतीक पद्धति पर और अनुकरण के आधार पर प्रचलित हो गए। जैसे संस्कृत मे गोणी शब्द आवपन (एक विशेष प्रकार की थैली) के अर्थ मे व्यवहृत होता था। गौ के लिए गोणी शब्द का व्यवहार संभवत. इसलिए होने लगा कि उसके थन गोणी के आकार मे साम्य रखते थे या गोणी की तरह अधिक दूध धारण करने मे समर्थ थे (**गोणी वेयं गौ र्गोणीति बहुक्षीरधारणादिविषयादावपनस्वसामान्यादभिधीयते**।—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१४९)।

(३) कुछ अपभ्रंश शब्दो की स्वतन्त्र सत्ता थी। अर्थात् उनकी प्रकृति का कोई

---

२५. महाभाष्य १।३।२ महाभाष्यकार के समय में कृषि के लिए लोक में 'किसि' शब्द और दृश्य के अर्थ में 'दिसि' शब्द प्रचलित थे। लोके हि कृष्यर्थे किसि प्रयुञ्जते दृश्यर्थे च दिसिम्. महाभाष्य १।३।२। महाभाष्य में देव दिएण (देवदत्त के लिये), आणवयति, वट्टति और वड्ढतिये प्राकृत शब्द मिलते हैं। 'स्वपादिषु'(३।१।९१) वार्तिक अपभ्रंश सुपनि शब्द को सामने रखकर लिखा गया था। सुपति—सोवइ।

पता नहीं था। इन्हें ही पीछे के वैयाकरण देशी शब्द द्वारा व्यक्त करने लगे (**प्रसिद्धेस्तु रूढितामापद्यमानाः स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते**—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१४८)।

अन्नभट्ट ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि संस्कृत के साथ-साथ अन्य भाषाओं की भी सृष्टि हुई होगी। यवन देश में यवन भाषा ही पहले बनी होगी। यवनों के यहाँ भी पहले संस्कृत भाषा थी, बाद में अपभ्रंश का प्रयोग प्रारम्भ हुआ—इस कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

> **न हि तदानीं संस्कृतमेव सृष्टं न भाषान्तरमित्यत्र मानमस्ति। तत्तद्यवनादिसृष्टौ तदीयभाषाया अपि तदानीमेव सृष्टत्वात्। न हि तेषामपि प्रथम संस्कृतेनैव व्यवहारः, पश्चादपभ्रंशरूपभाषाप्रवृत्तिरिति कल्पनायां मानमस्ति।**
>
> —अन्नंभट्ट : महाभाष्यप्रदीपोद्योतन, प्रथम भाग, पृष्ठ ४७.

(४) संस्कृत शब्दों के विकृत या विकसित रूप वाले अपभ्रंश शब्द भी मूल संस्कृत शब्द की अपेक्षा कुछ विशिष्ट अर्थ रखते थे (**तमपभ्रंशमिच्छति विशिष्टार्थनिवेशिनम्**—वाक्यपदीय १।१४८)। इसके अनुसार गो शब्द के लिए लोक मे जितने गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि शब्द प्रचलित थे वे केवल गौ अर्थ को नही व्यक्त करते थे अपितु विशेष प्रकार या जाति के गौ अर्थ को प्रकट करते थे। इनमें से प्रत्येक के अर्थ में कुछ विशेषता थी। भाषा-विज्ञान के अनुसार गोपोतलिका को गो शब्द का अपभ्रंश नहीं माना जा सकता। अवश्य ही लोक मे गोपोतलिका शब्द गाय के किसी विशेष नस्ल के लिए प्रयुक्त होता होगा। पर शिष्ट-समुदाय मे वह प्रचलित नही था। इसलिए पतंजलि ने लोक में प्रचलित मानते हुए उन शब्दो को अपभ्रंश शब्द माना।

भर्तृहरि ने अपभ्रंश के विषय में उन प्रवादों का भी उल्लेख किया है जो आज भी किसी न किसी रूप मे सजीव हैं। भर्तृहरि के समय मे अपभ्रंश का व्यवहार इतना बढ गया था कि उन्हीं की प्रधानता हो गई थी। (**तैरेव प्रसिद्धतरो व्यवहारः**) और जहाँ कहीं शुद्ध (साधु) शब्द के प्रयोग में संशय होता था, उसका निर्णय उसके अपभ्रंश के आधार पर किया जाता था। (**सति च साधुप्रयोगात्संशये यस्तस्यापभ्रंशस्तेन संप्रति निर्णयः क्रियते।**—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१५४) अत एक ऐसा वर्ग खडा हो गया था जो अपभ्रंश को ही संस्कृत का मूल (प्रकृति) मानता था और संस्कृत को अपभ्रंश की विकृति मानता था। उनके मत में प्राकृत शब्द का अर्थ था साधु शब्दों का समुदाय जो प्रकृति से उत्पन्न है। विकार बाद मे पैदा हुआ और स्वर संस्कार आदि विकृत भाषा मे ही किए जाते हैं। प्राकृत (मूल) भाषा में नही।

> **अनित्यवादिनस्तु ये साधूनां धर्महेतुत्व न प्रतिपद्यन्ते, मल्लसमयादिसदृशीं साधुव्यवस्थां मन्यन्ते, ते प्रकृतौ भवं प्राकृतं साधूनां शब्दानां समूहमाचक्षते। विकारस्तु पश्चाद् व्यवस्थापितः, यः संभिन्नबुद्धिभिः पुरुषैः स्वरसंस्कारादिभिर्निर्णीयते इति।**
>
> —वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१५५।

कुछ लोगों के मन में संस्कृत भाषा कभी भी असंकीर्ण (अपभ्रंश-शून्य) नहीं थी। संस्कृत और अपभ्रंश का सदा से साथ-साथ व्यवहार होता आया है। दोनों अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं। व्यवहार में एक शब्द को साधु और दूसरे को अपभ्रंश उसी रूप में कहते थे जैसे एक स्त्री को गम्या और किसी दूसरी को अगम्या मानते थे। यद्यपि दोनों की विशेषताएँ स्त्रीरूप मे सदा से एक ही रही हैं। और दोनो का गम्यत्व और अगम्यत्व केवल परम्परा से परिचालित है न कि स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक है (**येषामपि च नैव पुराकल्पो न च दैवी वागसंकीर्णा कदाचिदासीत्तेषामपि गम्यागम्यादिव्यवस्थावदियं साध्वसाधुव्यवस्था नित्यमविच्छेदेन शिष्टैः स्मर्यते**—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१५६)।

अपभ्रश की अर्थबोधकता शक्ति के बारे मे भी वाक्यपदीय मे मुख्यरूप मे तीन तरह के विचार व्यक्त किए गए हैं।

(१) अपभ्रंश शब्द साक्षात् वाचक नही है। उनके सुनने पर श्रोता को शुद्ध शब्द का स्मरण होता है और तब अर्थ बोध होता है। अतः अपभ्रंश शब्द साधु शब्द के व्यवधान से अर्थ प्रत्यायक होते है।

(२) अपभ्रंश शब्द प्रसिद्धिवशात् रूढ होकर बिना साधु शब्दो की याद दिलाये ही अर्थ बोधक होते हैं।

(३) जिस रूप मे साधु शब्द साक्षात् अर्थ-बोधक होते हैं उसी रूप मे अपभ्रंश शब्द भी साक्षात् अर्थबोधक होते हैं। वाचकत्व की दृष्टि से साधु शब्द और अपभ्रंश शब्द मे कुछ भी अन्तर नही है।

सिद्धान्त रूप मे तृतीय मतव्य ही वैयाकरणों को मान्य है। भाष्यकार ने भी माना है कि शब्द और अपशब्द दोनो से समान रूप से अर्थ का बोध होता है। केवल अंतर यह है कि साधु शब्द का प्रयोग अभ्युदय करने वाला है जब कि अपशब्द अथवा अपभ्रंश का प्रयोग प्रत्यवायकारक है।

समानायामर्थावगतौ शब्देनचापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते—महाभाष्य पस्पशाह्निक।

भर्तृहरि ने कहा है :—**वाचकत्वाविशेषो वा नियमः पुण्यपापयोः**—वाक्यपदीय ३ सबन्धसमुद्देश ३०।

भर्तृहरि ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि साधुता-असाधुता का सम्बन्ध शब्द की आकृति अथवा रूप से नही है। एक ही शब्द अर्थभेद से साधु भी हो सकता है और असाधु भी। जैसे गोणी शब्द आवपन के अर्थ में तो साधु है और गाय के अर्थ मे असाधु माना जाता है (वाक्यपदीय १।१४९)

हरदत्त ने पदमजरी (प्रथम भाग पृष्ठ ८) मे और भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ मे साधुता के चार रूप दिए हैं :

अनपभ्रष्टतानादिर्यद्वाभ्युदययोग्यता।

व्याक्रिया व्यञ्जनीया वा जातिः कापीह साधुता।—शब्दकौस्तुभ, पृ० २०

शक्ति वैकल्य के कारण किसी शब्द का अन्यथा उच्चारण अपशब्द या अपभ्रष्टता है।

उससे रहित अनपभ्रष्टता है। वही साधुता है। महाभाष्य मे अपशब्द के लिए तेऽसुराहेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः—इस ब्राह्मण-वाक्य का उद्धरण है। हेलय-हेलय में क्या अपशब्दता है इसमे टीकाकारों में विवाद है। कुछ लोग मानते हैं कि प्लुत और प्रकृतिभाव इस वाक्य मे होना चाहिए। (हे ३ अलयः हे ३ अलयः) पर नही हुआ है। जो लोग प्लुत को वैभाषिक मानते हैं उनके मत मे यहाँ अपशब्दता पद को द्वित्व करने की अपेक्षा वाक्य को द्वित्व कर देना है। कुछ लोग हेरय (हे अरयः) मे र के स्थान मे ल श्रुति होना ही अपशब्दता मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण ३।२।१।२३-२४ मे 'हे लवो हे लव' ऐसा पाठ है। इधर हाल ही मे डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने हेलय शब्द पर नवीन प्रकाश डाला है। उनके मत मे 'इल्लु' बेबीलोनियनो का एक प्रतिष्ठित देवता था। बेबीलोन शब्द बेबा और इल्लु से बना है जिसका अर्थ स्वर्ग-द्वार था। इल्लु शब्द सभी सेमेटिक भाषाओं में है। हिब्रू में एल, और कन्नाइट मे इलु, फोनीशी मे एल, केडियन मे इलु और अरबी मे इलाह है और सब में इसका अर्थ ईश्वर है। बेबीलोन वाले युद्ध मे अपने देवता को पुकारते हुए इसी शब्द का उच्चारण करते होगे जिसे पतंजलि आदि ने हेलय के रूप मे ग्रहण किया है। हेलय हे अरय का अपभ्रंश नही है। (द जरनल आफ द यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, वाल्यूम २३ पार्ट १।२,१९५०)।

अपशब्द को साधु शब्द के समानार्थक माना गया है। (अपशब्दोहिलोके प्रयुज्यते साधु शब्दसमानार्थश्च—कैयट महाभाष्य ३।१।८) किन्तु वैयाकरण अपशब्द का अन्वाख्यान नही करते और न उसे साधु शब्द के पर्याय ही मानत हैं। नागेश के मत मे व्याकरण की दृष्टि से शब्द का जरा-सा भ्रंशन अपशब्दता है (अपशब्दत्वं व्याकरणानुगत—शब्दस्येषद् भ्रंशनं एव प्रसिद्धम्)—नागेश पस्पशाह्निक पृष्ठ २३ गुरुप्रसाद) अथवा अनादिता साधुता है। जिस शब्द के आदि का पता नही है जो अनन्तकाल से जिस रूप मे आ रहा है वही उसका साधुरूप है। जो शब्द पौरुषेय सकेत का रूप रखते है वे अनादिसाधुता के रूप में गृहीत नही हो सकते।

अथवा अभ्युदय योग्यता साधुता है। जिन शब्दो के उच्चारण मे अभ्युदय होता है वही साधु शब्द हैं।

अथवा साधुता एक तरह की जाति-विशेष है। जिस तरह रत्नो को बार-बार पहचानने से उनकी शुद्धता पहचानने की योग्यता आ जाती है उसी तरह शास्त्र के बार-बार परिशीलन से विद्वानों को साधु शब्दो की पहचान हो जाती है। साधुता एक तरह से जाति-विशेष है।

यह चारो प्रकार की साधुता निर्दोष मानी जाती है और व्याकरणगम्य है। इसी तरह असाधुता भी चार प्रकार की है। अपभ्रष्टता, सादिता, प्रत्यवाययोग्यता और तदवच्छेदक जातिविशेष।

टि, घु आदि संज्ञा शब्द न तो साधु माने जाते हैं और न असाधु। किसी-किसी के मत में अनपभ्रष्टरूपसाधुता उनमें भी है। भस्य आदि सौत्र निर्देश और 'कुत्व कस्मान्न भवति' आदि भाष्य के वाक्य इसमे प्रमाण हैं।

संज्ञा शब्द

वाक्यपदीय में संज्ञा शब्द के विषय में कई तरह के विचार हैं। लोक में देवदत्त आदि संज्ञा शब्द प्रचलित हैं। देखा जाता है कि केवल दत्त कहने से देवदत्त का, केवल भामा कहने से सत्यभामा का बोध हो जाता है—ऐसा कैसे होता है? क्योंकि संज्ञा के एक देश का जैसे देवदत्त मे 'देव' का लोप किसी शास्त्र से विहित नही है और केवल दत्त संज्ञा भी नही की गई है। पुनः दत्त आदि संज्ञा किसी दूसरे की भी हो सकती है। अतः दत्त शब्द देवदत्त का बोधक कैसे होता है? यह प्रश्न कई रूप मे सुलझाया जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि शब्द-स्वरूपो का अपने सभी अवयवो के साथ सभी प्रकार के संज्ञी के साथ समकाल संबंध होता है। जिस तरह समुदाय अर्थात् पूरा शब्द संज्ञी का बोधक है उसी तरह उसका अवयव भी संज्ञी का बोधक है। अतः शब्द का एक देश भी सम्पूर्ण का अर्थ-प्रत्यायक है और इसलिए दत्त शब्द भी देवदत्त का वाचक है। (वाक्यपदीय २।३५६) इस पक्ष मे दो दोष माने जाते हैं। यदि एक देश (अवयव) को भी प्रत्यायक माना जाएगा तो वर्णों को अर्थ-वान् मानना पड़ेगा। देवदत्त शब्द का एक वर्ण भी देवदत्त अर्थ को कहने लगेगा। फिर समुदाय से अलग होकर उसमे वाचकता भी नही आ सकेगी। अतः एक देश से अथवा एक देश के तुल्य मे संज्ञी का प्रत्यायन सम्भव नही है।

इसलिए दूसरे आचार्य मानते है कि देवदत्त, देवदत्त शब्द बार-बार सुनते रहने पर कभी केवल एकदेश दत्त आदि के भी सुनने पर पूरे शब्द (देवदत्त) की स्मृति आ जाती है। अतः संज्ञा शब्द के एकदेश, स्मृति के सहारे समुदाय के अर्थ का अभि-व्यक्त करते है। इस पक्ष मे यह दोष माना जाता है कि संघात के अवयवो मे बँट जाने पर अवयवो से स्मृति संभव नही है क्योंकि स्मृति सदृशदर्शन से होती है। संघात या समुदाय से ही सादृश्य संभव है, छिन्न-भिन्न संघात से संभव नही है। दूसरी बात यह कि स्मृति प्रतीयमान वस्तु (देवदत्त) का अभिधायक नही हो सकती। जो कर्णेन्द्रिय गोचर होता है वही अभिधायक होता है जो प्रतीयमान है वह नही।

अतः तीसरा मत, जो सिद्धान्त के रूप मे माना जाता है, यह है कि संज्ञा शब्द के जो अवयव हैं वे एकदेश के तुल्य (एकदेशस्वरूप) हैं। वे अनुनिष्पादी (नान्तरीयक) है। और समुदाय के सभी लिंग (गुणो) से युक्त है। इसलिए देवदत्त शब्द जिस संज्ञा को बतलाता है, दत्त शब्द या देव शब्द भी उसी संज्ञा को बतला सकता है। यह ठीक है कि देव शब्द देवता अर्थ को भी कहता है और किसी (देवदत्त) से अन्य व्यक्ति का भी वाचक हो सकता है, इसी तरह दत्त शब्द क्रिया शब्द भी हो सकता है, संज्ञा शब्द भी हो सकता है फिर भी शब्द सामर्थ्य से ये नियत अर्थ वाले मान लिए जाते हैं। अतएव शास्त्र में लोप आदि कार्य उनके किये जाते हैं। देवदत्त शब्द से स्वतन्त्र देव (देवता बोधक) और दत्त (क्रियार्थक) अनुनिष्पादी नही होने के कारण देवदत्त शब्द के अवयव के रूप मे गृहीत नहीं हो सकते। ज्येष्ठा के लिए

उखे, मघा के लिये घा, यद्यपि अनुनिष्पादी शब्द हैं फिर भी असाधु माने जाते हैं क्योंकि व्याकरणशास्त्र मे जिस तरह दत्त से देवदत्त आदि के ग्रहण की बात कही गई है वैसे उन अनुनिष्पादी शब्दो की नही कही गई है।

संज्ञा शब्द का अपने अर्थ से नित्य सम्बन्ध है

प्रश्न यह है कि संज्ञा शब्दों के सञ्ज्ञी से सयोग के पहले व्याकरण के नियम लागू किए जाते हैं या बाद में। यदि पहले माना जाए तो वे संज्ञा शब्द ही न कहा पाएँगे क्योंकि सञ्ज्ञी से संयोग होने पर वे संज्ञा शब्द होते हैं। तो ऐसी दशा मे संज्ञा-निबन्धन कार्य उनमें कैसे संभव है? यदि उत्तरकाल माना जाय तो संज्ञा शब्द मे अनित्यत्व आ जाता है क्योंकि इस दृष्टि से खुरणास जैसे शब्द पहले मानो खुरनास थे बाद मे न का ण हुआ। उत्तर यह है कि दोनों रूप में कोई दोष नही पडेगा। सञ्ज्ञी से सम्बन्ध के पहले भी लक्षणयोग संज्ञा-सञ्ज्ञि सम्बन्ध से संज्ञात्व मान कर हो जाएगा। (**अत्र सञ्ज्ञा-संज्ञि सम्बन्धात् संज्ञात्वं तत्रलक्षणम्, पुण्यराज**—वाक्यपदीय २।३६७)। यदि लक्षणयोग उत्तरकाल में माने तो भी संज्ञा शब्द मे अनित्यता नही आने पाएगी क्योंकि हम यह नही मानते कि खुरणास शब्द खुरनास के रूप में था और बाद मे णत्व हुआ। हम णत्व वाले शब्दो को और बिना णत्व वाले (नकारात्मक) शब्दो को दो वर्गों में बाँटेगे। कृत्वणत्व शब्द भी स्वाभाविक रूप मे नित्य है। वे णत्व के साथ ही संज्ञा शब्द है। खुरणास शब्द खुरणास रूप मे ही साधु है, नित्य सञ्ज्ञा शब्द है। इस तरह चर्मनासिक शब्द चर्मनासिक रूप में ही साधु है, नित्य है और सञ्ज्ञा शब्द नही है। अतः पाणिनि ने ८।४।३ के अनुसार कृत्वणत्व शब्दों को साधु माना है। न का णत्वविधान केवल प्रक्रिया सूचक है। उससे नित्यता पर प्रभाव नही पडता।

संज्ञा शब्दो की नित्य सम्बन्धता पर एक दूसरे प्रकार का भी आक्षेप है। कुछ लोगो का कहना है कि संज्ञा शब्द पौरुषेय होते हैं। वे किसी द्वारा किसी वस्तु के संकेत में व्यवहृत होते है। बच्चे खेल मे धूल आदि से नगर बनाते हैं उनका मथुरा आदि नाम रखते है। जिस तरह यहाँ मथुरा आदि नाम का अपने अर्थ से नित्य सम्बन्ध भी नहीं है वैसे ही सञ्ज्ञा शब्द अनित्य सम्बन्ध वाले है

> **कृतकत्वादनित्यत्वं सम्बन्धस्योपजायते। संज्ञायाः सा हि पुरुषैर्यथाकामं नियुज्यते। यथा हि पांसुरेखाणां बालकैर्मथुरादयः संज्ञाः क्रियन्ते सञ्ज्ञासु सर्वास्वेवैव कल्पना ॥**

—पुण्यराज द्वारा वाक्यपदीय २।३६८ मे उद्धृत।

इस आक्षेप का समाधान वैयाकरण शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनादि मान कर करते हैं। गो शब्द और उसके अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। उनके मत मे नित्य शब्द से किसी विशेष व्यक्ति का ज्ञान व्यवहार में होता है, परन्तु नित्य शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध अनादि है। और वह शब्द प्रत्येक वस्तु को द्योतित करने मे समर्थ है। (**संज्ञाशब्दानां तु सर्वसंज्ञि प्रत्यायनशक्तियुक्तत्वेऽपि विशिष्टे संज्ञिनि शक्त्यवच्छेदः सामयिकः**—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश २९)। इसी

तरह शास्त्रीय वृद्धि आदि संज्ञायें भी सभी तरह के अर्थ-प्रकाशन में समर्थ हैं परन्तु दूसरी संज्ञाओं से भेद दिखाने के लिए और व्यवहार में सुविधा के लिए नियम कर दिया जाता है कि आदैच् की ही वृद्धि संज्ञा मानी जाए। जिस तरह से विशेषण-विशेष्य में नील-उत्पल में नीलादि योग कोई पुरुष नहीं करता, स्वाभाविक है, उसी तरह वृद्धि आदि संज्ञाशब्दों का भी संबंध स्वाभाविक है कृत्रिम नहीं।

> **व्यवहाराय नियमः संज्ञानां संज्ञिनि क्वचित्।**
> **नित्य एव तु सम्बन्धो डित्थादिषु गवादिवत्॥**
> **वृद्ध्यादीनां तु शास्त्रेऽस्मिञ्छक्त्यवच्छेद लक्षणः।**
> **अकृत्रिमोऽभिसम्बन्धो विशेषणविशेष्यवत्॥**
>
> —वाक्यपदीय २।३६६, ३७०।

संज्ञाशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का विचार

संज्ञाशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के विषय मे भाष्यकार ने यह माना है कि प्राथमिक कल्प के संज्ञी के गुण और क्रिया संज्ञा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त होंगे। (**कश्चित् प्राथमकल्पिको डित्थो डाम्भिट्टश्चेति। तेन कृतां क्रियां गुणं वा यः कश्चित् करोति स उच्यते डित्थत्वं त एतड्डाम्भिट्टत्वं त एतत्**—महाभाष्य ५।१।११९) प्राथमकल्पिक मे वृत्ति कैसे होगी इस पर भाष्यकार ने विशेष प्रकाश नहीं डाला है, केवल यह कहा है कि जैसे उसका (संज्ञा शब्द का) प्रयोग होता है वैसे किसी तरह उसमे 'वृत्ति' भी हो जाएगी (**यथैव तस्य कार्थंचित्कः प्रयोग. ऐवं वृत्तिरपि भविष्यति।** —महाभाष्य ५।१।११९)

भर्तृहरि के अनुसार संज्ञा शब्दो के प्रवृत्ति-निमित्त उनके स्वरूप हैं। सभी संज्ञा शब्दो के प्रवृत्तिनिमित्त उनके स्वरूप ही होते हैं। कहीं तो उसमें अर्थ का सान्निध्य भी निमित्त रूप मे रहता है और कभी-कभी अर्थशून्य भी स्वरूप निमित्त होता है। एकाक्षर संज्ञा हो या बडी संज्ञा हो इस विषय में उनमे भेद नहीं है। शास्त्र मे महती संज्ञा करने के कारण यह अनुमान होता है कि उनका शब्दस्वरूप ही प्रवृत्ति-निमित्त है और उनके अवयवो का प्रत्यायक है। अनुमान का रूप तीन रूप में देखा जाता है। आवृत्ति के रूप मे, शब्दभेद के रूप मे और शक्तिभेद के रूप मे। एक ही संज्ञा शब्द की दो बार आवृत्ति की जाती है। एक के द्वारा स्वरूप निरूपित संज्ञी का ज्ञान होता है और दूसरे के द्वारा अवयवार्थनिबन्धन ज्ञान होता है। सारूप्य के कारण आवृत्ति का अनुमान होता है। अथवा दो बार शब्द का उच्चारण हुआ है इसी का अनुमान करते है। उनमें एक से स्वरूप से आच्छादित संज्ञी का ज्ञान होता है। दूसरे से अवयवार्थनिबन्धन प्रतिपत्ति होती है। अथवा वही एक शब्द दो शक्तियों से उच्चरित हुआ है ऐसा अनुमान कर लेते हैं। इनमें एक से संज्ञी की प्रतिपत्ति और दूसरे से अवयवार्थ की संगति होती है।

कैयट ने प्रवृत्तिनिमित्त के प्रश्न को दो तरह से सुलझाया है। उनके मत में शब्द के स्वरूप मे अर्थ का अध्यास कर 'यह डित्थ है' ऐसा संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध करते

हैं। शब्द स्वरूप के भ्रासंग से डित्थ शब्द का जिस तरह डित्थ अर्थ में व्यवहार होता है उसी तरह शब्दस्वरूप अर्थ मे भावप्रत्यय होता है। कुछ लोग मानते हैं कि डित्थ आदि संज्ञी में भी जाति रहती है। उत्पत्ति से लेकर अंत तक कुमार, यौवन आदि अवस्थाभेद से भिन्न द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति डित्थ में है ही जिसके कारण बालक-डित्थ को युवा अवस्था में देखने पर यह वही डित्थ है ऐसी प्रतीति होती है। वही जाति संज्ञाशब्द की प्रवृत्तिनिमित्त है, उसी में प्रत्यय होता है। यदृच्छा शब्दो का प्रवृत्तिनिमित्त शब्द स्वरूप भी माना जाता है (कैयट, महाभाष्य ५।१।११९)।

कृत्व आदि के विषय में कैयट ने लिखा है कि शब्द और अर्थ मे अभेद मान कर सज्ञी के सज्ञास्वरूप में प्रत्यय का अध्यास होता है। किसी-किसी के मत में सज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में प्रत्यय होता है (**कुत्वमित्यादौ संज्ञा स्वरूपे संज्ञिव्यध्यस्ते प्रत्ययः अन्येतु संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध इत्याहुः**—कैयट, महाभाष्य ५।१।११९) नानात्व, सहत्व, यौगपद्यत्व जैसे शब्दों में उनका अर्थ प्रवृत्तिनिमित्त होना है और उसी में प्रत्यय होता है (नागेश ५।१।११९)।

संज्ञा शब्द के चार प्रकार

व्याकरण शास्त्र में संज्ञा शब्द चार रूप मे गृहीत होते हैं—(१) कृत्रिम रूप मे (२) अकृत्रिम रूप मे (३) कृत्रिम और अकृत्रिम उभयरूप मे और (४) अकृत्रिम का कृत्रिम रूप मे।

शास्त्रीय परिभाषा जिन संज्ञाओ की दी गई है वे कृत्रिम हैं और कृत्रिमरूप मे शास्त्र में व्यवहृत है। जैसे कर्मण्यण् ३।२।१ में कर्म पारिभाषिक है परन्तु कर्तरि कर्म व्यतिहारे १।३।१४ मे अकृत्रिम का ग्रहण है। व्यतिहार की यहाँ कृत्रिम सज्ञा उपयुक्त नहीं है। अतः कर्म भी लौकिक कर्म है पारिभाषिक नही। 'कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३। १८ में करण शब्द कृत्रिम संज्ञा है जबकि शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करण ३।१। १७ मे करण शब्द अकृत्रिम है। संख्या विषयक सूत्रो मे लौकिक और शास्त्रीय, अकृत्रिम और कृत्रिम दोनो तरह के संज्ञा शब्दों का निर्वाह हो जाता है जैसे बहुगण बहुडति-संख्या १।१।२३ मे सख्या शब्द कृत्रिम और अकृत्रिम दोनो रूप से समानरूप में गृहीत है। कभी-कभी लौकिक अकृत्रिम संज्ञाशब्द शास्त्रीय कृत्रिम सज्ञाशब्द का प्रत्यायक होता है जैसे एकश्रुतिदूरात् सम्बुद्धौ १।२।३३ में सम्बुद्धि पद लौकिक अकृत्रिम होता हुआ भी कृत्रिम शास्त्रीय कृत्रिम संबुद्धि पद का भी प्रत्यायक होता है (वाक्यपदीय २।२५६-२७७)।

संज्ञा-संज्ञी शक्ति के अवच्छेदक

जिस तरह एक ही वस्तु निमित्त भेद से भिन्न-भिन्न हो जाती है उसी तरह संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध भी निमित्त भेद से भिन्न-भिन्न भासित होता है। लोक में बुद्धि प्रकल्पित भेद को मान कर सोने की अंगूठी (सुवर्णस्य अगुलीयकम्) कहते हैं, भेदनिबन्धन षष्ठी

विभक्ति का प्रयोग करते हैं। इकोयणचि ६।१।७७ में भी इकारादि चार की इक् संज्ञा है। यकारादि चार की यण् संज्ञा है। यहाँ भी संज्ञी से संज्ञा भिन्न रूप है। इनमे इक् या यण् उच्चारण के कारण क्रमशः स्थानी या आदेश नहीं है अपितु उनसे प्रत्यायित संज्ञी कार्य के पात्र होते हैं। भाव यह है कि वृद्धि शब्द संज्ञा नहीं है अपितु वृद्धि शब्द से प्रत्यायित जो वृद्धि शब्द वह संज्ञा है इसी तरह आदैच् शब्द से प्रत्यायित जो आदैच् वे संज्ञी हैं।

वृद्धयादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः।
आदैच् प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः॥ —वाक्यपदीय १।६०

संज्ञी के सम्बन्ध से पहले संज्ञा अपने स्वरूप की द्योतिका होती है और इसलिए षष्ठी और प्रथमा विभक्ति का निमित्त होती है। संज्ञा शब्द मे प्रथमा विभक्ति का व्यवहार किया जाता है क्योकि स्वरूप से अधिष्ठित होने के कारण अर्थवत्व है। सोऽयम् इस रूप में संज्ञी के द्वारा शक्त्यवच्छेदलक्षण सम्बन्ध नियमित होता है। जैसे गौर्वाहीकः सिंहो माणवकः जैसे वाक्यों मे शक्ति का अवच्छेद किया गया है। वाहीक शब्द के द्वारा विशिष्ट गो का और पुरुष शब्द के द्वारा संज्ञा शब्दो का शक्त्यवच्छेद किया गया है। (वाक्यपदीय १।६७, ६८)

संज्ञा शब्द और अनुकरण शब्द में भेद

सज्ञा शब्द और अनुकरण शब्दो मे कुछ दूर तक साम्य है। अनुकरण शब्द भी संज्ञा शब्द की तरह स्वरूप का प्रत्यायक होता है। सज्ञा शब्द और अनुकरण शब्द में भेद यह है कि अभिधेय के उच्चारण किये जाने पर अनुकरण होता है। सज्ञा के लिए अभिधेय प्रत्यायक होता है उच्चार्यमाण नही। (**अतएव अनुकरण शब्दात् संज्ञा शब्दस्य विशेषः स्पष्टो भवति। उच्चार्यमाणेऽभिधेयेऽनुकरणम्। सज्ञायास्तु प्रत्याय्यमेवाभिधेयम्, नोच्चार्यमाणमिति**—वृषभ—वाक्यपदीय टीका १।६६ पृष्ठ ६९)

इस भाव को सग्रहकार ने भी व्यक्त किया है :

न हि स्वरूपं शब्दानां गोपिण्डादिवत्करणे संनिविशते। तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसंनिवेशे सति तुल्यरूपत्वादसनिविष्टमपि समुच्चार्यमाणत्वेनावसीयते।

संग्रह, वाक्यपदीयवृत्ति मे भर्तृहरि द्वारा उद्धृत १।६६, पृ० ६९-७०

'गोरित्ययमाह' इत्यादि अनुकरणात्मक वाक्यो मे केवल स्वरूप बोध का निर्देश रहता है। उनमे अवयवो के निर्देश की भावना नही रहती। क्योकि अवयवो मे कार्य (प्रत्यय आदि) नही होते। जैसे अग्नेर्ढक् में अग्नि शब्द से प्रत्यय होता है न कि अग्नि शब्द के अवयवों से। ठीक यही बात अनुकरण शब्दो के लिए भी है। यदि अनुकरण शब्दो मे भी अवयवनिर्देश माना जाएगा तो वे अलग-अलग क्रमहीन जान पड़ेंगे। गौ इस अनुकरण शब्द मे स्थित औकार से औपगव के औकार की प्रतीति होने लगेगी।

अनुकरणेऽप्यपि यथावस्था उपादिदिसिता: ते पूर्वणनियतकमा: प्रतीयेरन्निति । गौरित्यत्रमाहेत्यत्र औपगवमित्यत्र स्थिता औकारादय: प्रतीयेरन् ।

—वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।४४ पृष्ठ ५६

अनुकरण शब्द प्रत्यायक होने के कारण संज्ञा हैं और अनुकार्य प्रत्याय्य होने के कारण संज्ञी हैं। संज्ञा कभी संज्ञी को नहीं छोड़ती (न संज्ञा संज्ञिनं व्यभिचरति— महाभाष्य ५।२।५९) जिस तरह गो आदि शब्द सास्ना, लांगूल वाले अर्थ (व्यक्ति) को जताते हुए उस अर्थ वाले के अर्थ मे मतुप् प्रत्यय लाते हैं जैसे गोमान्, उसी तरह अनुकरण शब्द भी अपने अर्थ अनुकार्य को बताते हुए उसके द्वारा अनुकार्य वाले के अर्थ मे छ प्रत्यय लाते हैं। अनुकरण शब्द जाति समवेत अर्थ को व्यक्त करता है। वह जाति शब्द है। यह बात लृकार वार्तिक मे (भाष्य में) कही गई है। (कैयट— महाभाष्य ५।२।५९)

भट्टोजि दीक्षित ने भी अनुकरण शब्द को जाति शब्द माना है। **अनुकरण शब्दाश्च जाति शब्दा एव तत्रानुकार्यनिष्ठजाते. प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।**

--शब्दकौस्तुभ, १।१।१

अनुकरण शब्द और आम्नाय शब्द में भेद

अनुकरण शब्द का आम्नाय शब्द से भेद स्वर, वर्णानुपूर्वी, देश और काल की दृष्टि से किया जाता है।

आम्नायशब्दानामान्यभाव्यं स्वरवर्णानुपूर्वदिशकालनियतत्वात् ।

वार्तिक ५।२।५९

अनुकार्य और अनुकरण में अर्थभेद से भेद होता है। इस दृष्टि से आम्नाय शब्द और अनुकरण शब्द मे भेद है ही। स्वर आदि की दृष्टि से भी भेद है। आम्नाय शब्दो के स्वर नियत है जबकि अनुकरण शब्द एक श्रुति रूप मे भी देखे जाते है। अस्यवाम शब्द आम्नाय मे प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। 'अस्य' भी अन्तोदात्त है। 'वाम' भी अन्तोदात्त है। अनुकरण अस्यवाम शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है। इसमें दो उदात्त न होकर एक ही उदात्त है। क्योकि यहाँ अनुकरण के रूप मे अस्यवाम शब्द एक पद है। आम्नाय शब्द मे वर्णों का क्रम नियत रहता है। अनुकरण शब्द मे उनका उच्चारण व्युत्क्रम रूप मे करने पर भी अनुकार्य की प्रतीति हो जाती है। आम्नाय शब्दो के उच्चारण के लिए देश काल नियत हैं। श्मशान मे आम्नाय नही पढना चाहिए, अमावस्या को अध्ययन नही करना चाहिए आदि। जब कि अनुकरण शब्द के लिए देश काल का बन्धन नही है। आम्नाय शब्दो मे पद के एक देश का तथा विभक्ति का लोप भी देखा जाता है, अनुकरण शब्द में विभक्ति के अभाव मे उनका लोप सम्भव नही है। नागेश मानते हैं कि आम्नाय शब्दों के श्रवण से शूद्रो को प्रायश्चित्त होता है। जब कि अनुकरण शब्द सुनने से उन्हें प्रायश्चित्त नही होता (**अनुकरणंश्रृण्वत: शूद्रस्य प्रायश्चित्ताभाव इत्यपि बोध्यम्** ।—नागेश, महाभाष्य ५।२।५९)।

अनुकरण शब्द और अपशब्द में भेद

अनुकरण शब्द में और अपशब्द में भेद यह है कि शिष्ट अनुकरण साधु माना जाता है। अशिष्ट अनुकरण न तो दोषजनक माना जाता है और न अभ्युदयजनक। जबकि अपशब्द का प्रयोग अर्थबोधक होते हुए भी प्रत्यवायजनक माना जाता है। 'अविरविकन्याय' (महाभाष्य ४।१।८८) शब्द मे अवि शब्द, कैयट के अनुसार, विभक्त्यन्त रूप मे अनुकरण है। अनुकरण होने के कारण समास होते हुए भी विभक्ति का लोप नही हुआ है :

> **अविरविकन्यायेनेति ।······अथवाऽविरित्यस्य विभक्त्यन्तस्यानुकरणमविरिति । ततोऽनुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वाद् या विभक्तिरुत्पद्यते तस्यां द्वन्द्वान्तर्भावाल्लोप, न तु पूर्वस्याः, अनुकरणत्वात्सुप्त्वाभावात् । यथाऽस्यवामीयमिति षष्ठ्या लुगभावः । अथवा भाष्यकारवचनप्रामाण्यादस्य साधुत्वम् ।**
>
> —कैयट, महाभाष्य ४।१।८८

व्याकरण

शिष्ट प्रयुक्त साधु शब्दो का अन्वाख्यान व्याकरण करता है। (**शिष्टप्रयोगानुविधायि इदं शास्त्रम्**—महाभाष्य दीपिका पृ० १२६) अपभ्रंश के भी व्याकरण बाद में बने किन्तु सस्कृत के वैयाकरण व्याकरण का लक्ष्य परिनिष्ठित शब्दो को ही मानते थे। भर्तृहरि ने व्याकरण शास्त्र को आगम माना है और इसके प्रति अत्यन्त मनोरम भाव व्यक्त किया है। विद्या का अधिष्ठान वेद है। वह एक है। पर उसके परिकल्पित भेद किए गए हैं। मत्रद्रष्टा ऋषियो ने साधारण ज्ञान वाले प्राणी के लिए वेद का कई रूप मे अन्वाख्यान किया है। वेद लोक का प्रकृति (मूल) है। वही लोक का उपदेष्टा है। लोक की सभी व्यवस्थाओ का विधाता है। वह प्रणवमय है। वह सर्व शब्द-अर्थ की प्रकृति है। सभी तरह के विद्याभेद उसी से उदबुद्ध हुए है। विद्याभेद ज्ञान के हेतु हैं। इनसे पुरुष का सस्कार होता है। उनकी बुद्धि का उनके ज्ञान का सस्कार होता है। ये विद्याभेद वेद के अग के रूप में प्रसिद्ध हैं और उन अगों के भी उपांग हैं जिनसे स्वप्न, पाक, योनि आदि का ज्ञान होता है। **उपाङ्गेभ्यश्च स्वप्नविज्ञानपाकयोनिज्ञानादयो विद्याभेदाः प्रसिद्धा लोके**--वाक्यपदीय-हरिवृत्ति १।१०

इन अंगो, उपांगो मे सर्वप्रथम स्थान व्याकरण का है (**प्रथम छन्दसामंगमाहुर्व्याकरण बुधाः**—वाक्यपदीय १।११)

वेद शब्दमय हैं। व्याकरण शब्द का ही सस्कार करता है। इसलिए शब्द के साक्षात् उपकारी होने के कारण वेद का समीपी है। इसीलिए अक्षर समाम्नाय के ज्ञान-मात्र से सर्व वेद की पुण्यफल-प्राप्ति कहा जाता है। इसलिए अंगो में व्याकरण को प्रधान माना है।

शब्द समूह को भर्तृहरि ने वाणी का परमरस कहा है (**यो वाच परमोरसः**) वह पुण्यतम ज्योति है। व्याकरण उस परम ज्योति का ऋजु मार्ग है। स्वरूप और पररूप के द्योतक तीन तरह के प्रकाश होते हैं। एक अग्नि का प्रकाश। दूसरा पुरुष

का आन्तरिक प्रकाश। तीसरा प्रकाश और अप्रकाश सबको प्रकाशित करनेवाला शब्द नाम का प्रकाश। इस शब्दरूप प्रकाश से अखिल चर-अचर जगत् सम्बद्ध है।

> इह त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशा. स्वरूपपररूपयोरवद्योतकाः तद्यथा। योऽयं जातवेदा यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशो यश्च प्रकाशाप्रकाशयो. प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाश. तत्रैतत्सर्वमुपनिबद्ध यावत्स्थास्नु चरिष्णु च इति।
>
> —वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१२

इसको दण्डी ने यों व्यक्त किया है :

> इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
> यदि शब्दाह्वयः ज्योतिरासंसारं न दीप्यते। —काव्यादर्श, १।४

जो व्याकरण नही जानता वह शब्दार्थ सम्बन्ध के तत्त्व को नहीं समझ सकता। वह एक ही अर्थ वाले साधु-असाधु शब्द का निर्णय नहीं कर सकता। बिना उपदेश के साधु प्रयोग से शिष्टो का अनुमान नहीं कर सकता।

> शब्दार्थ सम्बन्ध निमित्त तत्त्व वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून्। साधुप्रयोगानुमितांश्च शिष्टान् न वेद यो व्याकरणं न वेद।
>
> —वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१२ मे उद्धृत

अर्थ के प्रवृत्ति अथवा व्यवहार के तत्त्व का शब्द ही निबन्धन है। वह अर्थ-प्रवृत्ति चाहे विवक्षा मानी जाय या संसर्ग मानी जाए। सत्ता मानी जाए अथवा बाह्यरूप मे स्थित प्रत्यगात्मा मानी जाए। शब्दो का तत्त्वबोध—उनका शुद्ध अपभ्रंश-रहित स्वरूप बिना व्याकरण के नही जाना जा सकता।

व्याकरण स्वर्ग का द्वार है। वाणी के मल की चिकित्सा है। सर्वविद्याओ से पवित्रतम है और सभी विद्याओ में प्रकाशित होता है।

जैसे संसार के सभी अर्थ-जाति शब्दाकृति से ग्राह्य है—संसार के सभी पदार्थ शब्द से द्योतित होते हैं—वैसे ही व्याकरण समस्त विद्याओ का मूल है। वह सिद्धि के सोपान का प्रथम पर्व है। वह मोक्षार्थी के लिए सरल राजमार्ग है।

भर्तृहरि के अनुसार व्याकरण स्मृति है। वह प्रातिभ-ज्ञान-सम्पन्न-ऋषियो द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। वह अपौरुषेय है। व्याकरण को अपौरुषेय रूप देते हुए ही मुनियो ने शब्दानुशासन प्रकट किया है।

भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्या-अगम्या आदि का विचार जैसे स्मृति-ग्रन्थ करते है और शिष्टजन अपने आचरण मे उनका पालन करते है, उसी तरह व्याकरणस्मृति भी साधुत्व ज्ञान का प्रतिपादन करती है। साधु और असाधु शब्द की व्यवस्था व्याकरण करता है। जिस तरह परम्परा को अविच्छिन्न रखते हुए समय-समय पर स्मृतियो का संस्करण होता आया है उसी तरह परम्परा को अविच्छिन्न रखते हुए शब्दानुशासन भी समय-समय पर शब्दतत्त्वज्ञो द्वारा प्रचारित होता रहा है।

> साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृति।
> अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्॥—वाक्यपदीय १।१४२

व्याकरण का पद-अन्वाख्यान और वाक्य-अन्वाख्यान

भर्तृहरि प्रवाहनित्यता (गुरु परम्परा से क्रमागत) के आधार पर शब्दानुशासन को अनादि मानते हैं। शब्दानुशासन की प्रायः दो तरह की पद्धति रही है। एक है 'शब्दवती' और दूसरी है 'अशब्दा'।

> तस्मादनादि गुरुपूर्वक्रमागता शिष्टानुमानहेतुरव्यभिचारा लक्षणप्रपञ्चाभ्यां शब्दवती चाशब्दा च स्मृतिर्निबध्यते। —वाक्यपदीय १। २९ हरिवृत्ति

शब्दवती के रूप में शब्दानुशासन कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द का नामतः उल्लेख कर प्रकृति-प्रत्यय आदि के रूप मे उसका संस्कार किया जाता है। पाणिनि आदि सूत्रकारों के लक्षण इसी कोटि में आते हैं जैसे 'अग्नेर्ढक्' इस सूत्र के द्वारा जो अनुशासन कहा जा रहा है उसे हम शब्दवती अनुशासन पद्धति कह सकते हैं।

परन्तु सहस्रों ऐसे शब्द हैं जिनके बारे मे अनुशासन उपलब्ध नही हैं। ऐसे भी सैकड़ों शब्द हैं जिनमे लक्षण ठीक नही बैठते फिर भी वे साधु माने जाते हैं। ऐसे शब्दो का अनुशासन शिष्टों के व्यवहार के आधार पर मान लिया गया है। यद्यपि शब्दतः उनका उल्लेख विधि के रूप में नही है फिर भी वे शब्द अपने प्रकृत रूप में शास्त्रकार को इष्ट हैं। इसीलिए ऐसे वाक्य मिलते हैं। **इष्टमेवैतद्गोनर्दीयस्येति**—महाभाष्य ३।१।९२। इस तरह के अनुशासन को भर्तृहरि ने अशब्दा स्मृति कहा है।

दूसरे शब्दो में हम कह सकते है कि आचार्यों अथवा शिष्टो द्वारा दो प्रकार से व्याकरण अथवा शब्दानुशासन आरम्भ किया गया। पहला उपेयनिर्देश के द्वारा और दूसरा उपायनिर्देश के द्वारा। उपेयनिर्देश का भाव निपातन जैसी प्रक्रिया से है। बहुत से शब्द हैं जिन्हे पाणिनि आदि ने निपातन से सिद्ध किया है अर्थात् वे शब्द जैसे सुने जाते थे, जैसे लोक में प्रचलित थे उनका उसी रूप मे उल्लेख कर दिया गया। प्रकृति-प्रत्यय का विचार उनके बारे मे ठीक से नही किया गया। निपातन के बारे में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च।
अनुबन्ध विकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम्॥

—कैयट ५।१।११४ मे उद्धृत

उपायनिर्देश से तात्पर्य विधि से है, प्रातिपदिक आदि से प्रत्यय आदि का विधान कर शब्द के साधुत्व प्रदर्शन से है। शास्त्रकारो ने प्रकृति और प्रत्ययो में अनुबंध की कल्पना विशेष दृष्टि से की है। प्रकृति के अकार आदि अनुबन्ध उपग्रह आदि के संकेत की दृष्टि से किए गए है। घञ् अण् आदि प्रत्ययो मे अनुबध वृद्धि, उदात्तादि स्वर आदि के सकेत के लिए किए गए है। वस्तुत शिष्ट जनो को, शिक्षित, सभ्य समुदाय को प्रकृति-प्रत्यय आदि की आवश्यकता नही होती। शब्दो की ठीक पहचान उन्हे लोक व्यवहार से परपरया मिल जाती है। हेलाराज के अनुसार शिष्टों की प्रतिभा निर्मल रहती है। उनकी बुद्धि सब को यथार्थरूप मे ग्रहण करने मे स्वभावत समर्थ होती है। इसलिए उन्हे प्रकृति-प्रत्यय के उपदेश की आवश्यकता नही होती। उनके लिए उपायनिर्देश (निपातन से शब्द सिद्धि) भी असत्य ही हैं।

जब ऐसी बात है, शिष्ट के व्यवहार से ही काम चल जाएगा, शब्दानुशासन की, अष्टाध्यायी आदि व्याकरण ग्रन्थों की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि शिष्ट प्रयोगो का कोई उल्लघन न करे इसलिए उन शिष्टो द्वारा प्रयुक्त शब्दों को ही व्याकरण लक्षण द्वारा समझता है। वैयाकरण स्वय शब्द नही गढता। लोक में प्रयुक्त शब्दों का ही अन्वाख्यान करता है। किसी नियम के न रहने पर शिष्टमन्य लोक मनमाना व्यवहार कर सकते हैं और भाषा के परिनिष्ठित रूप में विच्छृंखलता ला सकते है। दूसरा कारण यह है कि शिष्टों को भी विशेष शब्द के बारे मे भ्रम हो सकता है। भ्रम के निराकरण के लिए भी आकर ग्रन्थों की आवश्यकता है। इसलिए भर्तृहरि ने कहा है कि जो शिष्ट प्रयोग के साक्षात्कार करने में असमर्थ है, अन्धे हैं, उनके लिए शास्त्र ही दृष्टि हैं (**शास्त्रं चक्षुरपश्यताम्**-वाक्यपदीय ३, वृत्ति समुद्देश ७९)। जो लक्षण जानते हैं परन्तु लक्षणनिरपेक्ष रूप मे ही साधु शब्दो का व्यवहार करते

हैं। उन्हें भी पतंजलि ने शिष्ट कहा है। उनके ऐसे व्यवहार से उनके शिष्ट होने का अनुमान कर लिया जाता है। अतः व्याकरण सम्प्रदाय में 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' और 'शैषाशिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी' ये दोनों ही उक्तियाँ प्रचलित और मान्य हैं। (हेलाराज, वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश, ७८, ७९)।

व्याकरण द्वारा शब्दों का अन्वाख्यान किया जाता है। इस सम्बन्ध में दो तरह के मत हैं। एक मत है कि व्याकरण द्वारा शब्द का अन्वाख्यान पद-अवधिक है। दूसरा मत यह है कि अन्वाख्यान वाक्य अवधिक है। भर्तृहरि ने दोनों पक्षों का उल्लेख किया है :

केषांचित् पदावधिकमन्वाख्यानम्, वाक्यावधिकमेकेषाम्।

—वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति, पृष्ठ ३८।

पाणिनि आदि के अनेक वक्तव्य पद के अन्वाख्यान और वाक्य के भी अन्वाख्यान में प्रमाण हैं। पद संस्कार पक्ष मे एक शब्द दूसरे शब्द से निरपेक्ष होता है। उसका संस्कार भी निरपेक्ष रूप में ही होता है। जैसे शुक्ल शब्द गुणवाचक शब्द है। मतुप् प्रत्यय के लोप के होने पर शुक्ल शब्द शुक्ल गुण वाले वस्तु का भी बोधक है। ऐसी परिस्थिति में वह विशेषण हो जाता है। किसी दूसरे पद के सम्पर्क मे भी वह विशेषण हो सकता है जैसे शुक्लः पटः मे। अब पदसस्कारपक्ष मे शुक्ल शब्द को विशेषण के रूप मे भी नपुंसक लिंग और एकवचनान्त होना चाहिए क्योंकि निरपेक्ष रूप मे एकवचन और नपुंसक लिंग ही स्वाभाविक है और अन्तरग होने के कारण तथा श्रुति अभेद के कारण विशेष अर्थ में वर्तमान शुक्ल शब्द मे भी वे ही उपस्थित हो जाएँगे। इस दोष को हटाने के लिए विशेषणाना चाजातेः १।२।५२ यह नियम बनाया गया। अर्थात् गुणवचन शब्दों का आश्रय के अनुसार लिंग वचन होते हैं। आश्रय का बहिरंग और भावी होना इसमे बाधक नही है। अत. विशेषणाना चाजातेः १।२।५२ यह सूत्र पदसंस्कारपक्ष का समर्थक है। वाक्यसस्कारपक्ष मे गुण का आश्रय में अत्यन्त ससृष्ट होने के कारण, उनका अलग विवेक न होने के कारण गुण का कोई 'सामान्य' रूप ही सभव नही है। आश्रय के भान होने के साथ ही साथ गुण का भी भान होगा क्योंकि गुण तन्निष्ठ है और इसलिए द्रव्यगत लिंग और वचन भी स्वभावतः सिद्ध हो जाएँगे। इस पक्ष में सूत्र केवल अनुवाद मात्र हैं।

> **पदसंस्कारपक्षे वाचनिकमेतत्। पदे हि पदान्तरनिरपेक्षे संस्क्रियमाणे नपुंसकलिंगसर्वनामप्राप्तमेकत्व च वस्त्वन्तरनिरपेक्षत्वात् सन्निहितमिति शुक्लं पटा इति प्राप्ते भाविनो बहिरंगस्याश्रयस्य लिंगसंख्येऽनेन प्रतिपाद्यते। ... यदा तु वाक्यसस्कारः तदायमनुवाद एव।**

—कैयट, महाभाष्य, १।२।५२,

द्रष्टव्य—वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति पृष्ठ ३८।

पाणिनि ने **तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्** १।२।५३ सूत्र से भी उपर्युक्त सूत्र की निरर्थकता द्योतित की है।

कात्यायन ने पदसस्कारपक्ष को मान कर द्वन्द्व समास मे प्रत्येक अवयव के सस्कार की दृष्टि से '**द्वन्द्वेऽबहुषु लुग् वचनम्**' कहा और वाक्य-सस्कारपक्ष के आधार पर '**न वा सर्वेषां द्वन्द्वे बह्वर्थत्वात्**' यह कहा (वार्तिक, महाभाष्य २।४।६२)।

उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५ जैसे सूत्र और 'भवति' के लिए 'भू, भूति, भू अति आदि की कल्पना पदावधिक अन्वाख्यान पक्ष मे ही ठीक है।

भर्तृहरि ने सग्रहकार का निम्नलिखित वक्तव्य वाक्यावधिक अन्वाख्यान पक्ष के समर्थन में उद्धृत किया है :

न हि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित् ।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥

न्यासकार ने भी कौस्तः, यौस्तः इन शब्दों की सिद्धि पदसंस्कारपक्ष में दुरूह बताते हुए वाक्यसंस्कारपक्ष पाणिनि को अभिप्रेत है ऐसा माना है :

किं पुनरिदं राजशासनं पदसंस्कारार्थमेव शब्दानुशासनं कर्तव्यमिति । अथ शास्त्रकारस्यैवायमभिप्राय इति चेत् । न । शास्त्रकारेण हि युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यम (१।४।१०५) इति युष्मदाद्युपपदे मध्यमादिपुरुषविधानात् वाक्यसंस्कारप्रयुक्तमपि शास्त्रमेतदिति सूचितम् ।

—न्यास, १।१।५८, पृष्ठ १११ ।

पुरुषोत्तमदेव ने भी पदसंस्कारपक्ष और वाक्यसंस्कारपक्ष दोनो को आचार्यसम्मत माना है ।

इह प्रातिपदिकार्थ मात्रे प्रथमां विवदता आचार्येण ज्ञाप्यते पदसंस्कारकमिदं व्याकरणमिति ।···तथा वाक्यसंस्कारक चेद व्याकरणमाचार्यस्याभिमतमिति धातु सम्बन्धे प्रत्ययाः (३।४।१) इति सूत्रकरणात् ।

—पुरुषोत्तमदेव, ज्ञापक समुच्चय, पृष्ठ ६७, ६८ ।

पदावधिक अन्वाख्यान और वाक्यावधिक अन्वाख्यान में हेलाराज के मत मे, भेद यह है कि सम्बन्ध सामान्य की अपेक्षा में पदावधिक अन्वाख्यान और सम्बन्ध विशेष की अपेक्षा से वाक्यावधिक अन्वाख्यान किया जाता है ।

···सम्बन्धि (सम्बन्ध) सामान्यापेक्षायां पदावधिकं तद्वाक्योपात्तसम्बन्धविशेषापेक्षायां तु वाक्यावधिकमन्वाख्यानमिति इयाननयो. पक्षयोः विशेषः ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३ साधनसमुद्देश ३, पृष्ठ १७६ ।

यद्यपि पदसंस्कारपक्ष और वाक्यसंस्कारपक्ष दोनो ही गृहीत हैं । फिर भी व्याकरणशास्त्र प्रकृति-प्रत्यय आदि के द्वारा पदसंस्कार ही करता है । ऐसे विभाग पद मे ही संभव है । वाक्य मे अनेक पदों के होने के कारण वाक्य का साक्षात् अन्वाख्यान उतना उपयुक्त नही है । दर्शन भेद से दोनो पक्षो मे भेद होने पर भी पदसंस्कार को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योकि पद का स्वरूप व्यवस्थित है ।

दर्शनभेदात् भेदेऽपि व्यवस्थित रूपत्वात् पदमेवान्वाख्येयम् इति ।

—वृषभ, वाक्यपदीय १।१२६ पृष्ठ ४३ ।

व्याकरण लोकपक्ष को महत्व देता है

शब्दानुशासन की प्रक्रिया मे सब तरह के न्यायसिद्ध सिद्धान्त काम मे लाए जाते हैं । फिर भी व्याकरण-दर्शन 'लोकविज्ञान' को भी महत्त्व देता है । पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि लौकिक पक्ष के समर्थक हैं । जहाँ कही शास्त्रीय सिद्धान्त और लोकप्रसिद्ध व्यवहारों मे विरोध होता है, व्याकरण-दर्शन लोक प्रसिद्ध पक्ष को ही प्रश्रय देता है । उदाहरण के लिए, सभी दर्शन मानते है कि अवयव मे अवयवी रहता है । इस सिद्धान्त के अनुसार शाखा मे वृक्ष है, वृक्ष मे शाखा नही । किन्तु लोक मे सदा 'वृक्ष मे शाखा' यही कहते है । अत· वैयाकरणो ने शास्त्रीय आधाराधेय भाव को ठुकराकर लोकपक्ष को ही अपनाया है और उसके अनुसार 'वृक्षे शाखा' यही कहते है ।

एतच्च लौकिक व्यवहारानुगुण्येन शास्त्रेऽस्मिन् व्युत्पाद्यते । शास्त्रान्तर प्रसिद्धा व्यवस्था लोकविरुद्धा । लोके हि गवि शृङ्गं वृक्षे शाखा इति व्यवहारः । तथैव व्याकरणेऽप्याधार सप्तमी । शास्त्रान्तरे तु अवयवेष्ववयवीति शृंगे गौ·,

आज्ञायां वृक्ष इति स्यात् ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जाति समुद्देश ११।

परन्तु विचार के लिए व्याकरणदर्शन विचार अवश्य करता है। भट्टोजि दीक्षित ने लिखा है कि जैसे कोई वराटिका (कौडी) ढूंढने चले और उसे चिन्तामणि मिल जाए उसी तरह शब्द विचार में प्रवृत्त भर्तृहरि ने प्रसंग से विवर्तवाद आदि का भी अन्वाख्यान किया है जिससे वैयाकरणों को भी अद्वैतब्रह्म के विषय मे परिज्ञान हो।

> **तदेवं वराटिकान्वेषणाय प्रवृत्तश्चिन्तामणिं लब्धवानिति वसिष्ठरामायणोक्ताभाणक न्यायेन शब्दविचाराय प्रवृत्तः सन् प्रसंगादद्वैते ब्रह्मण्यपि व्युत्पद्यतामित्यभिप्रायेण भगवान् भर्तृहरिर्विवर्तवादादिकमपि प्रसङ्गाद्व्युत्पादयत् ।**
>
> —शब्दकौस्तुभ, पृष्ठ १२।

परन्तु भट्टोजि दीक्षित की उक्ति उतनी सही नहीं है। वस्तुतः भर्तृहरि ने शब्द विचार एक दार्शनिक की भाँति आरम्भ किया है और वाक्यपदीयके आरम्भ मे ही उसकी प्रतिष्ठा कर दी है। विवेचन की सूक्ष्मता और व्यापकता के आधार पर सभी तरह के मौलिक विचार दर्शन के क्षेत्र में आ जाते हैं। शब्दानुशासन की प्रक्रिया के मूल मे छिपे हुए गहन विचारों का विश्लेषण अपना स्वतंत्र महत्त्व रखता है। वाक्यपदीय का दर्शन एक प्रासंगिक दर्शन नहीं है। अपितु 'भाष्याब्धिपीयूषच्छटाच्छुरित' व्याकरण-दर्शन का रस है।

ध्वनि

ध्वनि की परिभाषा

भर्तृहरि के अनुसार जो स्फोट का अभिव्यंजक है उसे ध्वनि शब्द से व्यक्त करते हैं। दूसरे शब्दों में, शब्द के व्यंजक को ध्वनि कहते है। महाभाष्यकार ने प्रतीतपदार्थक ध्वनि को शब्द माना है (**प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते**—महाभाष्य पस्पशाह्निक)। अर्थात् लोक मे जो ध्वनि समूह पदार्थबोधक के रूप मे प्रसिद्ध है, जो श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य है और वर्णरूप है वह शब्द है। इस दृष्टि से ध्वनि और शब्द में कोई भेद नहीं है। किन्तु सूत्र १।१।७० मे भाष्यकार ने ध्वनि शब्द को शब्द का गुण कहा है (स्फोट शब्द ध्वनि शब्दगुण)। ध्वनि को शब्द के गुण मानने का भाव है कि ध्वनि शब्द का उपकारक अथवा व्यंजक है। भाष्यकार ने '**उभयतः स्फोटमात्र निर्दिश्यतेरश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति**' इस वाक्य मे स्फोट शब्द का व्यवहार किया है। आकृतिनित्यत्ववादियों के मत मे इस वाक्य मे स्फोट शब्द से अन्य शब्दाकृति अभिप्रेत है। शब्दत्व और शब्दाकृति मे भेद यह है कि शब्दत्व सभी शब्दो में रहने वाला धर्म है, सर्व शब्द साधारण है। शब्दाकृति विशेष शब्द से सम्बद्ध है। वह क्रमशवित से उद्बुद्ध एक-एक कर सुनाई देने वाली और उसी क्रम से गृहीत वर्णों से गठित होती है। ये (उपलब्धि निमित्त सस्कार) उसमे कल्पित होते हैं वास्तविक नहीं। शब्द-व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। उनमें स्वयं अपने आप को अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं होती परन्तु वे स्फोट को द्योतित करते हैं। स्फोट को द्योतित करने वाले शब्द-व्यक्ति का नाम ध्वनि है (वाक्यपदीय १।६४ हरिवृत्ति)। श्लोकवार्तिककार के अनुसार स्फोट शब्द है और ध्वनि उसका व्यायाम (विस्तार) है।

> **स्फोटः शब्दो ध्वनि. तस्य व्यायाम उपजायते ।**
>
> —वाक्यपदीय १।२२ की हरिवृत्ति मे उद्धृत ।

कुछ लोगों के अनुसार जातिस्फोट के व्यंजक को ध्वनि कहते हैं।

अनेक व्यक्त्यभिव्यंग्या जाति. स्फोट इतिस्मृता
कैश्चित् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः ।

—वाक्यपदीय १।९४

शब्द के अनित्यत्व और नित्यत्व के विचार से भी ध्वनि के रूप में कुछ भेद दृष्टिगत होता है। भर्तृहरि ने इसे निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोन्यैरुदाहृताः ॥—वाक्यपदीय १।१०३

अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुकः प्रथमाभिनिर्वृत्तो यः शब्दः स स्फोट इत्युच्यते। तज्जातास्तु सर्वदिक्कास्तद्रूपप्रतिबिम्बोपग्राहिणः. सर्वद्रव्याणां स्वेनात्मना निरवयवत्वात् आकाशस्यापि मूर्त्यसमवायिदेशवत् संयोगि-द्रव्यान्तरदेशप्रविभागोपचारे सति, देशानैरन्तर्यप्रत्यासत्याकार्यकारणसन्ताना-विच्छेदेन यथोत्तरमपचीयमानपूर्वप्रतिबिम्बोपग्रहणशक्तयो मन्दप्रदीपप्रकाशित-रूपकल्पा क्रमेण प्रध्वसमाना ये वर्णश्रुति विभजन्ति ते ध्वनय इत्युच्यन्ते । नित्यपक्षे तु सयोगजविभागजध्वनिव्यंग्य. स्फोटः । एकेषां सयोगविभागजध्व-निसमूहनादाभिव्यंग्यः । स्फोटरूपानुग्राहिणस्तु यथोत्तरमपचीयमानाभि-व्यक्तिसामर्थ्या द्रुतादिवृत्तिभेदव्यवस्था हेतवोऽपचयात्मका ध्वनय ।

—वाक्यपदीय १।१०३ पर हरिवृत्ति

अनित्य पक्ष मे स्थान और करण के सयोग विभाग के हेतु से निर्वृत्त को शब्द कहते है। उसकी प्रथम अभिव्यक्ति होती है। उस शब्द को स्फोट कहते है। अपने समवायी आकाश की तरह वह भी निरवयव है परन्तु जैसे आकाश मे घट आदि सयोगी द्रव्य से देश भेद होने के कारण पूर्वापर व्यवहार होता है उसी तरह शब्द मे भी पूर्वापर व्यवहार आरोपित रहता है। शब्द के बाद जो पैदा होती है वे ध्वनियाँ हैं। वे वर्णश्रुति को विभक्त करती हैं। अर्थात् प्रविभक्त स्फुट अक्षर वाली होती है। वे शब्द के प्रतिबिम्ब से युक्त रहती है और सब दिशाओ मे फैलती है। इनके फैलने की दो पद्धतियाँ मानी गई है। वीचितरंगवत् और कदम्ब कोरकवत्। जैसे एक लहर दूसरी लहर को पैदा करती हुई विस्तार पाती है वैसे ध्वनि भी एक ध्वनि लहर से दूसरी ध्वनि लहर उठाती हुई संतत रूप मे फैलती है। कदम्बकोरक का मत मानने वालो का अभिप्राय यह है कि जिस तरह कदम्ब के कोरक एक-ब-एक चारो तरफ समान रूप से खिलते है वैसे ही ध्वनियाँ चारो तरफ समान रूप से फैलती हैं। वीचितरंगन्याय और कदम्बकोरकन्याय मे भेद यह माना जाता है कि पहले मत के अनुसार चारो दिशाओ मे फैलने वाली ध्वनि की एक लहर-सी होती हैं जबकि दूसरे मत के अनुसार चारो ओर फैलने वाली ध्वनि अलग-अलग-सी होती है। ध्वनि का स्वभाव यह है कि वह क्रमश: क्षीण होती जाती है और अन्त मे क्रम से नष्ट होती जाती है। भर्तृहरि ने इनकी उपमा मन्द प्रदीप के प्रकाश से दी है। यद्यपि ध्वनि दीपक के तुल्य है व्यजक होने के कारण, न कि प्रकाश के। फिर भी जैसे मन्द प्रकाश दूर पडने पर क्रमश क्षीण और विलीन होते जाते है वैसे ही ध्वनि की भी बात है। यही दोनो में साम्य है।

शब्द के नित्यत्वपक्ष मे ध्वनि यथोत्तर अपचय प्राप्त होने वाली अभिव्यक्ति मे समर्थ, द्रुतादिवृत्तिभेद व्यवस्था का कारण और अन्त मे विनशनशील है। अनित्य पक्ष और नित्यपक्ष मे ध्वनि के स्वरूप में भेद न होकर शब्द अर्थात् स्फोट के स्वरूप में भेद है। अनित्य पक्ष मे शब्द पैदा होता है तब ध्वनि फैलती है। नित्य पक्ष मे शब्द ध्वनि से व्यंग्य है। शब्द व्यक्ति को ही स्फोट मानने वाले सयोगविभागज ध्वनि

समूह से उद्बुद्ध नाद से व्यंग्य स्फोट को मानते हैं। प्रथम ध्वनि (प्राकृत ध्वनि) ह्रस्व दीर्घ आदि की व्यवस्था का और द्वितीय ध्वनि (वैकृत ध्वनि अथवा नाद) द्रुतादि वृत्ति व्यवस्था का हेतु है (वाक्यपदीय १।१०३)।

भेरीदण्डाभिघात से उत्पन्न ध्वनि दूर तक सुनाई देती है और लोहकंसाभिघात से उत्पन्न ध्वनि नजदीक तक ही सुनाई देती है। ध्वनि की इस महत्ता अथवा अल्पता से शब्द को भी लोक-व्यवहार में अल्प या महान् कहते हैं। वस्तुतः शब्द अल्प या महान् नहीं होता। ध्वनि कार्यरूप और कारणरूप दोनों हैं। उत्तरोत्तर ध्वनियों का पूर्ववर्ती ध्वनियाँ कारण हैं। और पूर्ववर्ती ध्वनियो का उत्तरवर्ती ध्वनियाँ कार्य हैं।

ध्वनिः प्राकृत और वैकृत

संग्रहकार ने दो तरह की ध्वनि मानी हैं। प्राकृत और वैकृत। शब्द के ग्रहण में हेतु प्राकृत ध्वनि है। स्थिति भेद अर्थात् द्रुतविलम्बित आदिवृत्ति के ग्रहण मे हेतु ध्वनि को वैकृत कहते हैं।

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे (वृत्ति भेदे) निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते।

—संग्रह, वाक्यपदीय १।७७ हरिवृत्ति पृष्ठ ७७-७८ पर उद्धृत।

भर्तृहरि के मत मे प्राकृत ध्वनि वह ध्वनि है जिसके बिना अनभिव्यक्त स्फोट का परिज्ञान ही नहीं हो सकता। वैकृत वह ध्वनि है जिसके द्वारा व्यक्त स्फोट बार-बार दीर्घ दीर्घतर आदि काल के साथ जान पड़ता है (वाक्यपदीय १।७७ हरिवृत्ति)।

वृषभ के अनुसार ध्वनि की प्रकृति स्फोट है। स्फोट रूपी प्रकृति से उद्भूत ध्वनि को प्राकृत ध्वनि कहते हैं। इस ध्वनि के उत्तरकाल मे होने वाली ध्वनियाँ उससे विलक्षण जान पडती हैं। वे मानो स्फोट के विकार है। इसलिए उन्हें वैकृत ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि स्फोटयो पृथक्त्वेनानुपलंभात् तं स्फोटं तस्य ध्वनेः प्रकृतिमिव मन्यते। तत्र भवः प्राकृत। तदुत्तरकालभावी तस्माद् विलक्षण एवोपलभ्यते इति विकारापत्तिरिव स्फोटस्येति वैकृत उच्यते।

—वृषभ, वाक्यपदीय १।७७ पृ० ७८

हेलाराज के अनुसार प्राकृत ध्वनि स्वगत काल भेद का अवभास कराती है। वैकृतध्वनिजनित वृत्तिभेद भेदक नही होता। —कालसमुद्देश ६५

देवसूरि के अनुसार प्राकृत ध्वनि वह ध्वनि है जिसके बिना सामान्यरूप से या विशेषरूप से स्फोट की प्रतीति नही होती। स्फोट की प्रतीति होने के बाद जिन ध्वनियों से यह वही है (स एव अयम्) इस रूप मे देर तक स्फोट की उपलब्धि होती रहती है वे वैकृत ध्वनियाँ हैं (स्याद्वादरत्नाकर ४।१० पृष्ठ ६५४)।

नागेश के मत मे आलस्य आदि कारणो से जन्य ध्वनि वैकृत कहलाती है। वह वर्ण के अभिव्यक्ति के उत्तर काल मे होती है। वह उपलब्धि के बार-बार ग्रहण मे कारण है। बार-बार से यहाँ तात्पर्य लगातार धारावाहिक उपलब्धि से है न कि खण्डित उपलब्धि से। (नागेश, महाभाष्य १।१।७०)

सभी के मत मे ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत का ग्रहण प्राकृतध्वनि का कार्य है। और द्रुत मध्यम और विलम्बित वृत्ति में भेद ग्रहण वैकृत ध्वनि का कार्य है। व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से प्राकृत और वैकृत ध्वनि में मौलिक भेद यह है कि प्राकृत ध्वनि का स्फोट

में अध्यारोप होता है पर वैकृत ध्वनि का स्फोट में अध्यारोप नहीं होता।

ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ध्वनि

पाणिनि के मत में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञायें स्वरों की हैं। उकार के उच्चारणकाल के तुल्य जिस स्वर का उच्चारणकाल होता है वह ह्रस्व संज्ञक है। ऊकार के उच्चारणकाल सदृश जिस स्वर का उच्चारणकाल है वह दीर्घ संज्ञक है और ऊ३कार के उच्चारण के सदृश जिस स्वर का उच्चारणकाल है वह प्लुत संज्ञक है। (**ऊकालोऽज् ह्रस्वदीर्घप्लुत** १।२।२७) किन्तु ह्रस्व, दीर्घ आदि का व्यवहार ध्वनि के साथ भी होता है। भेरी पर क्रमशः जोर का आघात करने पर उसका नाद भी क्रमशः दूर तक फैलता और देर तक अनुरणित होता जान पडता है। यही बात ह्रस्व-दीर्घ आदि ध्वनियों की भी है। भर्तृहरि के अनुसार अप्रचित ध्वनि ह्रस्व का द्योतक है। प्रचित ध्वनि दीर्घ का द्योतक है और प्रचिततर ध्वनि प्लुत को व्यक्त करती है। जैसे गर्गादि वाक्य तुल्यमात्रा परिमाण वाले होने पर भी और इसलिए तुल्यकाल वाले होने पर भी, कभी एक-दो आवृत्ति मे धारण कर लिए जाते हैं और कभी-कभी देर तक आवृत्ति करनी पडती है। इसी तरह ह्रस्व आदि का भी काल तुल्य है किन्तु प्रचित या अप्रचित ध्वनि से व्यंग्य होने के कारण उनमे भेद जान पडता है। बुद्धि उनके स्वरूप का ग्रहण अभिव्यक्ति के आधार के द्वारा करती है जो प्रचित अप्रचित आदि रूप में है (वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।७७)।

कैयट के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वतः भिन्न है और इसलिए भिन्न-भिन्न ध्वनि से व्यंजित होते है। इसीलिए उनमे परस्पर काल भेद माना जाता है। (**ह्रस्वदीर्घप्लुतास्तु स्वतः एव भिन्ना भिन्नैः ध्वनिभिर्व्यज्यन्त इति तेषां कालभेदः** कैयट महाभाष्य १।१।७०)

पतञ्जलि के अनुसार ध्वनि अल्प भी होती है, महान् भी होती है और ऐसा स्वभावतः होता है। (**अल्पो महांश्च केषांचिदुभय तत्स्वभावतः**—महाभाष्य १।१।७०)। कैयट ने केषाचित् शब्द का यह अभिप्राय बताया है कि व्यक्त शब्दो के तो स्फोट और ध्वनि दोनो गृहीत होते है पर अव्यक्त की केवल ध्वनि ही गृहीत होती है।

देवसूरि ने भर्तृहरि के भाव को इस रूप मे व्यक्त किया है : जो ध्वनि सर्वप्रथम पैदा होती है वह मात्राकालिक है। उससे जो स्फोट अभिव्यक्त होता है वह भी यद्यपि निरवयव और पूर्वापर भाग से रहित होता है, उपचार से मात्राकालिक कहा जाता है। और शास्त्र मे व्यवहार के लिए उसे ह्रस्व शब्द से व्यक्त करते है। इसका आधार **एक मात्रो भवेद् ह्रस्वः** यह उक्ति है। पहले जो ध्वनि पैदा हुई फिर उससे जो ध्वनि पैदा हुई उन दोनो से अभिव्यक्त स्फोट दो मात्रा काल का (दीर्घ) उपचार से माना जाता है क्योकि वे दोनो ध्वनियां द्विमात्राकालिक हैं। द्विमात्रा को ही शास्त्र में दीर्घ कहा जाता है। (**द्विमात्रो दीर्घ उच्यते**)। प्रथम ध्वनि से उत्पन्न ध्वनि से उत्पन्न जो तीसरी ध्वनि उससे और पूर्वोक्त दोनो ध्वनियो से अभिव्यक्त स्फोट तीन मात्रा काल का उपचार से माना जाता है क्योकि वे ध्वनियाँ त्रिमात्राकालिक हैं। त्रिमात्राकालिक मानने के कारण उसे प्लुत भी कहते हैं। (**त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयः**)। देवसूरि के अनुसार इसके अर्थात् तृतीय ध्वनि के बाद व्यक्त होने वाली ध्वनियाँ वैकृत ध्वनि कही जाती हैं। उनका काल स्फोट मे आरोपित नही होता। वह केवल ध्वनिकाल है, शब्दकाल नही। विशिष्ट अभिघात से उत्पन्न ध्वनियों में कुछ ध्वनियाँ बिना किसी दूसरी ध्वनि को व्यापारित किए ही विलीन हो जाती हैं, कुछ एक ध्वनि को पैदा करके नष्ट हो जाती हैं, कुछ दो

ध्वनि को और कुछ बहुत ध्वनियों को जन्म देकर विलीन होती हैं। इसलिए शब्दकाल ध्वनिकाल से भिन्न है। इसी आधार पर द्रुता, मध्यमा आदि वृत्तियों में ध्वनिभेद ही माना जाता है। शब्द भेद नहीं (स्याद्वाद रत्नाकर ४।१०, पृष्ठ ६५४-६५५)।

द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता ये तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं। प्राचीनकाल में समय नापने की एक प्रकार की नाडिका थी। एक कटोरे में पानी भरा रहता था। उसमें से पानी चूने का प्रबन्ध था। चूने वाले जल बिन्दुओं को 'पानीय पल' कहते थे। द्रुतावृत्ति पढ़ने के उस ढंग को कहते थे जिसमें एक ऋचा के पढ़ने के काल में नव पानीय पल चू जाते थे। मध्यमा वृत्ति में द्रुतावृत्ति के तीन भाग अधिक समय लगता था। अर्थात् यदि द्रुतावृत्ति में ९ पानीय पल का समय लगता था तो मध्यमा में १२ पानीय पल का समय लगता था। विलम्बिता वृत्ति से पढ़ने पर १६ पानीय पल का समय लगता था। (नागेश ने नाडिका का अर्थ सुषुम्ना किया है। और पानीय पल को ब्रह्माण्ड से अमृतबिन्दु का चूना माना है। पीछे के वैयाकरणों ने व्याकरण-दर्शन को किस तरह रहस्यात्मक बना दिया है उसका यह भी एक दृष्टान्त है। नाडिकाया सुषुम्नाया इत्यर्थ.। पलानि बिन्दव। ब्रह्माण्ड सम्बद्धा साऽमृतबिन्दुस्राविणीति प्रसिद्धिर्योगिनाम्—नागेश महाभाष्य १।१।७० ।)

वृत्तियों में ध्वनिकृत भेद होते हुए भी वर्ण का काल एक ही रहता है। एक ही वर्ण को कोई शीघ्रता से उच्चारण करता है और कोई देर से उच्चारण करता है। जिस तरह से गति भेद से मार्ग में भेद नहीं माना जाता उसी तरह से वक्ता के उच्चारण भेद से वर्णों में उपचय का अपचय नहीं माना जाता। हाथी का हाथी के साथ और मशक का मशक के साथ सनिकर्ष एक-सा है। उनमें भेद उनके शरीर की मात्रा पर निर्भर करता है। घट बार-बार देखे जाने पर भी वही रहता है। उसमें भेद नहीं हो जाता। उसी तरह द्रुतविलम्बित आदि वृत्तियों में अकार अकार के रूप में अकार ही रहता है। उसमें कोई भेद सम्भव नहीं है। इसलिए वृत्तिभेद होते हुए भी वर्णभेद नहीं होता यह सिद्धान्त है। इसीलिए सभी वृत्तियों में तत्काल (एक ही वर्णकाल) माना जाता है जबकि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत में काल भेद माना जाता है जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है।

वृषभ के अनुसार द्रुता मध्यमादि वृत्तियों में भेद बुद्धि कृत है। उनके मत में स्फोटग्राहिका बुद्धि उपाधि रूप में कालभेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है और इसलिए द्रुतादि वृत्तियों में भेद हो जाता है (**अभिन्नेऽपि स्फोटे ता एव बुद्धय उपाधिभूता. कालभेदेनावर्तमाना भिद्यन्ते। तत्कृतश्च द्रुतादि वृत्तिभेदः**—वाक्यपदीय टीका १।७६ पृष्ठ ७८ लाहौर संस्करण)

उपर्युक्त विवरण वर्ण को नित्य मान कर उल्लिखित है। वर्ण के उत्पत्तिवाद के पक्ष में भी वर्ण की अभिव्यक्ति के बाद दूर से भी ग्राह्य किसी ध्वनि की सत्ता माननी ही पड़ेगी। उस ध्वनि के कालभेद से वृत्तिभेद माना जाना चाहिए। (**वर्णोत्पत्तिपक्षेतु तदनुनिष्पादी दूरादपिग्राह्य. कश्चिद्ध्वनिरवश्याम्युपेय.। तस्यैव कालभेदाद् वृत्तिभेदाभिव्यक्तिर्न** शब्दकौस्तुभ, १।१।७०)

वृत्तियों का उद्देश्य निम्नलिखित श्लोक में किसी ने लिखा है·

अभ्यासार्थे द्रुतावृत्तिः प्रयोगार्थे तु मध्यमा।

शिष्याणां तूपदेशार्थं वृत्तिरिष्टा विलम्बिता।—शब्दकौस्तुभ १।१।७० में उद्धृत

शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के विषय में कई मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि उत्पन्न होकर कर्णेन्द्रिय में एक अपूर्व शक्ति का संचार करती है।

कान का संस्कार करती है। उसमें सुनने की शक्ति पैदा करती है अथवा उसमें स्थित शक्ति को जगा देती है। दो तरह का संस्कार देखा जाता है।—लौकिक (प्राकृत) और अलौकिक। ये दोनो ही संस्कार ज्ञानेन्द्रियो मे होते देखे जाते हैं। उनके विषय मे नहीं। आँख मे अंजन लगाने से आँख की शक्ति बढती है। यह आँख का लौकिक संस्कार हुआ। कभी-कभी कोई व्यक्ति अपनी आँखो से बहुत सूक्ष्म ढकी हुई अथवा अत्यन्त दूर की भी वस्तु का प्रत्यक्ष कर लेता है। यह आँखो का कोई अलौकिक संस्कार है। ये दोनों ही संस्कार ज्ञानेन्द्रिय मे होते है न कि विषय मे। यदि विषय मे संस्कार होते तो बिना अंजन आदि के द्वारा और बिना दिव्य दृष्टि आदि अलौकिक शक्ति के द्वारा भी सबको उन वस्तुओ का प्रत्यक्ष होता। ऐसा होता नही है। इसलिए, ज्ञानेन्द्रिय मे ही संस्कार होने के कारण कर्णेन्द्रिय का ही संस्कार होता है और तब शब्द का श्रवण हो पाता है।

इसके विपरीत कुछ लोग मानते है कि संस्कार विषय मे ही होता है ज्ञानेन्द्रिय में नही। पृथ्वी पर जब जल छिड़कते है, उसमे से गंध निकलती है और उसका ग्रहण घ्राणेन्द्रिय करती है। तेल को जब किसी सुगन्धित द्रव्य से वासित करते है तब वह सुगन्धित जान पडता है। इसीलिए विषय मे ही संस्कार मानना ठीक है अन्यथा घ्राणेन्द्रिय मे संस्कार मानने से संस्कृत-असंस्कृत सभी प्रकार के विषयो मे कोई भेद ज्ञान नही हो सकता। इसलिए, इस मत के अनुसार, ध्वनि के संसर्ग मे शब्द का ही संस्कार होता है और तब वह कर्णगोचर होता है।

कुछ लोगो के मत से विषय और इन्द्रिय दोनो का संस्कार होता है। जो लोग चक्षु को अप्राप्यकारी मानते हैं उनके मत मे अन्धकार मे स्थित पुस्तक का प्रत्यक्ष प्रकाश मे होता है। प्रकाश मानो विषय का संस्कार करता है। जिनके मत मे चक्षु प्राप्यकारी है उनके मत मे तुल्यजातीय तेज (प्रकाश) से नयन रश्मियों का अनुग्रह होता है। सूक्ष्म रश्मियाँ आँख के प्रवाहरूप मे निकलकर बीच के तेज परमाणुओं से जो व्यापक होने के कारण सर्वत्र हैं मिल कर एक तरह की सूक्ष्मतर और भिन्न कोटि की रश्मि पैदा करती हुईं वहाँ तक जाती है जहाँ तक आलोक है। फिर उस आलोक से उन रश्मियो का संस्कार होता है ऐसा वैशेषिक मानते है।

ध्वनि के अभिव्यंजक के बारे मे भी तीन तरह के विचार है। कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि सदा स्फोट से संसक्त ही गृहीत होती है। स्फोट से अलग वह कभी भी ग्राह्य नहीं होती। न तो स्फोट और न ध्वनि ही परस्पर विभक्त रूप मे जाने जा सकते हैं। जिस तरह से विषय और आलोक एक दूसरे से संसृष्ट गृहीत होते हैं पर व्यवहार मे आलोक सूर्य-किरण से जन्य है और विषय स्तम्भ आदि काष्ठजन्य हैंऐसा उनमे भेद करते हैं उसी तरह तालु आदि स्थान से ध्वनि पैदा होती है और स्फोट नित्य होने के कारण अकार्य है ऐसा उनमे भेद करते है परन्तु उनका ग्रहण अलग-अलग न होकर सदा संसृष्ट ही रहता है।

कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि अगृहीत रूप मे ही शब्द का अभिव्यंजक है। ध्वनि का रूप कभी गृहीत नही होता। वह अगृहीतरूप मे ही शब्द के ग्रहण मे निमित्त होता है। इस दर्शन के मत मे इन्द्रिय और इन्द्रियो के गुण अनुमेय होते हैं। उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। विषय का प्रत्यक्ष होता है। उसका कोई साधन अवश्य है। इससे इन्द्रियों का अनुमान कर लिया जाता है। उसके मत मे इन्द्रियाँ भौतिक हैं और उनके आश्रित रूप आदि अपनी अधिकता से समान जातीय रूप आदि के ग्रहण में हेतु होते हैं। पृथ्वी गंधत्व ज्ञान में गंधमयी होने के कारण हेतु और गंध की अधिकता होने के कारण

हेतु है। घ्राणेन्द्रिय की गंध-उपलब्धि में निमित्त पृथ्वी का समवेत गन्ध है जो अपने समवायि कारण इन्द्रिय को व्यक्त करता हुआ (अनुगृह्णन्) गन्ध की उपलब्धि में निमित्त होता है परन्तु स्वयं समवेत गंध का संवेदन नहीं होता। उसी तरह ध्वनि भी असंवेदितरूप में ही किसी दूसरे उपाय से स्फोट की उपलब्धि में कारण होती है। (तत्र यथा घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवीभूयिष्ठगन्धवत्वात् समवेतो गन्धस्तत् समवायि कारणमिन्द्रियमनुगृह्णन् गन्धोपलब्धेर्निमित्तम्। न च समवेतो गन्धः संवेद्यते। तथा ध्वनिरसंवेदित एवान्येनोपायेन स्फोटोपलब्धे निमित्तम् भवतीति—वृषभ-वाक्यपदीय १।८२ पृ० ८३)

कुछ लोग मानते हैं कि केवल ध्वनि का भी स्वतन्त्ररूप मे ग्रहण होता है। इस मत मे दो तरह के विचार हैं। एक तो यह कि स्फोट (शब्द) के अवधारण या परिज्ञान के बिना भी दूर से केवल ध्वनि का ग्रहण देखा ही जाता है। दूसरा यह कि ध्वनि स्वयं शब्द की उपलब्धि की तरह है (शब्दोपलब्धि कल्प एवासावित्यपरे—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।८२)। देखा जाता है कि रेगिस्तान जैसे स्थानों मे छोटा भी टिल्ला पर्वत की तरह दिखाई देता है। चन्द्रमण्डल बहुत बडा है पर देखने मे अत्यन्त लघु जान पडता है। देशविशेष और सम्बन्ध-विशेष के कारण भिन्न आकार और अवस्था वाली वस्तु उससे भिन्न आकार अवस्था वाली मालूम पड़ती है। स्फोट और ध्वनि अलग-अलग है। जब वर्ण-बोध रहित केवल अनुरणन रूप ध्वनि रहती है उस समय इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्पष्ट है। अकार आदि स्पष्ट वर्णबोध के समय वह स्फोट से संस्पृष्ट जान पड़ती है।

प्रयत्नविशेष से उद्‌बुद्ध ध्वनि वर्णसम्बन्धी भी होती है, पदसम्बन्धी भी होती है और वाक्यसम्बन्धी भी होती है। दूसरे शब्दो मे, वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट को बुद्धि मे आरोपित करती है। बुद्धि के सहारे ही वर्णों के पौर्वापर्य का ज्ञान होता है। अन्यथा वर्णों के विनाशशील होने के कारण उनमें क्रम संभव नही है। अतः उनका परिज्ञान भी संभव नही है। क्रम से उत्पन्न वर्ण भी यदि अवस्थित रहते तो उनमें भी उसी तरह वर्ण का व्यपदेश संभव था जिस तरह ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ में होता है। किन्तु उच्चारण के बाद प्रध्वस्त हो जाने के कारण वर्ण अनवस्थित हैं और इसलिए तत्त्वतः उनमे पूर्वापर भाव नही है। शब्दो के पूर्वापर का व्यवहार बौद्धिक है। वर्णों के विषय में सावयव और निरवयव सम्बन्धी विचार इस ग्रन्थ मे अन्यत्र किया गया है। वृषभ के अनुसार भर्तृहरि वर्णों की भागशः रूप मे बुद्धिग्राहिता स्वीकार करते नहीं जान पड़ते। वर्ण की अभिव्यक्तिपक्ष मे और वर्ण की उत्पत्तिपक्ष मे भी भागशः अभिव्यक्ति मानने पर भी उनके समुदाय का ग्रहण नही हो सकता। उत्पत्तिवादियो के मत मे वर्ण के विभाग परमाणुकल्प है, इसलिए क्रम से उत्पन्न होने पर भी वे अतीन्द्रिय ही रहेंगे। फलतः उनका समुदित रूप में ग्रहण नही किया जा सकता।

वर्ण के निरवयवपक्ष में भी और उसके भागो को इन्द्रियग्राह्य मानते हुए भी उनके समुदायभाव की स्मृति नहीं हो सकती। वे क्रम से उत्पन्न होते जायेंगे और नष्ट होते जायेंगे, इस कारण, उनका समुदाय ही नही हो सकता। एक-एक के अनुभव होने पर भी

समुदाय का अनुभव सम्भव नहीं है। अनुभव न होने से उनकी स्मृति भी नहीं हो सकती। पुन. वर्ण के भागो मे स्मृति जगाने की शक्ति भी नहीं है क्योंकि उसके बारे मे किसी प्रकार का अभ्यास नहीं देखा जाता।

निरवयव वर्ण के अभिव्यक्ति-वाद के पक्ष मे भी सकल शब्द का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि अभिव्यंजक से अभिव्यग्य का ग्रहण होता है किन्तु अन्त मे उन समुदित व्यजनों की सत्ता न रह सकेगी। इसलिए सम्पूर्ण शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता। जो लोग स्फोट की भी भागश अभिव्यक्ति मानते हैं और उसे भाग वाला मानते है उनके मत में भी यह दोष है।

यदि यह कहा जाए कि पूर्व उच्चरित वर्ण आगे वाले वर्ण में अपना सस्कार डालते चलते हैं और जब अंतिम वर्ण उच्चरित हो जाता है तब उन सबका समूहालबनात्मक सस्कार बुद्धि मे पैदा हो जाता है और शब्द का ग्रहण होता है—तो यह भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योकि अभिव्यक्त वस्तु सस्कार ग्रहण करती है, जबकि आगे वाला वर्ण अनभिव्यक्त है। वहाँ सस्कार का आधान कैसे सम्भव है और जब आगे वाला वर्ण अभिव्यक्त होता है उस समय पूर्व का वर्ण अनभिव्यक्त हो जाता है। इसलिए भी सस्कार नहीं हो सकता। क्योंकि अपनी अभिव्यक्ति मे सस्कार का आधान होता है, अनभिव्यक्ति मे नहीं। अन्यथा नित्य होने के कारण सबका सर्वत्र आधान होने लगे (वृषभ, वाक्यपदीयटीका १।८५)।

ध्वनि और नाद

वाक्यपदीय मे ध्वनि और नाद शब्द का समान अर्थ मे प्रयोग हुआ है। भर्तृहरि ने इनमें अन्तर केवल यह किया है कि नाद ध्वनि का विवर्त है।

तच्च सूक्ष्मे व्यापिनि ध्वनौ करण-व्यापारेण प्रचीयमाने स्थूलेनाभ्रसंघातवदुपलभ्येन नादात्मना प्राप्तविवर्तेन......।

—हरिवृत्ति वाक्यपदीय १।४८, पृष्ठ ५८.

दूसरे शब्दो मे, प्राकृत ध्वनि को ध्वनि और वैकृत ध्वनि को नाद शब्द से प्रकट करते है। इन दोनो ध्वनियो का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। ध्वनि ह्रस्व, दीर्घ आदि का व्यवस्था-हेतु है और नाद द्रुता-मध्यमा आदि वृतिभेदो मे व्यवस्था स्थापित करता है। भर्तृहरि ने प्राकृतनाद और वैकृतनाद शब्द का भी व्यवहार किया है।

नादोहि प्राकृतः शब्दात्मनि प्रत्यस्यमानस्थितिरूपो भेदस्याग्रहणार्थं ह्रस्वदीर्घप्लुतकालभेदव्यवहार व्यवस्थाहेतुः। वैकृतस्तु नादो बाह्यद्रुतादि वृतिकालव्यवस्थां प्रकल्पयति। —वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१०२ पृष्ठ, ६७,६८

द्रव्याभिघात से, ताल्वादिस्थान मे जिह्वादि के अभिघात से कम्प पैदा होता है। कम्प के बाद नाद पैदा होता है। अभिघात कृत वायु के स्पन्दन को कम्प कहते है। कुछ लोग मानते हैं कि जिस तरह ज्वाला से ज्वाला पैदा होती है उसी तरह स्फोट से ध्वनियाँ पैदा होती हैं। कम्प से उत्पन्न शब्द के समानकालिक ध्वनियाँ स्फोट का सस्कार

करती हैं। उनके बाद प्रकाशित होने वाली उनके अनुषग से भासित होने वाली ध्वनियों को नाद कहते हैं :

> ग्रव्याभिघातात्प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि ।
> कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेर्विशेषकाः ॥
> अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोपरे ।
> स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव ॥

—वाक्यपदीय १।१०६,१०७

वृषभ के अनुसार नाद सूक्ष्म है क्योंकि नाद के भाग परमाणु कल्प हैं (परमाणुकल्पत्वान्नादभागानाम्—वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।४८)। नाद के भाग सकल व्योम-व्यापी हैं। नाद क्रमवान् है। स्थान और करण (जिह्वादि) के अभिघात क्रमवाले हैं। उनके सहारे अभिव्यक्त नाद भी क्रमवाला माना जाता है। नाद उपसहृत क्रम के रूप मे, प्रचयरूप मे प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा वृत्तियो के द्वारा स्फोट को द्योतित करता है।

भर्तृहरि के मत मे नाद और ध्वनि दोनो से बुद्धि मे शब्द का अवधारण होता है। नाद से बुद्धि मे जिस उत्कर्ष का आधान होता है उसे भर्तृहरि ने 'अनुगुण सस्कार भावनाबीज' कहा है और अन्त्य ध्वनि से जो उत्कर्ष का आधान होता है उसे 'परिच्छेद-सस्कारभावनाबीज वृत्तिलाभप्राप्तयोग्यता' कहा है। सस्कार से तात्पर्य यहाँ शक्ति-विशेष से है। शक्ति ही चित्त का सस्कार करती है (**शक्तय. चेतः संस्कुर्वन्ति विशिष्टं जनयन्ति इति संस्कार शब्दोक्ता.** । —वृषभ, वाक्यपदीय १।८५) विशेष बुद्धि के जनक होने के कारण बीज और तद्रूप की भावना होने से उन्हे भावना भी कहते है। अन्त्य ध्वनि के बाद शब्द के विशिष्ट स्वरूप का, गौ आदि शब्द का अवधारण होता है। इसलिए बुद्धि-सस्कार को स्फोट का परिच्छेदक या परिच्छेदोपाय भी कहते है। बुद्धि मे स्फोट के स्वरूप के अवधारण की योग्यता आ जाना बुद्धि का परिपाक कहा जाता है। अन्त्य ध्वनि से ऐसी योग्यता-सपन्न बुद्धि मे शब्द का आकार (स्वरूप) उद्बुद्ध होता है। इसे ही बुद्धि मे शब्द का अवधारण होना कहते हैं।

नाद (ध्वनि) और स्फोट

शब्दनित्यवादियो के मत मे नाद और स्फोट मे अन्तर यह है कि नाद व्यजक है और स्फोट व्यग्य है। अनित्यवादी प्रथम अभिघातज ध्वनि को शब्द अथवा स्फोट कहते है, और उससे उत्पन्न होने पर उससे भिन्न ध्वनियो को ध्वनि या नाद कहते है।

प्रथमोऽभिघातजस्तारतर शब्दः, तदन्यो नाद इति स्पष्ट एव भेदः.

—वृषभ, वाक्यपदीय १।१०५

वर्ण

स्थान-करण के अभिघात से ध्वनि पैदा होती है। ध्वनि पृथक्-पृथक् प्रयत्न से पृथक्-पृथक् रूप मे अभिव्यक्त होती है। पृथक् प्रयत्न-जन्य ध्वनि को वर्ण कहते है।

पृथक् प्रयत्ननिर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्ति आचार्याः।

—काशिका-ऐऔच्।

वर्ण नाम क्यो पडा यह स्पष्ट नही है। हरदत्त के अनुसार वर्णन किये जाने के कारण इसकी सज्ञा वर्ण है (वर्ण्यते उपलभ्यते इति वर्णः—पदमंजरी ७।४।५३)

कुछ लोगो के अनुसार वर्ण वृञ् से बना है (वर्णो वृणोते)। न्यासकार के अनुसार वचन शब्द भी वर्ण के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। उनके अनुसार मुखनासिका-वचनोऽनुनासिक' १।१।८ मे वचन शब्द वर्णपरक है (उच्यत इति वचनो वर्णे वर्तते)।[२६]

वर्ण की निष्पत्ति के प्रकार

वर्ण की अभिव्यक्ति के विषय मे भर्तृहरि ने अनेक वादो का उल्लेख किया है। शिक्षासूत्रकारो मे कुछ मानते है कि आभ्यन्तर प्रयत्न से ऊपर उठाया हुआ प्राणवायु आन्तरिक उष्मा से युक्त होता है। फिर शरीर के भीतर की नाडियो के छिद्रों मे स्थित सूक्ष्म शब्दावयवो को प्रेरित करता है। जिस तरह वायु से प्रेरित धूम के अवयव एकत्र होते है वैसे ही प्राण-वायु से प्रेरित शब्दावयव घनीभूत हो जाते है। फिर किसी विशेष प्रकाश-मात्रा के सहारे अन्त स्थित शब्द के बिम्ब को ग्रहण कर वर्णरूप मे अभिव्यक्त होते है। अत्यन्त सारूप्य के कारण वर्ण के आन्तरिक और बाह्य स्वरूप मे भेद नही है।

> अन्तर्वर्तिना प्रयत्नेनोर्ध्वमुदीरित प्राणो वायुस्तेजसानुगृहीत. शब्दवहाभ्यः शुषिभ्यः सूक्ष्मांशं धूमसन्तानवत्संहन्ति। स स्थानेषु शब्दघनः संहन्यमानः प्रकाशमात्रया कयाचिदन्तः संनिवेशिन शब्दस्याविभक्त बिम्बमुपगृहणाति।
>
> —वाक्यपदीय १।११६ की हरिवृत्ति मे उद्धृत

आपिशलीय शिक्षा के अनुसार नाभि प्रदेश से प्रयत्न-प्रेरित वायु ऊपर उठती हुई उरस्य, कण्ठ आदि स्थानो मे किसी स्थान पर टकराती है, उससे शब्द की निष्पत्ति होती है ·

> नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुरूर्ध्वमाक्रामन् उरस्यादीनां स्थानानामन्यतमं स्थानमभिहन्ति। ततः शब्दनिष्पत्तिः।
>
> —वाक्यपदीय १।११६ की हरिवृत्ति में उद्धृत

किसी दूसरे प्रातिशाख्यकार का मत है कि वायु कोष्ठस्थानगत ध्वनि-विशेष (अनुप्रदान) को प्राप्त होती है। वही कठ मे पहुँचकर श्वास-नाद आदि के रूप मे परिणत हो जाती है

> वायु कोष्ठस्थानमनुप्रदानमापद्यते। स कठगत. श्वासतां नादतां वा-इत्यादि।
>
> —वाक्यपदीय १।११६ की हरिवृत्ति में उद्धृत

इस मत के अनुसार कंठ के विवृत होने पर श्वास और सवृत होने पर नाद

---

२६. अभिनवगुप्त ने वाक् तत्व के अन्तरंग विवर्त को नाद और बहिरंग विवर्त को वर्ण माना है — अभिनवभारती, चतुर्थ भाग, पृ०४१२

की सृष्टि होती है। इस दृष्टि से श्वास और अनुप्रदान भेद से दो तरह के वर्ण होते हैं। वृषभ के अनुसार यह मत बह्‌वृचप्रातिशाख्य मे शौनक ने व्यक्त किया है :

> **यथा बह्‌वृचप्रातिशाख्ये शौनक.—वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठः... ..**
> **विवृते सवृते वापद्यते श्वासतां नादतां च वक्त्रीहायामुभयं वान्तरे तदपीति।**
> बह्‌वृचप्रातिशाख्य—वृषभ द्वारा वाक्यपदीय १।११६ की टीका मे उद्धृत।

> अनुप्रदान शब्द के विभिन्न अर्थों का न्यासकार ने उल्लेख किया है
> **उपरिवर्तिनौ तौश्वासनादौ अनुप्रदानमिति केचिदाचक्षते। वर्णनिष्पत्तेरनु पश्चात् प्रतीयत इत्यनुप्रदानम्। अन्ये तु ब्रुवते अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टानिर्ह्रादवत्।**
> —न्यास १।१।९ पृष्ठ ५७

किसी अन्य प्रातिशाख्य के अनुसार मन से अभिहत कायाग्नि प्राण को प्रेरित करती है। वह प्राणवायु नाभि से उठती है। मूर्धा से जाकर टकराती है। पुन. एक दूसरी उठती हुई वायु से टकराकर क, ख आदि ध्वनियों का रूप ग्रहण करती है

> **मनोभिहतः कायाग्निः प्राणमुदीरयति। स नाभेरुद्यन्मूर्धनि अभिहतोऽन्येन पुनरुद्यता मरुताभिहन्यमानो ध्वनिः सपद्यते क इति वा ख इति वा।**
> —वही, उद्धृत

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार जब किसी वस्तु को शब्द द्वारा कहने की इच्छा होती है, पहले बुद्धि मन का सयोग होता है। मन कायाग्नि पर आघात करता है। कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है। वायु उरप्रदेश मे मन्द्रस्वर करती है और आगे बढ़ती है। कठ स्थान मे पहुँचकर मध्यम स्वर करती है और शीर्ष स्थान मे पहुँचकर तारस्वर करती है। फिर मुर्घा से टकराकर वह लौट आती है और मुख मे विशेष स्थानों मे टकराकर विशेष वर्णों को पैदा करती है।

> **आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युंक्ते विवक्षया।**
> **मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥**
> **मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।**
> **प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्॥**
> **कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।**
> **तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्॥**
> **सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।**
> **वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥**
>
> —पाणिनीय शिक्षा, ६-९

वाक्यपदीयकार ने शिक्षाकारो के विभिन्न मतो की समीक्षा न कर उन्हे किसी-न-किसी प्रकार मान लेने की सलाह दी है —**प्रतिशाख शिक्षासु भिन्न आगमदर्शनं दृश्यमानं सर्वं प्रपंचेन समर्थयितव्यम्।**

—वाक्यपदीय १।११६ हरिवृत्ति, पृष्ठ १०४

वायुशब्दत्वापत्तिवाद

किसी दर्शन के अनुसार वायु की शब्दत्वापत्ति होती है। वायु प्रकृतिमाचार्याः (ऋक्तन्त्र, पृष्ठ १) वायु वक्ता के इच्छाजन्य प्रयत्न से क्रियाशील होकर ताल्वादि स्थानों में टकराकर शब्द-रूप में परिणत हो जाती है। वायु के वेग से ध्वनि का उद्भूत होना कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वायु शक्तिशाली है। उसके वेग से सारवान् वस्तुएँ पर्वत आदि तक विभक्त हो जाते हैं फिर उसके प्रकर्ष से तालु आदि से ध्वनि के प्रकट होने में कोई बाधा नहीं —(वाक्यपदीय १।१०९, ११०)।

अणु शब्दत्वापत्तिवाद

भर्तृहरि ने एक ऐसे दर्शन का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार अणु ही शब्द रूप मे परिणत हो जाते हैं। शब्द परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वे सर्वशक्तिशाली हैं। सयोग और विभाग उनकी क्रियाये है। जब किसी निमित्त से उनका सयोग हो जाता है, वे परिणत होने लगते है। जब अलग होते हैं, परमाणु की छाया मे अवस्थित रहते है। यद्यपि अणु शब्दत्वापत्ति शक्ति-युक्त है, फिर भी प्रयत्न से सक्रियमाण होकर ही वे शब्दरूप को प्राप्त करते हैं। शब्दरूप में परिणत होने के कारण उन अणुओ को शब्द कहते है।

अणु के वाक्-तत्त्व मे बदलने का सिद्धान्त जैनदर्शन का है

आर्हतास्त्वाहु सूक्ष्मैः शब्दपुद्गलैः आरब्धशरीर शब्दः स्वप्रभवभूमेः निष्क्रम्य प्रतिपुरुषं कर्णमूलमुपसर्पतीति—न्यायमजरी, चौखम्बा संस्करण १९३६, पृष्ठ १९८

शब्द परमाणु श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होकर शब्दरूप मे परिणत हो जाते है। इस सिद्धान्त को बौद्धदर्शन भी मानता है।

शब्दपरमाणव एवं संहता श्रोत्रेन्द्रियग्राह्या शब्दाकाराः।

—जिनेन्द्रबुद्धि-प्रमाणसमुच्चय टीका, पृष्ठ ७७

ज्ञान शब्दत्वापत्तिवाद

कुछ विचारको के अनुसार ज्ञान ही शब्द-रूप मे परिणत हो जाता है। ज्ञान सूक्ष्म है। उसमे और सूक्ष्म शब्दतत्त्व मे कोई अन्तर नही है। ज्ञानात्मा और वागात्मा एक ही चीज है। सूक्ष्मता के कारण अतीन्द्रिय है। ज्ञान जब अपने को स्थूल रूप मे व्यक्त करना चाहता है, शब्द रूप मे उसका विवर्त होने लगता है और वह श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होने लगता है। वह पहले मनोभाव को प्राप्त होता है। पुन आन्तरिक उष्मा से उसका पाक होता है जिससे उसमें विषय के ग्रहण की शक्ति आ जाती है। फिर वह प्राण-वायु मे प्रवेश करता है। प्राण-वायु अन्त करण के तत्त्व से युक्त होती है। अर्थात् मनोमयरूप धारण करती है और जिस तरह ईंधन अग्नि के सयोग मे ईंधनरूप को छोड-कर अग्निमय बन जाता है उसी तरह प्राण-वायु भी अपना स्वरूप छोड कर मनोमय हो जाती है। पुन भिन्न-भिन्न श्रुतियो (विशेष ध्वनियों) से अपने स्वरूप को विभक्त

करती हुई प्राणवायु वर्णों को व्यक्त कर वर्णों मे ही लीन हो जाती है। अर्थात् प्राण-वायु वर्ण के रूप मे अभिव्यक्त हो उठती है। इसीलिए ज्ञान की विवृति मे शब्द प्रकाशक माना जाता है। (वाक्यपदीय १।११३-११६)

कैयट के अनुसार आख्यातोपयोगे १।४।२९ सूत्र के भाष्य मे पतजलि ने भी ज्ञानशब्दत्वापत्तिवाद का सकेत किया है। महाभाष्यकार ने अध्यापन काल के उपाध्याय के ज्ञान को सन्तत कहा है और उसे ज्योति की तरह माना है। जिस तरह ज्योति लगातार अविच्छेदरूप मे निकलती हुई भिन्न-भिन्न होती हुई भी सादृश्य के कारण एक-सी एक सन्तान मे जान पड़ती है उसी तरह उपाध्याय के ज्ञान भी भिन्न-भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न शब्द स्वरूप को ग्रहण करते हैं और इसलिए उसे सतत कहते है

यथा ज्वालारूपं ज्योतिः अविच्छेदेन उत्पद्यमान सादृश्यात् तत्त्वेन अध्यवसीय-मानं सन्ततं तथैव उपाध्यायज्ञानानि भिन्नानि भिन्नशब्दरूपताम् आपद्यमानानि सन्ततान्युच्यन्ते। ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य।

—कैयट, महाभाष्य, १।४।२९

एक दूसरे प्रवाद के अनुसार शब्द नित्य (अजस्रवृत्ति) है, सूक्ष्म होने के कारण उसकी स्वतत्र उपलब्धि नही होती। जिस तरह वायुपरमाणु व्यजक या निमित्त के अभिघात से सहति को प्राप्त होते है वैसे ही सूक्ष्म शब्दपरमाणु करण (आभ्यन्तर प्रयत्न) के अभिघात से सह्रियमाण होकर शब्दरूप मे व्यक्त होते है।

—(वाक्यपदीय १।११७)

ध्वनि या शब्द की निष्पत्ति के बारे मे भर्तृहरि ने एक और मत का निर्देश किया जो उनका अपना जान पडता है। निष्पत्ति की दृष्टि मे शब्द दो तरह का है। प्राणा-धिष्ठान और बुद्धि-अधिष्ठान। प्राणमात्राशक्ति और बुद्धिमात्राशक्ति दोनो के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है और तब अर्थ का आभास होता है। बुद्धि-शक्ति से प्राण-शक्ति का अनुग्रह (सहभाव) होता है। वह प्राण मे विशेष शब्दाकार को डाल देती है जिससे प्राण विशिष्ट स्थान पर टकराकर विशिष्ट ध्वनि या वर्ण को पैदा करता है। यदि बुद्धिशक्ति से प्राण का अनुग्रह न हो—उसमे किसी विशेष शब्द की भावना न हो तो प्राणशक्ति के आघात से केवल अव्यक्ताक्षर ध्वनि पैदा होती है। प्राणशक्ति के द्वारा भी बुद्धिशक्ति का अनुग्रह होता है। क्योकि बुद्धि शब्दाकारयुक्त प्राणशक्ति के बिना शब्दरूप मे परिणत नही हो सकती। प्राणशक्ति ऊपर उठती हुई जिस वर्ण विषयक प्रयत्न से प्रेरित रहती है, उस स्थान पर जाकर चोट करती है। इस तरह से वर्ण की निष्पत्ति होती है। वह विवर्त के रूप मे पृथ्वी, कलल, न्यग्रोध धान्य आदि भेद को ग्रहण करता है और शब्द तत्त्वरूप प्रतिभा मे तो वास्तव मे इन भेदो की छाया ही (अनुराग) रहती है.

शब्दः खलु प्राणाधिष्ठानो बुद्ध्यधिष्ठानश्च स तु द्वाभ्यां प्राणबुद्धिमात्राशक्ति-भ्यां प्रतिलब्धाभिव्यक्तिरर्थं प्रत्याययति। तत्र प्राणो बुद्धि तत्त्वेनान्तराविष्टः। स चोर्ध्वमभिप्रवृत्तो ज्वालावद्वर्णस्थानेषु आक्षेपकप्रयत्नानुविधायी प्रतिविघातविवर्तेन नित्यशब्दोपग्राहिणा विवर्तते। स च संसृष्टप्राप्तशक्ति-

विवर्तः पृथिवीकललन्यग्रोधधानादिवद्भेदमुपगृह्णाति । भेदानुरागमात्रं च परस्मिन्नभेदे शब्दात्मनि संनिवेशयति ॥११८॥

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।११८, पृष्ठ १०५

वर्ण सावयव और निरवयव

प्राचीन वैयाकरणों ने वर्ण के सावयव और निरवयव पक्ष पर भी विचार किया है। यद्यपि सावयव और निरवयव दोनो रूप मे वर्ण पर विचार किया गया है परन्तु सिद्धान्तरूप मे निरवयव पक्ष को अधिक मान्यता दी गई है। भर्तृहरि ने वर्ण के लिए विभाग शब्द का भी प्रयोग किया है। विभक्त किए जाने के कारण वर्णों को विभाग कहते है। (**विभज्यन्ते इति विभक्ता वर्णा**) और कही-कही वर्ण के अवयवों के लिए मात्रा शब्द का भी व्यवहार किया है। निरवयववर्णपक्ष मे मात्रा-विभाग कल्पित होते है **ततश्चायं निरवयवेषु वर्णेषु मात्राविभागाध्यवसाय** —वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।८९)।

भर्तृहरि ने 'वर्णतुरीयाण' (वाक्यपदीय १।९३ हरिवृत्ति) और तुरीयतुरीयक (वाक्यपदीय १।७३ हरिवृत्ति) शब्दो का व्यवहार किया है जो वर्ण के सावयव पक्ष मे ही सार्थक हो सकते है। वृषभ के अनुसार तुरीयतुरीयक का अर्थ वर्ण की षोडशीकला है (**तुरीयतुरीयमिति चतुर्थस्य चतुर्थो भागःषोडशी कला** पृष्ठ ७६)। व्याकरण सम्प्रदाय मे वर्ण की चतुर्थ या षोडशी कला प्रसिद्ध नही है। परन्तु भर्तृहरि के समय मे तन्त्रो मे इस तरह के विचार प्रारभ हो गये थे जिसका प्रभाव भर्तृहरि पर पडा है। वर्ण की षोडश कलाओ का उल्लेख शैवागम मे मिलता है

अमी चाकाराद्या स्थितिमन्त प्राणे तुटिषोडशकादिस्थित्या एकां तुटिं सन्धीकृत्यार्धार्धभागेन प्रलयोदययोर्बहिरपि पंचदशदिनात्मककालरूपतां तन्वते इति तिथय कलाश्चोक्ताः षोडश्येव च कला विसर्गात्मा ।

—परात्रिशिका, पृष्ठ २००, २०१

कश्मीर शैवागम मे विसर्ग हकार का आधा माना जाता है और विश्लेष उसका भी आधा। वर्ण जब निरवयव है, उपर्युक्त मत कैसे ठीक है? इसके उत्तर मे अभिनवगुप्त का कहना है कि सब कुछ अनवयव है क्योकि सब एक चिन्मय से अवभासित है। तथापि स्वातन्त्र्य के कारण ही अवयव के अवभास होने पर भी अनवयवता ही अविनश्वरी (अनपायिनी) है। ऐसे ही वर्ण के विषय मे भी समझना चाहिए। वर्ण की उत्पत्ति ही ऐसी है। अन्यथा दन्त्य, ओष्ठ्य, कण्ठ्य, तालव्य आदि वर्णो मे 'क्रम' से प्रसारित होने वाली वायु कैसे कठ को हनन कर तालु पर आघात करती है। यदि दोनो स्थान पर युगपत् आघात माने तो दोनो ध्वनियाँ समकालिक हो जाएँगी और कण्ठ-स्थान से उद्बुद्ध ध्वनि तालव्यज जान पडने लगेगी। पश्चात् प्रतीयमान होने के कारण श्वास और नाद को अनुप्रदान कहते है। जिस तरह द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक के गर्भ मे एकमात्रिक द्विमात्रिक पड़े ही रहते हैं उसी तरह मात्रिक मे भी अर्धमात्रा आदि का योग मानना चाहिए। इस तरह वर्ण मे षोडश कलाएँ सभव है। ये ही कलाएँ ह्लादनामात्र चित्तवृत्ति के अनुभावक होकर स्वर कही जाती है।

तदेवमेताः कला एव ह्लादनमात्रचित्तवृत्त्यनुभावका स्वरा इत्युक्ताः । स्वरयन्ति शब्दयन्ति सूचयन्ति चित्तं स्वं च स्वरूपं आत्मानं रान्ति एवम् इति परप्रमातरि संक्रामयन्तो ददति स्वं च आत्मीयं कादियोनिरूपं रान्ति बहिः प्रकाशयन्तो ददति इति स्वराः ।

—अभिनवगुप्त, परात्रिंशिका, पृष्ठ २०२

परन्तु व्याकरणदर्शन मे निरवयव पक्ष ही निरवयववाक्यस्फोट की तरह अधिक उपयुक्त माना जाता है । जैसे पद अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य होता है वैसे ही वर्ण की प्रतिपत्ति भी अन्त्य बुद्धिनिर्ग्राह्य होनी चाहिए । फलत उसमे भी तुरीय अश होना चाहिए । भर्तृहरि इस बात को स्वीकार करते हैं परन्तु उनके मत मे वर्ण का तुरीय अश अव्यपदेश्य है, फलत व्यवहारातीत है । इसलिए वर्ण मे अवयवो की सत्ता कल्पित रूप मे ही गृहीत है ।

वर्णानां तु अव्यपदेश्यानि व्यवहारातीतानि भिन्नरूपाभिमतानि अकारादीनां तुरीयाणि प्रतिपादकानि कल्पितानि ।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।७४, पृष्ठ ७६

यदि सावयव वर्ण के अवयवग्रहण को कल्पित न मानकर यथार्थ माना जाए तो वर्ण का अवधारण ही सभव नही है क्योकि वर्ण के तुरीय अश तक ध्वनि का इतना अधिक अपकर्ष हो जाएगा कि वह व्यवहार से परे होगी और उसका व्यपदेश असभव होगा । यदि यह माना जाए कि वर्ण-ध्वनि यौगपद्य रूप मे (एक साथ) सर्व अवयवो की अभिव्यक्ति करती है तो गवे के स्थान पर वेग और तेन के स्थान पर न ते ऐसा भी श्रवण सभव हो सकता है । इसलिए सावयव पक्ष सदोष है और निरवयव पक्ष अपेक्षाकृत निर्दोष है

यौगपद्ये नाभिव्यक्ते ध्वनिकृतापि नास्तीति सदोषत्वात् सावयवपक्षस्य पक्षान्तरमवश्यम्युपेतव्यम् ।

—वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।६३, पृष्ठ ६२

वर्ण की प्रतिपत्ति और वर्ण का निर्भास

वाक्यपदीयकार ने वर्ण के सबध मे प्रतिपत्ति और निर्भास शब्द का पारिभाषिक रूप मे प्रयोग किया है । वृषभ के अनुसार वर्णरूपी विषय के प्रति ज्ञान का व्यापार प्रतिपत्ति है । उसमे उसके कर्तृत्व का भान निर्भास है ।

प्रतिपत्तिशब्देन वर्णाख्ये विषये ज्ञानस्य व्यापार उच्यते । तस्मिश्च यस्तस्य कर्तृत्व तद्धि निर्भास शब्देनोच्यते ।

--वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।७४

एक मत के अनुसार वर्ण की विवक्षा से निष्पादित ध्वनि से अभिव्यक्त वर्ण के विषय वाली बुद्धि अन्य है और वर्ण की विवक्षा न रहते हुए पद आदि के उच्चारण मे अपोद्धार की कल्पना से जो वर्ण विषयक बुद्धि होती है वह कुछ अन्य है । इसमे से पहली वर्णप्रतिपत्ति है और दूसरी वर्णनिर्भास है ।

वर्ण सार्थक और निरर्थक

वैयाकरण वर्ण को सार्थक और निरर्थक दोनों मानते है। जहाँ अन्वय व्यतिरेक के आधार पर वर्ण सार्थक जान पड़ता है वहाँ वह अर्थवान् है। अन्यत्र अर्थहीन माना जाता है। वर्ण के अर्थयुक्त होने का मुख्य आधार तर्क है। पद, जो वर्ण समुदाय है, सार्थक देखा जाता है। यदि वर्णों का संघात सार्थक है तो उसका एक अवयव, वर्ण भी सार्थक है। भाष्यकार ने इसके समर्थन मे कहा है कि यदि एक तिल मे तेल निकल सकता है तो एक पसेरी तिल मे भी तेल निकल सकता है। यदि एक सिकता-कण मे तेल असंभव है तो बालू की ढेर मे भी तेल असभव है। अत यदि वर्ण-समुदाय सार्थक है तो प्रत्येक वर्ण भी अर्थयुक्त होगा। इसके अतिरिक्त एक-एक अक्षर वाले धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात सार्थक देखे जा सकते है। वर्ण व्यत्यय (एक वर्ण के स्थान पर दूसरा वर्ण आ जाना) से दूसरा अर्थ देखा जाता है और एक पद से एक वर्ण के हटा देने से अर्थ बदल जाता है। इन कारणो से वर्ण की सार्थकता सिद्ध होती है।

वर्ण को निरर्थक मानने वालो का कहना है कि प्रत्येक वर्ण का अर्थ अनुभव मे नही आता इसलिए वर्ण को सार्थक नही मानना चाहिए। वर्ण के व्यत्यय (एक पद मे वर्ण का स्थान परिवर्तन), अपाय (लोप), उपजन (आगम) और विकार (आदेश) होने पर भी कभी-कभी वही अर्थ देखा जाता है। इससे भी वर्ण की अर्थहीनता द्योतित होती है। यदि प्रत्येक वर्ण सार्थक हो और उदाहरण के लिए, कूप, सूप, यूप मे विशेष अर्थ क, स, और य का मान लिया जाय तो उप शब्द व्यर्थ हो जाता है। इसलिए प्रत्येक वर्ण मे अर्थवत्ता न मान कर वर्णों के सघात मे ही विशिष्ट अर्थ की बोधकता शक्ति माननी चाहिए।

न कूपसूपयूपानामन्वयोऽर्थस्य विद्यते।
अतोऽर्थान्तरवाचित्वं संघातस्यैव गम्यते ॥

-- वाक्यपदीय २।१७० (लाहौर सस्करण)

अभिनवगुप्त ने वर्ण की वाचकता का समर्थन करते हुए कहा है कि सकार परमानन्द अमृत स्वभाव वाला है। वह अपने आविर्भाव के साथ सम्पूर्ण वर्ण-समुदाय का आक्षेप कर उल्लसित होता है। देखा जाता है कि दूसरे के अभिप्राय और इगित को शीघ्र ही समझ जाने वाले व्यक्ति गगन, गवय, गो आदि शब्दो के आदि मे अथवा बीच मे स्थित ग आदि वर्ण या मात्रा से ही अभीष्ट समझ जाते है—अर्थात् ग सुनते ही वक्ता का अभिप्राय गगन से है, ऐसा समझ जाते है—उतने मात्र से सत्य का सकेत हो जाता है। वस्तुत प्रत्येक वर्ण मे वाचकता होती है। इसीलिए कहा है—

शब्दार्थप्रत्ययानां इतरेतराध्यासात् संकरः। तत् प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।

—योगसूत्र ३।१७

अ च आदि एक वर्ण वाले निपात विभक्ति आदि वाचक देखे जाते है। वे मायापद मे रहते हुए भी पारमार्थिक प्रमातपद मे लीन रहते हैं। और इदन्ता से पराङ्-

मुख, असत्वभूत, कभी निषेध के रूप में और कभी समुच्चय के रूप में निषेध या समुच्चय के अर्थ को व्यक्त करते हैं। भर्तृहरि का भी ऐसा अभिप्राय है जब वे वाक्य-विचार के प्रसंग में कहते हैं--

पदमाद्यं पृथक्सर्वं पदं साकांक्षमित्यपि (वाक्यपदीय २।२)। इसलिए वेद-व्याकरण में, शैवागमों में, मन्त्र-दीक्षा आदि के शब्दों में अक्षरवर्ण के साम्य पर निर्वचन किया जाता है। **तथा च वेदव्याकरणे पारमेश्वरेषु शास्त्रेषु मंत्रदीक्षाविधानेषु अक्षर-वर्णसाम्यात् निर्वचनमुपपन्नम्।**

—परात्रिंशिका २३६-२४१

शब्द

'शब्द' शब्द का प्रयोग नदी-घोष आदि के रूप में भी देखा जाता है। किन्तु व्याकरण-दर्शन में विचार के क्षेत्र में 'शब्द' शब्द सदा उस ध्वनि के लिए आता है जिसके उच्चारण में किसी विशेष अर्थ का ज्ञान होता है। भर्तृहरि ने ऐसे शब्दों के लिए 'उपादान' शब्द का प्रयोग किया है। वाचक शब्द को उपादान कहते हैं। क्योंकि उससे अर्थ का ग्रहण होता है, अथवा उससे अर्थ अपने स्वरूप में अध्यारोपित होता है, अथवा वाचक शब्द स्वतः मानो अर्थाकार हो जाता है क्योंकि वक्ता अर्थ के आकार में पहले सक्रान्त होकर शब्द का उच्चारण करता है इसलिए मानो शब्द स्वयं अर्थमय हो जाता है।

'संग्रह' में उपादान का विश्लेषण दो-तीन तरह से किया गया है। अव्युत्पत्तिपक्ष में शब्द अपने स्वरूप को ही निमित्त मान कर अर्थ को जताता है। इसलिए वह उपादान है, वाचक है। व्युत्पत्तिपक्ष में, वह अर्थ को ध्यान में रखकर निमित्त होता है, शब्द की व्युत्पत्ति का प्रयोजक होता है। गो शब्द, व्युत्पत्तिपक्ष में, गमनशील अर्थ रखता है। इसलिए गमनशील गोजातिरूप अर्थ का वह निमित्त होता है। इस दृष्टि से वह स्वरूप से भिन्न है और उपादान अर्थात् मूल कारण है। कुछ लोगों के मत में उपादान द्योतक होता है क्योंकि 'यह वह है' ऐसा व्यपदेश के द्वारा सम्बन्ध-निर्णय में समर्थ होता है।

एवं हि संग्रहे पठ्यते—वाचक उपादानः स्वरूपवान् अव्युत्पत्तिपक्षे। व्युत्पत्ति-पक्षे त्वर्थाविहितं समाश्रितं निमित्तं शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि प्रयोजकम्। उपादान द्योतक इत्येके। सोऽयमिति व्यपदेशेन सम्बन्धोपयोगस्य शक्यत्वात् इति।

संग्रह, वाक्यपदीय १।४४ हरिवृत्ति में उद्धृत

वृषभ के अनुसार '**प्रयोजकं उपादान**.'— ऐसा पाठ होना चाहिए।

भर्तृहरि के मत में शब्द को उपादान इसलिए कहते है कि उसमें समुदाय वर्ण-समूह की उपादेयता होती है। स्वरूप पक्ष में अवयवों में कार्य नहीं होता, इसलिए वर्णों का अलग-अलग ज्ञान भी अपेक्षित नहीं होता।

उपादेयो वा समुदाय उपादानः। तथाहि स्वरूपपदार्थकेषु अवयवानामनुपा-देयत्वाद् विभागानामप्रतिपत्तिः।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।४४

उपादान शब्द दो तरह का होता है। यह भेद कल्पित है, वास्तविक नही। शब्द के उच्चारण के बाद शब्द के स्वरूप और उसके अर्थ के अवधारण मे दो तरह की क्रिया देखी जाती है। इस आधार पर दो तरह के उपादान शब्दो का अनुमान किया जाता है। एक प्रत्यायन का निमित्त होता है और दूसरा अर्थ का प्रत्यायक, प्रतिपादक होता है। पहला प्रत्यायन का निमित्त इसलिए माना जाता है कि ये प्रत्यायन के आश्रय होते है और श्रुति द्वारा शब्दार्थ की प्राप्ति प्रत्यायन द्वारा ही होती है। दूसरे उपादान को प्रतिपादक या प्रत्यायक इसलिए कहते हैं कि वह केवल प्रत्याय्य परतन्त्र होता है। स्थान-करण के अभिघात से शब्द की अभिव्यक्ति हो जाने पर शब्द मे अर्थ के आकार का प्रातिबिम्बिक सक्रमण हो गया रहता है, शब्द अर्थाकार-सा हो गया रहता है और उसमे अर्थप्रकाशन की शक्ति की पूर्णता आ गई रहती है। निमित्त और प्रतिपादक मे थोडा भेद है। कुछ लोग लब्धानुसहार को निमित्त और उपजनितक्रम को प्रतिपादक या प्रत्यायक मानते है। क्योंकि एक पद मे स्थित वर्ण अलग-अलग रूप मे केवल निमित्त होते हैं। परन्तु अन्तिम वर्ण के उच्चारण होते-होते समुदित रूप मे एकाकार बुद्धि मे जब भासित हो उठते हैं, वाचक कहे जाते है। दूसरे शब्दो मे, अक्रम को निमित्त और क्रमवान् को प्रतिपादक कहते हैं। वक्ता की दृष्टि से अक्रम क्रमवान् का निमित्त होता है। परन्तु श्रोता की दृष्टि से यह क्रम उलट जाता है। अर्थात् क्रम अक्रम का निमित्त होता है। क्योकि उच्चरित शब्द क्रमवान् के रूप मे श्रोता तक पहुँचता है परन्तु उस क्षण श्रोता की प्रत्याय्य-प्रत्यायक शक्ति अक्रमरूप मे ही रहती है। कुछ प्राचीन आचार्य निमित्त और प्रतिपादक मे स्वभावत भेद मानते हैं। जो लोग कार्य-कारण मे भेद वाले सिद्धान्त के अनुगामी हैं उनके अनुसार निमित्त और प्रतिपादक मे भेद कार्य-कारण मे भेद के अनुसार है। कुछ लोगो के मन मे निमित्त और प्रतिपादक एक ही शब्दात्मा के दो पहलू है। दो तरह की शक्तियो से दो तरह की बुद्धि-भावना के हो जाने के कारण एक ही दो रूप मे दिखाई देता है। कुछ आचार्य शब्दाकृति को निमित्त और शब्द-व्यक्ति को प्रतिपादक मानते है। इसके विपरीत, कुछ चिन्तक शब्द-व्यक्ति को निमित्त और शब्दाकृति को वाचक मानते है। पुन कुछ आचार्य शब्दाकृति और शब्द-व्यक्ति मे भेद और कुछ आचार्य उनमे अभेद मानते हैं।

उपादान शब्द निमित्तरूप मे भी स्वरूप और पररूप का प्रकाशक होता है। जैसे अरणि मे बीजरूप से स्थित प्रकाश दूसरे प्रकाश का कारण होता है जो सघट्टना से व्यक्त होता है, उसी तरह बुद्धि मे बीजरूप से स्थित शब्द परिपाक पाकर स्थान-करण के अभिघात से ध्वनिरूप मे व्यक्त होकर स्वरूप और पररूप का प्रकाशक होता है। भर्तृहरि के मत मे बुद्धि मे विभिन्न शब्दो की भावना रहती है। बुद्धि मे शब्द की स्पष्टता और मुख्यता उसका परिपाक है। विवक्षा होने पर वह व्यजक ध्वनि के सहारे प्रकट होता है। ध्वनिभेद से उसके आकार मे भेद और उसमे पूर्वापर ज्ञान पडता है। वक्ता की दृष्टि मे पहले शब्द का बौद्धिक ग्रहण होता है और शब्द की अभिव्यक्ति के पहले उस शब्द का किसी अर्थ से सम्बन्ध स्थापित कर लिया गया रहता है। जिस

तरह अभ्र कणों के सघात से उनकी स्थूल अभिव्यक्ति होती है वैसे ही नाद परमाणुओं के सघात से शब्द की स्थूल अभिव्यक्ति होती है। शब्द श्रोत्रग्राह्य होता है। शब्द अपने आप मे अविकृत है जबकि नाद या ध्वनि विक्रियाधर्मा हैं। नाद के रूप मे विवर्त होने से उसमे नादगत गुणों का, क्रम आदि का आभास होता है और वह विकार को प्राप्त होता हुआ जान पड़ता है। जैसे जलगत चन्द्र प्रतिबिम्ब जल की चचलता से चंचल जान पड़ता है परन्तु वस्तुत उसमे चचलता नही है। उसी तरह अभिन्नात्मा शब्द भी भेदमयी नादवृत्ति के कारण विचित्र अवस्था को प्राप्त हुआ जान पडता है।

ज्ञान मे ज्ञान का स्वरूप और ज्ञेय का स्वरूप दोनों दिखाई देते है। ज्ञान ज्ञेय परतन्त्र होता है। और ज्ञान के स्वरूप का स्मरण होता है। इससे ज्ञान के स्वरूप का अनुभव अवश्य होता है। इसी तरह शब्द मे शब्द के स्वरूप और अर्थ-स्वरूप दोनो भासित होते हैं। जैसे ज्ञान ज्ञेय परतंत्र है वैसे शब्द भी अभिधेय परतन्त्र है। अर्थ के लिये शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये शब्द अर्थ और अपने स्वरूप दोनो को व्यक्त करता है। व्याकरण की दृष्टि से, अर्थ मे प्रत्यय आदि न हो सकने के कारण स्वरूप को प्रधानता दी जाती है। (वाक्यपदीय १।४७-५१)।

भर्तृहरि ने शब्द की अभिव्यक्ति मे काम करने वाली क्रमशक्ति का बार-बार उल्लेख किया है। शब्द पहले क्रमवान् होता है। शब्द स्वतन्त्र रूप मे अपने अवयवों से परिपूर्ण है। किन्तु जब वक्ता की बुद्धि मे लीन रहता है, उसके सभी भाग एक मे मिल गए रहते हैं। सभी अवयवो का उपसहार रहता है, वह 'अक्रम' हो गया रहता है। किन्तु विवक्षा जगने पर अक्रम रूप मे वर्तमान शब्द पद, वाक्य आदि के धर्म को ग्रहण करता हुआ अपने प्रत्येक अवयव को व्यक्त करता हुआ क्रमश क्रमवान् का रूप लेता है। यह व्यापार जिस शक्ति के द्वारा होता है उसे क्रमशक्ति कहते हैं। जिस तरह वक्ता के शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया मे शब्द क्रमश क्रमवान्, अक्रम और पुन क्रमवान् होता है उसी तरह श्रोता की दृष्टि से भी अभिव्यक्ति के उपर्युक्त तीन रूप देखे जाते हैं। श्रोता जब शब्द सुनता है, शब्द क्रम-रूप मे जान पडता है, पूरा सुन लेने पर शब्दो के अवयव एक मे मिल जाते हैं और विभाग मिट-सा जाता है, क्रम का ज्ञान मन्द पड जाता है। पुन दूसरो को बतलाते समय शब्द क्रमवान् हो उठता है। ध्वनि के सहारे अभिव्यक्ति होने के कारण शब्द का क्रमरूप मे जान पडना स्वाभाविक है। एकबुद्धिनिबन्धन के रूप मे शब्द का प्रतिसहृतक्रम के रूप मे होना भी अस्वाभाविक नहीं है किन्तु उसके पूर्व की अवस्था मे भी शब्द का क्रमवान् होना चिन्त्य है।

तेज स्वय ग्राह्य भी होता है और ग्राहक भी होता है। दीप से घट का प्रत्यक्ष होता है और स्वय प्रकाश का भी। शब्द भी एक तरह का अन्त प्रकाश है। इसलिए उसमे भी दो तरह की शक्तियाँ हैं। वह प्रकाशक है। वह प्रकाश्य है। वह कारण भी और कार्य भी है

प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा॥ —वाक्यपदीय ?।३२

भौतिक तेज से शब्द तेज में अन्तर यह है कि भौतिक प्रकाश से प्रकाशित वस्तु उस प्रकाश से सर्वथा भिन्न हो सकती है जैसे दीप के प्रकाश से घट। किन्तु शब्द प्रकाश से प्रकाशित वस्तु, भर्तृहरि के मत में, उस प्रकाश से भिन्न-सी जान पड़ती है पर वस्तुतः भिन्न नहीं है।

अयमन्तर्मात्रा शब्दोऽनपायिन्यपायिनीभ्यां ताभ्यां शब्दशक्तिभ्यामनुगतः। तस्यैत-स्मिन्नात्मन्यविभक्तमपि प्रकाशकत्वे प्रकाश्यत्वं विभक्तमिव प्रत्यवभासते॥

—वाक्यपदीय २।३२ पर हरिवृत्ति, लाहौर संस्करण

जब भर्तृहरि शब्द और अर्थ (प्रकाशक और प्रकाश्य) की अभिन्नता की चर्चा करते हैं उस समय वे उस दर्शन को मानते जान पड़ते हैं जो अर्थ (वस्तु) को बुद्धि-संक्रान्त मानता है। बिना बौद्धिक-अर्थभावना के बाह्य अर्थ-व्यवहार सम्भव नहीं है। बुद्धि-संक्रान्त अर्थ बुद्धिसंक्रान्त शब्द का एक पहलू है, दोनों एक ही तत्त्व के दो रूप हैं।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ।

न हि प्रतिलब्धार्थं रूपविपर्यासां बुद्धिमन्तरेण बाह्यं वस्तु व्यावहारिकीष्वर्थ-क्रियासु समर्थं भवति। तस्मादन्तर्निविष्ट रूपेणार्थेन सर्वो व्यवहारः क्रियते।

—वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति, ला० सं० पृष्ठ २४

वाक्यपदीयकार के मत में ध्वनि के उच्चारण और शब्द स्वरूप के परिज्ञान के बीच में कुछ शब्द ज्ञान के सहायक साधन हैं। वे कई हैं पर उनका स्वरूप समझना कठिन है। संवेदन और प्रत्यक्ष के बीच में जैसे कुछ मानसिक क्रिया होती है वैसे ध्वनि-संवेदन और शब्द प्रत्यक्ष के बीच भी अवश्य होती होगी।

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥

—वाक्यपदीय १।८४

शब्द के आकार-ग्रहण का प्रकार

प्रत्येक वर्ण के संस्कार बीजरूप से बुद्धि में अवस्थित रहते हैं। शब्द की अभिव्यंजक ध्वनियों के उच्चारण पर वे बीज परिपाक अवस्था को प्राप्त होने लगते हैं। कार्योत्पादन की विशेष शक्ति का आ जाना परिपाक है (**परिपाकः कार्योत्पादन प्रति विशिष्ट आत्मलाभः** वृषभ-वाक्यपदीय टीका १।८५। शब्द की अभिव्यक्ति की योग्यता ही वर्ण का परिपाक है। अन्तिम ध्वनि (शब्द के अन्तिम वर्ण) के उच्चारण होते-होते वह परिपाक पूर्णता को पहुँच जाता है। बार-बार वर्ण की श्रुति से बुद्धि में भी उसका संस्कार गहरा होता जाता है—बुद्धि भी वर्ण-बीज के परिपाक से परि-पाक अवस्था को प्राप्त हुई मानी जाती है, अतः अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के साथ-साथ बुद्धि में शब्द के आकार का सन्निवेश हो जाता है। गौ शब्द के औकार के उच्चारण के साथ ही गौ शब्द की अवधारणा हो जाती है। —वाक्यपदीय १।८५

सांख्य दर्शन वाले अवधारण स्वरूप ज्ञान का भी अधिकरण बुद्धि रूप अन्त -

करण को मानते हैं। इस तरह के बौद्धिक अवधारण को वार्तिककार ने (धर्मकीर्ति और उनके व्याख्याता प्रज्ञाकर गुप्त) 'चित्र बुद्धि' कहा है :

अवधारणापरपर्यायं ज्ञानमपि बुद्ध्याख्यान्तःकरणाधिकरणमिति सांख्याः मन्यन्ते। एतच्चावधारणं चित्रबुद्धिरिति वार्तिककारीया मन्यन्ते।

—स्फोटसिद्धि, टीका पृ० १३३

स्फोट सिद्धि की व्याख्या में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने यहाँ अवधारण को समस्त वर्ण-विषयक स्मरण माना है। उसके मत मे श्रवण के बाद शब्द का स्पष्ट परिज्ञान ही अवधारण है

अवधारणं समस्तवर्ण विषयं स्मरणमित्याचक्षते। परमार्थतस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेवैतत्। ध्वनिसंस्कृतश्रोत्रेन्द्रियजनितत्वात्। न अन्यथा स्फुटप्रकाश उपपद्यत इति।

—चारुदेव शास्त्री द्वारा वा० प० १।८५ की टिप्पणी मे उद्धृत, पृ० १३३

भर्तृहरि के अनुसार शब्द का आकार क्रमशक्ति के द्वारा पाँच भागो मे निम्न रूप मे वक्ता और श्रोता दोनो मे मूर्तमान होता है। शनैः रूप मे, उच्च रूप मे, उपांशु रूप मे, परमोपांशु रूप मे और सन्निहितक्रम रूप मे। इनमे शनैः और उच्च, अभिव्यंजक ध्वनियो के पीछे रहने वाली प्राणशक्ति अथवा बलाघात आदि की शक्ति पर निर्भर करता है। बलाघात के तार या मन्द से ध्वनि भी उच्च या शनैः रूप मे भासित होगी। उच्च ध्वनि के विषय मे महाभाष्य (१।२।२९) में **आयामो दारुण्यम् अणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य** लिखा है। गात्रो का निग्रह (स्तब्धता) आयाम है। स्वर की रूक्षता (अस्निग्धता) दारुण्य है। कण्ठ की संवृतता अणुता है। ये सब शब्द के उच्चैःकरण हैं। नीच ध्वनि के विषय मे वही लिखा है—**अन्ववसर्गो मार्दवम् उरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य।** गात्रो की शिथिलता का नाम अन्ववसर्ग है। स्वर की स्निग्धता मार्दव है। कण्ठ की महत्ता उरुता है (कण्ठविवर के महत् होने के कारण वायु शीघ्र ही निकल जाती है। फलतः गलावयव शुष्क न हो पाते है और स्निग्ध बने रहते हैं—न्यास १।२।३०)। महाभाष्यकार के अनुसार उर, कण्ठ और शिर के समान प्रक्रम पर भी उच्च-निच्च भाव अवस्थित है। कैयट के मत में प्रक्रम का अर्थ स्थान है। एक (वक्ता) के तालु आदि स्थानो मे जो ऊर्ध्व और अधरभाग से युक्त हैं, ऊर्ध्व-भाग से निष्पन्न ध्वनि उच्च (उदात्त) है और अधर भाग से निष्पन्न नीच (अनुदात्त) है। उच्च और नीच शब्द ऊर्ध्व और अधरभाग के उपलक्षण हैं। षड्ज आदि स्वर-विशेष की तरह ऊँच-नीच का अनुभव भी अभ्यासगम्य है। (कैयट-महाभाष्य, १।२।२९, ३०)। उपांशु शब्द की उस अवस्था को कहते हैं, जिसमे प्राणशक्ति का संवेग तो रहता है किन्तु दूसरा कोई व्यक्ति उस संवेगजन्य ध्वनि को ग्रहण नही कर सकता है। वह सूक्ष्म होती है और दूसरे से असंवेद्य होती है

तत्र प्राणवृत्त्यनुग्रहे सत्येव यत्र शब्दरूपं परैरसंवेद्यं भवति तदुपांशु।

—वाक्यपदीय २।१९ हरिवृत्ति, लाहौर संस्करण पृ० १७

जब शब्द प्राणशक्ति के संचार से रहित केवल बुद्धि मे संक्रान्त रहता है और

बुद्धि शक्ति से ही संचालित रहता है उस अवस्था को परमोपांशु शब्द से द्योतित करते हैं—

अन्तरेण तु प्राणवृत्त्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादान एवं शब्दात्मा तत् परमोपांशु ।

—वाक्यपदीय १।१६ हरिवृत्ति, पृ० १७ ।

अव्यक्त शब्द मे आरोपित क्रम का बुद्धि द्वारा साक्षात्कार तो होता है परन्तु अभिव्यंजक किसी भी निमित्त से उसका सम्पर्क नही होता, वह निस्पन्द पर बुद्धिग्राह्य क्रममय रहता है। उस अवस्था को प्रतिसंहृतक्रम कहते हैं

यत्र तु प्रतिसंहृतक्रमशक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तान्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्दे-ध्यारोपितं हि शब्दानां क्रमरूपमिव साक्षात्क्रियते तत् प्रतिसंहृतक्रमम् ।

—वही पृ० १७ ।

इससे परे भी एक अवस्था होती है। बुद्धि मे शब्द जब क्रमरहितरूप मे अवस्थित रहते है, सर्वथा उसमे लीन हो गए रहते हैं, वे अनिर्वचनीय से होते है और व्याख्यान शक्ति से परे है

शब्दानां क्रमरूपोपसंहार विषयायां बुद्धावसम्प्रख्यात तत्त्वमिव प्रतिपद्यमा-नायामारभ्यते शब्दातीतो व्यवहारः ।

—वही पृष्ठ १७

विवक्षा होने पर प्रवक्ता का शब्द बुद्धि में, प्रयत्न मे, प्राण मे, जिह्वेन्द्रिय मे क्रमश व्यापारित होता हुआ व्यक्त होता है और श्रोता को भी क्रमरूप मे भासित होता है।

अल्प शब्द और महत् शब्द

अल्पता और दीर्घता परिमाण है। इसलिए गुण है। द्रव्य के समवायी है। शब्द तो, एक दृष्टि से, स्वय गुण है इसलिए उसमे अल्पता या महत्ता (दीर्घता) कैसे सम्भव है? दूसरे शब्दो मे, अल्पत्व और दीर्घत्व मूर्त पदार्थ के धर्म है। शब्द तो अमूर्त है। अत शब्द अल्प या महत् कैसे कहा जा सकता है? भर्तृहरि ने इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया है। पहला तो यह कि शब्द अल्प या महत् उपचार (लक्षणा) के कारण कहा जाता है। एक सुई छोटी कही जाती है क्योंकि वह अल्पस्थान घेरती है। एक पर्वत बडा कहा जाता है क्योकि वह अधिक स्थान घेरता है। इस सादृश्य के सहारे जो शब्द कम स्थान में फैलता है वह अल्प और जो दूर तक फैलता है उसे महान् या दीर्घ कहते हे। शब्द की यह व्याप्ति अनुमान से जानी जाती है। दूसरा यह कि व्याकरणदर्शन लोकगत व्यवहार को आधार मानकर चलता है। सर्वत्र अर्थव्यवस्था का कारण लोक-प्रसिद्धि है। लोक को छोड देने पर पदार्थ व्यवस्था के निर्णय मे कठिनाई पडती है। क्योकि तर्क अनवस्थित है, उसका निश्चय डाँवाडोल है और शास्त्रों मे सिद्धान्त-विषयक परस्पर मतभेद पाया जाता है। इसलिए लोकविज्ञान उपयुक्त आधार है। लोक मे शब्द को अल्प और महत् शब्द से व्यक्त करते है। अत शब्द को अल्प या महत् कहा जाता है (वाक्यपदीय १।१०४, हरिवृत्ति और वृषभ टीका)।

शब्द का स्वरूप

ऊपर ध्वनि के आधार पर शब्द के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। अर्थ के आधार पर भी इसके स्वरूप पर विचार किया जाता है। शब्द का उच्चारण अर्थपरिज्ञान के लिए ही किया जाता है। अत. अर्थ के आधार पर शब्दस्वरूप का अवच्छेद स्वाभाविक है। पतंजलि ने भी ऐसा ही किया है। शब्द के स्वरूप के विषय में उनके दो प्रसिद्ध वक्तव्य हैं।

"येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्द।

अथवा

प्रतीतपदार्थकः लोके ध्वनिःशब्द इत्युच्यते।"

—महाभाष्य पृ० १, कीलहार्न संस्करण

इन दोनों वाक्यो के अर्थ मे प्राचीन काल से ही विवाद चला आ रहा है। पहले वाक्य का सरल अर्थ यह है— जिसके उच्चारण से सास्ना, लाङ्गूल, ककुद, खुर और सीग वाले का बोध होता हो, वह शब्द है। इसमे सास्ना, लाङ्गूल आदि का उल्लेख गो शब्द के प्रसग से पतंजलि ने किया है उसे हटा देने पर उनके मत मे शब्द की परिभाषा का रूप यों होगा

येनोच्चारितेन (कस्यचित्) संप्रत्ययो भवति स शब्दः।

इसमे उच्चारण और सप्रत्यय ये दोनो शब्द शब्द के लक्षण पर प्रकाश डालते हैं। शब्द वह है जो उच्चरित होता हो और किसी अर्थ का प्रत्यायक हो। 'उच्चारण-शब्द' शब्द के ध्वन्यात्मक स्वरूप को सामने लाता है। "सप्रत्ययशब्द' शब्द के साकेतिक रूप को व्यक्त करता है।

पतंजलि के दूसरे वक्तव्य का अर्थ है कि प्रतीतपदार्थक ध्वनि को शब्द कहा जाता है। प्रतीतपदार्थक का अर्थ है लोक-प्रचलित अर्थ। लोक-प्रचलित अर्थवाले ध्वनिका नाम शब्द है। पतंजलि ने महाभाष्य मे अन्य दो स्थानों पर प्रतीतपदार्थक शब्द का प्रयोग किया है।

द्वयोर्हि प्रतीतपदार्थकयो लोके विशेषणविशेष्यभावो भवति। न आदैच् शब्द. प्रतीतपदार्थकः। —महाभाष्य १।१।१। पृ० ३९

इहहि व्याकरणे ये वैते लोके प्रतीतिपदार्थका. शब्दा तैः निर्देशा. क्रियन्ते पशु अपत्यं देवतेति। या वैता. कृत्रिमा टिघुभसंज्ञाः ताभिः।

—महाभाष्य १।४।२३, पृ० ३२३, कीलहार्न)

इन उद्धरणों से दो बातें स्पष्ट हो जाती है। एक तो यह कि आदैच टि, घु, भ आदि प्रतीतपदार्थक शब्द नही है। दूसरी यह कि पशु, अपत्य, देवता आदि प्रतीतपदार्थक शब्द है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीतपदार्थक शब्द का अभिप्राय ऐसे शब्दो से है जो सर्वसाधारण के लिए समान अर्थ रखते है और निरपेक्ष रूप से व्यवहार मे आते है। प्रतीतपदार्थक शब्द के लिए यहाँ पतंजलि ने 'प्रतीतपदार्थक ध्वनि' शब्द का व्यवहार किया है। वस्तुत प्रतीतपदार्थक शब्द स्पष्टतार्थ के लिए प्राचीन समय मे व्यवहृत होता था जैसा कि कौटल्य के निम्नलिखित वाक्य से स्पष्ट है.

'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते' 'प्रतीतशब्दप्रयोग स्पष्टत्वम्'

—कौटल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय १०, पृ० १७०,
भाग १, त्रिवेन्द्रम संस्करण।

इसलिए स्पष्टार्थक ध्वनि को शब्द कहा जाता है। यह अभिप्राय महाभाष्यकार का जान पडता है।

पहले वाले वक्तव्य से दूसरे वक्तव्य मे थोडा भेद है। यदि सप्रत्यायक ध्वनि को शब्द माना जाएगा, टि, घ, भ आदि कृत्रिम सज्ञाएँ भी शब्द मानी जाएँगी। क्योकि टि आदि से भी सप्रत्यय किसी-न-किसी को होता ही है। किन्तु टि आदि सबके लिए शब्द नही है। इसलिए सप्रत्यय के स्थान पर प्रतीतपदार्थक रखना पतंजलि को अधिक उपयुक्त जान पड़ा होगा। दूसरा भेद लोक शब्द से ध्वनित है। शब्द की दूसरी परिभाषा में पतजलि ने लोक शब्द भी रखा है। अर्थात् दूसरी परिभाषा लोक-व्यवहार को सामने रखकर की गई है। पहली परिभाषा के अनुसार कृत्रिम सज्ञाएँ भी शब्द हैं। दूसरी परिभाषा के अनुसार सामान्य रूप मे वे शब्द नही हैं। पहली परिभाषा मे सप्रत्यय प्रधान है। दूसरी परिभाषा मे ध्वनि-रूप प्रधान है।

इस विषय पर महाभाष्य के कतिपय व्याख्याताओ के मत का सक्षेप मे उल्लेख किया जा रहा है।

येनोच्चारितेन संप्रत्ययः भवति—

—इस वाक्य के तीन अभिप्राय भर्तृहरि ने भिन्न-भिन्न मत के के रूप मे दिखाए है।

केचित् मन्यन्ते-योवाऽयमुच्चार्यते क्रमवान् अवरः कश्चिदन्यः अक्रम शब्दात्मा बुद्धिस्थो विगाहते। तस्मादर्थप्रतीतिः कुत यथैवार्थान्तरनिबन्धनो नार्थान्तरं प्रत्यायति एवं स्वरूपनिबन्धनो नोत्सहते प्रत्याययितुम्।

—महाभाष्यत्रिपादी, पृ० ३, पूना सस्करण

इसका अभिप्राय है कि, कुछ लोगो के मत मे, जिसका उच्चारण किया जाता है वह क्रमवान् है। इससे भिन्न एक सहृतक्रम अथवा क्रमरहित रूप है जिसमे वर्णों के क्रम अक्रम रूप मे रहते हैं वही शब्द है। वह बुद्धि मे रहता है। उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे एक अर्थ मे निश्चित शब्द किसी दूसरे अर्थ का प्रत्यायन नही करा सकता वैसे ही उच्चरित शब्द अपने स्वरूप का ही प्रत्यायन करा सकता है उससे अन्य किसी वस्तु का प्रत्यायक वह नही हो सकता।

दूसरे आचार्य मानते हैं कि वर्ण मे भी भाग होते है, वर्ण का तुरीयभाग वर्ण जाति का व्यजक होता है। इसी तरह पद मे कई वर्ण होते हैं, तुरीयवर्ण शब्द जाति का व्यंजक होता है। वर्ण क्रमजन्मा होते हैं। एक समय मे नही होते। अतिम वर्ण पदस्य जाति के व्यजक हैं। वृक्ष शब्द के उच्चारण से वृक्षत्व व्यजित होता है। अर्थात् जाति से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। यह अर्थ का स्वरूप स्फोट कहलाता है। यह शब्दात्मा है। यह नित्य है।

कुछ अन्य आचार्यों की मान्यता है कि शब्द मे दो प्रकार की शक्ति है—आत्म-प्रकाशन शक्ति और अर्थप्रकाशन शक्ति। जैसे दीप अपने को व्यक्त करता हुआ अन्य

अर्थों का भी प्रकाशक है। इन्द्रिय में बाह्य अर्थ के प्रकाशन की शक्ति तो होती है किन्तु आत्मप्रकाशन-शक्ति नहीं होती। इनके मत मे उच्चारितेन शब्द के दो अर्थ हैं—उच्चारण और प्रकाशन।

इन तीनों मतों को सक्षेप मे यो कहा जा सकता है। पहले मत के अनुसार शब्द ध्वनि-समूह के पीछे छिपी हुई बुद्धिस्थ शक्ति-विशेष है। दूसरे मत मे, शब्द जाति है। शब्द जाति का ही नाम स्फोट है। तीसरे मत के अनुसार शब्द वह ध्वनि है जो अपने स्वरूप का साथ ही अन्य वस्तु का प्रत्यायक होता है।

कैयट, शेषनारायण, अन्नभट्ट, नागेश आदि ने यहाँ स्फोट अर्थ माना है। उनके मत मे पदस्फोट अथवा वाक्यस्फोट वाचक हैं।

महाभाष्यकार के प्रतीतपदार्थक शब्द भर्तृहरि के अनुसार प्रतीतपदार्थकता के लिए प्रसिद्धि के लिए हैं। जो शब्द प्रसिद्ध हैं वही 'शब्द' शब्द से यहाँ अभिप्रेत हैं। उन्होंने प्रतीत-पदार्थ' को प्रतीत पदार्थ. (कर्मधारय) रूप मे लिया है और ध्वनि को इसका अभिधेय माना है। शब्द ध्वनि मे ही अपना स्वरूप पाता है। इसके लिए उसे अर्थ, प्रकरण, शब्दान्तर की अपेक्षा नहीं होती।

शेषनारायण ने प्रतीतपदार्थ शब्द मे बहुव्रीहि समास माना है

प्रतीतः पदार्थो यस्येति विग्रहः। युक्त प्रतीतस्य पदार्थस्यायमिति वा विग्रह इति तन्न। —सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख।

अन्नभट्ट के अनुसार प्रतीतपदार्थक शब्द के आगे शब्दशब्द छिपा हुआ है। अर्थात् प्रतीतपदार्थकशब्द शब्द-शब्द का विशेषण है।

नागेश ने प्रतीतपदार्थ को पदार्थबोधक रूप मे लिया है। उनके अनुसार पदार्थ-बोधक रूप मे प्रसिद्ध श्रोत्रग्राह्य ध्वनिसमूह का नाम शब्द है। किसी के मत मे प्रतीतपदार्थक वाला वक्तव्य उन लोगो के लिए है जो स्फोट को नहीं मानते हैं किन्तु श्रोत्रग्राह्य ध्वनि को शब्द मानते है। उनके मत में समुदित वर्णसमूह का किसी वस्तु-विशेष बुद्धि-द्वारा उपपादित सस्कार शब्द है। (सूक्ति रत्नाकर-हस्तलेख)

शब्द नित्य है। सस्कृतव्याकरणदर्शन मे शब्द को कार्य मानकर भी विचार किया गया है और शब्द को नित्य मानकर भी विचार किया गया है। किन्तु सिद्धान्त रूप से शब्द नित्य ही माना जाता है। जहाँ शब्द द्रव्य के रूप में माना जाता है वहाँ भी प्रवाहनित्यता रूप मे नित्यत्व अपेक्षित रहता है।

पाणिनि ने **तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्** १।२।५३ कथन के रूप मे शब्द की नित्यता का सकेत किया है। व्याडि ने नित्य और अनित्य विषय पर पर्याप्त विचार कर शब्द की नित्यता का समर्थन किया था। कात्यायन ने "**सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे**" इस प्रथम वार्तिक द्वारा शब्दनित्यत्व का उद्घोष किया है। श्लोकवार्तिककार ने भी "**स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते**" के रूप मे शब्द को नित्य माना है। भर्तृहरि ने (**नित्याः शब्दार्थसंबन्धाः**—वाक्यपदीय १।२३ आदि वाक्यों द्वारा शब्द के नित्यपक्ष की चर्चा की है।

शब्द के नित्यत्व के विषय मे कुछ तर्क भी दिए जाते हैं। सबसे पहले सभवत.

वेदवादियों ने शब्द की नित्यता का समर्थन किया था। मीमासकों और वैयाकरणों द्वारा शब्द के नित्यत्व के विषय में जो तर्क दिए जाते हैं, नैयायिकों और बौद्धों ने उनका बड़ी निर्दयता से खण्डन किया है। जैमिनि के लचर तर्कों पर तरस खाते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है :

तस्य तावदीदृशं प्रज्ञास्खलितं कथं वृत्तमिति सविस्मयानुकम्प्यं नः चेतः। तम-परेऽप्यनुवदन्तीति निर्दयाक्रान्तभुवनं धिग् व्यापकं तमः।

—प्रमाणवार्तिक, पृ० ८० वाराणसी सस्करण

अर्थात् जैमिनि जैसे विचारक ने इतने हलके स्तर के तर्क उपस्थित किए यह देख कर हमारा मन विस्मय और अनुकम्पा से भर जाता है। उसे दूसरे भी दुहराते चले आ रहे हैं। ओह, ससार मे कितना गहरा अज्ञान का अन्धकार है।

भर्तृहरि ने नित्यत्व के सम्बन्ध मे कई महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिए हैं।

उन दिनो भी कुछ ऐसे आचार्य थे जो प्राकृत को मूल भाषा मानते थे और सस्कृत को उसका विकृत रूप मानते थे। उनके मत मे प्राकृत प्राकृतिक भाषा है और इसलिए नित्य है।

'केचिदेवं मन्यन्ते, य एवैते प्राकृताः शब्दाः त एवैते नित्याः। प्रकृतौ भवाः प्राकृताः।

—महाभाष्य त्रिपादी (दीपिका) पृ० २० पूना सस्करण

शब्द की नित्यता पर विचार आकृति और द्रव्य पदार्थ की दृष्टि मे भी है। यदि शब्द से आकृति की अभिव्यक्ति होती है, शब्द नित्य है, क्योकि वृक्षत्व आदि आकृति नित्य है। द्रव्यपक्ष में भी शब्द नाद से अभिव्यक्त के रूप मे नित्य माना जाता है। आश्रय भेद से भेद की प्रतीति होती है। स्वरूप मे भेद नही होता। नित्यता अनित्यता के विपर्यय के रूप में भी स्वीकार की जाती है। भर्तृहरि ने तीन प्रकार की अनित्यता का उल्लेख किया है—ससर्गानित्यता, विपरिणामानित्यता और वस्तुविनाशानित्यता।

स्फटिक का दूसरे द्रव्य के सयोग से अपने शुद्ध स्वरूप की अनुपलब्धि ससर्गा-नित्यता है। बदरी-फल के अपने श्याम रग को छोडकर रक्तरग का आश्रय विपरिणामा-नित्यता है। वस्तुविनाशानित्यता सर्वात्मना विनाश का नाम है। कैयट ने इसके लिए प्रध्वसानित्यता शब्द रखा है। इन तीनो प्रकार की अनित्यता के विपरीत जो हो वह नित्यता है। अथवा जो ध्रुव है, कूटस्थ है,[२७] अविचालि है, जिसमे अपाय, उपजन, विकार, उत्पत्ति, वृद्धि और व्यय नही होते वह नित्य हैं। शब्द मे इन सब बातो के मिलने से वह भी नित्य है। अथवा वह भी नित्य है जिसमे तत्त्व का विघटन नही होता। यह वही है यह ज्ञान ही तत्त्व है। इसी को प्रवाहनित्यता भी कहा जाता है। शब्द भी देश और काल-भेद से उच्चरित होने पर भी 'यह वही है' इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का

---

२७. कूटे राशिरूपे तिष्ठति, न किञ्चिदन्य चलति; कूटे क्वचन अनुल्लङ्घनीये तिष्ठति, न केन-चिदन्यथा कर्तुं शक्यम्, कूटे विश्वतो दाहे विनाशकारणोपनिपातेऽपि तिष्ठति, कूटे व्याजेऽपि अपह्नवात्मनि क्रियमाणे तिष्ठतिनअन्यथा भवनीति अचलरूपतया भवत् कूटस्थनित्यमुच्यते।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १, पृ० १२६

विषय बना रहता है। अतः प्रवाहनित्यता के सहारे शब्द नित्य माना जाता है। अर्थ भी जातिलक्षणरूप से नित्य है। सम्बन्ध भी व्यवहारपरम्परा में अनादि के कारण नित्य माना जाता है।

किसी के मत में शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का कर्ता कोई नहीं होता। जिस शब्द के उच्चरित होने पर जिस किसी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वही उस शब्द का अर्थ है:

"अन्ये मन्यन्ते नेह कश्चित् शब्दार्थसम्बन्धस्य कर्ता।

—वाक्यपदीय २।३२६ हरिवृत्ति, हस्तलेख

शब्द से चाहे असत्य का ज्ञान हो अथवा मिथ्या का प्रतिपादन होता हो, शब्द अपने अर्थ से नित्य सम्बद्ध है

असत्यां प्रतिपत्तौ च मिथ्या वा प्रतिपादने।
स्वैरर्थै नित्यसम्बद्धास्ते ते शब्दा व्यवस्थिता॥

—वाक्यपदीय २।३३७

कोई आचार्य शब्दजाति का सम्बन्ध अर्थ से मानते हैं, कोई शब्द-व्यक्ति का सम्बन्ध अर्थ से बताते हैं। किसी के मत से जाति अथवा व्यक्तिसाधना क्रिया अभिप्रेत होती है। वाच्यवाचक सम्बन्ध के आधार पर बुद्धिस्थ शब्द का बुद्धिस्थ अर्थ में विनियोग होता है अर्थात् अनेक अर्थ में से किसी एक के साथ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध शब्दगत उक्ति के सहारे अभिव्यक्त होता है:

इह केचिदाचार्याः शब्दजातिमर्थसम्बन्धिनं मन्यन्ते। केचित् शब्दव्यक्तिम्। अन्येषां तु जातिसाधना व्यक्तिसाधना वा क्रिया संप्रत्ययफला। तत्रानेनार्थं वक्तव्य इत्युभयो. परिग्रहं कृत्वा बुद्धिस्थशब्दो बुद्धिस्थे यत्र विनियुज्यते प्रवर्णीक्रियते सत्यप्यनेकार्थत्वे तत्रास्य सामर्थ्यमवच्छिद्यते।

—वाक्यपदीय २।४०६ हरिवृत्ति, हस्तलेख

शब्द और अर्थ को बौद्ध मानकर भी इनमे नित्यत्व दिखाया जाता है। भर्तृहरि ने इस विषय मे अनेक प्रवादो का अनेक स्थलो मे प्रसगवश उल्लेख किया है। कुछ दर्शन सब कुछ वास्तविक मानते हैं। इस पक्ष मे शब्द विशिष्टार्थ भाग का स्पर्श करता है और उसका अन्य से निर्धारण (विभाग) करता है। कुछ अन्य दर्शन किसी वस्तु की सत्ता नही मानते। इस पक्ष मे शब्द उन-उन अर्थों की प्रकल्पना करता है

अत्र केचित् वास्तव सर्व इति प्रपंचिनम्। तस्य तु विशिष्टार्थभागोपनिपातिनः शब्दाः तां तां शक्तिमवच्छिदति इति प्रतिपन्नाः। अपरे पुनः, नैव वस्तु किंचिदस्ति। शब्दा एव तु प्रवर्तमानास्त तमर्थं प्रकल्पयन्ति।

—महाभाष्यत्रिपादी १।१।४४

कुछ अन्य विचारक मानते है कि केवल शब्द सुनने मात्र से बुद्धि मे अवस्थित अर्थ का बोध नही होता। अर्थबोध अनुमान की प्रक्रिया से होता है। शब्द से जिस बुद्धि का उदय होता है, उससे सन्निहित अप्रयुक्त पदाश्रय कोई दूसरी बुद्धि होती है, उस बुद्धि के सहारे अर्थ का अतिभास होता है:

अपरे तु मन्यन्ते नावश्यं श्रुत एव शब्दो बुद्धौ संनिपतितमर्थं प्रत्याययति । सर्वथा बुद्धौ संनिविष्टः प्र......स्मिन्नेव शब्देविशिष्ट रूपे या बुद्धिरुत्पद्यते तथा व्यवहितं बुद्ध्यन्तरं बुद्धौ प्राप्तसंनिधानं तदर्थं प्रतिपत्तिनिमित्तं भवति । अपरे तु पर्व : —वाक्यपदीय २।३२८ हरिवृत्ति हस्तलेख[२८]

कुछ अन्य विचारको के मत में एक ही अर्थात्मा होती है। अर्थ एक है। वह सर्वसाधारण है। जैसे संयोगसंज्ञा दो मे भी होती है, समुदाय मे भी होती है वैसे ही अर्थ एक मे, दो मे, सबमे अवस्थित रहता है। केवल संनिधान से अभिव्यक्त होता है :

केचित् मन्यन्ते यथा संयोग संज्ञा द्वयोः द्वयोः समुदाये चावतिष्ठते । तथा प्रत्येकं द्वयोः समुदितेषु च स एवैकार्थात्मा व्यवस्थित एव । स तु सन्निधानेन व्यज्यते । —वाक्यपदीय २।४०१ हरिवृत्ति, हस्तलेख

जैसे आंख मे सब-कुछ देखने की शक्ति है किन्तु जिस-जिसको देखना ईप्सित होता है उसे उसके माध्यम से देखा जाता है उसी तरह शब्द में सब अर्थ व्यक्त करने की क्षमता है। जो अर्थ अभीप्सित होता है उसे वह प्रकाशित करता है, अपने-आप में अभिव्यक्त करता है (वाक्यपदीय २।४०७)।

अथवा शब्द अभिधान (करण) है। अर्थ अभिधेय (कर्म) है। दोनों मे अभिधा-नियम है।[२९]

अथवा शब्द और अर्थ का कोई सीधा सम्बन्ध नही है। अर्थ के स्वरूप का परि-ज्ञान शब्द से सम्भव नही है। अर्थ का अवधारण अशब्द होता है। दाह शब्द मे जो कुछ अर्थभासित होता है उसमे और यथार्थ रूप मे आग मे जलन होने पर जो कुछ अनुभव मे आता है उसमे आकाश-पाताल का भेद है। हिम शब्द के उच्चारण मे और बर्फ से ठिठुरन मे बहुत भेद है। शब्द केवल अर्थ का आभास मात्र कराते है अथवा किसी सादृश्य के आधार पर अर्थ की स्मृति मात्र जगाते है (वाक्यपदीय २।४२४)।

अथवा शब्द वस्तु का उपलक्षण मात्र है। जैसे हम काक से देवदत्त के गृह को बतलाते हैं वैसे विशेष शब्द मे विशेष वस्तु को बतलाया जाता है। शब्द मे ऐसी शक्ति नही है कि वह पदार्थ की समग्रता को छू सके। अथवा शब्द से वस्तुमात्र निर्विशेष रूप मे, विशेष धर्मरहित रूप मे जनाया जाता है। शब्द पदार्थ का (वस्तु का) किसी रूप में उपकारक नही है। शब्द मे पदार्थ के किसी भी धर्म के स्पर्श करने की क्षमता नही है —

वस्तुमात्रमनाश्रितशक्तिविशेषमपरिगृही तत्स्वधर्मकं येन सविज्ञानपदेनोप-लक्ष्यते । न तद्वस्तुकृतानां शक्तिनां यदुपकारिरूपं तत् सव्यापारं स्व कार्येण शक्नोती वक्तुम् । न हि स वस्तुमात्र संस्पर्शित्वात् भेदकान्युपकारीणि शक्तिरूपाणि संस्पृशति । —वाक्यपदीय २।४४२ हरिवृत्ति, हस्तलेख

---

२८. पुण्य राज के अनुसार भर्तृहरि का अभिप्राय यहां श्रुतार्थापत्ति से है।

२९. अभिधानियमः तस्मादभिधानाभिधेययोः। वाक्यपदीय २।४०८
अभिधानियम शब्द को अभिधावृत्ति का मूलरूप समझना चाहिए।

शब्द का अर्थ

उपर्युक्त विभिन्न मत शब्द के स्वरूप और सामर्थ्य पर प्रकाश डालते हैं। शब्द का अर्थ क्या है? इस प्रश्न पर भी भर्तृहरि ने विचार किया है। और पुण्यराज ने उसे १२ प्रकारों में बाँटा है। ये प्रकार भी शब्द की शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं और मतभेद-प्रदर्शक हैं न कि अर्थभेद-प्रदर्शक।

शब्द का अर्थ क्या है? इसके उत्तर में किसी आचार्य की मान्यता है कि शब्द का अर्थ क्या है, नहीं कहा जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि शब्द के अर्थ होते हैं। शब्द निरर्थक नहीं है। शब्द का जो अर्थ है उसे 'यह है' 'वह है' आदि के रूप मे नहीं बतलाया जा सकता है। स्वर्ग शब्द कहने से जिस अर्थ का आभास होता है उसे कहा नहीं जा सकता क्योंकि स्वर्ग अदृष्ट है। इसी तरह से अपूर्व शब्द मीमांसादर्शन में शक्ति-विशेष के अर्थ मे व्यवहृत होता है किन्तु उसे बतलाया नहीं जा सकता। देवता शब्द का अर्थ केवल अर्थ रूप मे जाना जा सकता है, वह क्या है, कैसा है, नहीं जाना जा सकता। यही बात गो शब्द घट शब्द आदि की भी है। गो शब्द केवल अर्थ की सत्ता मात्र का प्रत्यायक है। गो शब्द के सुनने से आकार आदि का भान नान्तरीयक रूप मे होता है। वह शब्द का अर्थ नहीं है। इसलिए 'अर्थ है' इतना ही वाच्य का लक्षण है अर्थात् शब्द से जो प्रत्याय्य है उनका केवल अस्तित्व मात्र शब्द मे व्यक्त होता है। घट पट शब्दो से आकार के ग्रहण का भाव प्रयोग, दर्शन, अभ्यास आदि के सहारे होना है। वे यत्नान्तर साध्य हैं। शब्द का व्यापार उन तक नहीं है।

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥

—वाक्यपदीय २।१२०

इसकी समीक्षा मे कुमारिल का कहना है कि शब्द की शक्ति नियत होती है। अर्थापत्ति के आधार पर शब्द की वाचक शक्ति नियत अर्थ विषयक होती है। किन्तु कुमारिल भट्ट ने उपर्युक्त मत का भाव अन्यथा रूप मे लिया है। उपर्युक्त मत मे सभी शब्दो का अर्थ सत्ता मानने का यह अभिप्राय नहीं है कि शब्दो का अन्य कोई अर्थ नहीं है, उसका अभिप्राय केवल इतना है कि शब्द का अर्थ होता है, क्या होता है इसे ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। किसी अन्य आचार्य का मत है कि शब्द से जो कुछ अर्थ भासित होता है उस अर्थ के साथ अनुनिष्पादि रूप मे जो कुछ भासित होता है वह भी शब्द का अर्थ है। जैसे शब्द का अर्थ जाति है तो उस जाति के प्रयोजक व्यक्ति भी शब्द का अर्थ होगा। कुछ लोग व्यक्ति को अनुषंग रूप मे लेते हैं। जाति शब्द में व्यक्तिगत धर्म-बोध कराने की क्षमता नहीं होती। शब्द सम्पूर्ण विशेषताओं मे युक्त अर्थ का बोध नहीं करा पाता है।

न हि सकलविशेषसहितमर्थं शब्दः प्रत्याययितुमलम्।

—पुण्यराज २।१२४

किसी अन्य विचारक के मत मे शब्द का अर्थ वह सब कुछ है जिसके बिना अर्थ

मे अर्थवत्ता ही नहीं आती है। इस मत में, कुछ अश को प्रत्यायक और कुछ अंश को नान्तरीयक नही माना जाता। अपितु शब्द का अभिधेय सब आकार सहित अर्थ है। केवल कही किसी पक्ष का प्राधान्य और कहीं किसी स्वरूप का गौणभाव अभिप्रेत रहता है।

इसी तरह किसी के मत मे शब्द का अभिधेय समुदाय है किन्तु उसमें विकल्प या समुच्चय का स्थान नहीं है। वन शब्द से धव, खादिर आदि का समुदाय अभिधेय है। ब्राह्मण शब्द से तप, विद्या जाति आदि से युक्त समुदाय अभिधेय है। वन शब्द से धव है कि खदिर है इस रूप मे, विकल्प रूप मे, प्रतीति नहीं होती। वन धव भी है खदिर भी है इस रूप मे, समुच्चय रूप मे भी प्रतीति नही होती। अपितु साकल्य रूप मे एक प्रतीति होती है। इसलिए विकल्प-समुच्चय-रहित समुदाय शब्द का अर्थ है।

कोई-कोई शब्द का अर्थ ससर्ग मानते हैं। ससर्ग जाति, गुण और क्रियात्मक अर्थ का असत्यभूत रूप है। द्रव्य का द्रव्यत्व आदि के साथ जो सम्बन्ध होता है वह शब्द का अर्थ है। वह सम्बन्ध सम्बन्धियो के शब्दार्थ होने के कारण असत्य माना जाता है। अथवा तप श्रुत आदि का एक मे सस्सृष्ट रूप से भान होने से उनका परस्पर ससर्ग, ब्राह्मण शब्द मे, असत्य है। अथवा घट आदि शब्दो से घट आदि की जाति आदि ससर्ग कही जाती है। अलग रूप मे वह असत्यभूत मानी जाती है। सस्सृष्ट पदार्थ ही सत्यभूत है। किसी अन्य मत में असत्य उपाधि से अवच्छिन्न सत्य ही शब्द का अर्थ है —

असत्योपाधि यत् सत्यं तद्वा शब्दनिबन्धनम्।

—वाक्यपदीय २।१२८

इस वक्तव्य पर पुण्यराज ने प्रकाश नही डाला है किन्तु जिस आचार्य की यह मान्यता है उसने बहुत गूढ तत्त्व अल्प मे व्यक्त कर दिया है। उसने शब्ददर्शन और सत्यदर्शन को एक कर दिया है। शब्द अपने अन्तिम विश्लेषण मे सत्य है। इसलिए निरपेक्ष रूप मे शब्द का अभिधेय यदि सम्भव है तो वह सत्य है।

कमलशील ने सुवर्ण को सत्य और वलय, अँगूठी आदि को असत्य माना है। शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त स्वर्ण की तरह सामान्य रूप सत्य है। वही उसका अभिधेय है। अथवा शब्द का अभिजल्प स्वरूप शब्द का अर्थ है। 'स अयम्' यह वह है इस रूप मे शब्द के स्वरूप का अर्थ मे अध्यास किया जाता है। अध्यासवश शब्द और अर्थ एकाकार हो गये रहते हैं। शब्द के इस स्वरूप का नाम अभिजल्प है। अभिजल्प शब्दार्थ है। वह शब्द ही है। शब्दार्थ के एकाकार रूप मे होने के कारण उनका कोई रूप कही प्रधान रूप मे अवगत होता है और कही उनका कोई अन्य रूप अवगत होता है। लोक मे उनका अर्थरूप अधिक गृहीत होना है, शास्त्र मे शब्द और अर्थ दोनो रूप विवक्षा के आधार पर गृहीत होते हैं। लोक मे 'अग्निम् आनय' वाक्य से अग्नि रूप अर्थ अभिप्रेत रहता है। शास्त्र मे स्त्रीभ्यो ढक् (४।१।१२०) कहने से स्त्री वाचक सार्थक शब्दो का बोध होता है।

दर्शन से और उत्प्रेक्षा से अर्थ को अभिधेय के रूप मे ग्रहण कर शब्दात्मा

अपनी शक्ति का नियंत्रण कर इस शब्द से यह कहा गया है इस रूप मे बुद्धि मे झलकता हुआ बाह्य ध्वन्यात्मक श्रुत्यन्तर की प्रवृत्ति में हेतु होता है। अभिजल्प शब्द विज्ञान लक्षण हैं। आन्तर शब्द है। मल्लवादि के अनुसार यह मत भर्तृहरि का है.

> **वर्णमोऽर्थक्षाम्यामर्थमभिधेयत्वेनोपगृह्य तत्र न्यग्भूतस्वशक्तिः बुद्धौ परिप्लव-मानः अयमित्थमनेन शब्देनोच्यत इत्यान्तरो विज्ञानलक्षणः शब्दात्मा श्रुत्यन्त-रस्य बाह्यस्य ध्वन्यात्मकस्य प्रवृत्तौ हेतुः। सः अभिजल्पाभिधेयाकारपरिग्राही बाह्यात् शब्दादन्य इति भर्तृहर्यादिमतम्।**

—द्वादशारनयचक्र, पृ० ७७६

अथवा अर्थ असर्वशक्ति है। अर्थ मे शक्ति नही है। शब्द के द्वारा अर्थ मे नियत शक्ति का आधान होता है। जिस रूप मे शब्द अर्थ की शक्ति की अभिव्यक्ति चाहता है, उसी रूप मे अभिव्यक्ति होती है। इसलिए शब्द का अर्थ स्वशक्ति से उत्थापित अर्थ है। एक ही अर्थवस्तु एक ही क्षण मे अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक रूप में व्यवहृत की जाती है। जैसे भोजन पकाने की क्रिया को भिन्न-भिन्न व्यक्ति यो कह सकते है --**ओदनं पचति। पाक ओदनस्य। पाकं निर्वर्तयति। करोति निर्वृत्ति पाकस्य।** अत यदि शब्द से अर्थवस्तु की अभिव्यक्ति होती तो एक ही ओदन की एकमाथ कर्म के रूप मे, सम्बन्ध के रूप मे भिन्न-भिन्न विरोधी रूप मे, अभिव्यक्ति नही हो सकती थी। इसलिए मान लेना चाहिए कि अर्थ में शक्ति नही है। शक्ति शब्द मे है। शब्द अपनी शक्ति को बुद्धि के द्वारा अर्थ मे आरोपित कर देता है। अत शब्द द्वारा नियत शक्ति ही शब्द का अर्थ है। अथवा अर्थ अशक्त नही है। वह सर्वशक्तिसपन्न है। शब्द से केवल उसकी नियत शक्ति का अभिधान होता है। शक्ति के द्वारा अर्थ कभी क्रिया के रूप में प्रकाशित होता है कभी कारक के रूप मे व्यक्त होता है। दोनों सर्वथा शब्द द्वारा ही अर्थशक्ति नियत होती है। मल्लवादि के अनुसार यह मत वसुरात का है

> **वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यायस्य मतम् तु स च स्वरूपानुगतमर्थरूपमन्तर-विभागेन सन्निवेशयति—अशक्तेः सर्वशक्तेर्वाशब्दैरेव प्रकल्पिता। एकस्यार्थस्य नियता क्रियादि परिकल्पना।**

—वाक्यपदीय २।१३३ द्वादशार नयचक्र, पृ० ७८०

अथवा शब्द का कोई बाह्य अर्थ नही होता। शब्द का केवल बुद्धि-उपारूढ, बौद्ध अर्थ होता है। यह बौद्ध अर्थ बाह्य वस्तु के लिए होना है उसका रूप बुद्धि उपारूढ ही होता है किन्तु भ्रमवश बुद्धिगत अर्थ को बाह्य अर्थ समझ लिया जाता है। अथवा शब्द के दो प्रकार के अर्थ होते है जो वस्तु मूर्त है, आकारवान् है उसका अर्थ आकार-विशेष के रूप मे ज्ञात होता है। जो वस्तु अमूर्त है, निराकार है, उसका अर्थ केवल सवित् है। अर्थात् शब्द का अर्थ आकारसहित अर्थ भी है। सवित् (ज्ञानमात्र) भी है।

अथवा शब्द का कोई नियत अर्थ नही होता। अपनी-अपनी वासना, सस्कार के बल से श्रोता भिन्न-भिन्न अर्थ एक ही शब्द का ग्रहण करते है। इसलिए शब्दार्थ अपने-अपने भाव के अनुरूप विभक्त-विभक्त भासित होता है। एक ही वस्तु को एक ही समय मे भिन्न-भिन्न प्रेक्षक भिन्न रूप मे देख सकते है। एक ही पदार्थ एक ही व्यक्ति को

कालान्तर में भिन्न ज्ञान पड सकता है। इसलिए शब्द का कोई नियत अर्थ नही होता। शब्द के अर्थ के साधन भी अव्यवस्थित हैं। वे भी नियत नही हैं। इसलिए एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यही कारण है कि एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न दर्शनशास्त्रों में विभिन्न रूप से व्याख्यात हैं।

यह मत भाषाविज्ञान के इस सिद्धान्त के अनुकूल है कि अर्थ एक समझौता-मात्र है। विभिन्न भाषाओं मे एक ही प्रकार की ध्वनियाँ विभिन्न अर्थ द्योतित करती है। शब्द का अर्थ सामाजिक रूप मे आरोपित तत्त्व हैं।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

गौ शब्द कहने से गौ शब्द का, गौरूप अर्थ का और गौरूप ज्ञान का एक साथ एक में मिला हुआ-सा आभास होता है (**गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानम्** —योगसूत्रभाष्य ३।१७) यह आभास सम्बन्धसापेक्ष है। जब शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विचार किया जाता है तब अर्थ से अभिप्राय वस्तु से न होकर अर्थ के शब्दमय रूप मे होता है। प्रतीति के कारण ऐसा होता है। रूढ के कारण भ्रम नही होता।

शब्द का अपने स्वरूप और अर्थ के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध माना जाता है। वक्ता की दृष्टि से (बाह्य अर्थ न मानकर बुद्धि उपारूढ अर्थ) शब्द और अर्थ मे कार्य-कारणभाव सम्बन्ध माना जाता है। एक अध्यास सम्बन्ध की भी चर्चा की जाती है जो वास्तव मे योग्यता और कार्यकारणभाव सम्बन्ध का निष्कर्ष है, इनसे भिन्न नही है। भर्तृहरि के अनुसार अर्थ के प्रवृत्तितत्त्व का शब्द निबन्धन है। अर्थ की प्रवृत्तित्त्व के कई अभिप्राय है। अर्थ के प्रवृत्तित्त्व विवक्षा हैं। सत्त्व के रूप मे अथवा असत्त्व के रूप मे वस्तु का स्वरूप अर्थ का प्रवृत्ति तत्त्व नही है। विवक्षा योग्य शब्द पर निर्भर करती है। कुछ कहने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति जिस वस्तु को अभिधेय मानकर कुछ कहने की अभिलाषा रखता है वह उस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए योग्य शब्द का आश्रय लेता है। अर्थ व्यक्त करने की क्षमता योग्यता है।

अथवा अर्थ के व्यवहार मे जो निमित्त होता है उसे अर्थप्रवृत्तितत्त्व कहा जाता है। निमित्त के आधार पर निमित्त वाले अर्थों का निमित्तस्वरूपमय ज्ञान जब उत्पन्न होता है अर्थ द्वारा व्यवहार सभव होता है। गोत्व निमित्त है। गोपिण्ड निमित्तवान् है। जातिरूपानुकारी निमित्तस्वरूप है। जब तक पृथक्-पृथक् गो-पिण्ड गोत्व से अनुरंजित नही होते तब तक द्रव्यरूप मे उनमे व्यवहार की सरलता नही आती। जातिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्य कैवल्य की तरह अव्यवहार्य होगा। दूसरे शब्दो मे जाति के आधार पर अर्थ व्यवहार के विषय बनते हैं।

अथवा अर्थ के व्यवहार का तत्त्व ससर्ग है। सबध से रहित अर्थ का व्यवहार सम्भव नही है। ससर्ग क्रिया और कारक के परस्पर सस्पर्श का नाम है। अर्थ साधन-रूप भी होता है और साध्यरूप भी होता है। नाम पद क्रिया सस्पृष्ट साधन का प्रति-पादन करते हैं। क्रियापद साधनसस्पृष्ट क्रिया की अभिव्यक्ति करते है। दूसरे पदो के

प्रयोग कारक और क्रियापद के आश्रयविशेष के उपसंहार के लिए होते हैं। इस तरह संसर्ग सभी पदों का सस्पर्श किए रहता है।

अथवा अर्थ से तात्पर्य केवल वस्तु से है। उसके प्रवृत्तितत्त्व को ससर्ग कहा जाता है। अथवा ज्ञान अर्थ के आकार के रूप मे बाह्य वस्तु मे आरोपित होता है। यही अर्थप्रवृत्ति का तत्त्व है।

हेलाराज ने सम्बन्ध के प्रसग मे सम्बन्ध को पश्यन्ती आदि वाक् के भेदो के साथ दिखाने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार चित्शक्ति का वाक्नाम का व्यापार होता है। इसका दूसरा नाम शब्दना है। शब्दना व्यापार ध्वनि रूप मे न होता हुआ भी उपांशु प्रयोग मे शब्द कहा जाता है। वही वाचक माना जाता है। शब्द जब अपने अविभागापन्न दशा मे रहता है, जब वह शब्दार्थमय रहता है, जब उद्भेद आरम्भ नही हुआ होता, तब वह अपने स्वरूप में पश्यन्ती (परवाक्) के रूप मे स्थित रहता है। बाद मे वह प्राणवृत्ति से अनुप्राणित और मन की भावना से अवलम्बित होकर अपने-आप को वाच्य और वाचक इन दो शाखाओ में विभक्त करता हुआ स्थित रहता है। यह मध्यमा की अवस्था है। इसमे परामर्शन व्यापार होता है। परामर्शन वाचक शब्द है। परामर्शात्मा वाचक शब्द-चैतन्य अभी पश्यन्ती से सम्बन्ध विच्छिन्न नही किए होता है। उसका सम्बन्ध चैतन्य से विकम्पित किन्तु अविभक्त पश्यन्ती से भी अभी बना रहता है किन्तु वह अपने स्वरूप को ही वाच्य के रूप मे परामर्श करने लगता है। यह परामर्श सामानाधिकरण्य रूप मे होता है, गौ अर्थ है। इसलिए उस वाच्य अर्थ को वाचक का अध्यास वाला कहा जाता है। इसके पश्चात् वही परामर्शक शब्द पूर्व-अवस्था को पकडे हुए ही स्थान करण आदि के स्पर्श की योग्यता मे श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य स्वरूप के रूप मे अपने-आपको ढालकर वाच्य और वाचक रूप मे विभक्त होता हुआ व्यक्त होता है। शब्द पश्यन्ती (परवाक्) का निस्पन्द है। पश्यन्ती के प्रभाव से उसमे शब्दनात्मक व्यापार होता है। इस व्यापार के बल से वह अपने विशेष स्वरूप से विशिष्ट अर्थाभिधान की दशा को प्राप्त कर लेता है। इसका प्रकार सामानाधिकरण्य मे अर्थ का सस्पर्श और अभेद रूप से एक ही व्यापार का होना है। "अयं शुक्ल पट" इस बोध मे शुक्लगुण से अवभासित विशेष्य पट का परामर्श एक साथ ही हो जाता है। शुक्लगुण का अलग से परामर्श नही होता। इसी प्रकार घट. अयम् से घट के स्वरूप का परामर्श प्रधानभूतविशेष्य से स्पृष्ट रहता है। इसलिए शब्द और अर्थ की एक ही शब्दनात्मिका प्रतीति होती है। कही-कही शब्द की अपने स्वरूप मे ही विश्रान्ति रहती है। जैसे ऋग्वेद ४।२।२३ मे। यहाँ शब्द का स्वरूप ही अनुकार्य है। वही प्रधान है। बाह्य अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा मे स्वरूप और अर्थ का भेद के रूप मे अवभास होता है। शब्द अपने को व्यक्त करता है और अर्थ को भी प्रकाशित करता है। अर्थ का प्रकाशन अभिधीयमान रूप मे करता है। अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति शब्द अभिधेयक रूप में करता है। श्रोत्रेन्द्रियका विषयभाव प्राप्त कर लेना अभिधायक का रूप नहीं है। जो शब्द के अभिधान का विषय होता है उसे अभिधेय कहा जाता है किन्तु अर्थ के साथ स्वरूप का सामानाधिकरण्य, स्वरूप का

अर्थ के रूप में परामर्श आवश्यक है। वाचकता में अभिधीयमानता नहीं होती। पश्यन्ती (परवाक्) के कर्तृभूमि उपारूढ परामर्शमय प्रकाशस्वभाव वाचक होता है। उसमें परामृश्यमानात्मक वाच्यता का अविरोध होता है। जो कर्तृशक्ति से युक्त होता है वही कर्मशक्ति का आधार उसी समय नहीं होता। क्योंकि स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य एक साथ एक समय मे नही रह सकते। जो प्रतिपादक हैं वह प्रतिपाद्य नहीं।

इस तरह शब्द और अर्थ के सामानाधिकरण्य मे अभेद-अध्यास नाम का सबध व्यक्त होता है। योग्यता और कार्यकारण में भी फल की दृष्टि से अध्यास सम्बन्ध ही प्रमुख है।

जैसे इन्द्रियो की अपने विषय मे योग्यता अनादि-सिद्ध है उसी तरह शब्दों का अर्थ के साथ योग्यता-सम्बन्ध अनादि-सिद्ध है। यद्यपि इन्द्रियाँ कारक होने के कारण अज्ञात ज्ञान को ही उत्पन्न करती हे, शब्द ज्ञापक है वह अपने ज्ञान द्वारा अन्य बुद्धि का हेतु होता है फिर भी पुरुष प्रयत्न की अपेक्षा न होना दोनो मे समान है।

शब्द और अर्थ मे कार्यकारण भाव भी है। क्योंकि शब्द अर्थ का कारण है, शब्दपूर्वक अर्थ की प्रतीति होती है। श्रोता के मन मे जो अर्थ शब्द सुनने के बाद झलकता है उस अर्थ का जनक शब्द है। अर्थ भी शब्द का कारण है। क्योंकि वक्ता पहले मन मे अर्थ को रखकर ही उसके लिए शब्द का प्रयोग करता है। इसलिए दोनो ओर से कार्यकारण भाव होने के कारण शब्द और अर्थ का अध्यास लक्षण अभेद सम्बन्ध माना जाता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि-उपारूढ है। ओदन भुक्ते जैसे वाक्य से भी शब्द और अर्थ का परिज्ञान बुद्धि-अधीन है। इसी दृष्टि मे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है। क्योंकि अनित्य पदार्थों के नष्ट होने पर भी अभिधेयता के रूप मे नित्यत्व बना रहता है। घट आदि शब्दों के उच्चारण से अर्थाकार ज्ञान सदा उद्बुद्ध होता है। इसलिए प्रवाहनित्यता के रूप मे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है।

अतीत, अनागत आदि शब्दो के भी अर्थ होते हैं और इस आधार पर यहाँ भी सम्बन्ध नित्यता है। शशविषाण आदि असत् पदार्थ मे भी बुद्धि परिकल्पित सत्ता रहती है और इस आधार सम्बन्ध वहाँ भी है। उपचारसत्ता के आधार पर भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की उपपत्ति की जाती है।

सर्वत्रोपचारसत्तारूढ एव शब्दार्थ इत्युक्तं भवति।
क्रियाकारकभावेनापि चार्थानां निरूपणं बौद्धमेव॥

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ५१

शब्द चाहे भाव-बोधक हो, अथवा अभाव-बोधक हो अर्थ की अभिव्यक्ति प्रत्येक दशा मे होती है। अस्तु प्रवाहनित्यता के आधार पर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है।

शब्द और अर्थ के अनित्य सम्बन्ध के मानने पर अथवा शब्द को नित्य न मान

कर कार्य मानने पर शब्द और अर्थ की व्यवस्था लक्षण के अनुसार होती है ।

कार्या शब्द इति दर्शने लक्षणादेव शब्दानामर्थव्यवस्था ।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप २।१।६

संस्कृतव्याकरणदर्शन लोकविज्ञान, लोकमत को प्रमाण मानता है इसलिए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में भी लोक ही प्रमाण माना जाता है

शब्दार्थसम्बन्धे लोकव्यवहार एव प्रमाणं, नान्यत् ।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप ४।१।६३

लोक मे अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसलिए व्याकरणदर्शन मे भी उसको सामने रखकर ही विचार किया जाता है। शब्द से अर्थ नही बनाए जाते। अर्थ के लिए शब्द का आश्रय लिया जाता है :

न हि शब्दैरर्था उत्पाद्यन्ते । यथोक्तं न हि शाब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम्

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप २।२।२६

अवश्य ही दार्शनिक धरातल पर अर्थशब्द से वस्तु-अर्थ न लेकर शब्दार्थ रूप अर्थ लिया जाता है

इह हि व्याकरणे न वस्त्वर्थोऽर्थः, अपितु शब्दार्थोऽर्थः ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश १

कभी-कभी शब्दरूप को सामने रखकर अर्थ-व्यवहार लोक मे देखा जाता है और व्याकरण मे भी उसे उसी रूप मे अपनाया जाता है । जैसे भ्रमर के लिए द्विरेफ शब्द का व्यवहार किया जाता है। भ्रमर शब्द मे दो रेफ है। इस दो रेफमय शब्द-लक्षण के आधार भ्रमर को द्विरेफ कहा जाता है

यद्यप्यर्थे शब्दस्य गुणभावादर्थत एव साम्यं न्याय्यं तथापि शब्दधर्मेणाप्यर्थस्य व्यपदेशो दृश्यते यथा भ्रमर शब्दस्य द्विरेफत्वात् द्विरेफो भ्रमरः । तथा द्व्यक्षरं मांसं द्व्यक्षरमस्थि ।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।३।१०

शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को अधिक महत्त्व देने के कारण अर्थपरिवर्तन जैसे विचार सस्कृत व्याकरणदर्शन मे सभव नही थे। शब्द कभी भी अपना अर्थ छोड-कर दूसरे अर्थ को नही बताता

न तु शब्दः स्वार्थं परित्यज्यार्थान्तरं वक्तु समर्थः, शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यता प्रसङ्गात् ।

कैयट, महाभाष्यप्रदीप २।२।६, ५।१।११५

जहाँ अर्थ मे परिवर्तन दिखाई देता है ऐसे स्थलो के लिए प्राचीन वैयाकरण कई उपाय काम मे लाते है। भर्तृहरि ऐसे स्थलो पर शब्द के मूल अर्थ मे एक दूसरे अर्थ का आरोप करते है। उनके अनुसार शब्द के अर्थ मे परिवर्तन सभव नही है अर्थ का अर्थान्तर मे अध्यारोप सभव है।

अथवा जिन शब्दों के अर्थ में भेद उन्हे दिखाई देता था उन शब्दो को अव्युत्पन्न अथवा रूढ मान लिया जाता था। प्रवीण, कुशल, प्रतिलोम, अनुलोम आदि, उनके मत

मे रूढ़ शब्द है

तुलया संमितं तुल्यम् । व्युत्पत्त्यर्थमेव तुलोपादीयते । रूढिशब्दस्त्वयं सदृश पर्यायः । यथा प्रवीणः कुशलः प्रतिलोमः अनुलोम इत्यवयवार्थाभावः. एवं तुल्यशब्देऽपि ।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।१।६

अपनी मान्यता के कारण वे कभी-कभी कठिनाई मे पडे जान पडते है । तिल शब्द से तैल शब्द तिल के तेल के अर्थ मे निष्पन्न होता है । किन्तु सर्षपतैल, इड्गुदी तैल का भी लोक मे व्यवहार होता था । कात्यायन ने इस समस्या को तैलच् प्रत्यय की सृष्टि कर सुलझाया था । पतजलि ने तैल का सम्बन्ध तिल से न मानकर उसे स्वतन्त्र अव्युत्पन्न शब्द माना था ·

तैल शब्दाच्च प्रत्ययो न वक्तव्य इति । प्रकृत्यन्तरं तैलशब्दो विकारे वर्तते । एवं च कृत्वा तिलतैलमपि सिद्धं भवति ।

—महाभाष्य ५।२।२६

कैयट ने उल्लेख किया है कि कुछ लोग तिल के विकार को ही मुख्य रूप मे तैल मानते है । दूसरे तैल भी तिल-तैल के सादृश्य से तैल कहे जाते हैं, किन्तु भेद दिखाने के लिए इड्गुद तैल जैसे शब्द से व्यवहृत किए जाते हैं । किन्तु कैयट इससे सहमत नही है । पतजलि के अनुकरण पर वे तैल शब्द को रूढ शब्द ही मानते है

उपमानाश्रयेणापीङ्गुदतैलमित्यादि सिध्यति । तिलविकारे मुख्यं तैलं, तत् सादृश्यादन्यदपि तैलमिङ्गुदादिभिर्विशिष्यते । गौणसंभवे च मुख्यतैलप्रतिपादनाय तिलैः विशेषणात् तिलतैलमित्यपि भवतीति केचिदाहुः ।

व्युत्पत्त्युपाय एव तिलतैल विकारः तैलमिति । रूढिशब्दस्त्वयं स्नेहद्रव्यवृत्तिः । —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।२।२६

प्रवीण शब्द की भी यही कहानी है । **प्रकृष्टो वीणायां प्रवीण इति व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । कौशलं त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् ।**

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।२।२६

अथवा, सब शब्द सभी प्रकार के अर्थ व्यक्त करने मे समर्थ है **सर्वे सर्वपदादेशाः** —(महाभाष्य १।१।२०) लोकव्यवहार के आधार पर किसी शब्द का किसी विशेष अर्थ मे नियम कर दिया जाता है

सर्वार्थाभिधान शक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टेऽर्थे संव्यवहाराय नियम्यते तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति । —कैयट, महाभाष्यप्रदीप—१।१।२२

अथवा शब्दशक्ति को नियत विषय मे भी वे कभी-कभी स्वीकार कर लेते हैं—

नियतविषयाःशब्दानां शक्तयो दृश्यन्ते यथा द्विदशा इत्यादौ कृत्वोऽर्थाभिधानमिति । —कैयट, महाभष्यप्रदीप ५।२।२८

जहाँ लाक्षणिक या प्रतीयमान अर्थ होते हैं उन्हे वे शब्द के स्वाभाविक वृत्ति से ही समझाने की चेष्टा करते है

भवति हि पदान्तरसम्बन्धेन शब्दस्यार्थान्तरे वृत्तिः यथा सिंहो माणवकः।

—न्यास ४।१।२४

अश्रुतवाक्यार्थे च पदानां वृत्तिः दृश्यते। —कैयट, महाभाष्यप्रदीप २।२।२४

अस्तु शब्द और अर्थ के नित्य सबध की रक्षा सस्कृत के वैयाकरण किसी-न-किसी प्रकार करते आए हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कार्यदर्शन भी उनके विचार क्षेत्र के बाहर का नही है। इसे कैयट ने स्पष्ट कर दिया है

यद्यपि नित्याः शब्दाः तथापि शास्त्रप्रक्रियायां क्वचिदुत्पन्नस्य लोपादिद्वारेण निवृत्तिः क्रियते। क्वचिदपवादविधानेनोत्सर्गस्यानुत्पत्तिः ज्ञाप्यते। ततो निवृत्तिपक्षो नानुपपन्नः। कैयट, प्रदीप ३।१।३१

शब्द के प्रकार

महाभाष्य व्याख्याप्रपञ्च के लेखक के अनुसार भर्तृहरि ने बारह प्रकार के शब्द-भेदो का निरूपण किया था। **भर्तृहरिणा द्वादशप्रकाराः शब्दाः निरूपिताः यौगिकाः योगरूढाश्च रूढाः।** —परिभाषावृत्ति (पुरुषोत्तमदेव), पृ० १३५

इनमे यौगिक, योगरूढ आदि भेद थे। इस तरह के कोई भेद वाक्यपदीय में उपलब्ध नही हैं। व्याकरणदर्शन मे चार भेद की चर्चा अवश्य है। वे चार भेद यौगिक रूढ, योगरूढ, और यौगिकरूढ है।

यौगिक शब्द वह है जो अवयवशक्ति से ही अर्थ का प्रत्यायक होता है। यौगिक शब्द के लिंग अभिधेय की तरह होते हैं। जैसे लवण शाकम्। लवणा यवागू। लवण सूप। यहाँ लवणशब्द लवण से ससृष्ट अर्थ मे है। इसलिए यौगिक शब्द है **लवणेन संस्सृष्टमिति संस्सृष्ट इति ठक्(४।४।२२), तस्य लवणा ल्लुगिति(४।४।२४) लुक्। अतएव तद्धितार्थयोगे भूतत्वात् यौगिकोत्र लवणशब्दः**

—न्यास २।४।३१

रूढ शब्द—केवल समुदाय शक्ति से अर्थप्रत्यायक रूढ है। रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु व्युत्पत्ति से उनके अर्थ का कोई सम्बन्ध नही होता। जिन शब्दो के विग्रहवाक्य मे अन्य अर्थ होते हैं और वृत्ति मे अन्य वे रूढिशब्द है **रूढानां हि धर्मनियमाय यथाकथंचित् व्युत्पत्तिः क्रियते। न तु व्युत्पत्तिवशेन रूढयोवतिष्ठन्ते।**

—शृंगार प्रकाश, पृ० ६७

कैयट के अनुसार रूढ शब्दो की व्युत्पत्ति असदर्थ के आधार पर नही की जानी चाहिए। जहाँ सदर्थ सभव हो वहाँ असदर्थ का आश्रय रूढि मे भी नही लेना चाहिए। जहाँ किसी भी प्रकार से अर्थ का सम्बन्ध नही बैठ पा रहा है, वहाँ असत् अर्थ के आश्रय से व्युत्पत्ति की जा सकती है। जैसे तैलपायिका आदि शब्दों मे।

—कैयट, प्रदीप ३।२।४

योगरूढ अवयवशक्ति और समुदायशक्ति दोनो के द्वारा एक अर्थ के प्रत्यायक शब्द माने जाते हैं, जैसे पकज शब्द।

यौगिक रूढ शब्द वे कहे जाते हैं जो कभी रूढ़्यर्थ की उपस्थापना करते हैं, कभी यौगिक अर्थ की। जैसे मण्डप शब्द गृहविशेष का भी बोधक है और यौगिक अर्थ के रूप में मण्ड पान करने वाले पुरुष के अर्थ मे भी आता है। कुछ लोग इस भेद को नहीं स्वीकार करते।

शब्द-वृषभ

पतजलि ने शब्द स्वरूप के प्रसग मे वृषभ का प्रतीक रखा है, जिसमे शब्द के सभी अवयवों का परिज्ञान हो जाता है। वेद मे आता है —

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तास अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥

—ऋग्वेद ४।५८।३

इस मत्र मे चार शृग, तीन पैर, दो सिर, सात हाथ, तीन स्थान पर बद्ध शब्द करते किसी वृषभ का उल्लेख है। व्याकरण के क्षेत्र मे, यहाँ वृषभ, शब्दस्वरूप का प्रतीक माना जाता है और उसके अनुरूप इस मत्र की व्याख्या पतजलि आदि ने प्रस्तुत की है।

चार सिंग से अभिप्राय चार पदजातों मे है—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। कुछ लोग कर्मप्रवचनीय को भी पदजात मानते है। चार पक्ष मे कर्मप्रवचनीय का निपात मे अन्तर्भाव समझना चाहिए। कुछ लोग केवल दो ही पदजात मानते है—नाम और आख्यात

कर्मप्रवचनीया निपातेष्वेवान्तर्भूता इति चत्वार्युच्यन्ते। अन्येषां द्वे पदजाते नाम आख्यातं च।

—महाभाष्य दीपिका, पृ० १३

उपसर्गशब्देन कर्मप्रवचनीया इह गृह्यन्ते। क्रियायोगमन्तरेणापि प्रयोग-दर्शनात्।

—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख

कुछ लोग चार सिंग का अभिप्राय चार प्रकार के वाक् से मानते हैं। आचार्यो का एक ऐसा भी वर्ग था जो नाम आदि की व्याख्या वाक्-भेद के आधार पर करता था इसका उल्लेख मल्लवादि ने किया है

न हि काचिदपि चेतना अशब्दास्ति। अनादिकालप्रवृत्तशब्दव्यापाराभ्यास-वासितत्वाद् विज्ञानस्य। चैतन्यमेव पश्यन्त्यवस्था मध्यमा वैखर्ययोरवस्थयो-रुत्थाने कारणं नामेत्युच्यते। कारणात्मकत्वात् कार्यस्य।

—द्वादशारनयचक्र, पृ० ७७८

इसका अभिप्राय यह है कि चेतना शब्दमयी ही होती है। कोई चेतना अशब्दा नहीं है। विज्ञान (चैतन्य) अनादिकाल से शब्दव्यापार के अभ्यास से, पुन-पुन. प्रवृत्ति से, वासित होता है। चैतन्य ही पश्यन्ती-अवस्था है। वह मध्यमा और वैखरी के

उत्थान मे कारण होता है। फलत उसे नाम कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, शब्द का बाह्य रूप कार्य है। शब्द का भीतरी रूप चैतन्य है, नित्य है। तीन पैर से अभिप्राय तीन काल से है। ये काल शब्द से अभिधेय हैं। अथवा अभिधान करने वाले के ही तीन काल होते है।

दो सिर का अभिप्राय दो तरह के शब्द से है—नित्य और कार्य। कुछ लोगो के मत मे शब्द अनित्य है और कुछ लोगो के अनुसार वह नित्य है। अथवा दो से तात्पर्य जाति और व्यक्ति से है। अथवा स्फोट और ध्वनि से है। ये तीनों अर्थ भर्तृहरि के अनुसार हैं। बाद के वैयाकरण यहाँ व्यंग्य और व्यजक भाव मानते हैं·

तेन द्वौ शब्दौ। व्यंग्यव्यंजकौ, स्फोटनादौ।

—सूक्तिरत्नाकार, हस्तलेख

सात हाथ से तात्पर्य सात विभक्तियो से है। सु, औ, जस् आदि प्रतीकवाली सात विभक्तियाँ हैं। अथवा शेष (सम्बन्ध) के साथ छ कारक ही सात विभक्ति रूप मे उल्लिखित हैं। तीन स्थान पर बद्ध से अभिप्राय ध्वनि अभिव्यक्ति के तीन स्थानों—उर, कण्ठ, सिर (मूर्धा) से है। रोरव शब्द रव का प्रतीक है। वृषभ (महादेव) शब्द रूप मे मानव मे अवस्थित है।

इस प्रतीक मे शब्द के अन्त स्वरूप (उरस्थ रूप), बाह्य स्वरूप (रव-ध्वनि), शब्द के व्याकरणपक्ष वाले रूप सबका एक साथ निर्देश है। साथ ही उस युग मे इस तथ्य का साक्षात्कार हो चुका था कि शब्द मानव की अनुपम उपलब्धियाँ हैं। वृषभ शक्ति का प्रतीक है। शब्द शक्ति है। वृषभ सर्जन का प्रतीक है। शब्द से विकास होता है। शब्द के दो रूप है। शब्द कार्य है, वह कृत्रिम है, बदलता है, नष्ट होता है। शब्द नित्य है, वह सतत है, अविच्छिन्न है। उसके मूर्त (भौतिक) रूप के पीछे उसका अमूर्त (चैतन्यमय) स्वरूप छिपा है। शब्द, व्याडि के शब्दो मे सिद्ध है।[30]

शब्द एकत्ववाद और शब्द नानात्ववाद

शब्द एकत्ववाद वह मत है जिसके अनुसार अर्थभेद होने पर भी शब्द एक ही रहता है। गौ शब्द का अर्थ गाय, इन्द्रिय, किरण आदि है पर अर्थभेद के कारण शब्द भेद नही होता। शब्द गौ एक ही है।

नानात्ववादी दर्शन के अनुसार एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ मे भिन्न-भिन्न

३०. अयं भावः, आन्तर एवाय शब्दः कामवर्षणात् वृषभशब्दवाच्यो बहिः प्रयुज्यमानः सर्वपुरुषार्थसाधनबोधकः। स एव मप्रति सहतक्रमः, अतः प्रतिबिंबितः सर्वकर्माधिष्ठानम्, अन्तःकरण द्वारा च सुख-दुखभोक्ता। अविद्यावृतत्वेन घटस्थित दीप इव निरुद्धप्रकाशः स्वप्न इव नानाविषयान् भासयन्, प्रवृत्त्या पर्जन्य इव संसाराटवीं पोषयन्, निवृत्त्या वडवाग्निरिव दहन् सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः महादेवः वाग्योगविदः मनुष्यान् व्यक्तस्वरूपप्रकाशेन प्रविष्टः श्रवणादिपरम्परया साक्षात्कृतः, अहंकारग्रन्थि स्वस्मिन् विलाप्य लीयत इति। तथा च साधुशब्दस्य देवत्वात् तत्प्रयोगस्य च क्षेमहेतुत्वात् तत् ज्ञानसाधन व्याकरणस्मृतिसारम्भणीया। सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख।

शब्द के रूप में गृहीत होना चाहिये। गाय का बोधक गो शब्द और इन्द्रिय का बोधक गो शब्द भिन्न-भिन्न हैं। उनमें एकता का भान सादृश्यनिबन्धना प्रत्यभिज्ञा के बल पर होता है।

शब्द के कार्यत्व पक्ष मे और नित्यत्व पक्ष मे एकत्ववादी और नानात्ववादी अपने-अपने सिद्धान्त अपनाए रहते हैं।

एकत्ववादी दर्शन के अनुसार जाति-व्यक्ति-व्यवहार की संभावना नही है। क्योंकि जाति के बिना भी एक बुद्धि या एक प्रत्यय की प्रवृत्ति स्वयमेव हो जाया करेगी। इसलिए उनके मन मे जाति-भेद-निबन्धन संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध भी नही है।

एकत्ववादी के अनुसार, शब्द के नित्यत्वपक्ष मे, एकत्व मुख्य होता है, अर्थात् उपचार से एकता नही होती बल्कि स्वाभाविक रूप मे होती है। कभी-कभी कारण-भेद से प्राप्त भेद मे उपचरित एकत्व मानना पडता है किन्तु भेद मे भी अभेद ज्ञान के सदा होने से प्रकल्पित एकत्व मुख्यसदृश ही है। शब्द के कार्यत्व पक्ष मे भी एक वर्ण या एक पद के एक बार उच्चारण के बाद पुन. उच्चारण करने पर यह वही वर्ण है, वही पद है ऐसी बुद्धि सदा देखी जाती है। इस अभेद बुद्धि से शब्द के एकत्व की कल्पना की जाती है।

एकत्व दर्शन को ही मान कर कात्यायन ने एकत्वादकारस्यसिद्धम् (वार्तिक अइउण) कहा है। उपलब्धि के व्यवधान से वर्ण या शब्द की एकता नष्ट नही होती। वस्तुत व्यवधान उपलब्धि मे होता है, वर्ण में नही। वर्ण की अभिव्यक्ति के साधन की क्रियाशीलता से वर्ण की उपलब्धि होती है, अन्यथा नही होती। जैसे भिन्न देशो मे स्थित द्रव्यो मे एक साथ ही गृहीत सत्ता सत्ता के रूप मे एक ही रहती है, अपना एकत्व नही छोडती, वैसे ही वर्ण भी भिन्न काल मे उच्चरित होकर भी अभेद प्रत्यय के कारण एकत्व नही छोड पाते है।

नानात्ववादी दर्शन के अनुसार, शब्द के नित्यत्व या कार्यत्व पक्ष मे, नानात्व मुख्य रहता है और एकत्व औपचारिक होता है। नानात्ववादी को भी औपचारिक एकत्व मानना पडता है। क्योकि शाब्दव्यवहार एकत्व के बिना सिद्ध नही होता। एक शब्द का उच्चारण किया गया, पुन. उसी शब्द का द्वितीय बार उच्चारण किया गया। अब यदि उस शब्द के प्रथम उच्चरित स्वरूप से द्वितीय उच्चरित स्वरूप का भेद माना जाए तो अर्थ मे गडबडी सभव है। एक व्यक्ति जब गो शब्द कहेगा और उस गो शब्द के अर्थ को पहले से जानने वाला व्यक्ति उसका अर्थ समझ जाएगा, परन्तु किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उच्चरितत गो शब्द को वही व्यक्ति नही समझ पाएगा क्योकि उसे उस अन्य व्यक्ति द्वारा उच्चरित गो शब्द का सकेत ज्ञान नही हैं। अत नानात्ववादी भी गौण-रूप मे एकत्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। गो शब्द के लगभग नव अर्थ होते है। इन नवों अर्थों मे नव तरह के गो शब्द है। किन्तु गो द्रव्य का बोधक गो शब्द एक ही है। इसी तरह किरण-द्रव्य का बोधक गो शब्द एक हैं। इसी तरह विभिन्न अर्थों के साथ उनका एकत्व लगा हुआ है। भिन्नार्थक एक पद मे और भिन्न पदो मे स्थित एक ही वर्ण मे, नित्यत्व और कार्यत्व दोनो पक्षों मे, नानात्व मुख्य है और एकत्व औपचारिक है।

एकत्व दर्शन के अनुसार विभिन्न पदों मे स्थित एक वर्ण के एकत्व की हानि नहीं होती। अर्क, अश्व, अर्थ शब्द मे स्थित अकार एक ही हैं। यद्यपि उसकी उपलब्धि काल से व्यवहित हो सकती है। भिन्न-भिन्न समय में वह सुना जा सकता है, अन्य शब्द से व्यवहित हो सकता है, ध्वनि आदि शब्द-निमित्त के अभाव में वह स्पष्ट नही भी सुना जा सकता है और प्रयोक्ता की देश-भिन्नता या उच्चारण वैशिष्ट्य के कारण भी वह भेद रूप में भासित हो सकता है। परन्तु है वह एक ही। जिस तरह एक ही पुरुष की शीशे या जलगत छाया निमित्तभेद से भिन्न-भिन्न रूप मे दिखाई देती है परन्तु पुरुष एक ही है उसी तरह विभिन्न व्यक्तियो द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में उच्चरित एक वर्ण भी वस्तुत· एक ही है। उसके स्वरूपो में अभेद है।

इसी तरह भिन्न वाक्यों में स्थित एक पद भी अपना एकत्व नही छोडता। अक्ष शब्द जूए के अर्थ में, गाडी के धुरे के अर्थ मे और विभीतक के अर्थ मे व्यवहृत होता है। विभिन्न वाक्यों और विभिन्न अर्थों मे व्यवहार किया जाता हुआ भी वह अक्ष शब्द अपने मूलरूप में एक है। कभी-कभी नाम और आख्यात पदो में भी परस्पर एकता दिखाई देती है। जैसा अक्षि, अश्व आदि। अक्षि का, नाम के रूप में, आँख अर्थ है। क्रिया के रूप में इसका अर्थ 'तुम फैलो' आदि है (अक्षत् से, अश् से और अद् से इन तीनों धातुओं से यह पद बन सकता है)। आँख के अर्थ मे और फैलने के अर्थ मे भी प्रयुक्त अक्षि शब्द अपना एकत्व कायम रखता है। अश्व शब्द, नाम के रूप मे, घोडा अर्थ का वाचक है और क्रिया के रूप में अश्व का अर्थ है तुम चलो या तुम बढो। (गति और वृद्धि अर्थ वाले टुओश्वि धातु के मध्यम पुरुष एकवचन का रूप अश्व है)। इसी तरह 'तेन' शब्द सर्वनाम भी है और विस्तार अर्थ वाले तनु धातु के लिट् लकार मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप में क्रिया शब्द भी है। भिन्नार्थक नाम पदो में तो कुछ मात्रा में अर्थसादृश्य सभव भी है किन्तु सदृश आकार वाले नाम और आख्यात पदों मे अर्थ एक-दूसरे से अत्यन्त विलक्षण होगा। इन पदो की एकता का कारण सुनने में सादृश्य अर्थात् श्रुति अभेद है।

एकत्ववादी एक डग और आगे जाते हैं। उनके अनुसार वस्तुत पद और वाक्य की सत्ता नही है। सब वर्ण ही वर्ण हैं। पद भी वर्ण ही हैं। वर्ण के अतिरिक्त पद बन नही सकता। क्योंकि उनके अनुसार वर्ण सावयव हैं और क्रम वाले हैं। उच्चारण के बाद उनका प्रध्वंस होता जाता है। एक साथ उनका स्वत उच्चारण भी सभव नही है। ऐसे स्वभाव वाले वर्णों से कोई शब्दान्तर गठित नही किया जा सकता। पद नाम की कोई वस्तु नही बनाई जा सकती। इसलिए वर्ण मात्र पद हैं। इस दर्शन के अनुसार वर्ण की भी वर्ण रूप मे सत्ता नही है। क्योंकि वर्ण सावयव हैं। उनके अवयव उनके अवयव क्रम से प्रवृत्त होते हैं। कुछ दूर तक इनके अवयवों का बुद्धि द्वारा अलगाव किया जा सकता है। पर उसकी भी सीमा है। इनकी १६वी कला (अवयव) व्यवहार से परे है, एक तरह से अनिर्वचनीय है, अव्यपदेश्य है। इसलिए जब वर्ण की ही सत्ता को ठीक-ठीक नही कहा जा सकता तो पद और वाक्य की सत्ता की चर्चा तो और दूर है :

······वर्णमात्रमेव पदम् । तेषामपि सावयवत्वात् क्रमप्रवृत्तावयवानामा व्यवहारविच्छेदात् रीयतुरीयकं किमप्यव्यपदेश्यं रूपं व्यवहारातीतं अस्ति इति न वर्णपदे विद्येते ।

—वाक्यपदीय १।७३, हरिवृत्ति, पृष्ठ ७५

जब वर्ण का समुदाय उपर्युक्त दृष्टि से सभव नही है, परिच्छिन्न रूप वाली और मीमित अर्थ वाली शब्द नाम की कोई वस्तु भी नही है ।

नानात्ववादी मानते हैं कि पद मे वर्ण नहीं होते और न वर्ण में अवयव होते है । वाक्य से पदो का कोई अत्यन्त अलगाव नही होता । वे इस बात को तो मानते हैं कि वर्ण की विवक्षाजन्य ध्वनि से अभिव्यक्त वर्ण की प्रतिपत्ति (ज्ञान) पद की विवक्षाजन्य अभिव्यक्ति की प्रतिपत्ति से विलक्षण है । क्योकि पद मे समुदाय-विषयक प्रयत्न की जरूरत पडती है, वर्ण के उच्चारण मे उतनी नही। फिर भी तुल्य स्थान-करण आदि के कारण वर्णों की ध्वनियो मे एक सादृश्य आ जाता है । फलतः वर्ण-विभाग का ज्ञान पद की प्रतिपत्ति मे आभासित होता है । अर्थात् पद जिसमे कोई विभाग नही है, विभाग वाला जान पडने लगता है । वस्तुत पद एक है । अविच्छिन्न है । नित्य है । अभेद्य है । वह अन्तिम वर्ण (तुरीय वर्ण) से मानो अभिव्यक्त होता है । वर्णों के तुरीय (वह अन्तिम अवयव जिनसे उनकी अभिव्यक्ति स्पष्ट हो जाती है) कल्पित हैं क्योकि वे व्यवहारातीत और अव्यपदेश्य हैं। इसलिए शास्त्र-व्यवहार मे उनका एकत्व प्रसिद्ध है । परन्तु लौकिक व्यवहार मे वाक्य का प्रयोग होता है । वाक्य-प्रतिपत्ति मे उपायस्वरूप पद-प्रतिपत्ति है । वाक्य अविच्छिन्न है । निर्भाग है । वाक्य के उच्चारण करने पर वर्ण, पद आभास वाली क्रमवती जो बुद्धि पैदा होती है वह अतात्त्विक है । वाक्य मे अभिधेयनिबन्धन भेद के अभाव के कारण उसमे पद, वर्ण का विवेक अवास्तविक है । सग्रहकार ने कहा है

न हि किञ्चित्पदं नामरूपेण नियतं क्वचित् ।
पदानामर्थ रूपं च वाक्यार्थादेव जायते ॥

—सग्रह, वाक्यपदीय २।३१९ मे पुण्यराज द्वारा उद्धृत
और वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति मे भर्तृहरि द्वारा उद्धृत ।

शब्द के भेदाभेद दर्शन को वार्तिककार और महाभाष्यकार दोनो ने अइउण सूत्र के विवेचन मे स्पष्ट किया है । कात्यायन ने एकत्वदर्शन को अपनाते हुए 'एकत्वादकारस्य सिद्धम्' यह वार्तिक लिखा है और नानात्वदर्शन को मानते हुए "अान्यभाव्य तु कालशब्दव्यवायात्" यह दूसरा वार्तिक लिखा है ।

भाष्यकार के अनुसार अक्षरसमाम्नाय मे पठित अकार, अनुवृत्ति (शास्त्र का लक्ष्य मे प्रवृत्ति) मे उपलब्ध अकार और धात्वादि स्थित अकार एक हैं । अ मूल वाले प्रत्यय जैसे अण्, क आदि में अनुबन्ध कार्य साकर्य नही हो सकेगा क्योकि उनमे विशेष स्थलो के लिए विशेष अनुबन्ध इसी दृष्टि से किये गये हैं कि कित् आदि के स्थान में णित् आदि कार्य न होने पावें और उदात्तादि की पहचान स्पष्ट रहे । यह आक्षेप कि जैसे एक घट से अनेक व्यक्ति एक साथ ही काम नही ले सकते उसी तरह वर्ण एकत्व

मानने पर एक वर्ण का उच्चारण कई व्यक्ति एक साथ नही कर सकते, ठीक नही है। जिस तरह एक ही घट के दर्शन और स्पर्श जैसे कार्य अनेक व्यक्ति भी एक साथ कर सकते हैं वैसे ही अकार आदि वर्ण का उच्चारण भी अनेक व्यक्ति युगपत् कर सकते हैं।

भाष्यकार ने नानात्व पक्ष का भी समर्थन किया है। कालव्यवधान से शब्दव्यवधान से (शब्द के व्यवधान में भी कालव्यवधान रहता है) और उदात्तादि गुणों के भिन्न-भिन्न होने से अकार को भी भिन्न-भिन्न मानना चाहिए। भिन्न होते हुए भी उसका प्रत्यभिज्ञान अत्व आदि सामान्यनिबन्धन है। अकार अश्व, अर्क, अर्थ जैसे विभिन्न पदस्थलो मे एक साथ ही उपलब्ध हो जाता है। एकत्वदर्शन के अनुसार ऐसा सभव नही है। एक ही देवदत्त एक साथ ही सुघ्न और मथुरा मे अवस्थित नहीं देखा जा सकता। अकार विभिन्न स्थलो मे एक साथ देखा जाता है। अत अनेक हैं, एक नही। यह नही कहा जा सकता कि जैसे एक ही सूर्य अनेक स्थानो मे युगपत् देखा जाता है वैसे एक ही अकार विभिन्न पदो में युगपत् देखा जा सकता है क्योंकि एक द्रष्टा अनेक स्थानगत सूर्य को एकसाथ ही नही देख सकता। शब्द प्रयोगमय ध्वनि से अभिव्यक्त होता है, श्रोत्र द्वारा उसकी उपलब्धि होती है, बुद्धि द्वारा उसका ग्रहण होता है और उसका देश आकाश है। जिस तरह एक ही पृथ्वी के विभिन्न नगरो के आधार पर विभिन्न देश का व्यवहार होता है उसी तरह एक ही आकाश मे विभिन्न सयोगी द्रव्यो की सीमा के कारण अनेक आकाशदेश का व्यवहार होता है। अनेक अधिकरणस्थ सूर्य की तरह अनेक अधिकरणस्थ अकार की भी युगपत् उपलब्धि नही हो सकती।

शब्दभेद पक्ष को मान कर भाष्यकार ने लिखा, "ग्राम शब्द के बहुत अर्थ है—शाला समुदाय, वाटपरिक्षेप (गाँव की रक्षा के लिए उनके चारो ओर का घेरा) "मनुष्य, और अरण्यवाला सीमावाला और जमीन वाला।" पुन: अभेद पक्ष को मानते हुए यह कहा, "जब कहा जाता है कि ये दोनो ग्राम एक मे मिले हैं तो वहाँ ग्राम शब्द से तात्पर्य सारण्यक ससीमक सस्थण्डिल से है।' —महाभाष्य १।१।७

व्याकरणदर्शन दोनो पक्षो को ग्राह्य मानता है। श्रुति के अभेद से अनेकार्थत्व मे भी एक शब्दत्व और अर्थभेद से एक श्रुति होने पर भी अनेक शब्दत्व मानते हैं। एक के मत मे भेद औपचारिक और एकत्व मुख्य है। दूसरे के मत मे एकत्व व्यावहारिक और पृथक्त्व (भेद) मुख्य है। इसी तरह अनेक शक्तियोग और एक शक्तियोग के विषय मे भी विकल्प है।

भर्तृहरि ने एकत्ववाद और नानात्ववाद को वैदिक वाङ्मय मे भी दिखाया है। विकृति याग में त्रयोदश (किसी के मत मे एकादश) सामधेनी ऋचाएँ होती है। समिन्धनार्थ होने के कारण ऋचाओ को भी सामधेनी कहते है। इनमे प्रथम और अन्तिम ऋचाओं की तीन-तीन बार आवृत्ति की जाती है जिससे इनकी संख्या सत्रह (अथवा पन्द्रह) हो जाती है। आवृत्ति से बढी हुई ऋचाओ की सख्या से स्पष्ट ही है कि आवृत ऋचाओं को विभिन्न (स्वतंत्र) माना गया है। इससे शब्दभेदवाद वेद मे भी अपनाया गया जान पड़ता है। इसी तरह एक ही मंत्र विनियोग के भेद से भिन्न-भिन्न

माना जाता है जैसा कि ऊहमंत्रो मे भी देखा जाता है :

सामिधेन्यन्तरं यंबमाव् तावनुवक्ष्यते ।
मन्त्राश्च विनियोगेन लभन्ते भेदमूहवत् ।।

—वाक्यपदीय २।२६०

इसी तरह सावित्री मत्र संस्कार मे दूसरा, यज्ञ मे दूसरा और जप मे भी भिन्न माना जाता है यद्यपि उसका स्वरूप एक ही मालूम पडता है

अन्या संस्कारसावित्री कर्मण्यन्या प्रयुज्यते ।
अन्या जपप्रबन्धेषु सा त्वेकैव प्रतीयते ।।

—वाक्यपदीय २।२६३

इसके विपरीत कुछ लोग वेद-मत्रो मे अर्थ ही नही मानते । इसलिए उनके लिए अर्थ-भेद से शब्द-भेद की चर्चा का मूल्य नही है । कुछ लोग शब्द-स्वरूप को ही अर्थ मानते है

अनर्थकानां पाठो वा शेषस्त्वन्यः प्रतीयते ।
शब्दस्वरूपमर्थस्तु पाठोऽन्यैरुपवर्ण्यते ।।

—वाक्यपदीय २।२६१

वाक्यपदीय मे एक शब्ददर्शन में शब्दोपचार प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि-निमित्तक माना गया है और अर्थोपचार स्वरूपार्थत्व और बाह्यार्थत्व भेद से दो तरह का माना गया है । इस प्रसग मे भर्तृहरि ने शब्द के गौण-मुख्य पहलू पर भी विचार किया है क्योंकि गौण-मुख्य का स्वरूप शब्द के भेदाभेददर्शन से प्रभावित है ।

गौण-मुख्य विचार

शब्द एकत्ववादी के मत मे गौण-मुख्य भाव प्रसिद्ध अप्रसिद्ध भेद पर आश्रित है । गौर्वाहीक शब्द में गौ शब्द का ही अर्थ वाहीक भी है । अन्तर इतना ही है कि गौ के अर्थ मे गो शब्द अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध है और वाहीक के अर्थ मे कम प्रसिद्ध है (वाक्यपदीय २।२५५) ।

यदि केवल शब्दोपचार माना जाए तो शब्द और अर्थ के सबध में अनित्यता दोष आ जाएगा इसलिए भर्तृहरि ने अर्थोपचार भी माना है । शब्द का अर्थ दो तरह का होता है—स्वरूप और बाह्य । गौर्वाहीक मे गो शब्द का अर्थ गोत्व है । जाड्य आदि के आधार पर गोत्व वाहीक मे भी जुट जाता है यही बाह्यार्थोपचार है । अन्तर केवल इतना ही है कि गौ में गोत्व मुख्य है और वाहीक में उपचरित है ।

—वाक्यपदीय २।२५७

इसी तरह शब्द का स्वरूप भी सभी अर्थों से अनुषक्त होता है । सर्वत्र शब्द का उसका अपना स्वरूप ही है । गो शब्द का अर्थ अपना गो शब्दरूप स्वरूप है । वह स्वरूप कभी गो जाति से जुटता है और कभी वाहीक जाति से । इसमे किसी की मुख्यता और किसी की गौणता प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि पर निर्भर है ।

शब्दभेदवादी (नानात्ववादी) के अनुसार गौण अर्थ व्यक्त करने वाला गौ शब्द

अन्य है और मुख्य अर्थ व्यक्त करने वाला गो शब्द अन्य है। शब्द-भेद-वाद व्याकरण-दर्शन के एक मान्य सिद्धात पर अवलम्बित है। व्याकरणदर्शन में शब्द और अर्थ में अध्यासलक्षण संबध माना गया है। यदि एक शब्दवाद माना जाएगा तो एक शब्द का किसी एक अर्थ मे अध्यास माना जाएगा और वह उस अर्थ से अभेद प्राप्त कर लेगा फिर एक अर्थ के साथ अभेद होकर वह किसी अन्य के साथ कैसे अध्यास प्राप्त करेगा ? अत शब्दभेद पक्ष मानना चाहिए। महाभाष्यकार ने भेद पक्ष और अभेद पक्ष दोनो को स्वीकार किया है (**एतच्च भेदाभेदस्वाभावं दर्शनद्वयं शब्दानां भाष्यकारेण वार्तिकव्याख्यानावसरे दर्शितम्**। (पुण्यराज वाक्यपदीय २।२५६)। भेदा भेद दर्शन पर भाष्यकार के मतव्य का ऊपर विचार किया जा चुका है।

अनेक शब्ददर्शन के पक्ष मे अर्थभेद से शब्दभेद मानने के कारण गौण अर्थ अन्य है और मुख्य अर्थ अन्य है ऐसा माना जाता है।

गौण—मुख्यभाव के सबध मे एकशब्दवाद और अनेक शब्दवाद मे एक मौलिक भेद यह भी है कि अनेक शब्दवाद के अनुसार शब्दोपचार ही उपयुक्त माना जाना है क्योकि उसके मन मे सादृश्य के कारण अभेद प्रतीत होता है, मुख्य अर्थ के अधिक प्रसिद्ध होने के कारण उसके वाचक शब्द मे उपचार मानना उचित है। जबकि एकत्व-वाद के अनुसार अर्थोपचार का आश्रय लिया जाता है। एकत्ववादी अर्थोपचार का आश्रय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध मे अनित्यतादोषके निवारण के लिये लेते हैं। भर्तृहरि ने शब्दोपचार और अर्थोपचार दोनो का यथा अवसर आश्रय लिया है (पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२६३)।

गौण-मुख्य भाव का निमित क्या है—गौण-मुख्य का ठीक स्वरूप क्या है इस पर भर्तृहरि ने अनेक मतो का उल्लेख किया है। कुछ प्रसिद्ध मत निम्नलिखित है

अर्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निधानपक्ष

इस मत के अनुसार सभी तरह के अर्थ व्यक्त करने मे समर्थ शब्द का गौण-मुख्य विभाग निमित्तवश होता है। निमित्त के आधार पर वही शब्द कभी मुख्य और कभी गौण कहा जाता है। वे निमित्त, अर्थ, प्रकरण और शब्दान्तर के योग हैं। गो शब्द जैसे सास्ना लागूल वाले व्यक्ति को व्यक्त करता है उसी तरह वाहीक को भी व्यक्त करता है। इनमे मुख्य और गौण व्यवहार प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि पर निर्भर है।

सग्रहकार के अनुसार मुख्य शब्द और अर्थ वह है जिसके निरपेक्ष उच्चारण से भी स्वार्थ की अभिव्यक्ति हो। जो शब्द अपनी अभिव्यक्ति के लिए अर्थ, प्रकरण अथवा किसी अन्य शब्द के सन्निधान की अपेक्षा रखता है, वह गौण है

शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते।
स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः॥
यस्त्वन्यस्य प्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते।
तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशिनम्॥

—ये सग्रहकार के श्लोक हैं इसमें प्रमाण पुण्यराज हैं, वाक्यपदीय २।२६७, २६८

इसको कुछ लोग इस रूप मे भी कहते हैं कि निमित्त तो मुख्य अर्थ होता है और निमित्ती गौण होता है। गो शब्द वाहीक के अर्थ मे प्रयुक्त होता हुआ सास्ना आदि वाले अर्थ को व्यक्त करने वाले गो शब्द के सम्बन्धी अर्थ को निमित्त के रूप में ग्रहण करता है इसलिए उस विषय में मुख्य अर्थ निमित्त है और निमित्ती गौण है। दूसरे शब्दों मे, जहाँ शब्द की गति स्खलित नही होती वहाँ मुख्य अर्थ और जहाँ शब्द की स्खलद्‌गति होती है वहाँ गौण अर्थ होता है। यह मत अर्थोपचार पक्ष मे एक शब्दवाद के अनुसार है। यहाँ शब्दभेद कल्पित समझना चाहिए क्योकि एकशब्ददर्शन-पक्ष मे शब्द-भेद सभव नही है।

परन्तु भर्तृहरि ने अर्थप्रकरण के आधार पर गौण मुख्य विभाग को प्रश्रय नही दिया है। बहुत से ऐसे शब्द है जिनके अर्थ का निर्णय अर्थ-प्रकरण आदि के आधार पर किया जाता है जैसे पुरा, आरात् आदि। पुरा और आरात् शब्द का क्रमश भूत और भविष्य और कभी दूर और समीप अर्थ होता है। प्रकरण के अनुसार उसका निश्चय हो जाता है। यदि प्रकरण-सहाय अर्थ को गौण माना जाए तो पुरा आरात् मे भी गौण मुख्य भाव होने लगेगा पर होता नही है। इसलिए अर्थ प्रकरण के आधार पर गौण-मुख्य विवेचन उतना युक्ति-युक्त नही है।

एकशब्दवाद और अनेकशब्दवाद दोनों पद और पदार्थ को सत्य मान कर चलते हैं। परन्तु अखण्डवाक्यवादियो के मत मे पद और पदार्थ असत्य हैं। फलत पद और पदार्थ पर आश्रित गौण मुख्य भाव भी सभव नही है। गौर्वाहीक यह अखण्ड वाक्य है और इससे गोगतधर्म से अवच्छिन्न वाहीक लक्षण अर्थ अखण्ड रूप मे ही प्रतिपादित किया जाता है। जहाँ एक ही पद है वहाँ भी क्रिया चरित (छिपी) रहती है। इसीलिए कोऽयम् के प्रश्न मे गौ (अस्ति), अश्व (अस्ति) आदि के रूप मे क्रिया छिपी रहती है। इसलिए एक अखण्ड वाक्य ही वाचक है। फिर भी अपोद्धार पद्धति का आश्रय लेकर पद-पदार्थ की कल्पना की जाती है और प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि के आधार पर गौण-मुख्य विभाग किया जाता है।

न्यूनाधिकभाव

कुछ लोग गौण-मुख्य विभाग का आधार न्यून और अधिक भाव मानते हैं। धर्मों का न्यून भाव गौणता का प्रतीक है और अधिक भाव मुख्यता का द्योतक है परन्तु भर्तृहरि के मत मे यह मत अवैज्ञानिक है। क्योंकि न्यून और अधिकभाव अनवस्थित है। किसी धर्म का आधिक्य या प्रसिद्धि भी कभी किसी दृष्टि से न्यून हो सकती है इसलिए न्यूनाधिक भाव को गौण-मुख्य विभाग का निमित्त नही माना जा सकता।

सादृश्य निमित्त के रूप में

कुछ आचार्यों के मत मे गौण मुख्यभाव मे निमित्त सादृश्य है। वाहीक मे गोत्व जाति नही है। फिर भी गो शब्द वाहीक के अर्थ मे प्रयुक्त होता है क्योकि गो व्यक्ति के

जाड्य मान्द्य आदि गुणों का वाहीक गत जाड्य-मान्द्य आदि गुणो से सादृश्य है। इसी सादृश्य के आधार पर गो शब्द गोत्व रहित वाहीक के लिए भी प्रयुक्त होता है।

पुण्यराज के अनुसार यह मत भी उपयुक्त नही है क्योंकि काश्यपप्रतिकृति· काश्यप· जैसे स्थलो मे सादृश्य निमित्त तो है परन्तु गौणता नही है। इसलिए सर्वत्र सादृश्य को गौण-मुख्यभाव का निमित्त नही माना जा सकता।

विपर्यास

गौण और मुख्य भाव के विवेचन मे एक मत विपर्यास पर भी अवलम्बित है। वाहीक रूप अर्थ विपर्यास से मानो गो रूप हो जाता है। वाहीक का गो रूप होना अर्थान्तिर होना है। इसलिए उसका वाचक गो शब्द गौण है। विपर्यास दो तरह से होता है—अध्यारोप रूप मे और अध्यवसाय रूप मे। गौर्वाहीक इस शब्द मे गो गत गुणो का वाहीक में अध्यास होता है। अत यहाँ विपर्यास अध्यारोपित है। 'रजत इदम्' इसमे विपर्यास अध्यवसाय रूप मे है। अध्यारोप और अध्यवसाय मे अन्तर यह है कि अध्यारोप मे आरोप्यमाण और आरोपविषय दोनों का भेद अपह्नुत नही होता जबकि अध्यवसाय मे आरोप्यमाण के द्वारा आरोपविषय निगीर्ण (अत कृत) होता है। अध्यारोप मे दो वस्तुओं मे भेद होते हुए भी ताद्रूप्य की प्रतीति मुख्य प्रयोजन है जबकि अध्यवसाय मे सर्वथा अभेद का परिज्ञान प्रयोजन होता है। वस्तुत जहाँ अध्यारोप है वहाँ गौण-मुख्यभाव हो सकता है परन्तु जहाँ अध्यवसाय है वहाँ गौण-मुख्यभाव स्पष्ट नही होता। इसलिए केवल अध्यारोपलक्षण विपर्यास को गौणमुख्यभाव का निमित माना जा सकता है।

रूप-शक्ति

शब्द रूप और शक्ति से स्वभावत सपन्न रहता है। औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध (मीमासा सूत्र १।१।५) इस न्याय से भी शब्द मे स्वाभाविक शक्ति निहित है। शब्द, रूप और शक्ति दोनों से उत्पत्तिकाल मे ही युक्त रहता है। शब्द मे अनेक शक्तियाँ है। इसलिए शब्द अपनी शक्ति के बल से अनेक अर्थ कर सकता है। अतएव कुछ विचारको के मत मे, गौण-मुख्य-व्यवहार रूपशक्ति निमित्तक है। सीर (हल), मुसल, खग आदि अपने रूप और अपनी शक्ति से समन्वित होकर नियत अर्थ रखते हुए भी कभी-कभी अन्य अर्थ को प्रकट करते है। जैसे किसी के 'खग लाओ' इस वाक्य मे 'लडाई की बात आ गई है' इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति रूप-शक्ति की महिमा है। रूप-शक्ति के बल से गौण-मुख्य विभाग की प्रक्रिया यह है कि शब्द श्रवणमात्र से अपने जिस स्वाभाविक अर्थ को व्यक्त करता है वह मुख्य अर्थ है और जहाँ अभिधान शक्ति के होते हुए भी अप्रसिद्धि के कारण प्रकरण आदि के सहारे यत्नपूर्वक उसका अन्य अर्थ किया जाता है वह अर्थ गौण है

श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते ।
मुख्यं तमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् ॥

—वाक्यपदीय २।२८०

अन्नभट्ट के अनुसार मुख्यता और गौणता क्रमश शब्दान्तर निरपेक्ष और शब्दान्तर सापेक्ष अर्थ प्रतीति के आधार पर माननी चाहिए

यथा अ गेषु मुखस्य प्राधान्यं तथा शब्दान्तरनिरपेक्षतया प्रतीयमानत्व-मर्थस्य प्राधान्यम् । शब्दस्यापि स्वशक्तिविषय-तादृशार्थप्रतिपादकत्वेन मुख्यत्वम् ।

—अन्न, भट्ट महाभाष्यप्रतीपोद्योतन, द्वितीयभाग, पृ० ३३

व्याकरण सम्प्रदाय के अनेक आचार्य शब्दार्थ को बौद्ध मानते है । उनके अनुसार शब्दो मे गौण-मुख्य विभाग सभव नही है । वक्ता जिस अभिप्राय से शब्द का प्रयोग करता है प्रतिपत्ता को उस शब्द से उसी अर्थ का ज्ञान होगा अत सर्वत्र शब्द मुख्य रूप मे ही रहेगा कभी गौण न हो सकेगा । फलत गौण-मुख्य विभाग भी उपयुक्त न होगा । परन्तु भर्तृहरि इस मत को प्रश्रय नही देते । एक तरह के दर्शन या ज्ञान होने पर भी लोक मे सत्य और असत्य का भेद देखा जाता है । देखने मे मृगमरीचिका मे जल दिखाई पडता है परन्तु मृगमरीचिका जल नही है, चित्रो मे नदी, पर्वत आदि के स्वरूप निम्न और उन्नत दिखाई देते है परन्तु चित्रगत उच्चता या निम्नता मे प्रतिघात आदि कोई कार्यभेद नही होता । देश, काल, इन्द्रियगत भेद से वस्तु अन्यथा रूप मे (अपने शुद्धरूप के विपरीत) दिखाई पडती है परन्तु लोक मे क्रियाभेद के आधार पर और प्रसिद्धि के आधार पर उस वस्तु का अविपरीत (यथार्थ) रूप मे ही ग्रहण होता है । वस्तुत जो सत्य के विपरीत उपघातज ज्ञान है और जो अलौकिक ज्ञान है उन दोनो से व्यवहार नही होता । शब्द लोक-व्यवहार के निमित्तभूत होते है । इसलिए प्रसिद्धि या अप्रसिद्धि अथवा स्खलदगति या अस्खलद्गति के आधार पर शब्दार्थ के बौद्ध होने पर भी शब्द के गौण-मुख्य-विभाग सम्भव हैं ।

गौण-मुख्यभाव मानकर ही **गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्य संप्रत्ययः** (परिभाषा वृत्ति सीरदेव १०३) यह परिभाषा प्रतिष्ठित है । **अग्ने ढक्** (४।२।३३) इस सूत्र से मुख्य अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय होता है, अग्निर्माणवक जैसे उपचरित (गौण) अग्नि शब्द से नही होता । **अगौः गौः सपद्यते गोऽभवत्** जैसे स्थानो मे गौणार्थ होने के कारण ओदन्त के निपातन होने पर भी ओत् (पा० १।१।१५) से प्रगृह्य सज्ञा नही होती ।

वार्तिककार ने गोऽभवत् जैसे स्थलो मे प्रकृतिभाव के निषेध के लिए 'ओतश्च प्रतिषेध' 'इस तरह का प्रयत्न किया है । इससे यह जान पडता है कि वार्तिककार के मत मे गोऽभवत् मे च्व्यर्थ लक्षण गो शब्द का मुख्य अर्थ ही है । सभी अर्थ मुख्य ही होते हैं । इसलिए गौण-मुख्य-भाव विभाग सम्भव नही है परन्तु महाभाष्यकार ने गौण-मुख्य न्याय के आधार पर यहाँ प्रगृह्य सज्ञा का निर्देश किया है । इसी तरह अग्निषोम शब्द मे स का ष तो होता है परन्तु अग्निसोमौ माणवकौ मे नही होता क्योकि दूसरा गौण हो गया है । महाभाष्यकार ने इसकी पुष्टि के लिए कहा है कि जैसे 'गौरनु-

बन्ध्य' से वाहीक का अनुबन्ध नहीं होता ।

परन्तु यदि गौणमुख्य न्याय के आधार पर केवल मुख्य मे ही शास्त्रीय कार्य होंगे, गौण मे नहीं तो गौ· वाहीक तिष्ठति, गां वाहीक आनय जैसे वाक्यो में वृद्धि और आत्व नहीं होने चाहिए क्योंकि यहाँ ये शब्द गौणार्थक हैं। इसके उत्तर मे भाष्यकार ने कहा है कि वृद्धि और आत्व शब्दाश्रय है। गौणमुख्य-न्याय अर्थाश्रय मे होता है। भाव यह है कि शब्दों के कार्य दो तरह के हैं। प्रातिपदिककार्य और पद-कार्य। पद कार्य मे गौण मुख्य न्याय लगता है। प्रातिपदिक कार्य मे नहीं लगता। क्योंकि प्रातिपदिक कल्पित अन्वयव्यतिरेक के द्वारा कल्पितरूप मे अर्थवान् होते है। उस अवस्था में लौकिक अर्थ के अभाव होने से गौण या मुख्य किसी के न होने से रूपमात्राश्रय कार्य होते है। भाष्यकार के 'शब्दाश्रय' शब्द का भाव, कैयट के अनुसार, यह भी है कि शब्द कभी भी अपने अर्थ को छोड़कर अर्थान्तर मे नहीं प्रवृत्त होता है यदि ऐसा होगा, शब्द-अर्थ का सम्बन्ध अनित्य हो जायगा परन्तु अर्थ अर्थान्तर मे आरोपित होता है। अर्थान्तर आरोपित अर्थ के लिए गौण शब्द का व्यवहार किया जाता है। इसलिए पदाश्रय कार्यों मे ही गौण-मुख्य का विचार किया जाता है।

पदाश्रयेष्वेव कार्येषु गौणमुख्यव्यवस्थाश्रयणम्

—कैयट, महाभाष्य ८।३।८३

गा वाहीकमानय जैसे स्थलो मे भी जहाँ जाड्य आदि विशिष्ट गो शब्द से द्वितीया होती है, पहले कारक का क्रिया से ही अन्वय होता है बाद मे कारको का विशेषण-विशेष्य के रूप मे अन्वय होता है इसलिए विभक्ति काल मे गौणता की प्रतीति नहीं होती। भाष्यकार के कट करोति भीष्म जैसे वाक्यो मे यह स्पष्ट है। अरुणाधिकरण न्याय से भी यह स्पष्ट है।

अरुणाधिकरण न्यायेन इहापि कटं करोति भीष्मं इत्यादिभाष्यानुरोधेन च कारकाणां क्रियान्वय एवं प्रथमः। पश्चात् परस्पराकांक्षायां कारकाणामेव विशेषणविशेष्यभावेन अन्वयः इति विभक्तिकाले न गौणत्वप्रतीतिरित्यर्थः।

अन्नभट्ट, महाभाष्यप्रदीपोद्योतन, द्वितीय भाग, पृ० ३५

नागेश के अनुसार 'अमहान् महा संपद्यते महद्भूतश्चन्द्रमा' मे महत् शब्द शास्त्रीय प्रक्रिया मे कल्पित रूप मे ही अर्थवान् है परन्तु पुण्यराज महत् शब्द को मुख्य अर्थ मे ही मानते हैं (वाक्यपदीय २।२८१)।

पुरुषोत्तमदेव के अनुसार लक्ष्य के अनुसार मुख्य और गौण दोनो का आश्रय शास्त्रीय प्रक्रिया मे लिया जाता है। गौण का आश्रय लेकर शीत और उष्ण शब्द से कन् प्रत्यय होता है जिसमे शीतक (आलसी) और उष्णक (दक्ष) शब्द बनते है (परिभाषा वृत्ति, पृष्ठ ४)।

साहित्यमीमासको ने गौ वाहीक मे समानाधिकरण्य लाने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया है। मम्मट ने इस सम्बन्ध मे तीन तरह के मत व्यक्त किए है। कुछ लोग मानते है कि गो शब्द ही वाहीक अर्थ का अभिधान करता है। इसमे प्रवृत्ति निमित्त जाड्यमान्द्य आदि गुण हैं जो गोत्व अथवा गो व्यक्ति के सहचारी है

और जो स्वयं लक्ष्यमाण हैं। भास्करसूरि ने इस मत में तीन दोष दिखाए है—प्रवृत्तिनिमित्त का लक्ष्यमाण होना, व्यधिकरणत्व और गो शब्द का सांकेतिक अर्थ को व्यक्त करना।

अस्मिन् पक्षे प्रवृत्तिनिमित्तस्य लक्ष्यमाणत्वं, व्यधिकरणत्वं शब्दस्यासंकेतित वाहीकार्थाभिधायकत्वं चेति त्रितयमप्ययुक्तम्।

—साहित्यदीपिका, काव्यप्रकाश की टीका, मैनुस्क्रिप्ट, पृ० १६

दूसरे मत मे स्वार्थ सहचारी जाड्यमान्द्य आदि गुणो से अभेद होने के कारण परार्थगत (वाहीकगत) गुण ही लक्षित होते हैं न कि परार्थ का अभिधान होता है। इस मत मे भास्करसूरि के अनुसार सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति और गौ जाड्यं अभीप्सित की अभिव्यक्ति मे ये दो दोष है

अत्र पक्षे लक्षकस्य गोशब्दार्थस्य लक्ष्यस्य वाहीकगतजाड्यादेः संबंधो दुर्घटः। तथाहि न तावद् गुणैक्यम्। तच्च तुल्यगुणत्व वा तुल्यगुणवत्वं वा। तुल्यगुणत्वं लक्षके न घटते। तुल्यगुणवत्वं लक्ष्ये न घटते। किं च जाड्यादि-गुणमात्रप्रतीतौ गौ जाड्यमिति स्यात्।

—साहित्यदीपिका, मनुस्क्रीप्ट, पृष्ठ १६

तीसरे मत के अनुसार साधारण गुण के आश्रय से परार्थ ही लक्षित होता है न कि परार्थगत गुण। इस मत मे पूर्वोक्त दोष नही है।

गौण और मुख्य के प्रसग मे भर्तृहरि ने मुख्य और नान्तरीयक का भी विचार किया है। जिसके प्रतिपादन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है वह उसका प्रयोजकमुख्य है। उस अर्थ के प्रतिपादन के समय उसके अतिरिक्त जो कुछ अन्य का भी बोध हो जाता है उसे मुख्य का नान्तरीयक कहते हैं।[31] किसी विशेष वस्तु के देखने के लिये दीप का आश्रय लिया जाता है परन्तु उस वस्तु के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु भी दीप के प्रकाश मे दिखाई देती है। अग्नि के लिए अरणी का मन्थन किया जाता है पर आग के अतिरिक्त उसमे से अनपेक्षित धूम भी निकल उठता है। ऐसी ही शब्दों की भी कथा है। शब्द अपने अर्थ के अतिरिक्त लिंग, संख्या आदि को भी व्यक्त करते है। लिंग, संख्या आदि शब्द के साथ अत्यन्त ससृष्ट रहते हैं इसलिए न चाहते हुए भी नान्तरीयक रूप मे इनकी अभिव्यक्ति होती है। कही लिंग, सख्या, काल आदि की विवक्षा रहती है और कही अविवक्षा। कही इसका उपयोग परार्थ के लिये होता है

"'लिंगसंख्याकालानामविवक्षा, क्वचिच्च विवक्षेति लक्षणव्यवस्थापनं तर्का-धीनम्। तथा च नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत् इति कालोपलक्षणार्थं नक्षत्र

---

३१. कैयट ने नान्तरीय शब्द पर यों टिप्पणी है—

अन्तर शब्दो महादिषु पठ्यते, स च विनार्थे वर्तते। अन्तरे भव अन्तरीयम्। तत्र नञ् समासे कृते पृषोदरादित्वात् भाष्यकारवचनप्रामाण्याद्वा नलोपाभावः। ततः स्वार्थे कन् प्रत्ययः।

(कैयट, महाभाष्य ३'३।१८)

दर्शनं तत् । प्रधानस्याख्यातसिद्धौ परार्थत्वात् दृश्यमानेषु ज्योतिःषु काल-विशेषे परिच्छेदे सति तत् क्रियते ।

—वाक्यपदीय १।१३७ हरिवृत्ति

अविवक्षा और पारार्थ्य में अंतर यह है कि अविवक्षा मे नान्तरीयक शब्दोपात्त का उपादान होता है, उसका कोई उपयोग नही होता जबकि पारार्थ्य मे वह दूसरे का उपलक्षण होता है। (वृषभ, वाक्यपदीय १।१३७, पृष्ठ १२२)

मुख्य और नान्तरीयक के सम्बन्ध मे चार प्रकार के विभाग वाक्यपदीय मे व्यवहृत हैं : (१) गुण प्रधानता विपर्यय, (२) पदार्थैकदेशविवक्षा, (३) सकल पदार्थ अविवक्षा और (४) उपात्तपदार्थ के अपरित्याग से अन्य अर्थ का उपलक्षण।

गुणप्रधानता विपर्यय वहाँ माना जाता है जहाँ गुण-प्रधानभाव की अविवक्षा रहती है। फलत: लिंग, पुरुष आदि का विपर्यय आवश्यकतानुसार कर लिया जाता है। तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४।४।२) मे दिव्यति का निर्देश एकवचन मे, एकसंख्यक और वर्तमान काल मे किया गया है। अत इस आधार पर द्विवचन और बहुवचन में तथा भूत-भविष्य काल मे प्रत्यय नही होना चाहिए। साथ ही दिव्यति मे प्रथमपुरुष के द्वारा अर्थ निर्दिष्ट है, फलत 'शालाकिक अस्मि', 'आक्षिक असि' आदि उत्तम तथा मध्यम पुरुष के साथ तद्धित प्रत्यय नही होना चाहिए। आख्यात के क्रिया-प्रधान होने के कारण दिव्यति मे क्रिया प्रधान है और कर्त्ता गुणीभूत है। आक्षिक आदि तद्धित मे कर्ता प्रधान है और क्रिया गुणीभूत है। परन्तु 'दिव्यति' के द्वारा निर्दिष्ट होने के कारथ तद्धित मे भी क्रिया ही प्रधान होनी चाहिए। इन सब आपत्तियो को दूर करने के लिए मान लिया जाता है कि दिव्यति के प्रत्ययार्थ मे संख्या काल आदि की अविवक्षा है।[32] किसी-न-किसी संख्या द्वारा तथा किसी-न-किसी काल द्वारा निर्देश अनिवार्य है। फलत संख्या, काल आदि नान्तरीयक है। नान्तरीयक रूप मे वे यहाँ अविवक्षित है। फलत द्विवचन, बहुवचन तथा भूत-भविष्य अर्थ मे भी प्रत्यय होता है। आख्यात के क्रियाप्रधान होते हुए भी तद्धित साधनप्रधान स्वभावत: होता है अर्थात् स्वभावत गुण-प्रधानभाव का विपर्यय हो जाता है। आख्यात मे क्रिया प्रधान थी, साधन (कर्ता) गौण था। तद्धित मे कर्ता प्रधान है, क्रिया गौण है। यही गुण प्रधानता विपर्यय है।

आख्यात तद्धितार्थस्य यत् किञ्चिदुपदर्शकम् ।
गुणप्रधानभावस्य तत्र दृष्टो विपर्ययः ।

—वाक्यपदीय २।३०८

जहाँ लिंग संख्या आदि का सान्निध्य अविवक्षित रहता है, लिंग और संख्या प्रयोजक नही होते, वहाँ पदार्थैकदेश-अविवक्षा मानी जाती है। तस्यापत्यम्

३२. वृषभ ने यहां काल की विवक्षा मानी है 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम् इति कालस्य विवक्षा' (वाक्यपदीय १।१३७)
परन्तु जयादित्य, न्यासकार, पदमंजरीकार सभी अविवक्षा मानते हैं।

(४।१।६२), भावे (३।३।१८) जैसे स्थलों मे पुंलिंग द्वारा निर्देश किया गया है। अतः नपुंसकलिंग और स्त्रीलिंग से प्रत्यय नही होना चाहिए। इसके उत्तर मे भाष्यकार ने कहा है कि यहाँ लिंग और संख्या नान्तरीयक है, अत अविवक्षित है। जिस तरह अन्न की कामना से कोई व्यक्ति 'तुष और पलाल सहित शालि लाता है पुनः उसमे से अन्नादि जो कुछ लेने योग्य होता है उसे लेता है। शेष को छोड देता है। अथवा जिस तरह मांसार्थी शकल और कण्टक सहित मत्स्य लाता है क्योंकि शकल और कंटक नान्तरीयक हैं पुन· लेने योग्य अश को लेकर शकल-कटक आदि को फेंक देता है उसी तरह शब्द-शास्त्र मे भी तद्धितार्थ निर्देश आदि में तद्धितार्थ का तो ग्रहण किया जाता है और नान्तरीयक रूप मे व्यक्त लिंग और सख्या को छोड दिया जाता है। वे विवक्षित नही होते। इसी को पुण्यराज ने 'पदार्थैकदेशाविवक्षा' कहा है।

कैयट के अनुसार कही-कही सख्या विवक्षित होती है जैसे सुप्सुपा मे —

सर्वत्रैव हि शास्त्रेऽस्मिन् नान्तरीयकत्वादुपात्त लिंगसख्यं न विवक्ष्यते। क्वचित् संख्या विवक्ष्यते यथा सुप्सुपेति।

—कैयट महाभाष्य ४।१।६२

सकलपदार्थ अविवक्षा वहाँ होती है जहाँ शब्द के द्वारा उपात्त पदार्थ का त्याग कर दिया जाता है और अनुपात्त अर्थ गृहीत होता है। जैसे तस्यादित उदात्त-मर्द्धह्रस्वम् (१।२।३२) मे अर्द्धह्रस्व शब्द। अर्द्ध ह्रस्वका अर्थ तो होना चाहिए ह्रस्व का आधा। पर इस अर्थ के लेने पर दीर्घ और स्वरित के अर्द्धमात्रा का ग्रहण नही होगा, परन्तु होना चाहिए। इसलिए अर्द्ध ह्रस्व शब्द का अर्थ अर्धमात्रा कर दिया जाता है। यहाँ ह्रस्व शब्द उपलक्षण है दीर्घ और स्वरित का भी **अर्द्ध ह्रस्वमित्यनेन अर्द्धमात्रा लक्ष्यते, ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्।**

—काशिका १।२।३२

कुछ लोग ऊकालो ज्झ्रस्वदीर्घप्लुत (१।२।२७)मे ह्रस्व दीर्घ और प्लुत के एक साथ निर्देश होने के कारण ह्रस्व शब्द से दीर्घ और प्लुत भी लक्षित है ऐसा मानते हैं। कुछ लोगो के अनुसार अर्द्ध ह्रस्व प्रमाण के अर्थ मे रूढि शब्द है। निरवयव है :

अर्द्धह्रस्व शब्दः प्रमाणवाची रूढिशब्दः। व्युत्पत्यर्थं च ह्रस्वस्योपादानम्। अर्द्धमात्रात्वनेनाभिधीयते।

—कैयट, महाभाष्य १।२।३२

उपात्त पदार्थ के अपरित्याग द्वारा अन्य अर्थ का उपलक्षण भी मुख्य और नान्तरीयक का एक प्रकार है। जब कोई कहता है 'अभी बहुत चलना है, सूर्य को देखो' तो उसका उद्देश्य दिन के अल्प शेष भाग को दिखाना रहता है। ऐसे स्थलो में प्रधान अर्थ ही अन्य अर्थ का उपलक्षण हो जाता है। इसी तरह 'काक से दधि की रक्षा करो' इस वाक्य का काक शब्द अन्य जीवो जैसे, कुत्ते आदि का भी उपलक्षण है। शास्त्र मे भी 'विध्यत्यधनुषा' इस वाक्य मे अधनुषा पद से करणसामान्य मात्र का निर्देश माना जाता है। 'भोजनमस्योपाद्यताम्' इस वाक्य के कहने पर नान्तरीयक के रूप मे आसनदान, पात्र प्रक्षालन, आदि भोजन के अंग के रूप मे भासित

होते ही है।

पुण्यराज के अनुसार सकलपदार्थ अविवक्षा और उपात्तपदार्थ के अपरित्याग द्वारा अन्य अर्थ का उपलक्षण ये दो मुख्य-नान्तरीयक के विभाग अविवक्षित-वाच्यलक्षणा (ध्वनि) और विवक्षितान्यपरवाच्य लक्षणा (ध्वनि) के सूचक हैं—

—वाक्यपदीय २।३१५

मुख्य और गौण संबंधी उपर्युक्त मतों मे पुण्यराज ने निम्नलिखित चार को अधिक महत्व दिया था

१ प्रसिद्ध-अप्रसिद्धि सहित प्रकरणादि।
२ प्रकरणादि सहित प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि।
३ अध्यारोपलक्षण विपर्यास।
४ रूपशक्ति।

भर्तृहरि-दर्शन मे शब्द अनेकधर्मा है, सर्वशक्तिमान् है। एक ही गो शब्द कभी जाति-विशेष का अभिधायी होता है, जैसे 'गौरनुबन्ध्य' मे और कभी जातिविशिष्ट द्रव्य का अभिधायक होता है जैसे गौ आनीयताम् में। कुछ लोग इसे केवल जातिमात्र का वाचक मानते हैं। कभी गौः शब्द परिच्छिन्न द्रव्य-विशेष के लिए प्रयुक्त होता है जैसे 'अस्त्यत्र काचिद् गा पश्यसि' मे। कही रूढ सम्बन्धों मे क्रिया गुणो मे गो शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जैसे जाड्य के कारण, अथवा उच्छिष्ट (भोजन के कारण) अथवा सब कुछ सह लेने के कारण अथवा बहुत अधिक भोजन करने के कारण वाहीक को गौ कहा जाता है। इस तरह गो शब्द सर्वशक्तिमान् है। उसका सामर्थ्य दूसरे निमित्तों के कारण नियन्त्रित होता है। इसलिए गौणभाव प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि पर निर्भर करता है। शब्द सुनने मात्र से ही जिस अर्थ मे वह अवरुद्ध हो जाता है, किसी दूसरे शब्द से वाच्य प्रसिद्ध अर्थान्तर को नही समेटता, वह मुख्य माना जाता है।

जहाँ शब्दान्तर से अभिधेय अर्थान्तर का अवलम्बन कर लोक मे अर्थ गृहीत होता है वहाँ गौण माना जाता है।[33]

---

३३. एक एवायं गोशब्दो वाक्ये क्वचिज्जातिविशेषाभिधायी,
तद् यथा 'गौरनुबन्ध्य' इति। क्वचिज्जात्युपसर्जने
द्रव्यमात्रे वर्तते। तद् यथा 'गौरानीयताम्' गौः दुह्यतामिति।
केचिदत्र जातिमात्राभिधायित्वं मन्यन्ते। तद् यथा......क्वचिद्
गोशब्दः परिच्छिन्न एव द्रव्यविशेषे वर्तते। तद् यथा
अस्त्यत्र काचिद गां पश्यसीति महति गोमंडले आसीनं यदा
गोपालकं पृच्छसो (ती) ति। क्वचित्तु रूढि सम्बन्धेषु क्रियागुणेषु
गोशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते। तद् यथा जाड्यात् औच्छिष्ट्यात (?)
सर्वसहत्वात् महाशनत्वाद् वा गौर्वाहीक इति।
तस्य शर्वशक्तेः गोशब्दस्य निमित्तान्तरादवच्छिद्यमान
सामर्थ्यस्य प्रसिध्यप्रसिद्धिभ्यां गौणत्वं विज्ञायते।
......वाक्यपदीय २।२५५ हरिवृत्ति, हस्तलेख; शृंगार प्रकाश पृ० ३५८ में भी उपलब्ध।

किसी आचार्य के मत में शब्द की वृत्ति स्व विषय मे, मुख्य में होती है। मुख्य से अन्यत्र नहीं होती। केवल रूपान्तर का अध्यारोप अर्थान्तर में किया जाता है। और इसका आधार बुद्धि का विपर्यास है। जैसे समोह अथवा भ्रम से रज्जु मे सर्प के विपर्यास हो जाने पर सर्प शब्द स्वविषय मे (मुख्य विषय मे) प्रयुक्त होता है। इसी तरह से भूतकाल मे देखे गये किसी धर्म के सादृश्यता से, अथवा भविष्य में होने वाले भूत सस्पर्शी किसी धर्म से बुद्धि मे विपर्यास हो जाने से वाहीक मे गोत्व लाकर सास्नावाले गो पिण्ड मे ही गो शब्द का प्रयोग करता है। यहाँ केवल अर्थ रूप मात्र विपर्यास है। शब्द का अपने मुख्य विषय मे व्यभिचार नहीं है।[34]

महाभाष्यकार ने भी ताद्रूप्य का समर्थन किया है। जैसे तस्य इद मे सम्बन्ध होता है वैसे ही स. अयम् के रूप मे भी सम्बन्ध होता है। 'यह वह है' सम्बन्ध चार प्रकार से होता है—तात्स्थ्य से, ताद्धर्म्य से, तत् सामीप्य से और तत् साहचर्य से। महाभाष्य मे इन चारो का उदाहरण दिया है .

तात्स्थ्यात्-मंचा हसन्ति। गिरिः बह्यते।
ताद्धर्म्यात्-जटिनं पीनं ब्रह्मदत्त इत्याह।
तत्सामीप्यात्-गंगायां घोषः। कूपेगर्गकुलम्।
तत् साहचर्यात् कुन्तान् प्रवेशय। यष्टीः प्रवेशय।[35]

महाभाष्यकार की यह उक्ति लक्षणा शक्ति का बीज है। यही से लक्षण का विकास हुआ है। भर्तृमित्र ने महाभाष्यकार की इस उक्ति के आधार पर पाँच प्रकार की लक्षणा का उल्लेख किया था

अभिधेयेन सामीप्यात् सारूप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रिया योगात् लक्षणा पंचधा मता।

—ध्वन्यालोक लोचन मे उद्धत पृ०, २८

उपचार के रूप में भी लक्षणा के सकेत महाभाष्य मे मिल जाते हैं :

युवत्वं लोके ईप्सितं पूजेत्युपचर्यते[36]
लोके हि संख्यां पर्वतमानामुपचरन्ति[37]

---

३४. एकेषामाचार्याणां मुख्यात् स्वविषयादन्यत्र शब्दस्य वृत्तिः नास्ति। रूपान्तराध्यारोपस्तु अर्थान्तरे क्रियते। यथैवैकः समोहात् रज्जुद्रव्ये प्राप्तविपर्यासः सर्पशब्दं स्व विषये प्रयुक्ते। विषयान्तरे तु विषयान्तर—रूपमध्यारोपयति। तथा कस्यचिदेव सदृश्य धर्मस्य भूतस्य दर्शनात् भाविनो वा भूतपदासंगात् गोत्वमासाद्य (आसज्य) वाहीके प्राप्त रूपविपर्यासां बुद्धौ गोशब्दं सास्नादिमत्येव पिण्डे प्रयुंक्ते। तत्रार्थरूपमात्रविपर्यासः। शब्दस्य तु विषये व्यभिचारो न दृश्यते वाक्यपदीय २।२५९ हरिवृत्ति, हस्तलेख। शृंगार प्रकाश, पृ०३५९ में भी उपलब्ध है।

३५. महाभाष्य ४।१।४८

३६. महाभाष्य ४।१।१६३

३७. महाभाष्य ४।१।६३

इस पर नागेश की टिप्पणी है :

उपचरन्तीत्यनेन लक्षणाबीजसम्बन्ध प्रदर्शनम् ।[३८]

लक्षणा शब्द का मूल भी महाभाष्य मे मिल जाता है और वह है महाभाष्यकार का 'लक्ष्यते', शब्द का प्रयोग — **ऐंकाल्यं त्वल्वपि लोके लक्ष्यते महाभाष्य ३।१।६६**

मुख्य और गौण के आधार पर मुख्य वृत्ति और गौणी वृत्ति का शब्द-शक्ति के रूप मे विचार आरम्भ हुआ। मुख के आधार पर मुख्य और जघन के आधार पर जघन्या वृत्ति की कल्पना बहुत पहले की जा चुकी थी। जघन्या शब्द का प्रचलन कम पड़ता गया और उपचार शब्द का ही प्रचार दर्शन के क्षेत्र मे अधिक रहा। धीरे-धीरे गुण शब्द उपचार का स्थान लेता गया। आरम्भ मे गुणा-कल्पना और उपचार-कल्पना समानार्थक थे। काशिका वृत्ति मे गुण-कल्पना का प्रयोग उपचार-कल्पना के रूप मे हुआ है

द्विगु निमित्तको तर्हि गुणकल्पनया...

—काशिका वृत्ति ४।१।८८

न्यासकार ने यहाँ गुण-कल्पना को उपचार-कल्पना माना है

गुणनिमित्ता कल्पना गुणनिमित्तकल्पना। सा पुनरुपचारात्मिकैव वेदितव्या

—न्यास ४।१।८८

किंतु बाद मे गुण-कल्पना और उपचार-कल्पना मे थोडा भेद माना जाने लगा। गुण-कल्पना का सबध विशेष्य से और उपचार-कल्पना का संबध विशेषण से होता है। गुणवृत्ति का अतर्भाव उपचारवृत्ति मे नही होता किंतु उपचारवृत्ति का अंतर्भाव गुण-वृत्ति मे हो जाता है।[३९] इसी तरह लक्षणा और उपचार शब्द के भी प्रयोग प्रारम्भ मे समानार्थक रूप मे देखे जाते है।

जयादित्य और वामन ने लक्षणा और उपचार के समानार्थक प्रयोग किए है

यदा तु लक्षणया वर्तते तदा पुरुषेण समानाधिकरण्यं भवति

काशिका ५।२।२२

न्यासकार के अनुसार यहाँ लक्षणा का अर्थ उपचार है—लक्षणा उपचार — न्यास ५।२।२२। न्यासकार ने अन्यत्र भी लक्षणा को उपचार के रूप मे लिया है।

लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा। सा पुनरिहोपचार एव।

—न्यास ४।१।८८, पृ० ८८४

कुमारिल भट्ट ने लक्षणावृत्ति और गौणीवृत्ति मे भेद माना है। अभिधेय से सबंध मे प्रवृत्ति को लक्षणा कहा जाता है, अभिधेय से लक्ष्य गुण के योग से गौणी वृत्ति होती है।

---

३८. महाभाष्य प्रदीपोद्योत ४।१।६३

३९. तथाहि विशेष्येषु गुणकल्पना, विशेषणेषूपचारकल्पनेति प्रदर्शित पुरस्तात्। न च गुणवृत्तिरुपचारवृत्तावन्तर्भवति, अपितूपचारवृत्तिः गुणवृत्तौ-शृंगार प्रकाश, पृ० ३५८ मैसूर सस्करण।

अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।।[४०]
अभिधेयसम्बन्धित्वरूपापरित्यागप्रदर्शनार्थोऽविनाभूतशब्दः

—न्यायसुधा, पृ० ४६५

अभिनवगुप्त ने भी लक्षणा और गौणीवृत्ति मे भेदसूचक वक्तव्य उद्धृत किया है

यथाह-गौणे शब्दप्रयोगः, न लक्षणायामिति ।[४१] कैयट ने भी गौणीवृत्ति का आश्रय लिया है (*गौणीवृत्तिश्छत्रशब्दस्याश्रयणीया—प्रदीप ४।४।६२*) किन्तु अधिकतर इनको एक मानकर विशेष विचार हुआ है। न्यायसूत्रकार ने लक्षणा को भी उपचार रूप मे लिया है।[४२]

व्याकरणदर्शन मे अखण्ड वाक्यार्थ की महत्ता होने के कारण लक्षणा की स्वतन्त्र सत्ता नही स्वीकार की गई है किन्तु कल्पित पद-पदार्थ विचार के अवसर पर उसके स्वरूप के संकेत अवश्य मिलते हैं जैसा कि ऊपर के उद्धरणो से स्पष्ट है। नागेश ने लक्षणा पर विस्तृत रूप में विचार किया है। किंतु वह साहित्यशास्त्र की छाया से सस्पृष्ट है। भर्तृहरि ने मुख्यावृत्ति और गौणीवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है।[४३]

भर्तृहरि ने नानात्व वाद के प्रसग मे प्रतीयमान शब्द और प्रतीयमान अर्थ का सकेत किया है। प्रतीयमान अर्थ ही आनन्दवर्धन का 'ध्वनि-सिद्धान्त' है जिसके सहारे व्यजनावृत्ति पल्लवित हुई है। कुछ आचार्यों का मत था कि श्रूयमाण शब्द ही सदा प्रत्यायक नही होता, अनुमीयमान शब्द भी प्रत्यायक होता है।

केचित्तु मन्यन्ते नावश्यं श्रूयमाण एव शब्दः प्रत्यायकः। किं तर्हि। नियमेनानुमीयमानोऽपि श्रूयमाणवदेव प्रत्ययमुत्पादयति।[४४]

अनुमीयमान शब्द का भाई प्रतीयमान शब्द है। किसी ने विप्रतिपत्ति उठाई थी कि प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक नही हो सकता।[४५] इससे स्पष्ट है कि ध्वनिसिद्धान्त का बीज व्याकरणदर्शन मे मिल जाता है। केवल प्रतीयमान अर्थ का ही नही, आनन्दवर्धन के अविवक्षित वाच्य आदि वादो का भी मूल भर्तृहरि के वचन हैं। भर्तृहरि ने प्रश्न उठाया है कि शब्द के प्रयोग होते हुए भी अर्थ अविवक्षित कैसे रह सकता है? स्वय उसका उत्तर घटप्रदीप न्याय के आधार पर दिया है। दीपक का उपयोग घट आदि द्रष्टव्य वस्तु के लिए किया जाता है। दीपक घट के साथ-साथ

---

४०. तंत्रवार्तिक, पृ० ३१८, काव्यप्रकाश में 'अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिः' पाठ मिलता है जो अशुद्ध है।

४१. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १५३, चौखम्बा संस्करण

४२. न्यायसूत्र २।२।६३

४३. वाटपरिक्षेपेऽस्य मुख्यावृत्तिः। पुरुषादिषु तु गौणी।
—महाभाष्यत्रिपादी, पृ० १३८, पूना संस्करण।

४४. वाक्यपदीय २।३६२ हरिवृत्ति, हस्तलेख.

४५. कथं प्रतीयमानः स्याच्छब्दोऽर्थस्याभिधायकः। —वाक्यपदीय २।३६३

सन्निहित तृण, कीट आदि को भी व्यक्त कर देता है। प्रकाशन शक्ति केवल ईप्सित का ही अभिव्यंजक नहीं है। किंतु सभी अभिव्यक्त इष्ट नहीं भी हो सकते हैं। अविवक्षित अर्थ का यही आधार है :

> तत्रेदं विचार्यते । कथमभिधीयमानोऽर्थः शब्दवान् अविवक्षित इति। तस्मादिदं प्रकम्यते। प्रदीपो हि प्रकाशनशक्त्या युक्तः तमसि यस्य प्रकाशयितव्यस्य घटादेरुपलिप्सितस्य अर्थस्य दर्शनार्थमुपादीयते। ततोऽसौ अर्थान्तरस्यापि संयोगिनः समानदेशस्य तृणपांसुकीटसरीसृपादेः घटादिवदेव प्रकाशनं करोति । न ह्यत्र प्रकाशनशक्तिरिष्टविषयमेव परिगृह्णाति ।[४६]

यह उल्लेखनीय है कि आनन्दवर्धन ने भी वाच्य और प्रतीयमान के प्रसग मे दीपशिखा का उदाहरण दिया है।[४७]

---

४६. वाक्यपदीय २।३०० हरिवृत्ति, हस्तलेख.

४७. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः ।

—ध्वन्यालोक १

३

पदार्थ-विचार

अपने देश के विचारको विशेषकर वैयाकरणों की यह मान्यता रही है कि पदार्थ सत्ता के निर्देशक है (**न पदार्थ सत्तां व्यभिचरति**—महाभाष्य ५।२।९४)। शब्द-प्रयोग सत्तापेक्ष ही होता है। भर्तृहरि भी इस बात को मानते हैं कि सभी शब्दो की प्रवृत्ति मे मूल कारण सत्ता है।[1] अत शब्द के आधार पर भी अभिधेय का विवेचन किया जा सकता है। अभिधेय के रूप मे सम्पूर्ण विश्व ही है। इसके विवेचन के लिये पदार्थों का वर्गीकरण किया जाता है। वैयाकरणो ने शब्द की प्रवृत्ति के आधार पर चार पदार्थों का उल्लेख किया है। जाति, 'गुण, क्रिया और द्रव्य। और इसी के अनुसार शब्द-प्रवृत्ति भी चार तरह की मान ली गई है जाति-शब्द, गुण-शब्द, क्रिया शब्द और द्रव्य-शब्द (यदृच्छा शब्द)। ये चार भेद प्राय स्वीकृत है। वस्तुत शब्द-प्रवृत्ति के वर्गीकरण के विषय मे विवाद है और वह प्राचीनकाल से ही है। जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार, निरुक्तकार और शाकटायन त्रयीशब्द प्रवृत्ति को मानने वाले हैं। उनके मत मे जाति-शब्द, गुण-शब्द और क्रिया शब्द हैं। यदृच्छा शब्द नही है। कुछ लोग केवल क्रिया-शब्द मानते है। जाति-शब्द और गुण-शब्द भी क्रिया-शब्द से ही विकसित हुए हैं। अत शब्दो की प्रवृत्ति एक ही है और वह है क्रिया-शब्द।

> **तदेवं निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्ति । जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाश्च । न सन्ति यदृच्छा शब्दा इति ।** अथवा
> **जातिगुणशब्दानामपि क्रियाशब्दत्वमेव । धातुजत्वात् । ततश्चैकैव शब्दानां प्रवृत्तिः क्रियाशब्दा इति ।** —न्यास ३।३।१, पृष्ठ ६७४

कुछ आचार्य केवल जाति शब्द ही मानते हैं। उनके मत मे तथा कथित गुण शब्द, क्रिया शब्द और यदृच्छा शब्द भी जाति शब्द ही हैं। क्योकि पय, शख, बलाका आदि मे परमार्थत भिन्न रूप मे स्थित शुक्ल गुण का शुक्ल रूप मे ज्ञान शुक्लत्व के आधार पर होता है। गुड, तण्डुल आदि की पाक-क्रिया मे भी पाकत्व सामान्य है। यदृच्छा शब्द डित्थ आदि मे भी डित्थत्व है। शब्द की दृष्टि से बाल, वृद्ध, शुक

१. प्रवृत्तिहेतु सर्वेषा शब्दानामौपचारिकीम्।
एतां सत्ता पदार्थो हि न कश्चिदतिवर्तते ॥

—वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ५०

आदि के द्वारा विभिन्न रूप मे उच्चरित डित्थ शब्द मे अनुगताकार प्रत्यय डित्थत्व के सहारे ही सभव है। अर्थ की दृष्टि से भी उसमे डित्थत्व बाल, वृद्ध आदि अवस्था भेद से भेद होते हुए भी 'यह वही डित्थ है' इस प्रकार के ज्ञान होने के कारण सर्वथा सभव है। इसलिये सभी प्रकार के शब्दो का प्रवृत्तिनिमित्त जाति को ही मानना चाहिये। इस दृष्टि से महाभाष्य का चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति वाला मत ठीक नही बैठता। अत. महाभाष्यकार के समर्थक केवल जाति शब्दवादियों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि गुण-शब्द, क्रियाशब्द आदि का ग्रहण जातिशब्द के रूप मे नही किया जा सकता। क्योकि पय, शख, बलाका आदि का शुक्ल गुण परमार्थत. भिन्न-भिन्न नही है। उनमे भिन्नता आश्रयभेद से जान पडती है जैसे एक ही मुख का प्रतिबिम्ब खड्ग, मुकुर आदि आश्रय-भेद से भिन्न-भिन्न जान पडता है। वस्तुत. शुक्ल गुण एक ही है। शुक्ल व्यक्ति के एक ही होने के कारण अनेक मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का लक्षण गुण शब्दो मे घट ही नही सकता। इसी तरह क्रिया भी आश्रयभेद से भिन्न-भिन्न जान पडती है। वस्तुत वह भी एक ही है। इसलिये केवल जाति शब्द न मान कर भाष्योक्त मत स्वीकार करना चाहिए।

गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयी शब्दप्रवृत्तिर्नोपपद्यते। अत्राभिधीयते-गुणक्रियाशब्दसंज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजुषामेका-कारतावगतिनिबन्धनत्वं न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्यात्राभिमतम्।

—मुकुलभट्ट, अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ट ५

पाणिनि चारो भेद मानते जान पडते है। जाति, गुण और क्रियापरक तो उनके अनेक सूत्र हैं। यदृच्छा शब्दो की मान्यता का आधार, कैयट के मत मे 'उनका अर्थ-वदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम् (१।२।४५) सूत्र है। पतजलि ने इस सूत्र का प्रत्या-ख्यान किया है। परन्तु इस सूत्र की रचना से जान पडता है पाणिनि अव्युत्पन्न यदृच्छा शब्दो की सत्ता स्वीकार करते है—

अर्थवत् सूत्रारम्भाच्च अव्युत्पन्ना यदृच्छा शब्दा सन्तीत्यवगम्यते।

—कैयट प्रदीप, महाभाष्य प्रत्याहारसूत्र, ऋलृक्

यदृच्छा शब्दो का ग्रहण शब्दाकृति के आधार पर होता है। शब्द की आकृति का अर्थ मे वह यह है (सोऽयम्) के रूप मे आरोप करते हैं। शब्दाकृति का ग्रहण कैसे होता है इस पर दो तरह के मत है। पहले मत के अनुसार एक शब्द मे कई वर्ण होते है। क्रम से उनका उच्चारण वक्ता करता है। अन्त्यवर्ण के उच्चारण के बाद एक विशिष्ट सस्कार या ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को अन्त्यवर्णावलम्बन ज्ञान कहते है। यो तो पूर्व के वर्णों से भी कुछ-न-कुछ सस्कार होता ही है परन्तु वह सस्कार धुँधला होता है या अस्पष्ट होता है। अतिमवर्णजन्यज्ञान पूर्ववर्णजन्यज्ञान की सहायता से जाति का ग्राहक होता है। दूसरा मत अन्त्यवर्ण ज्ञान को मुख्यता नही देता। उसके अनुसार सभी वर्णज्ञानो से जिसमे अन्त्यवर्ण ज्ञान भी गृहीत है बुद्धि विशेष सस्कार वाली हो जाती है। अन्त्यवर्ण के ज्ञान के बाद एक विशेष प्रकार का ज्ञान पैदा होता है जो जाति का ग्राहक होता है (**अत्रानेकं दर्शनम्। केचित् मान्यते, अन्त्यवर्णाव-**

लम्बनं यज्ज्ञानं तत् पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारसहायं जातेर्ग्राहकम्। अपरे मन्यन्ते अन्त्यवर्णज्ञानसहितैः सर्वैरेवपूर्ववर्णज्ञानैः संस्काराराम्भः। अन्त्यवर्णज्ञानानन्तरंतुजातिग्राहकं ज्ञानमुत्पद्यते—वृषभ वाक्यपदीय टीका १।२३, पृष्ठ ३३) शब्दाकृति की सत्ता मे प्रमाण यह है कि शुक सारिका, मनुष्य आदि द्वारा उच्चरित वृक्ष आदि विशेष शब्द यह वही वृक्ष आदि शब्द है इस ज्ञान को जगाते है। इसी अनुगताकार प्रतीति या अभेद ज्ञान के आधार पर शब्दाकृति की सत्ता का अनुमान किया जाता है। (**तस्यास्तु शब्दाकृतेररितत्वं शुकशारिकामनुष्यादिप्रयुक्तेषु वृक्षादिशब्दव्यक्तिविशेषेषु स एवायमिति प्रत्ययाभेदावनुमीयते** —वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१५, पृष्ठ, ३३)। जो लोग शब्दाकृति अथवा शब्द के सहृतक्रमस्वरूप की सत्ता नही मानते उनके मत मे भी वक्तृयदृच्छासनिवेशित काल्पनिक समुदाय रूप डित्थ आदि शब्द सज्ञा के अभिधान मे समर्थ होते ही हैं (**येषामपि च डकारादिवर्णव्यतिरिक्तसंहृतक्रमस्वरूपाभावात् न डित्थादिशब्दस्वरूपं संहृतक्रमं संज्ञित्वध्यस्यत इति दर्शनं तेषामपि वक्तृयदृच्छाभिव्यज्यमानशक्तिभेदानुसारेण काल्पनिकसमुदायरूपस्य डित्थादेः शब्दस्य तत् तत् संज्ञाभिधानाय प्रवर्तमानत्वाद् यदृच्छाशब्दत्वं डित्थादीनामुपपद्यत एव**—अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ठ ४)।

महाभाष्यकार ने त्रयी शब्दप्रवृत्तिवाले पक्ष का भी उल्लेख किया है और यदृच्छा शब्दो की मत्ता नही भी स्वीकार की जा सकती है इसका उल्लेख भी किया है। कैयट ने भाष्यकार का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रशस्यरूपा क्रिया और गुण के अध्यारोप से त्रयीपक्ष मानने पर भी काम चल सकता है।

सम्बन्ध पदार्थ

कुछ लोग सम्बन्ध को भी पदार्थ के रूप मे मानते है। कुछ बौद्ध आचार्य द्रव्य शब्द के स्थान पर सम्बन्ध को मानते हैं

यापि जाति गुण क्रिया सम्बन्धभेदेन चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः साप्यनेनैव वस्तुधर्मभेदेन संगृहीता —कर्णकगोमिन, प्रमाणवार्तिक टीका, पृष्ठ १४१)। कैयट ने स्वार्थ के रूप मे सम्बन्ध को स्वीकार किया है।

स्वोऽर्थ स्वार्थः। स चानेकप्रकारो जातिगुणक्रियासम्बन्धस्वरूपलक्षणः

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।३।७४

सादृश्य पदार्थ

मीमासको मे प्रभाकर के अनुयायी सादृश्य को एक अतिरिक्त पदार्थ के रूप मे मानते हैं। वैयाकरणो मे नागेश ने सादृश्य पदार्थ की सत्ता व्याकरण की दृष्टि से भी मानी है। शस्त्रीश्यामा देवदत्ता के भाष्य पर विचार करते हुए उन्होने लिखा है :

"सादृश्यमतिरिक्तः पदार्थ इति मतेनेदम्।"

—महाभाष्य, प्रदीपोद्योत, २।१।५५

मंजूषा मे भी नागेश ने लिखा है :

"सादृश्यं तु साधारणधर्मसम्बन्धप्रयोज्यं सदृशादिपदशक्यतावच्छेदकतया सिद्धम्, सदृशदर्शने संस्कारोद्बोधकत्वस्य सर्वसंमतत्वेन तत्वेन तत्कारणतावच्छेदकतया च सिद्धमखण्डमतिरिक्तः पदार्थं ।"—मजूषा, पृष्ट ६३४, ६३५

नागेश के मत मे सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने मे गौतम, कणादादि गृहीत पदार्थों की सख्या के साथ विरोध नही होगा क्योकि गौतमोक्त प्रमेय पदार्थ मे उसका अन्तर्भाव हो जायगा।

काव्यप्रकाश मे उपमा पर विचार करते हुए भी नागेश ने सादृश्य पदार्थ की आवश्यकता स्वीकार की है

सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धो ह्युपमा, सादृश्य चातिरिक्त पदार्थःइति ।

इसी तरह पडितराज जगन्नाथ की—

अतएवालंकारिकाणामपि सादृश्यं पदार्थान्तरं न तु साधारणधर्म रूपमिति विज्ञायते — रसगगाधर, पृ० ४२३

इस उक्ति पर टीका करते हुए नागेश ने कहा है कि आलकारिको के साथ-साथ वैयाकरणों के मत मे भी सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है

अपिना वैयाकरणादिसमुच्चयः । निरूपितं चैतत् कुवलयानन्दव्याख्यायांमञ्जूषायाञ्च । ——रसगगाधर की मर्मप्रकाशिनी टीका, पृ० ४२३

"नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगति ——इस परिभाषा की व्याख्या मे नागेश के शिष्य वैद्यनाथ ने भी सादृश्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार की है।

अभाव आदि पदार्थों का गुण में अन्तर्भाव

वैयाकरण अभाव को अतिरिक्त पदार्थ नही मानते । ये उसे गुण के अन्तर्गत मानते है । द्रव्य, जाति और क्रिया के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ गुण के भीतर मान लिये गये हैं ।

एवमप्यभावस्य कथं गुणबहिर्भावः ? जातिक्रियाद्रव्यातिरिक्तस्यैव चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति वद्भिः वैयाकरणैः, तदनुसारिभिश्च आलंकारिकैर्गुणत्वांगीकारात् —वैद्यनाथ, कुवलयानन्द की चन्द्रिका टीका, पृ० ४८

तत्त्वबोधिनीकार ने भी द्रव्य, जाति और क्रियापदार्थ से अतिरिक्त पदार्थों को गुण माना है ।

संज्ञा जाति क्रिया शब्दान् हित्वाऽन्ये गुणवाचिनः । चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरित्याकरग्रन्थनिष्कर्षादेव निर्णय इति ।

—सिद्धान्त कौमुदी तत्त्वबोधिनी, वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६३६, पृ० १४८

चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति के आधार पर चार पदार्थ ही प्रमुख रूप मे मान्य रहे हैं । कालिदास ने इसे यो व्यक्त किया है :

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता ।

प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी[2] ।

—कुमारसंभव २।१७

भर्तृहरि के अनुसार अष्ट पदार्थ

भर्तृहरि के स्वतंत्र दर्शन में पदार्थ एक ही है और वह है शक्ति। शक्ति के ही रूपान्तर साधन, क्रिया, दिक्, काल आदि हैं :

शक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थिताः ।
दिक् साधनं क्रिया काल इतिवस्त्वभिधायिनः ।।

—वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश १

परन्तु व्याकरण का लौकिक दर्शन से सम्बन्ध होने के कारण उसके विवेचन के लिये भर्तृहरि ने अपनी स्वतंत्र विचार-परम्परा के अनुकूल आठ पदार्थों की कल्पना की है और इन आठ पदार्थों मे व्याकरण का सर्वस्व आ जाता है। वाक्यपदीय मे आठ पदार्थों का विवेचन है। आठ पदार्थ इसके शरीर है

इह पदार्थाष्टकविचारपरत्वात् वाक्यपदीयस्य

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३।१

ये आठ पदार्थ निम्नलिखित है—

(१) अपोद्धार पदार्थ
(२) स्थित लक्षण पदार्थ
(३) अन्वाख्येय पदार्थ
(४) प्रतिपादक पदार्थ
(५) कार्यकारण भाव
(६) योग्यभाव सबन्ध पदार्थ
(७) धर्म
(८) साधु-असाधु ज्ञान (अर्थप्रतिपादन) प्रयोजन पदार्थ

इन पदार्थों का उल्लेख भर्तृहरि ने स्वय किया है।[3]

वृषभ ने भी इन आठ पदार्थों को शास्त्र का शरीर माना है :

तदेवं शब्दार्थसम्बन्धफलानां प्रत्येकं द्वैविध्याद् अष्टौ पदार्था भवन्ति' ।[4]

---

२. भाष्यव्याख्याप्रपंचकार ने ब्रह्मा के चार मुख के आधार पर चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति को मान्यता नहीं दी है क्योंकि सम्बन्ध आदि भी शब्द प्रवृत्ति के भीतर आ जाते हैं। उसके मत मे दिव्य मानुप का 'समय' (व्यवहार) ही शब्दप्रवृति है—

तथा चोक्त ब्रह्मणश्चतुर्मुखोतः चतुष्टयी शब्द प्रवृत्तिः चरितार्थेति न नियमः । अन्ये हि सम्बन्धादयः शब्दाना तदवच्छक्तिरपि । अत समयैः दिव्यमानुषैः शब्दप्रवृत्ति रिति ।

—पुरषोतम परिभाषा वृत्ति एपेन्डिक्स ३, पृ० १२७

३. वाक्यपदीय १।२४-२६

४. वाक्यपदीय १।२४, वृषभ टीका, पृष्ठ ३६

अपोद्धारपदार्थ

अपोद्धार विभाग को कहते हैं (अपोद्धारो विभाग)[५]। एक मे अविभक्त रूप मे ग्रथित वस्तु के अवयव को लेकर विचार करने की अथवा एक अखण्ड वाक्य के अलग-अलग शब्दो पर विचार करने की पद्धति अपोद्धार नाम से प्रसिद्ध थी। परन्तु अपोद्धारपदार्थ के ठीक-ठीक अभिप्राय के विषय मे टीकाकारो मे भी मतभेद है। प्रसिद्ध टीकाकार वृषभ को भी कुछ सशय था क्योकि उसने इसके अर्थ कई प्रकार से किये है

> **अपोद्ध्रियन्ते इत्यपोद्धाराः पदार्थाश्चेति। अपोद्धृतानां वा पदार्थानामर्थाः। अपोद्धारेण परिकल्पिता वा अर्था इति शाकपार्थिवादिः। अपोद्धारसम्बन्धिनो वेति षष्ठीसमासः।**[६]

वृषभ के अनुसार यहाँ पदार्थ शब्द मे पद पारिभाषिक नही है। अपितु जिससे अर्थ जाना जाए उसके अर्थ मे है। **पद्यतेऽनेनार्थ इति पद न पारिभाषिकम्। तस्यार्थः पदार्थाः।**[७]

भर्तृहरि के मत मे अपोद्धार पदार्थ उस अनुमानित अथवा कल्पित प्रक्रिया का नाम है जिससे किसी अत्यन्त ससृष्ट वस्तु के उसके सम्बन्धो के आधार पर विभाग किये जाते है। अत्यन्त अविभक्त वस्तु व्यवहारातीत होती है। परन्तु अपनी परम्परा अथवा अपने आगम के आधार पर लोग उत्प्रेक्षा से काम लेते है और भावना अभ्यास मे व्यवहारातीत के भी व्यावहारिक रूप, काल्पनिक ही सही, दे देते है। इसी तरह शब्दात्मा जो अपने यथार्थरूप मे अविभक्त है काम चलाने के लिये कल्पना द्वारा विभक्त मान लिया जाता है। अन्वयव्यतिरेक के आधार पर समुदाय के भीतर से अलग-अलग उसके रूपो की कल्पना की जाती है।[८]

> **तत्रापोद्धारपदार्थो नामात्यन्तसंसृष्टः संसर्गादनुमेयेन परिकल्पितेन रूपेण प्रकृत-प्रविवेकः सन्नपोद्ध्रियते। प्रविविक्तस्य हि तस्य वस्तुनो व्यवहारातीतं रूपम्। तत्तु स्वप्रत्ययानुकारेण यथागमं भावनाभ्यासवशादुत्प्रेक्षया प्रायेण व्यवस्था-प्यते। तथैव चाप्रविभागे शब्दात्मनि कार्यार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां रूपसमनु-गमकल्पनया समुदायादपोद्धृतानां शब्दानामभिधेयत्वेनाश्रीयते।**[९]

हेलाराज ने अपोद्धार पदार्थ के विषय मे वाक्यवादी और पदवादी दोनो के मतो का विवेचन किया है। वाक्यवादियो के मत मे वाक्य अखण्ड है। उसकी व्युत्पत्ति

---

५. वाक्यपदीय, १।२४ वृषभ टीका, पृष्ठ ३५

६. वही, पृष्ठ ३५

७. वही, पृ० ३६

८. वृषभ ने प्रविविक्त के स्थान पर प्रविभक्त पाठ रखा है। उसके अनुसार यहा तात्पर्य यह है कि प्रविभक्त पदार्थों से प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहार सभव नहीं है (प्रविभक्तैः पदार्थैर्न प्रवृत्तिनिवृत्ति लक्षणो व्यवहारः)। परन्तु यह अर्थ भर्तृहरि के मूल अभिप्राय से मेल नहीं खाता।

९. वाक्यपदीय, हरिवृत्ति, १।२४, पृष्ठ ३६.

के उपाय के रूप में उपोद्धार का आश्रय लिया जाता है और अपोद्धार अखण्ड-वाक्य से शब्द को कल्पना-बुद्धि से अलग कर उसे पदनाम देने का नाम है। इस मत मे पदव्युत्पत्ति काल्पनिक है।

पदवादियों के मत मे पद अखण्ड है। कल्पना द्वारा पद मे प्रकृति, प्रत्यय, आगम, आदेश आदि की व्यवस्था की जाति है। पदवादियों के मत मे वाक्य को अखण्ड मान कर पद व्युत्पत्ति करना इसलिये उपयुक्त नही है कि वाक्य अनन्त है और इसलिये उन्हे आधार मान कर पद व्युत्पत्ति करना सहज नही है। परन्तु सदृश पद के द्वारा पद व्युत्पत्ति समझना अपेक्षाकृत सहज है।

परन्तु पदवादी और वाक्यवादी दोनो ही अपोद्धार को असत्य मानते हैं। यही इनमे समानता है। दोनो पक्ष मे अपोद्धार के लिये अन्वयव्यतिरेक का आश्रय भी समान है। अपोद्धार के लिये अन्वयव्यतिरेक का उल्लेख वार्तिककार ने भी '**सिद्धं त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्**' के रूप मे किया है।[10]

अपोद्धार का पदार्थ और वाक्यार्थ की दृष्टि से विवेचन स्वय भर्तृहरि ने भी किया है। उनके मत मे केवल एक शब्द कहने से उसके अर्थ की सत्ता या असत्ता का परिज्ञान ठीक से नही होता। केवल वृक्ष शब्द कहने से वृक्ष है कि नहीं है यह सदेह बना रह सकता है। ऐसे स्थलो मे हम अस्ति (है) या नास्ति (नही है) जैसे क्रिया-पदो का आक्षेप करते हैं और तब कही अर्थ स्पष्ट होता है (वृषभ के अनुसार वस्तुत क्रियापद का आक्षेप नही होता अपितु क्रिया लक्षणरूप अर्थ का ही स्वार्थ के रूप मे आक्षेप होता है। केवल उस पद मे अभिधेय होने के कारण उस पद से क्रियापद का आक्षेप कहा जाता है अथवा आक्षेप-फल होने के कारण वैसा कहा जाता है)। वाक्य से ही ऐसे स्थलो मे भी बोध होता है इसलिये वाक्यार्थरूप अपोद्धार उपयुक्त है। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने पूर्वपदार्थ, उत्तरपदार्थ, प्रातिपदिकार्थ, धात्वर्थ, प्रत्ययार्थ जैसे शब्दो का व्यवहार किया है और एक ही शब्द की व्युत्पति के लिये विभिन्न तरह की कल्पनाएँ की हैं इसमे पदार्थ के रूप मे भी अपोद्धार लक्षित होता है।[11]

अपोद्धारपदार्थ शब्द-अपोद्धार और अर्थ-अपोद्धार दोनो रूप मे गृहीत है। हेलाराज के अनुसार अर्थ-अपोद्धार ही अधिक उपयुक्त है क्योकि वाक्य से उद्धृत पद का वाक्यार्थान्तर के रूप मे कल्पना की जाती है। अर्थ-अपोद्धार ही पद-अपोद्धार का निमित्त है। यदि अर्थ-अपोद्धार को पद-अपोद्धार का निमित्त न माना जाय, वर्ण-अपोद्धार भी होने लगेगा और उसकी व्युत्पत्ति की चिन्ता करनी पडेगी

> **अर्थापोद्धार एव हि पदापोद्धारस्य निमित्तम्। अनिमित्ते हि तस्मिन् वर्णापोद्धारस्यापि प्रसंगात्तेषामपि व्युत्पाद्यता स्यात्**[12]

---

१० हेलाराज, वाक्यपदीय, ३, जातिसमुद्देश १.

११. वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२४, पृष्ठ ३७

१२. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश १

स्थितलक्षण पदार्थ

स्थित लक्षण पदार्थ उसको कहते हैं जिसका लक्षण (स्वरूप) स्थित रहता हैं, जो अपने स्वरूप से च्युत नही होता। वृषभ के अनुसार मतभेद से स्थितलक्षण पदार्थ भी होता है और वाक्यार्थ भी। प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ पदार्थ मे तिरोहित हो जाते हैं पर पदार्थ तिरोहित नही होता। इसलिये पदार्थ स्थित लक्षण है। इसी तरह, वाक्य-वादियो की दृष्टि मे, पदार्थ वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति मे उपाय मात्र है, वाक्यार्थ के ज्ञान हो जाने पर वे विभक्त रूप मे पृथक्-पृथक् नही जान पडते, उनका वाक्यार्थ मे तिरोभाव हो जाता है जब कि वाक्यार्थ ज्यों-का-त्यो रहता है। इस दृष्टि से वाक्यार्थ स्थित लक्षण है। हेलाराज ने वाक्यार्थ को स्थित लक्षण के रूप मे ग्रहण किया है उसे निरश माना है साथ ही उसे क्रियास्वभाव से सपृक्त कारकशरीरवाला भी माना है।

वाक्यार्थश्च स्थितलक्षणः निरंश कारकोत्कलित शरीरक्रिया स्वभावतः।[13]

भर्तृहरि ने व्याकरणदर्शन मे स्थित लक्षण को पदार्थ और वाक्यार्थ दोनो रूप मे मानने का आधार सग्रहकार और महाभाष्यकार को माना है। सग्रहकार ने कहा है कि पदनाम की कोई निश्चित वस्तु नही है। पद का रूप और उसका अर्थ वाक्यार्थ से उत्पन्न होते हैं।

न हि किंचित्पदं नामरूपेण नियत क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते॥[14]

महाभाष्यकार ने भी न वा पदस्यार्थे प्रयोगात् (१।२।६४) और यदत्राधिक्य वाक्यार्थः स (महाभाष्य २।३।४६) कहा है जिससे पदार्थ और वाक्यार्थ दोनो के स्थितलक्षण होने की पुष्टि होती है।

परन्तु भर्तृहरि का झुकाव स्थितलक्षण को वाक्यार्थ रूप मे लेने की ओर है। स्थितलक्षण का विवरण देते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि वह वाक्य-रूप का उपग्रह अथवा उपग्राहक (वाचक) है। उसके उद्देश्य विभाग (कर्तृ आदि) कल्पित होते है। वह विशिष्ट (नियताश्रय) है। एक है। क्रिया उसकी आत्मा है। वह अविच्छिन्न, निरन्तर उच्चरित शब्दो के अर्थग्रहण का उपाय है। अथवा विच्छिन्न (अपोद्धार पद्धति से उद्धृत) पदो के अर्थ के ग्रहण का उपाय है। विच्छेद प्रतिपत्ति जैसे, नमस्यति मे नम तथा करोति के रूप मे अलग-अलग प्रतिपत्ति यद्यपि अर्थ कहने के लिए क्रिया और साधन भेद से जान पडती है, परन्तु वस्तुत वहाँ इस तरह का क्रिया-साधन भेद नही है। विशेषकर प्रतिभा के उपसहार काल मे अर्थात् अर्थ के ज्ञान काल मे अभिन्न एकाकार प्रतिभा के परिबोध से वाक्यार्थ स्थितलक्षण सिद्ध होता है। हेलाराज के अनुसार स्थितलक्षण और अपोद्धारपदार्थ मे भेद यह है कि स्थितलक्षण मे प्रक्रिया

---

१३. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश १

१४. वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२४, पृष्ठ ४२ पर उद्धृत।

भेद से भेद नही होता, अपोद्धार मे होता है ।

—वृत्ति समुद्देश २४८

अन्वाख्येय पदार्थ

अन्वाख्येय पदार्थ भी दो रूप मे स्वीकृत हैं । पद अवधिक अन्वाख्यान और वाक्य अवधिक अन्वाख्यान के रूप मे । इस पर अन्यत्र विचार किया जा चुका है । पद के अन्वाख्येय पक्ष मे ही प्रातिपदिक शब्दो की व्यवस्था की जाती है । उसी पक्ष मे विशेषणविशेष्यभाव ठीक से बैठता है । नीलोत्पल शब्द मे नील मे विशेषणता और उत्पल शब्द मे विशेष्यता है । यदि पद अन्वाख्यान पक्ष नही मानेंगे तो ऐसे स्थलो मे विभाग की पहचान सम्भव न होगी, फलत विशेषण विशेष्यभाव भी न हो सकेगा । वाक्यसंस्कार पक्ष को मान कर वार्तिककार ने 'न वा सर्वेषां द्वन्द्वे बह्वर्थत्वात्' (महाभाष्य २।४।६२) कहा है । युगपदधिकरण विवक्षा मे द्वन्द्व होता है ।

चाहे पद-अन्वाख्यान पक्ष हो अथवा वाक्य-अन्वाख्यान पक्ष हो दोनो मे अनियम देखा जाता है । पद मे प्रकृति प्रत्यय के विभाग मे अनियम देखा जाता है जैसे मरुत्, इन्द्र, ऐकागारिक, गिरिश आदि शब्दो मे । मरुत् शब्द मे कुछ लोग मरुतोऽस्य सन्ति इस अर्थ मे तप्पर्वमरुद्भ्याम् (महाभाष्य ५।२।१२३) से तप् प्रत्यय मानते है । कुछ लोग मरुद्भि दत्त इस अर्थ मे प्रत्यय मानते है । इसी तरह गिरिश शब्द गिरौ शेते इस अर्थ मे ड प्रत्यय से बनाया जाता है, गिरिंश्रयति इस अर्थ मे क प्रत्यय से बनाया जाता है । भर्तृहरि ने गिरौ शिरा एक ऐसा भी विग्रह गिरिश शब्द के लिये किया है (वाक्यपदीय २।१७२ हरिवृत्ति) । वाक्य-अन्वाख्यान पक्ष मे भी कल्पितपदो द्वारा अर्थ निर्णीत होता है :

> **अर्थात् पदं साभिधेयं पदात् वाक्यार्थनिर्णय ।**
> **पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम् ॥**[१५]

कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभावपदार्थ

कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभावपदार्थ शब्द के निमित्त रूप और उसके योग्यरूप पर आश्रित है । पक्षभेद से सम्बन्ध के द्योतक हैं । कार्यकारणभाव सम्बन्ध और योग्यभाव सम्बन्ध दोनो ही व्याकरणदर्शन मे मान्य है । अर्थाकार बुद्धि का वस्तु के साथ अध्यवसाय होने पर उस अर्थ के उद्बोधन मे शब्द निमित्त होता है । इसी तरह अर्थ (वस्तु) के दर्शन मे भी शब्द स्वरूप का उसके अर्थ मे 'यह वही हैं' (सोऽयम्) इस रूप मे अध्यवसाय करते हैं । यहाँ नाद से अभिव्यक्त पर वस्तुत अन्त करण सन्निवेशी शब्द की प्रवृत्ति मे अर्थ दर्शन ही कारण है । दूसरे शब्दो मे, गो आदि कार्य है और शब्द कारण है तथा शब्द कार्य है और गो आदि कारण हैं । भर्तृहरि इस मत के पोषक हैं कि वाक् ही गो आदि में परिणत हो जाती है अथवा गो आदि वस्तु ही

१५. वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति में उद्धृत । वृषभ के अनुसार वह संग्रहकार का श्लोक है । परन्तु शौनक के बृहद्देवता २।११७ में भी है ।

वाणी रूप मे परिणत हो जाती हैं। इसलिए इनमे कार्यकारण भाव है :

वाच एव वा विभागा गवादित्वेन प्रवतिष्ठन्ते। गवादयश्च बाह्यार्थ रूपा इव विभागाः पुन श्रुतिरूपेण परिणमन्ते। तथा एके कार्यकारणभावमेव शब्दार्थयोः सम्बन्धं मन्यन्ते।[16]

योग्यभाव सम्बन्ध इन्द्रिय और वस्तु के प्रतीक पर मान लिया गया है। जिस तरह चक्षु आदि इन्द्रियो का अपने विषय रूप आदि मे स्वाभाविक शक्ति है कृत्रिम नही, उसी तरह शब्द भी अपने वाच्य अर्थ को स्वभावत व्यक्त करता है। शब्द की यह योग्यता, भर्तृहरि के मत मे, नित्य है, इसमे न किसी के कर्तृत्व की आवश्यकता है और न शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ को व्यक्त करने मे कभी व्यभिचरित होता है। इन्द्रिय और विषय का जिस तरह प्रकाश्य-प्रकाशकभाव है उसी तरह शब्द और उसके वाच्य मे भी है। हेलाराज के अनुसार इन्द्रिय और शब्द की योग्यता मे केवल इतना ही अन्तर है कि इन्द्रियाँ कारक हैं। अत अज्ञात ज्ञान को जनाती हैं जबकि शब्द ज्ञापक है फलत अपने ज्ञान के द्वारा दूसरे ज्ञान के समझने मे हेतु होते हैं। फिर भी दोनो मे यह समानता है कि दोनो मे शक्ति पुरुष-प्रयत्न अनपेक्ष है

यद्यपि चेन्द्रियाणि कारकत्वादज्ञातान्येव ज्ञानं जनयन्ति, शब्दस्तु ज्ञापकत्वात् स्वज्ञानेनान्यधीहेतु तथापि पुरुषप्रयत्नानपेक्षा शक्ति साधारणी इति।[17]

योग्यता तो स्वाभाविक है। संकेत उसी योग्यता का संकेत करते है। यदि स्वाभाविक योग्यता नही मानी जायगी और मनमाने ढग से किसी अर्थ मे किसी शब्द का प्रयोग होने लगेगा तो अव्यवस्था हो जायगी और अर्थज्ञान नही होगा (**यो हि गाम् अश्व इति ब्रूयात् न जातु चित् संप्रत्ययः स्यात्** —महाभाष्य १ ३।६४

अप्रसिद्ध शब्दो का या सज्ञा शब्दो का प्रथम परिज्ञान सामयिक (समयाचार-संकेत) मान लिया गया है

इन्द्रियविषयवत् तु प्रकाश्यप्रकाशकभावेन विशिष्टानां शब्दानां विशिष्टेषु अर्थेषु नित्यम्, अकर्तृव्यापारसाध्यम् अव्यभिचरितप्रसिद्धसाधुभावानां वाचकानां शब्दानां वाच्येषु योग्यत्वं, अप्रसिद्धसम्बन्धानां प्रथमप्रतिपादने समयोपाधिकम्।[18]

साधु-असाधु पर पहले अपभ्रंश मे प्रसग मे विचार किया जा चुका है। साधु ज्ञान मे धर्म और असाधु ज्ञान से अधर्म होता है। अधर्म का अभिप्राय पाप नही है अपितु धर्म का अभाव है (**असाधु प्रयोगे तु धर्माभाव एव पापत्वेन उपचर्यते**—हेलाराज)। धर्म से भी अभिप्राय शिष्टता से है। शुद्धभाषा-व्यवहार मनुष्य की सभ्यता, उसके सांस्कृतिक अभ्युत्थान का मापक है।

वैयाकरण इस बात को मानते है, जैसा कि कैयट ने कहा है, कि साधु-असाधु का सदा के लिये कोई निश्चित रूप नही है। यह देश और काल से सीमित वस्तु है। केवल किसी नियत समय को लेकर ही साधु-असाधु व्यवस्था सभव है। लौकिक संस्कृत

---

१६. वाक्यपदीय ३।१२ हरिवृत्ति

१७. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, सम्बन्धसमुद्देश २६

१८. वाक्यपदीय ३।२५ हरिवृत्ति, पृ० ३६; द्रष्टव्य वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध-समुद्देश २९.

की साधु-असाधु व्यवस्था मुनित्रय के मत पर बहुत दूर तक अवलम्बित है।

नियतकालाश्च स्मृतयो व्यवस्था हेतव इति मुनित्रयमतेन प्रसत्वे साध्वसाधु-प्रविभागः —कैयट, महाभाष्य प्रदीप ५।१।२१

भेद अभेदपूर्वक होता है इस न्याय के आधार पर हेलाराज ने असाधु (अपभ्रंश) की प्रकृति साधु शब्द को माना है। उनके मत मे शब्द विद्या की भाँति है और अपभ्रंश अविद्या की भाँति। जैसे विद्यावस्था अभिन्नब्रह्मात्मिका होती है उसी तरह साधुशब्दमयी विद्या भी। जैसे विद्या के भेद मिथ्या अथवा काल्पनिक हैं उसी तरह शब्दविद्या के भेद भी अवास्तविक है। महाभाष्यकार ने जो अपभ्रंश और साधु शब्द दोनों में अर्थ बताने की शक्ति एकसी (समान) मानी है वह अविद्यादशा को सामने रख कर है।[१९] पुण्यराज ने शब्द के छ प्रकार माने है और असाधु शब्द को भी उनके भीतर ग्रहण किया है। उनके अनुसार शब्द दो तरह के होने हैं। साधु और असाधु। साधु शब्द शास्त्रीय और प्रायोगिक रूप मे दो तरह के होते हैं। शास्त्रीय शब्द तीन तरह के होते हैं—प्रतिपाद्य, प्रतिपादक और उभयरूप। दाधति आदि निपातन सिद्ध शब्द प्रतिपाद्य माने जाते हैं। प्रकृति-प्रत्यय आदि प्रतिपादक माने जाते हैं। इतव्य जैसे शब्द उभयरूप माने जाते है। इस तरह असाधु शब्द को लेकर शब्द छ प्रकार के होते है।[१९अ]

उपर्युक्त आठ पदार्थों मे व्याकरण की दृष्टि से अपोद्धारपदार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमे पद अपोद्धारपदार्थ दो तरह का है। सिद्ध और साध्य रूप। इमी को नाम और आख्यात भी कहते है। सिद्ध रूप कारक से व्यक्त है और साध्यरूप क्रिया से। ये दो रूप अंश और अंशी की कल्पना पर आश्रित है।

तत्र चांशांशिकल्पनयाऽपोद्धारे कारकात्मा क्रियात्मा च प्रविभागार्ह इति सिद्धसाध्यलक्षणाशद्वयविषय पदापोद्धारो द्विविधो नामाख्यातरूप ।[२०]

हेलाराज के अनुसार यद्यपि नामपदो मे प्रत्ययार्थ की प्रधानता शब्द की दृष्टि से रहती है फिर भी अर्थ की दृष्टि से प्रातिपदिकार्थ रूप द्रव्य की प्रधानता मानी जाती है। सिद्ध रूप ही प्रधान है।

उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय का नाम और आख्यात मे अन्तर्भाव हो सकता है। क्योकि नाम सिद्ध अर्थ को व्यक्त करते है और उन सिद्ध अर्थों की विशेषता द्योतित करने वाला निपात सहज ही नाम के भीतर गृहीत हो सकता है। निपात चाहे सिद्ध अर्थ को साक्षात् व्यक्त करता हो अथवा सिद्ध अर्थ की किसी विशेषता को बतलाता हो उसके नाम के भीतर लेने मे कोई विशेष अड़चन नही है। अव्ययो मे स्व आदि जैसे कुछ सत्वप्रधान (द्रव्य-प्रधान) है इसलिये वे भी नामपद ही हैं और जो क्रिया प्रधान अव्यय है जैसे हिसक् आदि उनका आख्यात मे अन्तर्भाव हो जायगा क्योकि केवल तिङन्त ही आख्यात नही है। आख्यात के भीतर वह सब कुछ गृहीत है जो

१९. हेलाराज, वाक्यपदीय, ३, सम्बन्ध समुद्देश ३०

१९अ. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।८३

२०. हेलाराज वाक्यपदीय ३, जाति समुद्देश १, पृष्ठ २

क्रिया-प्रधान है। इसी दृष्टि से उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय को भी आख्यातपद माना जा सकता है। क्योंकि उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय साध्य अर्थ के द्योतक होते हैं।

कुछ लोग पदअपोद्धार को चार भाग मे विभक्त करते हैं। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। ये ही सबसे प्राचीन विभाग है। यास्क ने ऋग्वेद के 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'[21] की व्याख्या, वैयाकरणो की दृष्टि से, नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप मे की है। महाभाष्यकार ने इसका समर्थन **"चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च"**[22] कह कर किया है। नाम-आख्यात से उपसर्ग-निपात इस दृष्टि से अलग माने जाते है कि नाम और आख्यात साक्षात् वाचक हैं जब कि उपसर्ग और निपात साक्षात् अर्थवान् नही है, वे विशेष अर्थ के द्योतक मात्र है।

उपसर्ग और निपात मे परस्पर भेद यह है कि निपात सिद्ध (कारक) और साध्य (क्रिया) दोनो के अर्थ-विशेष के द्योतक होते है जबकि उपसर्ग केवल साध्य के अर्थ-विशेष के द्योतक होते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से निपात को वाचक इसलिये नही माना जाता है कि च आदि निपातो का वाक्य के आरम्भ मे प्रयोग नही होता, उनका स्वतत्र प्रयोग भी नही होता जैसे इव आदि का, उनके साथ षष्ठी आदि विभक्तियाँ नही लगती, लिंग और सख्या का योग भी उनके साथ नही होता।

"वैयाकरणगृहेषु हि प्राक्प्रयोगस्वातंत्र्यप्रयोगाभावात् षष्ठयाद्यश्रवणालिंगसख्याविरहाच्च वाचकवैलक्षण्येन द्योतक-निपाता इत्युद्घोष्यत एवेति।"[23]

निपात का प्रयोग पाद पूरण के लिये भी होता रहा है।

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
सत्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः ॥[24]

गार्ग्य के अनुसार उपसर्ग स्वतत्र रूप मे भी वाचक थे। उत्तर (उत्+तर), उत्तम (उत+तम्), निवत् (नि+वत्), उद्वत् (उत्+वत्) आदि शब्द इस बात के द्योतक हैं कि कभी उपसर्ग भी स्वतत्र अर्थ रखते थे अन्यथा उनसे तर, तम आदि प्रत्यय सभव नही थे। परन्तु शाकटायन, यास्क के अनुसार, उपसर्गो को नाम और आख्यात से अलग रूप मे वाचक नही मानते थे। वैयाकरण-सप्रदाय मे उपसर्ग द्योतक रूप मे ही ग्रहीत हैं।

कर्मप्रवचनीय भी क्रियाजनित सम्बन्ध-विशेष के द्योतन के द्वारा क्रिया-विशेष के प्रकाशक होते हैं इसलिए कुछ लोगो के अनुसार, कर्मप्रवचनीय का उपसर्ग मे अन्तर्भाव सभव है। फलत पद चार प्रकार के माने जाने चाहिये।

कुछ आचार्य कर्मप्रवचनीय को चार प्रकार के अतिरिक्त पाँचवाँ पद मानते

---

२१. ऋग्वेद १।१६४।४५, यास्क निरुक्त, १३।९ परिशिष्ट
२२ महाभाष्य, भाग प्रथम, पृ० ३, कोलहार्न संस्करण
२३. ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ३५४ (चौखम्बा संस्करण)
२४. दुर्गाचार्य वृत्ति, निरुक्त १।९

हैं। उनके मत में उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय में मौलिक भेद है। कर्मप्रवचनीय अतिक्रान्त क्रियागत संबंध को द्योतित करते हैं जबकि उपसर्ग वर्तमान क्रियागत विशेषण को द्योतित करते हैं। यहाँ वर्तमान पद का तात्पर्य क्रियाविशेष के सम्बन्ध के द्योतन से है। **क्रियागतविशेषद्योतनपूर्वकं हि सम्बन्धावच्छेदनमत्र वर्तमानम्**—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश १) महाभाष्यकार ने इसके लिये 'सम्प्रति' शब्द का प्रयोग किया है। अतिक्रान्त क्रिया का तात्पर्य अप्रयुज्यमान से है। भाव यह है कि सभी प्रकार के सम्बन्ध क्रिया-कारकपूर्वक होते हैं। कभी तो क्रिया सम्बन्ध को उत्पन्न कर विरत हो जाती है जैसे, राजपुरुष मे। यह राजा का पुरुष है क्योंकि राजा इसका पालन-पोषण करता है इसलिए पालन रूप क्रिया आश्रयआश्रयीभावलक्षण सम्बन्ध को उत्पन्न कर अलग हो जाती है। कभी क्रियापद स्वय श्रूयमाण होते हुए सम्बन्ध व्यक्त करता है जैसे, 'मातु स्मरति' मे माता सम्बन्धी स्मरण के रूप मे स्मृति क्रिया श्रूयमाण रूप मे ही निमित्तनिमित्तिभावलक्षण सम्बन्ध को उत्पन्न करती है।[२५]

क्रिया-पद जब सम्बन्ध को उत्पन्न कर निवृत्त हो जाता है, उस दशा मे सदेह हो सकता है कि वह सम्बन्ध क्रियाजनित है कि नही। ऐसी अवस्था मे कर्मप्रवचनीय काम देता है। वह उस अश्रूयमाण क्रिया के विशेष सम्बन्ध को द्योतित करता है

"तत्रयमश्रुतक्रियाविषयसम्बन्धे कर्मप्रवचनीयानां महिमा

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, साधन-शेष ३

क्रिया-कृत विशेष सम्बन्ध के द्योतक होने के ही कारण इन्हे कर्मप्रवचनीय कहते है .

अतएव कर्मप्रोक्तवन्तः, क्रियाकृतंविशेषसम्बन्धं द्योतयन्तीति कर्मप्रवचनीया उच्यन्ते।[२६]

अश्रूयमाण क्रिया का आक्षेपक कर्मप्रवचनीय नही माना जाता। जिस शब्द से क्रिया का आक्षेप होता है वह कारक विभक्ति से जुटता है। जैसे, 'प्रादेश विपरिलिखति' इस वाक्य मे वि शब्द मान क्रिया का आक्षेप करता है क्योकि इस वाक्य से 'प्रादेश विमाय परिलिखति' यह अर्थ भासित होता है। विमान क्रिया मे प्रादेश रूप कर्म का आक्षेप हुआ है, इसलिये उसके साथ द्वितीया का योग होता है। यदि कर्मप्रवचनीय के द्वारा अश्रूयमाण क्रियापद का आक्षेप होगा, उसके योग मे भी कारक विभक्ति ही होगी, फलत कर्मप्रवचनीय युक्ते द्वितीया २।३।८ इस सूत्र की कोई आवश्यकता नही रह जाती, वह व्यर्थ होता। पुन 'शाकल्यस्य सहितामनु प्रावर्षत्' जैसे स्थलो मे आक्षेप सभव भी नही है। क्रिया-कारक मे ही परस्पर आक्षेप सम्भव है, जैसे,

२५. काशिकाकार और वाक्यपदीयकार में, पुण्यराज के अनुसार, मातुः गुणैः स्मरणम् के विषय में विवाद था। काशिकाकार अधिगर्थदयेशां कर्मणि (२।३।५२) में कर्मणि शब्द का प्रयोजन यह मानते हैं कि करण में न हो। उनके मत में गुणैः स्मरणम् नहीं होता है न कि गुणानां स्मरणम्। भर्तृहरि के अनुसार करण की शेष विवक्षा में गुणानां स्मरणम् गुणैः स्मरणम् भी होता है। —पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२००

२६. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२०१

प्रविश, पिण्डी आदि स्थलो मे। 'सहिता' मे तो शैषकीय विभक्ति है इसलिए वहाँ आक्षेप सभव नही है। इसलिए निशामयति क्रिया के अप्रयुज्यमान होते हुए भी सहिता और प्रवर्षण मे हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध अनु से द्योतित होता है।

सु,अति, जैसे शब्दो की जिनमे सम्बन्ध-नियामक शक्ति नही है कर्मप्रवचनीय सज्ञा उपसर्ग और गति सज्ञा के निषेध के लिए की जाती है जिससे अतिस्तुतम् जैसे शब्दो मे षत्व का निषेध हो जाता है। यहाँ कर्मप्रवचनीय सज्ञा स्वार्थनिरपेक्ष रूप मे है—

क्वचित्तु प्रवृत्तिनिमित्ताऽभावेऽपि वचनसामर्थ्यादियं संज्ञा प्रवर्तते। यथा सुः पूजायामिति षत्वाविनिवृत्तये गत्युपसर्गसंज्ञा बाधनार्था।

—कैयट, महाभाष्य १।४।८३

फलत कर्मप्रवचनीय क्रिया का वाचक (द्योतक) नही होता। यदि क्रिया का द्योतक होता हो उससे कारकविभक्ति (द्वितीया) स्वभावत हो जाती वह सम्बन्ध का भी वाचक नही होता, षष्ठी के अपवादभूत द्वितीया से ही सम्बन्ध उक्त हो जाता है, इसलिए सम्बन्ध का भी वाचक कर्मप्रवचनीय नही माना जाता। वह क्रियापद का आक्षेपक भी नही माना जाता। जैसाकि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है। वह क्रियाविशेष द्योतक भी पूर्ण रूप से नही माना जा सकता क्योकि 'अनु हरिं सुरा' जैसे वाक्यो मे क्रियापद का सानिध्य नही देखा जाता। इसलिए कोई दूसरा उपाय न देखकर (पारिशेष्यात्) कर्मप्रवचनीय ही क्रिया-जनित सम्बन्ध का भेदक (विशेषक) अर्थात् द्योतक मान लिया जाता है। भाव यह है कि कर्मप्रवचनीय के प्रयोग के साथ क्रियाजनित सम्बन्ध की प्रतीति होती है वह सम्बन्ध किसी अन्य पद द्वारा ठीक-ठीक अभिव्यक्त नही किया जा सकता है क्योकि उन पदो की शक्ति सीमित है और वे अपना स्वाभाविक अर्थ ही व्यक्त कर सकते हैं। अत सम्बन्ध के द्योतक किसी अन्य के न होने के कारण अन्ततः कर्मप्रवचनीय ही क्रियाजनित उस सम्बन्ध का द्योतक मान लिया जाता है। जहाँ अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वहाँ उस अधिक अर्थ को वाक्यार्थ भी माना जाता है। परन्तु शाकल्यस्य सहितामनु प्रावर्षत् मे क्रियाजनित सम्बन्ध को वाक्यार्थ नही माना जा सकता। क्योकि अधिक रूप मे वाक्यार्थ सदा उपात्त साधन का उपात्त साध्य के ससर्ग के रूप मे होता है अथवा उपात्त विशेषण का उपात्त विशेष्य के ससर्ग के रूप मे होता है। यहाँ तो अनुपात्त पदार्थ का वाक्यार्थ से प्रतीति होती है। इसलिए अपदार्थ रूप वाक्यार्थ के रूप मे सम्बन्ध का ग्रहण यहाँ सम्भव नही है। अनु की केवल पश्चाद्भाव मात्र अर्थ मे शक्ति मान कर क्रियाजनित सम्बन्ध के अवच्छेदक के रूप मे उसे स्वीकार करना उचित है। भर्तृहरि के अनुसार सम्बन्ध का निमित्तनियम शब्द से सदा गृहीत नही होता। निमित्त विशेष के ग्रहण के लिए ही मानो कर्मप्रवचनीय हैं—

निमित्तनियमः शब्दात् सम्बन्धस्य न गृह्यते।

कर्मप्रवचनीयैस्तु स विशेषेऽनूद्यते ॥

—वाक्यपदीय ३, शेष समुद्देश ३

क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः ।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥

—वाक्यपदीय २।२०६

कर्मप्रवचनीय के सम्बन्ध के भेदक के विषय मे भी दो तरह के विचार हैं। एक तो यह कि कर्मप्रवचनीय के द्वारा सम्बन्धान्तर विलक्षण सम्बन्ध स्वरूपत. अवच्छेद्य होता है। दूसरा यह कि क्रियाविशेषजनितत्व के रूप मे सम्बन्ध कर्मप्रवचनीय द्वारा अवच्छेद्य होता है। सम्बन्ध के स्वरूपत अवच्छेद के पक्ष मे विशेषक्रियाजनितत्व की प्रतीति सम्बन्ध-विशेष के पर्यालोचन से हो जाएगी। जैसे, 'अधिब्रह्मदत्ते पञ्चाला' इस वाक्य मे स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध अधि से द्योतित हैं। यहाँ ब्रह्मदत्त का स्वामी (ईश्वर) है। पञ्चाल जनपद (स्व) है। दोनो का सम्बन्ध परिपालन, करदान आदि क्रिया द्वारा ही प्रभावित है। इसी तरह 'अभिमन्युरर्जुनत प्रति' इस वाक्य मे सादृश्य लक्षण सम्बन्ध प्रति द्वारा द्योतित है। फिर वह सम्बन्ध सप्रहरण आदि क्रिया कृत है यह पर्यालोचना से जान पडता है। 'शाकल्यस्य सहितामनु प्रावर्षत्' इस वाक्य मे, स्वरूप पक्ष के अनुसार, अनु से हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध द्योनित है। अधिक-से-अधिक अनु का इतना ही व्यापार है। इसके आगे अनु की शक्ति नही है। सहिता के पाठ-विशेष रूप मे होने के कारण निशमन क्रिया की प्रतीति होती है। 'सहिता पाठ से वर्षा हुई' यह ज्ञान ही विशेष क्रिया से प्रभावित होना ध्वनित करता है।

जो क्रियाजनितत्व पक्ष के पक्षपाती हैं उनके अनुसार अनु का व्यापार निशमन क्रिया की अभिव्यक्ति तक है। सहिता और प्रवर्षण मे जो हेतुहेतुमद्भाव सबध है वह निशमयति क्रियाजनित है इतना अनु से द्योतित है। 'अधिब्रह्मदत्ते पञ्चाला.' मे परिपालन क्रिया हेतुवाला स्वस्वाभिभाव सम्बन्ध अधि से द्योतित है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए। हेलाराज ने इसी मत को प्रश्रय दिया है। उनके अनुसार क्रियाफलरूप सम्बन्ध का द्योतन कर्मप्रवचनीय का कार्य है। उनके अनुसार भर्तृहरि का भी यही पक्ष जान पडता है—

····'वस्तुत क्रियाफलस्यैव सम्बन्धस्य प्रकाशनात्। यथा तु तत्रभवद्भर्तृहरेस्तत्र तत्राभिप्रायो लक्ष्यते तथा निमित्तविशेषावच्छेद एव कर्मप्रवचनीयकृत इति राद्धान्तः।'

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३।१ पृष्ठ ५

कर्मप्रवचनीय पर संग्रहकार के मत का उल्लेख भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति मे किया है। कर्मप्रवचनीय सम्बन्ध निर्धारण मे हेतु माने जाते है। सग्रहकार के अनुसार दो प्रकार के सम्बन्ध होते हैं.

तिरोभूत क्रियापद और सन्निहित क्रियापद। तिरोभूत क्रियापद से अभिप्राय क्रियापद के अश्रूयमाण रूप से है। दो द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध मे क्रिया स्वरूप के तिरोहित हो जाने पर भी सम्बन्ध अभिव्यक्त रहता है। सम्बन्ध क्रिया के आधार

पर होता है। कारकशक्तियों की अनभिव्यक्त दशा मे भी क्रिया उनके सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करा सकती है। जैसे राजपुरुष शब्दमें राजा मे कर्तृशक्ति है, वह पुरुष को कुछ देता है। पुरुष मे सम्प्रदान शक्ति है, वह राजा से कुछ लेता है। 'राजपुरुष' मे दोनों शक्तियो के तिरोहित होने पर भी ददाति क्रिया स्वस्वामिभाव सम्बन्ध को प्रकट कर देनी है। दान आदि क्रिया के अश्रुत होने के कारण यहाँ सम्बन्ध अश्रूयमाण क्रियाविषय माना जाता है। सन्निहित क्रियापद सम्बन्ध वहाँ होता है जहाँ कारकपद और क्रियापद मे सम्बन्ध दिखाया जाता है। इसका उदाहरण 'मातु स्मरति' वाक्य है। यहाँ क्रियापद श्रूयमाण है और क्रिया और द्रव्य मे सम्बन्ध दिखाया गया है। कर्मत्व की अविवक्षा मे स्मरण के प्रति मातु शब्द का विशेषण भाव प्रतिपादित होता है। क्रिया दो अर्थों की जोडने वाली मानी जाती है। इसलिए, किसी के मत मे, मातु स्मरति मे भी क्रिया और द्रव्य मे उपश्लेष के लिए किसी क्रियान्तर का आधार होना चाहिए। दूसरे आचार्य मानते है कि किसी अन्य अनिर्दिष्ट क्रिया की आवश्यकता नही होती। क्रिया सम्बन्ध के लिए क्रियान्तर की अपेक्षा नही रखती है। दो काष्ठो के सश्लेष मे जतु आदि द्रव्य तो आवश्यक है किन्तु जतु और काष्ठ के सयोग मे अन्य की अपेक्षा नही होती। सग्रहकार का मूल उद्धरण निम्नलिखित है :

कर्मप्रवचनीयविषयविभागप्रदर्शनार्थं सम्बन्धोपन्यास । द्विविधो हि सम्बन्धः सग्रहे पठ्यते । तिरोभूतक्रियापदः, सन्निहितक्रियापदश्च । एवं ह्याह— "उपर्युक्तार्थ द्रव्य सम्बन्धेषु क्रियान्तासु नष्टरूपासु भिन्ना धर्मतो विगुणेष्वेव सम्बन्धात्मा प्रकाशते। श्रूयमाणक्रियावद् द्रव्ययो सम्बन्धः विषयभूतत्वाद् क्रियाया" इति । —वाक्यपदीय ३।१६६ हरिवृत्ति, हस्तलेख

भर्तृहरि ने एक दूसरा उदाहरण भी दिया है जो सग्रहकार का जान पडता है किन्तु स्पष्ट रूप से नाम का उल्लेख नही है

तथैव केचित् पचपदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपातकर्मप्रवचनीया इति पठन्ति। तेषामप्यर्थभेदेनोपसर्गनिपातेभ्य उत्कर्ष क्रियते, अत आह—'क्रिया रूपनाशे न तिरोभवन्ती यं सम्बन्धमुपजनयति तस्या निमित्तभूतायाः क्रियायाः सहचारी वाक्यान्तरेषु विशेषदृष्टसामर्थ्यः कर्मप्रवचनीयः क्रियाविशेषोपादानेन सम्बन्धमवच्छिनत्ति, निमित्तानुग्रहानुगममात्रायाः सम्बन्धरूप नियमयतीति ।

—वाक्यपदीय २।२०१ हरिवृत्ति, हस्तलेख

पाणिनि ने कर्मप्रवचनीय ग्यारह गिना दिए है—अनु, उप, अप, परि, आङ्, प्रति, अभि, अधि, सु, अति, अपि। और इनके बाह्म अर्थ दिए है—हेतुलक्षण, सहार्थ, हीनता, आधिक्य, वर्जन, मर्यादावचन, लक्षण, इत्थभूताख्यान, भाग, विप्सा, प्रतिनिधि, प्रतिदान, आनर्थक्य, पूजा, अतिक्रमण, पदार्थ, सभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा, समुच्चय, स्वाम्य और अधिकार। इनमे पदार्थ, सम्भावना और अन्ववसर्ग अत्यन्त प्राचीन वाङ्मय के शब्द है जिनका उन दिनो विशेष अर्थ होता था और पाणिनि ने १।४।९६ मे उन्ही अर्थों मे इनका प्रयोग किया है।

औदुम्बरायण दर्शन

वार्ताक्ष और औदुम्बरायण नाम के आचार्यों ने नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप मे पदविभाग को अनुपपन्न माना था। वे वाक्य को अखण्ड मानते थे। उसका भी सप्रत्यय (ज्ञान) बुद्धि मे संसृष्ट रूप मे रहता है। शब्द (वाक्य) बौद्ध है। अर्थ भी बौद्ध है। शब्द भी बुद्धि मे ससृष्ट रूप मे रहता है, अर्थ भी ससृष्ट रूप मे रहता है। बुद्धि से जो कुछ जाना जाता है वह सब ससृष्ट रूप मे रहता है इसलिए बुद्धि भी ससृष्टार्थप्रत्ययावमर्शिनी है। ससृष्ट का प्रविभाग अवास्तविक होता है। अत चार पदजातो की कल्पना भी अवास्तविक है।

ससृष्ट शब्द अथवा ससृष्ट अर्थ के परिज्ञान का एक कल्पित साधन है जिसे अपोद्धार कहा जाता है। अपोद्धार पद्धति के आधार पर लोक मे और शास्त्र मे भी, व्यवहार के लिए वाक्य को पद मे विभक्त किया जाता है। सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, उपायान्तर से जिसे किसी तरह से नही समझा जा सकता, उन सब अर्थों के जानने का साधन शब्द है। व्याप्ति और लाघव के आधार पर शब्द का आश्रय लिया जाता है शब्द व्याप्तिमान् है क्योंकि वह मूर्त, अमूर्त सबका स्पर्श करता है। शब्द लघु है क्योकि वह एक मे अनेक का, अल्प मे महत् का अवबोधक है। एक-एक शब्द अपने समानधर्मा अनन्त शब्दो के प्रतीक है। अत्यन्त ससृष्ट अर्थ का अथवा अत्यन्त अविभक्त शब्द के परिज्ञान के लिए अपोद्धार की कल्पना कर ली जाती है।[1] परपरा मे लोक मे और शास्त्र मे भी पद-व्यवहार प्रसिद्ध है। अपोद्धार रूप मे पद की सत्ता मानकर नाम, आख्यात, निपात आदि के रूप मे पद का विभाग उपपन्न होता है:

> **एतस्माद् एव औदुम्बरदर्शनात् तत्र चतुष्ट्व नोपपद्यत इत्युच्यते। यथैव तु व्याप्तिमत्वात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वर्थेषु बहुभिरपि प्रकारैः दर्शयितुम् अशक्येषु लाघवात् शब्दव्यवहारो लोके प्रसिद्धिं गत, एवमत्यन्तसंसृष्टे-ष्वर्थात्मसु शब्देसु वा विभक्तेषु अपोद्धारः कल्पित। पदव्यवहारो व्याप्तिमत्वात् लघुत्वाच्च लोके शास्त्रे च रूढिः प्रसिद्धो व्यवस्थित इति।**
>
> —वाक्यपदीय २।३४८, हरिवृत्ति, हस्तलेख

1. औदुम्बरायण अखण्डवाक्यवादी थे इसकी पुष्टि महाभाष्य की एक अज्ञात नामवाली अप्रकाशित व्याख्या मे भी होती है—

निर्भागस्फोटवादिनस्तु भगवद् औदुम्बरायणमतानुसारिण एवमाहुः।

महाभाष्य व्याख्या, हस्तलेख, पृ० २५, मद्रास ओरियन्टल मनुस्क्रीप्ट लाइब्रेरी नं० आर ४४३६।

भरतमिश्र ने भी इसकी पुष्टि की है—इह केश्चिद् वर्णातिरिक्ततया पदस्वमेकाकारप्रत्यय-निर्भासमानमप्यनन्तरदृष्टार्थ हेतुतया च 'तदागमे हि दृश्यत' इत्यनेन न्यायेन प्रसिद्धमपि भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टाखण्डभावमपि..।

——स्फोटसिद्धि, पृ० १

प्रातिपदिकार्थ

प्रातिपदिकार्थ के विषय मे भर्तृहरि के पहले से ही विवाद चला आ रहा था। भर्तृहरि ने लिखा है कि पुरुष-विकल्प के आधार पर प्रातिपदिकार्थ पाँच, चार और तीन रूप मे माने जाते हैं (**पञ्चकः प्रातिपदिकार्थः, चतुष्कः त्रिक इति पुरुषविकल्पाधीन एवं प्रकारः पक्षभेदः**——वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति, पृ० ४०)। इस भेद का मूल आधार विभक्ति का वाचक या द्योतक होने का विवाद था। कुछ लोगो के मत मे प्रातिपदिक से स्वार्थ, द्रव्य, लिंग, सख्या और कर्मादि का अभिधान होता है, विभक्तियाँ कर्मादि की द्योतिका हैं। कुछ आचार्यों के मत मे स्वार्थ, द्रव्य और लिंग प्रातिपदिक से (प्रकृति से) अभिहित होते हैं, विभक्तियाँ सख्या और कर्म आदि की वाचिका हैं। वाक्यपदीयकार ने स्वय इसका उल्लेख वाक्यपदीय २।१६५, १६६ हरिवृत्ति मे किया है।

जिनेन्द्र बुद्धि के अनुसार त्रिक प्रातिपदिकार्थ पक्ष वृत्तिकार को अभिमत है। क्योंकि उनके कथनानुसार, वही युक्त है। वृक्ष पश्य जैसे वाक्यो मे विभक्ति के बिना सख्या कर्म आदि की प्रतीति सभव नही है। यद्यपि पय पयो जरयति जैसे वाक्यो मे बिना विभक्ति के भी सख्या, कर्म आदि का बोध देखा जाता है फिर भी पयसी पयासि पयसा जैसे स्थलो मे सख्या कर्म आदि के ज्ञान के लिये विभक्ति की अपेक्षा अनिवार्य है। जिस तरह 'गर्गा' शब्द मे बहुवचन के कारण यञ् प्रत्यय के बिना भी अपत्य अर्थ की प्रतीति होती है वैसे ही गार्ग्य शब्द मे भी प्रकृति ही अपत्य-अर्थ को व्यक्त कर सकेगी ऐसा नही कहा जा सकता। पय पयो जरयति जैसे स्थलो मे भी वस्तुत विशेष विभक्ति के कारण ही सख्या, कर्म आदि की प्रतीति होती है यदि विशेष विभक्ति नही होती अर्थ-विशेष का भी भान नही होता। इसलिये त्रिक पदार्थ पक्ष ही युक्तियुक्त है। (**कस्मात् पुनः वृत्तिकारेण त्रिकः प्रातिपदिकार्थ इति दर्शनमाश्रितम्। युक्तत्वात्।**

—काशिकाविवरण पञ्जिका १।४।२१, पृ० २७६।

हरदत्त ने त्रिक प्रातिपदिकार्थपक्ष के प्रसंग मे प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के मतो का उल्लेख किया है। त्रिक प्रातिपादिकार्थ पक्ष मे कर्म आदि की तरह एकत्व आदि सख्या विभक्ति के अर्थ है। प्रभाकर के अनुयायी मानते है कि कर्म आदि का विभक्ति द्वारा युगपत् अभिधान होता है, उनमे विशेषण विशेष्यभाव होने के पहले ही प्राति-पदिकार्यगत के रूप मे ही वृक्ष एक वृक्ष, कर्म, करण आदि का अभिधान होता है बाद मे एक क्रिया मे अन्वय होने के बल से उनमे परस्पर सम्बन्ध होता है। भाट्ट सप्रदाय वाले विशिष्टाभिधान के पक्षपाती हैं। हरदत्त का भी यही मत है

> **त्रिकः प्रातिपदिकार्थ इत्यस्मिन् दर्शने कर्मादिवदेकत्वादि सख्या विभक्त्यर्थः। तत्र कर्मादीनां युगपद् विभक्तिभिः अभिधीयमानानां परस्परं विशेषण विशेष्यभावमनापन्नानां केवलप्रातिपदिकार्थगतानामभिधानं वृक्ष एको वृक्षः कर्म पशुरेकः पशु करणमिति चाभिधानं, पश्चाच्चैकक्रियान्वयबलेन परस्पर-सम्बन्ध इति प्राभाकरा मन्यन्ते। भाट्टास्तु परस्परासम्बद्धस्य स्वतंत्रस्या-**

नेकार्थस्याक्षाः पादा भाषा इत्यादावभिधानवशान्नेष्येकशेषमन्तरेणावश-नाद् यजेत इत्यादौ च कृतिकार्ययोर्युगपल्लिङ्गाभिधीयमानयोरपि विशेषण विशेष्यभावस्य प्राभाकरैरभ्युपगमात्तद्वदेव विशिष्टाभिधानं मन्यन्ते। अस्माकमप्ययमेव पक्ष। —पदमंजरी २।३।१ पृष्ठ ४१८

चतुष्क प्रातिपदिकार्थ पक्ष की व्याख्या दो तरह से की जाती है। स्वार्थ, द्रव्य, लिंग और कारक रूप मे तथा स्वार्थ, द्रव्य, लिंग और सख्या रूप मे। इसमे प्रथम चतुष्क सख्या के द्योतक पक्ष मे घटित होता है (कैयट, महाभाष्यप्रदीप ४।१।१)।

वस्तुत व्याकरणदर्शन मे आवश्यकतानुसार कभी त्रिक पक्ष का और कभी चतुष्क और कभी पञ्च प्रातिपदिकार्थ पक्ष—ये सभी मान्य रहे हैं। नागेश के अनुसार भाष्यकार विभक्तियो को द्योतक रूप मे मानते है, द्योतक पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष है। **अस्माद् भाष्यात् द्योतकत्वपक्ष एव सिद्धान्त इति मन्यते।** नागेश—महाभाष्य ४।१।५०

कैयट के अनुसार प्रातिपदिकार्थ ही अनेक शक्तियोग के कारण कर्म आदि शब्द मे वाच्य होता है। जिसे हम विभक्ति विपरिणाम कहते है वह भी वस्तुत प्रातिपदिक का ही विपरिणाम है। विभक्ति का विपरिणाम केवल औपचारिक रूप में होता है :

प्रातिपदिकार्थ एव हि नानाशक्तियोगात् कर्मादिशब्दवाच्य इति स एव विशिष्ट शक्तियुक्तो विभक्त्यन्तवाच्यः। अथवा तात्त्विकेऽपि भेदे शब्दस्य सारूप्यात् तत्त्वाध्यवसायाश्रयेण विभक्तिप्रत्ययत्यागोपादानाभ्यां प्रातिपदिकस्य विपरिणामव्यवहारोऽवसीयते। विभक्तेस्तूपचरितो विपरिणामव्यवहारः। न हि प्रथमायाः सप्तमीरूपेण विपरिणामः संभवः।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।३।६०

प्रातिपदिकार्थ स्वार्थ अनेक प्रकार का है। स्वार्थ शब्द मे स्व शब्द आत्मीय का वाचक है और अर्थ शब्द अभिधेय का वाचक है। (स्वोऽर्थ स्वार्थ)। वह स्वरूप, जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, सम्बन्ध रूप मे कई तरह का होता है। जब गौ ऐसा शब्दस्वरूप से विशिष्ट जाति कही जाती है, शब्दस्वरूप विशेषण होने के कारण स्वार्थ है और जाति विशेष्य होने के कारण द्रव्य है (द्रव्य शब्द से यहाँ व्याकरण-दर्शन प्रसिद्ध इद तत् इस रूप मे परामर्श योग्य वस्तु से अभिप्राय है)। पटस्य शुक्लो गुण जैसे स्थलो मे जाति से विशिष्ट गुण का अभिधान होता है इसलिये विशेषण होने के कारण जाति यहाँ स्वार्थ है और गुण विशेष्य होने के कारण द्रव्य है। शुक्ल पट जैसे शब्दो मे गुण विशिष्ट द्रव्य का उल्लेख होने के कारण विशेषणभूत गुण स्वार्थ है और विशेष्यभूत पट द्रव्य है। कभी-कभी द्रव्य भी द्रव्यान्तर का विशेषण होता है जैसे यष्टी प्रवेशय, कुन्तान् प्रवेशय जैसे वाक्यो मे। ऐसे स्थलो मे विशेषणभावापन्न यष्ट्यादिक द्रव्य तो स्वार्थ है और विशेष्यभावापन्न द्रव्यान्तर (पुरुषादिक) द्रव्य ही हैं। दण्डी, विषाणी जैसे शब्दों मे जहाँ सम्बन्ध-निमित्तक प्रत्यय होते है, सम्बन्ध ही स्वार्थ है। कभी क्रिया भी स्वार्थ मानी जाती है जैसे पाचक पाठक आदि में। इनमे क्रियानिमित्तक प्रत्यय हुआ है। पाचक जैसे स्थलो मे कुछ लोग क्रिया-कारक सम्बन्ध को स्वार्थ मानते है। जब प्रवृत्तिनिमित्तलिंगसख्याव्यतिरिक्त लिग और सख्या का अभिधान होता है वहाँ लिंग और सख्या भी स्वार्थ है जैसे स नपुंसकोऽभवत्, गावोविंशति आदि स्थलो में। इसी तरह कारक भी कर्म, करण आदि के रूप मे स्वार्थ होता है। परन्तु जहाँ प्रवृत्तिनिमितव्यतिरिक्त लिंग और सख्या असम्भव है—जैसे

स्त्री, पुमान्, एकः, द्वौ, बहवः आदि मे-- -वहाँ लिग-सख्या का अभिधान नही होता।

यद्यपि लोक मे पद के उच्चारण करते ही पाँचो प्रातिपदिकार्थ एक साथ ही (युगपत्) प्रतीत होते है क्योंकि शब्द-व्यापार विरम-विरम कर नही होता और न अर्थ के साथ उसका कभी वियोग होता है फिर भी शास्त्र मे व्यवहार की सुविधा के लिये कल्पित अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा क्रम का आश्रय लिया जाता है। प्रातिपदिक स्वय प्रयोग के योग्य नही होते। उनकी अर्थवत्ता भी कल्पित ही है फलत कल्पित न्याय के बल पर उनमे क्रम माना जाता है। शास्त्र मे क्रम अनेक प्रकार का माना जाता है जैसे श्रुतिक्रम, अर्थक्रम, पाठक्रम, काण्डक्रम, प्रवृत्तिक्रम, प्रतिपत्तिक्रम, प्रयोगक्रम, बुद्धिक्रम आदि। पुण्यराज ने वाक्यपदीय २।८० की टीका मे इनका व्याकरणशास्त्र के उदाहरणो द्वारा विवेचन किया है। जहाँ तक प्रातिपदिकार्थो का सम्बन्ध है इनमे प्रतिपत्तिक्रम होना चाहिये। परन्तु भर्तृहरि के अनुसार प्रतिपत्तिक्रम श्रोता की दृष्टि से और वक्ता की दृष्टि से भी व्यवस्थित नही है (**न हि शब्दस्य क्रमवती विरम्य विरम्य स्वार्थादिषु वृत्तिः सम्भवति। सकृदुच्चारणात्। अर्थेन च नित्यमवियोगात्। प्रतिपत्तिक्रमोऽप्यय श्रोतुरभिधातु र्वा न व्यवस्थितः** (वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति, पृष्ठ ४१)। मध्यमा मे जो 'क्रम' है वह शब्द-व्यापार से नही होता अपितु वह एक तरह का कल्पित होता है। कभी-कभी श्रोता या अभिधाता को क्रम की प्रतिपत्ति होनी है। नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धि इस न्याय के अनुसार पहले स्वार्थ का तब विशिष्ट लिग आदि की प्रतिपत्ति होनी चाहिये। भर्तृहरि के अनुसार क्रम ग्रहण के आधार निम्नलिखित पाँच है—

(१) प्रत्यासत्ति
(२) महाविषयता
(३) अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यजनप्रकर्ष
(४) उपलिप्सा
(५) बीजवृत्तिलाभानुगुण्य

प्रत्यासत्ति के द्वारा प्रातिपदिकार्थो मे प्रतिपत्ति क्रम का निर्धारण किया जाता है। प्रत्यासत्ति का अर्थ आसन्न अथवा समीपगत है। प्रत्यासत्ति उपकारभाविता मानी जाती है। उच्चरित शब्द मे सभी प्रातिपदिकार्थ स्वार्थ, द्रव्य, लिग आदि समृष्ट रहते हैं। इनमे प्रतिपत्ता जिसको समीप समझता है उसको पहले अवगत करता है। प्रातिपदिकार्थो मे आसन्न उपकारक जाति है। जातिस्वरूप के बिना द्रव्य का अवधारण दुष्कर है। अत सर्वप्रथम प्रत्यासत्ति के आधार पर जाति का ज्ञान होता है। जाति द्रव्य के बिना अभिव्यक्त नही हो सकती और न व्यवहार के योग्य हो सकती है। लिग आदि भी आश्रय के बिना नही टिक सकते। इसलिए जाति के बाद परन्तु लिंग सख्या आदि के पहले द्रव्य का भाव होता है। लिग तथा सख्या और कारक मे लिग प्रत्यासन्न है। क्योंकि लिग द्रव्यान्तर अनपेक्ष होता है जबकि सख्या और कारक दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा रखते हैं। दो-तीन आदि सख्याएँ एक वस्तु से अतिरिक्त वस्तु की अपेक्षा रखती ही हैं। एक सख्या भी द्वित्व आदि के व्यवच्छेदक के रूप मे द्रव्यान्तर

सापेक्षा ही मानी जायगी। फलत: बहिरंग संख्या और कारक की अपेक्षा अंतरंग लिंग की प्रतिपत्ति पहले मानी जाती है। संख्या और कारक में संख्या सजातीय पदार्थ की अपेक्षा रखती है जबकि कारक विजातीय क्रिया की अपेक्षा रखते हैं। अतः बहिरंग कारकों की अपेक्षा अंतरंग संख्या का अवबोध पहले होगा। अत: प्रत्यासत्ति के आधार पर प्रातिपदिकार्थों में जाति, द्रव्य, लिंग संख्या और कारक इस तरह का क्रम होगा।

महाविषयता के द्वारा भी क्रम की प्रतिपत्ति होती है। जाति और द्रव्य में जाति का क्षेत्र अधिक व्यापक है क्योंकि जाति सर्व व्यक्ति में अनुगत है। स्फुटतर परिच्छेद होने के कारण पहले जाति का ही ग्रहण होगा। द्रव्य और लिंग में द्रव्य महाविषय है क्योंकि द्रव्य सभी लिंगों के साथ है जबकि एक लिंग दूसरे लिंग से व्यावर्तित है। अर्थात् स्त्रीलिंग पुंलिंग आदि सबके साथ द्रव्य मिलेगा परन्तु जहाँ स्त्रीलिंग है वहाँ पुंलिंग नहीं है। लिंग और संख्या में लिंग महाविषय है क्योंकि लिंग सभी संख्याओं में है जबकि एक संख्या दूसरी संख्या से भिन्न है। संख्या और कारक में संख्या महाविषयवाली है। संख्या का सम्बन्ध प्रातिपदिक और आख्यात दोनों से है जबकि कारक का सम्बन्ध केवल प्रातिपदिक से है। अत: महाविषयता की दृष्टि से भी जाति, द्रव्य, लिंग आदि का क्रम संभव है।

अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यजनप्रकर्ष भी प्रतिपत्ति-क्रम में साधन है। अभिव्यक्ति के निमित्त में जितना ही अधिक उपव्यजन होंगे उतना ही शीघ्र उसका ज्ञान होगा। जाति और द्रव्य में जाति के उपव्यजन अधिक है क्योंकि जाति सर्वसाधारण होने के कारण अनेक व्यक्ति से व्यंग्य होती है। जबकि द्रव्य अपने अवयवों द्वारा व्यक्त किये जाने के कारण अल्पव्यजनवाला है। इसी तरह द्रव्य और लिंग में लिंग और संख्या आदि में उपव्यजन क्रमश: अल्प होता गया है।

उपलिप्सा के द्वारा भी क्रम का बोध होता है। सर्वप्रथम जिसकी उपलब्धि इष्ट होती है प्रतिपत्ता को उसी का भान सर्वप्रथम होता है।

बीजवृत्तिलाभ अनुगुण्य के द्वारा भी क्रम का ज्ञान होता है। प्रत्यय (ज्ञान) उत्पत्ति में जो आन्तर कारण है उसे बीज कहते हैं। उसके वृत्तिलाभ का तात्पर्य प्रबोध से है। आनुगुण्य का अभिप्राय कार्य के उत्पादन के अभिमुख होना है। जितने ज्ञान होते हैं वे पूर्व पूर्व आहित संस्कार के प्रबोध के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। जाति ज्ञान द्रव्य ज्ञान का बीजवृत्तिलाभानुगुण्य है। अर्थात् जाति के ज्ञान होने पर द्रव्य का ज्ञान होता है। इसलिये सर्वप्रथम जाति का ज्ञान होगा। इसी तरह व्यक्ति (द्रव्य) का ज्ञान आश्रय-परतंत्र लिंग आदि के ज्ञान का अनुगुण है। इसी तरह जाति, व्यक्ति, लिंग आदि का क्रम बीजवृत्तिलाभानुगुण्य के सहारे भी भासित होता है।

उपर्युक्त क्रम का उल्लेख महाभाष्यकार ने भी किया है: **प्रातिपदिकं चाप्युपदिष्टं सामान्यभूतेऽर्थे वर्तते। सामान्ये वर्तमानस्य व्यक्तिरुपजायते। व्यक्तस्य सतो लिंगसंख्याभ्यामन्वितस्य बाह्येनार्थेन योगो भवति**—महाभाष्य १।१।५७। भाष्यकार ने उपर्युक्त मन्तव्य लौकिक आधार पर व्यक्त किया है। व्यक्ति प्रात:काल उठ कर पहले शरीर-कार्य करता है। तब मित्रों का तब सम्बन्धियों का कार्य करता है। यही न्याय-

प्राप्तक्रम प्रातिपदिकार्थों मे भी काम देते है।

फिर भी वाक्यपदीयकार के मत मे क्रम मे अनियम देखा जाता है (**प्राप्त्याद्यु भावाद्यु अनियमेन बुद्धिक्रमो व्यवतिष्ठते**—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२६ पृ० ४२ जाति आदि की प्रत्यासत्ति मे व्यभिचार देखा जाता है जैसे इयम् एकस्य एतत् कर्म जैसे स्थलो मे जाति के बिना भी लिंग आदि द्रव्य को व्यवहार योग्य बनाते है। भर्तृहरि ने अपने मत की पुष्टि के लिऐ निम्नलिखित कारिका उद्धृत की है

एकोऽयं शक्तिभेदेन भावात्मा प्रविभज्यते।
बुद्धिवृत्यनुकारेण बहुधा ज्ञानवादिभिः॥

वस्तुत भर्तृहरि के दर्शन मे शब्दात्मा और अर्थात्मा का रूप विभागातीत है (**समीहित पौर्वापर्योऽर्थात्मा स्वरूपादप्रच्युतोपि सर्वो विभागातीत तत्त्व एव**—वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।१३)। भर्तृहरि ने प्रतिपत्ति को लघुप्रक्रमा और गुरुप्रक्रमा इन दो रूपो मे व्यक्त किया है। लघुप्रक्रमा तो वह है जिसके द्वारा सामान्यविशेष के विचार के साथ विभाग के द्वारा अविभक्त की प्रतिपत्ति की जाती है। गुरुप्रक्रमा उस प्रतिपत्ति का नाम है जिसके द्वारा ससृष्ट रूप का अविभक्त रूप मे ही ज्ञान होता है। कुशल प्रतिपत्ता वही है जो भेद को अभेद के व्याघात के बिना ही देखता है (वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।१३)।

प्रातिपदिकार्थ-जाति अथवा व्यक्ति

वाजप्यायन के मत मे शब्द का वाच्य जाति है। व्याडि के मत मे शब्द का वाच्य व्यक्ति है। पाणिनि के मत मे आवश्यकतानुसार जाति और व्यक्ति दोनो हैं। भर्तृहरि के अनुसार यदि आकृतिवाद पक्ष को माना जायगा, शास्त्र मे विप्रतिषेध-बाध और शब्दान्तर प्राप्ति की उपपत्ति सभव नही है। यदि व्यक्तिवाद पक्ष माना जायगा, उत्सर्ग और अपवाद बेकार सिद्ध होगे

"पाणिनेः सर्वत्राकृतेर्भावात् सकृद्गत विप्रतिषेधबाधनं शब्दान्तरप्राप्तिश्च नोपपद्यते। अथ द्रव्यमेव पदार्थः एवमपि सर्वासां व्यक्तीना सर्वाभिश्चोदनाभिरङ्गीकरणात् उत्सर्गापवादौ न प्रकल्पेते।"--महाभाष्य त्रिपादी पृष्ठ २३ ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का हस्तलेख, पृ० १८ पूना सस्करण

इसलिए पाणिनि ने जाति और व्यक्ति दोनो को दृष्टि मे रख कर सूत्र रचे है। लक्ष्यानुरोध से कही जाति का और कही व्यक्ति का आश्रय लिया जाता है। जाति-पदार्थ पक्ष मे जाति ही शब्द का अभिधेय है उसके आधारभूत व्यक्ति की प्रतीति नान्तरीयक रूप मे मानी जाती है। इस पक्ष मे जाति के स्थानित्व, आदेशत्व, परत्व, अव्यवहितत्व आदि धर्म व्यक्ति के द्वारा शब्दसस्कार मे उपयोगी होते है। इसलिये यरोऽनुनासिकेनुनासिको वा ८।४।४५ जैसे लक्षण जातिमती व्यक्ति मे ही प्रवृत्त होते है। कैयट के अनुसार स्वरूप शब्दस्याशब्दसज्ञा १।१।६८ मे रूप शब्द का अर्थ सामान्य भी है और व्यक्ति भी हैं। दोनो प्रकार के अर्थ मानने पर भी फल मे कोई भेद नही है। क्योकि व्यक्ति सामान्य से युक्त रूप मे ही, सामान्य व्यक्ति के आश्रय से ही प्रतिष्ठित होता है (महाभाष्यप्रदीप १।१।६८)। भर्तृहरि भी इस बात को मानते है कि जाति

और व्यक्ति के विवाद मे केवल प्रतिज्ञाभेद है न कि वस्तुभेद है। तात्पर्य के अनुसार जाति और व्यक्ति मे कोई कही प्रधान और कही नान्तरीयक होता है (**तात्पर्येण तु विवक्षाभिद्यते। किञ्चदत्र प्रधानम् किञ्चिन्नान्तरीयकमिति। तत्त्व प्रतिज्ञामेवमात्रम्। जातिः शास्त्रे कार्ययोगिनी संचिकीर्षिता, व्यक्तिः शास्त्रे कार्ययोगिनी संचिकीर्षितेति।**

—वाक्यपदीय १।७० हरिवृत्ति, पृ ७३

व्यक्ति मे अर्थक्रियाकारिता होते हुए भी व्यक्तिपक्ष मे आनन्त्य और व्यभिचार दोष माने जाते हैं और जैसा कि मम्मट ने कहा है, गौ शुक्ल चल डित्थ. आदि मे विषयविभाग भी न हो सकेगा। परन्तु व्यक्तिपक्ष का समर्थन करते हुए कौण्डभट्ट ने इन आक्षेपो को निराधार माना है क्योकि जिस रूप मे शक्तिग्रह होगा उसी रूप मे पदार्थोपस्थिति भी होगी

यद्यपि काव्यप्रकाशकारेणोक्तं गौः शुक्लः चलो डित्थ इत्यादीनां जातिगुण क्रियासंज्ञाशब्दत्वेन विषयविभागः शुद्धव्यक्तिवाच्यत्वे न स्याद् इति तच्चिन्त्यम्। येन रूपेणापस्थिते शक्तिग्रहस्तेन रूपेणः पदार्थोपस्थिति। ......उक्तं च भट्टपादैः अरुणाधिकरणे आनन्त्येऽपि हि भावानामेकं कृत्वोपलक्षणम्। शब्दः सुकरसम्बन्धो न च व्यभिचरिष्यति॥

—श्लोक वार्तिक, वैयाकरण भूषण, पृष्ठ ११६ बम्बे संस्कृत सीरीज।

इस सम्बन्ध मे भर्तृहरि ने जाति और व्यक्ति मे व्यतिरेक दिखाते हुए दृष्टाभिधानपक्ष और अदृष्टाभिधानपक्ष का उल्लेख किया है। कुछ आचार्य मानते हैं कि व्यक्ति के स्वरूप-भेद निश्चित रूप मे होते हैं। ऐसा नही होता कि व्यक्ति का स्वरूप असवेद्य, अव्यपदेश्य अथवा अविद्यमान हो। व्यक्ति ही गौ है आकृति नही। गुण ही नील है न कि गुण सामान्य नीलत्व।

कुछ लोगो के मत मे शब्द जाति के रूप मे ही स्वरूपवान् होते है और जाति के द्वारा ही अव्यपदेश्यस्वरूप व्यक्ति के बोधक होते है। क्योकि देखा जाता है कि निमित्त और अनिमित्त वाले अर्थ मे निमित्त वाले अर्थ का पहले ज्ञान होता है। निमित्त दृष्टाभिधानवाले और अदृष्टाभिधानवाले होते हैं।

जिसके निमित्तो का अभिधान दृष्ट है उसे दृष्टाभिधान कहते है, जैसे, गोत्व आदि। गो शब्द गोत्व की अभिधा है (**गो शब्दादयो हि तेषां अभिधा**—वृषभ वाक्यपदीय १।७०)

जिसके निमित्तो का अभिधान दृष्ट नही है उसे अदृष्टाभिधान कहते है। जैसे, उत्पलगन्ध आदि। उत्पलगध शब्द उसे व्यक्त नही करता। क्योकि सम्बन्ध से अवच्छिन्न सम्बन्धी का अभिधान होता है (**न हि उत्पलगंध शब्दस्तदाह। सम्बंधावच्छिन्न-सम्बन्ध्यभिधानात्** (वही, पृष्ठ ७२)

निमित्त कभी तो एक देश के सारूप्य से और कभी अत्यन्त सादृश्य से शब्द के ज्ञान मे प्रवृत्त होते है। एक देश के सादृश्य से जैसे, ध्वनि अथवा कोई अग अथवा चेष्टा देखकर प्राणी शब्द की प्रवृत्ति होती है। गौ शब्द की प्रवृति और उसका ज्ञान अधिक अवयव सन्निवेश के सादृश्य मे होता है।

मुख्य बात यह है कि दृष्टाभिधान मे जाति शब्द और प्रत्यय (ज्ञान) इन तीनों का अनुवर्तन होता है। अदृष्टाभिधान मे केवल जाति और बुद्धि इन दो का ही अनुवर्तन होता है।

तत्र दृष्टाभिधानेषु त्रयमनुवर्तते-जातिः शब्दः प्रत्यय इति। अदृष्टाभिधानेषु द्वयं जातिबुद्धिश्चेति।

—वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।५०, पृष्ठ ७२

इस तरह जाति व्यक्ति मे परस्पर अविनाभाव रूप मे वृत्ति है। इनमे यदि भेद है तो वह तात्पर्यवश से है। जाति की विवक्षा मे जाति प्रधान है और व्यक्ति की विवक्षा मे व्यक्ति प्रधान है, शेष नान्तरीयक है। अत जाति और व्यक्ति एक-दूसरे के सम्कारक है। यही पक्ष व्याकरण सप्रदाय मे गृहीत है और यही पक्ष भर्तृहरि को भी अभिमत है।

कात्यायन के मत में जाति और व्यक्ति

जाति और व्यक्ति पर विचार कात्यायन ने वाजप्यायन और व्याडि के आधार पर किया है। वाजप्यायन के अनुसार आकृति एक है। शब्द मे उसी का अभिधान होता है। उसकी सत्ता और उसके एकत्व का ज्ञान बुद्धि की एकरूपता से होता है। प्रख्याऽविशेषात् १।२।६४-३६। श्वेत, कृष्ण आदि रग मे भेद होने हुए भी, प्रमाण आदि के भिन्न-भिन्न होते हुए भी गौ व्यक्तियों मे गौ गौ इस तरह का एकाकार प्रत्यय होता है। इस अनुगताकार प्रत्यय के आधार पर सामान्य का सद्भाव और उसका एकत्व माना जाता है। शब्द से जाति का अभिधान होता है इसके प्रमाण मे वार्तिककार ने वार्तिक लिखा है—अव्यपवर्गगतेश्च १।२।६४-३७। अव्यपवर्ग का भाव है अभेद, अविच्छेद या अविशेष, उसकी प्रतीति को अव्यपवर्गगति कहते है। गौ कहने से व्यपवर्ग शुक्ल, नील, पीत आदि भेद का भान नही होता। शब्द द्वारा जाति के अभिधान होने पर उसके आधार से व्यक्ति मे वाहन दोहन आदि व्यापार उत्पन्न हो जाते है। जाति और तद्वान् मे अभेदोपचार मे गौ शुक्ल जैसे सामानाधिकरण्य व्यवहार भी उत्पन्न हो जाता है। प्रख्याविशेष से वार्तिककार ने प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय के आधार पर जाति के एकत्व का प्रतिपादन किया है क्योकि अनभिधीयमान भी जाति सन्निधि मात्र से प्रख्याविशेष मे निमित्त हो जाती है। अव्यपवर्गगति से भी यही बात सिद्ध होती है। प्रख्याविशेष से जाति मे प्रत्यक्ष प्रमाण का सकेत किया है। 'ज्ञायते चैकोपदिष्टाम् १।२।६४-३८ वार्तिक द्वारा अनुमान भी सहायक के रूप मे अभिप्रेत है। देशभेद, कालभेद, अवस्थाभेद, पिण्डभेद के होते हुए भी अबाधित रूप मे अनुगताकार प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय होता है। इसकी अन्यथानुपपत्ति से सामान्य की सत्ता अनुमेय है। धर्मशास्त्र से भी जातिवाद की पुष्टि होती है। ब्राह्मण न हन्यात् से ब्राह्मण मात्र को नही मारते हैं। ऐसा नही कि एक को न मारकर शेष के विषय मे कामचारिता है। धर्मशास्त्र च यथा १।२।६४-३९ वार्तिक से, कैयट के अनुसार यह भी अभिप्रेत है कि भ्रान्त प्रत्यभिज्ञा न ग्रहण की जाय। कभी-कभी सादृश्य एकक्रियाकारित्व आदि के

तिमिस्त से भ्रान्त प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। ऐसा न होने पावे इसके लिए धर्मशास्त्र वाला वार्तिक है। स्मृतिकार भी जाति के भ्राश्रय से व्यवहार का विधान करते है। एक का अनेक अधिकरण अथवा अनेक उपलब्धि के लिए वाजप्यायन और उनके अनुसार कात्यायन ने एक आदित्य और विभिन्न भागो मे एक इन्द्र का दृष्टान्त अपनाया है। यदि शब्द का अभिधेय द्रव्य माना जायगा, आकृति का ज्ञान नही होगा, एक शब्द अनेक अर्थ को नही व्यक्त कर सकेगा। श्रुति, स्मृति व्यवहित व्यवहार विच्छिन्न होने लगेंगे।

व्यक्ति के पक्ष मे कात्यायन का वार्तिक है—द्रव्याभिधान व्याडि १।२।६४-४६। आचार्य व्याडि के अनुसार शब्द का अभिधेय द्रव्य (व्यक्ति) है। इसी आधार पर लिंग और वचन की सिद्धि होती है। वेद की आज्ञा से भी द्रव्य ही अभिधेय जान पड़ता है। आकृति-अभिधेय पक्ष मे आलभन आदि कार्य असम्भव है। एक वस्तु अनेकाधिकरणस्थ नही हो सकती, उसकी प्राप्ति युगपत् नही हो सकती। अन्यथा सबका प्रादुर्भाव और सबका नाश एक साथ होता। एक अश्व के निधन के बाद अश्व का नाम लोक मे मिट जाता। अभिव्यंजक के विनाश से जाति के विनष्ट हो जाने के कारण उसी वर्ग के पिण्डान्तर का भान दुष्कर हो जाता। अथवा आश्रय के अपाय मे आश्रित का अपाय (विनाश), अवयवो के अपाय से अवयवी के अपाय की भाँति हो जाता। गो पिण्ड से गो जाति की यदि अभिव्यक्ति मानी जाएगी तो एक गोपिण्ड को देखकर सभी गोपिण्ड का प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त वैरूप्य भी है—अस्ति च वैरूप्यम् १।२।६४। एक तरह के गो को किसी को 'खण्ड' और किसी को 'मुण्ड' कहते है। एक ही वस्तु के भेद और अभेद दोनो विरुद्ध धर्म नही हो सकते। गाश्च गोश्च जैसे विग्रह भी सामान्य के एकत्व पक्ष मे युक्त नही हो सकते। क्योकि समुच्चय भेदाश्रित होता है, सामान्य के एकत्व और अभिधेयत्व पक्ष मे यह सम्भव नही है। इसलिए द्रव्य की ही सत्ता माननी चाहिए, सामान्य की नही।

वार्तिककार ने आकृति पक्ष पर लगाये गये दोषो के निराकरण के लिए भी वार्तिक लिखे है

> **लिंगवचनसिद्धिर्गुणस्यानित्यत्वात्**—गुणवचनाद्वा १।२।६४-५३, ५४ अर्थात्—**आकृति पक्ष में लिंग और वचन की अनुपपत्ति का समाधान गुण को अनित्य मानकर गुणवचन शब्दो के आश्रयगत लिंगसंख्या के आधार पर किया है।**

अधिकरण गति साहचर्यात् १।२।६४-५५ के द्वारा वेद आज्ञाजन्य आलभन आदि का समाधान किया है। आकृति पक्ष मे आकृति मे आलभन आदि की अचरितार्थता देखकर आकृति सहचरित द्रव्य मे आलभन आदि क्रियाएँ होगी।

अविनाशोऽनाश्रितत्वात् १।२।६४-५७ वार्तिक द्वारा विनाश और प्रादुर्भाव वाले आक्षेप का उत्तर दिया है। द्रव्य के विनाश होने पर भी आकृति का विनाश नही होता। क्योकि, भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार, आकृति और द्रव्य की आत्मा अनेक है।

वैरुप्यविग्रहौ द्रव्यभेदात् १।२।६४-५८ के द्वारा गा गौ आदि वैरूप्य विग्रह का

कारण द्रव्य का भेद माना है। अतः द्रव्यगत भेद के उपचार से एक ही आकृति मे समुच्चय विरुद्ध नही है।

अर्थेषु च सामान्यात् सिद्धम् १।२।६४-५६ वार्तिक द्वारा अनेकार्थक शब्दों पर के आक्षेप का समाधान किया है। विभिन्नार्थी मे भी सामान्य मानने से काम चल जाएगा। विभिन्न क्रियाओं मे भेद होते हुए भी अभिन्न प्रत्यय हुआ करता है उसका निमित्त सामान्य है और वही सामान्य द्रव्य मे भी निमित्त है। जैसे पाचक मे आश्रयान्तरगत भी सामान्य समवेतसमवाय के कारण द्रव्य मे उपकारक होता है। जैसे गैरिकगत लौहित्य सयुक्त समवाय रूप होने पर भी लौहित्य प्रत्यय का ज्ञान कराता है।

इस तरह वार्तिककार ने आकृति पक्ष के दोषो का परिहार कर उसके प्रति अपना झुकाव द्योतित किया है। आकृति की इस व्यापकता के कारण ही व्याकरण-दर्शन सामान्य मे भी सामान्य और अभाव मे भी निरुपाख्यत्व सामान्य की कल्पना करता है। मुख्य उल्लेखनीय बात यह है कि कात्यायन ने केवल आकृति पक्ष और व्यक्ति पक्ष का विश्लेषण ही नही किया है, सूत्रकार के अनेक सूत्रों को इस धरातल पर लाकर उनका अन्वाख्यान किया है।

महाभाष्यकार के मत में जाति

महाभाष्य मे जाति की चार परिभाषायें मिलती है—

१. **जननेन या प्राप्यते सा जातिः** —महाभाष्य ५।३।५५

२. **आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक् ।**
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रञ्च चरणैः सह ॥ —महाभाष्य ४।१।६३

३. **प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्वस्य युगपद्गुणैः ।**
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जाति कवयो विदुः ॥ —महाभाष्य ४।१।६३

४. **यर्त्ताह तद् भिन्नेष्वभिन्न छिन्नेष्वच्छिन्नं**
सामान्यभूतं स शब्दः । नेत्याह । आकृतिर्नाम सा ।

—महाभाष्य पृ० १, कीलहार्न सस्करण

इनमे जाति का प्रथम लक्षण जाति शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर गठित है। यहाँ भाष्यकार ने जाति का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से जनन से जोडा है और उसमे अपकर्ष अथवा प्रकर्ष नही माना है। कैयट के अनुसार भाष्यकार का अभिप्राय अयत्नलभ्यता दिखाना मात्र है। अन्यथा परमाणु आदि नित्य पदार्थों मे जनन के अभाव से जातित्व विरुद्ध होगा। अयत्नलभ्य अर्थ सत्ता है जिसमे प्रकर्ष-अपकर्ष नही होता। यत्न से उत्पाद्य घट आदि पदार्थों मे जाति नित्यता के आधार पर रहती है। गुण मे आश्रय भेद से भेद देखा जाता है, इसलिए उसमे प्रकर्ष-अपकर्ष आश्रयभेद के आधार पर व्यक्त किया जाता है किन्तु जाति मे आश्रयभेद मे भेद नही होता। अतः जाति मे प्रकर्ष अथवा अपकर्ष नही होता।

नागेश ने जनन से प्राप्त जातिलक्षण को अद्वैतदर्शन के अनुकूल माना है।

अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ जन्य है। ब्रह्म मे कोई धर्म नही है अतः उसमें जाति भी नही है। महाभाष्यप्रदीपोद्योत ५।३।५५, तथा मजूषा पृ० ४६४। नागेश ने सामान्य और जाति मे भेद माना है। उनके मत मे 'पाचकत्व' में सामान्य है किन्तु जाति नही है (मजूषा, पृ० ४६४)।

जाति का दूसरा लक्षण आकृति से सम्बद्ध है। जाति वह है जिसका बोध आकृति के आधार पर होता है। अर्थात् जाति अवयवसन्निवेशविशेष से व्यक्त होती है। जैसे गोत्व। जाति उपदेश बोध्य लिङ्ग से भी व्यक्त होती है जैसे ब्राह्मणत्व। ब्राह्मणत्व जाति गोत्व की तरह अवयवसंस्थान पर निर्भर नही करती। किन्तु विशेष चिह्नों द्वारा किसी के बताए लक्षणों को देखकर ब्राह्मणत्व का परिज्ञान होता है। ब्राह्मणत्व जाति आरोपित धर्म है। गोत्व की तरह स्वाभाविक नही। अथवा जो सब लिङ्ग का आश्रय न लेती है। यद्यपि तट शब्द सर्वलिङ्गी है फिर भी यहाँ जाति प्रतिपादन अप्राप्तप्रापण रूप मे माना जाता है इसलिए जहाँ सब लिंग सभव है वहाँ भी जाति हो सकती है और जो असर्वलिङ्ग है वहाँ भी जाति नही हो सकती। जैसे क्रमश तट शब्द और देवदत्ता शब्द मे। एक बार के कथन से ही पिण्डान्तर मे भी जिसका बोध हो, वह भी जाति का लक्षण है जैसे गौ शब्द मात्र कहने से दूसरे गो व्यक्ति मे स्थित गोत्व का भी बोध होता है। चरण के साथ गोत्र भी जाति व्यक्त करता है। नागेश के अनुसार कारिका मे उल्लिखित सभी लक्षण शब्दपरक है.

आकृतिग्रहणार्थकः शब्दः, सकृदाख्यातनिर्ग्राह्यासर्वलिङ्गार्थकः शब्दः, जाति-शब्द इति शब्दलक्षणमेतत् — महाभाष्यप्रदीपोद्योत ४।१।६३

जाति का तीसरा लक्षण आविर्भाव से सम्बन्ध रखता है। वस्तु के आविर्भाव और विनाश से जिसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है वह जाति है। जब तक द्रव्य है तब तक जाति है। निगुण द्रव्य की उपलब्धि नही होती। जातिरहित द्रव्य की भी उपलब्धि नही होती। जाति बहुत विषयों मे व्याप्त रहती है और असर्वलिङ्गा है। दूसरे और तीसरे जातिलक्षण मे भेद से व्याकरणप्रक्रिया मे भेद उपस्थित होता है। आकृतिग्रहण वाले पक्ष मे 'कुमारीभार्य' शब्द बनता है, आविर्भाववाले पक्ष मे 'कुमार-भार्य' रूप होगा। कैयट के अनुसार आकृतिग्रहण वाला लक्षण भाष्यकार को इष्ट है:

पूर्वोक्तमेव लक्षणं भाष्यकारस्याभिमतम्, अपर आहेत्यभिधानादाहुः।

—महाभाष्यप्रदीप ४।१।६३

चतुर्थ जातिलक्षण भिन्न मे भी अभिन्न, छिन्न मे भी अछिन्न सामान्य रूप मे जाति की प्रतिष्ठा करता है। यह लक्षण ब्राह्मणत्व, घटत्व आदि मे साधारण है। भिन्न मे भी अभिन्न से एकत्व लक्षित है। छिन्न मे भी अछिन्न कहने से जाति का नित्यत्व अभिप्रेत है। पतजलि ने यहाँ सामान्यभूत शब्द का प्रयोग किया है। भर्तृ-हरि के अनुसार भूत शब्द उपमावाची है। (भूत शब्द उपमावाची-महाभाष्यदीपिका पृ० ३)। इसके आधार पर कैयट ने भी भूत शब्द को उपमा के अर्थ मे लिया है। फलतः सामान्यभूत शब्द का अर्थ है सामान्य इव। सत्ताख्यमहासामान्य गोत्व आदि का

उपमान है।[1] इस तरह भाष्यकार के इस वचन से जाति मे एकत्व, नित्यत्व और अनेकानुगत्व उपपन्न हो जाता है। आकृति और जाति मे कुछ भेद माना जाता है। आकृति का सम्बन्ध सदा अवयवसस्थान से होता है। जाति अवयवसस्थान निरपेक्ष भी हो सकती है। किन्तु भर्तृहरि के अनुसार, भाष्यकार के उपर्युक्त जाति लक्षण में आकृति शब्द जातिपूरक है

आकृतिरिति न तत् संस्थानम्। किं तर्हि। जातिरेव। यथा आकृत्याभिधानं वाजप्यायन इति। आक्रियतेऽनयेति आकृतिः। आक्रियत इति भिद्यते पदार्थान्तरेभ्य इत्याकृतिः। आक्रियेते बुद्धिशब्दावस्था इति आकृतिः।

—महाभाष्यदीपिका, पृ० ३

भर्तृहरि दर्शन में जाति

भर्तृहरि की दृष्टि से जाति का स्थान बहुत ऊँचा है और इस पर उन्होने कई दृष्टियो से विचार किया है। अन्य दर्शनो मे जाति के सम्बन्ध मे उस समय तक प्रचलित वादों का भी उन्होने सकेत किया है। व्याकरण-दर्शन मे गृहीत जाति की कुछ चर्चा कात्यायन और पतजलि के विचार से ऊपर की जा चुकी है। वाजप्यायन के जाति, पदार्थदर्शन के पक्ष मे नामजाति, आख्यातजाति, कारक क्रियाजाति, सख्याजाति गुणजाति, आदि के रूप मे सर्वत्र जाति-व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। इसका सकेत पहले किया जा चुका है और आगे भी उन-उन प्रकरणो मे प्रसगवश किया गया है। जाति के विषय मे, व्याकरणदर्शन की दृष्टि से, कुछ विशेष वाद है उनमे मुख्य है—शब्द जाति, और सत्ता जाति। इन पर सक्षेप मे विचार किया जा रहा है।

शब्द जाति

किसी आचार्य के मत मे शब्द का वाच्य शब्द का स्वरूप है। स्वरूप को ही दर्शनभेद मे स्वा जाति कहा जाता है। उसी को शब्दजाति शब्द से भी कहा जाता है। गो शब्द मे वाच्य गो शब्द मे रहने वाली गो शब्दत्व जाति है, गोत्व नही। पहले शब्द अपने रूप को कहता है, अर्थ बाद मे सामने आता है। शास्त्र मे 'वृद्धि' शब्द-स्वरूप निबन्धन है, वह अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। इसी तरह अग्नि शब्द भी अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। जब शब्द के स्वरूप की चर्चा की जाती है, सज्ञा और सज्ञी का भेद के रूप मे ग्रहण किया जाता है। ऐसी दशा मे दो शब्द माने जाते है। श्रूयमाण और प्रतिपादक। प्रतीयमान भी दो होते हैं सम्बन्ध प्राप्त करने वाले और कार्यी। इसलिए अग्नि शब्द उच्चरित होकर अग्निशब्दमय अर्थ सामने लाता है। अग्निशब्दमय अर्थ मे अग्नि शब्द अर्थवान् होता है। दोनो मे अभेद है। इसलिए अग्नि शब्द अग्निशब्दमय अर्थ को किसी दूसरे अग्नि शब्द का अभिधेय बनाकर तुल्यश्रुति के आधार पर अग्निशब्द

१. शेष नारायण इस अर्थ मे सहमत नहीं है—यत्तु भूत शब्दः उपमार्थ इति सत्ताख्य महासामान्य गो वादेः सामान्यविशेषस्योपमान निर्दिष्ट सामान्याभिन्न सामान्यभूतमिति। तन्न। सामान्यश्रुतेः स सामान्यविषयत्वेन प्रवृत्तायाः सकोचे कारणाभावात्—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख।

के सज्ञाभाव का प्रतिपादन करता है। इस तरह संज्ञा-सज्ञिसम्बन्ध शक्तिभेद के आधार पर कल्पित शब्द भेदाश्रित होता है। प्रत्यायक शब्द का उच्चारण परार्थ होता है। जिसके लिए शब्द का उच्चारण किया जाता है वह उसे कार्य मे नियुक्त करता है। उच्चार्यमाण (शब्द) का यह स्वाभाविक धर्म है कि वह परतन्त्र होता है। इस आधार पर सभी प्रत्याय्य क्रिया के साधन माने जाते हैं। इसलिए जो शब्द शब्द के अभिधेय रूप मे अवस्थित रहता है उसके उच्चारण मे भी उससे भिन्न अन्य रूप की कल्पना करनी पडती है। यहाँ दो तरह के विकल्प हैं। कुछ लोग मानते हैं कि अभिधान का आवर्तन होता है। वह अपने अभिधेय से च्युत नही होता है। घट प्रत्याय्य है। यदि पूछा जाय प्रत्याय्य कैसा है तो किसी दूसरे शब्द द्वारा उसे बताया जाता है। इसी तरह शब्द का भी प्रत्यायन होता है। शब्द का वाचक शब्द के अतिरिक्त कोई दूसरा नही होता, इसलिये शब्द का ही आवर्तन होता है। इसी दृष्टि से अनुकरण शब्द मे और सज्ञा शब्द मे भेद स्पष्ट होता है। उच्चार्यमाण दशा मे अनुकरण अभिधेय होता है। सज्ञा का अभिधेय प्रत्याय्य ही होता है, उच्चार्यमाण नही। अभिधेय अभिधेयस्वरूप को छोडकर अभिधायक नही होता। सग्रहकार का भी कुछ ऐसा ही मत है। उन्होने कहा है —

> **न हि स्वरूप शब्दानां गोपिण्डादिवत् करणे संनिविशते। तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसंनिवेशे सति तुल्यरूपत्वादसंनिविष्टमपि समुच्चार्यमाणस्वेनावसीयते।**
> —वाक्यपदीय १।६६ हरिवृत्ति मे उद्धृत

अर्थात्, शब्द का स्वरूप सदा अभिधेय ही रहता है। जो जिसका अभिधायक होता है वह उसके कारण मे सनिविष्ट माना जाता है। शब्द का स्वरूप असनिविष्ट है। किन्तु तुल्यरूप के कारण सनिविष्ट-सा जान पडता है।

इस दुरूह पीठिका पर भर्तृहरि ने शब्द-जाति की प्रतिष्ठा की है। शब्द के स्वरूप के विषय मे भी वृत्तिकारो मे मतभेद था। कुछ के अनुसार शब्द का स्वरूप ग्राहक होता है, द्योतक होता है, प्रत्यायक होता है। इसके विपरीत दूसरे वृत्तिकारो ने माना है कि शब्द का स्वरूप ग्राह्य होता है, द्योत्य होता है, प्रत्याय्य होता है :—

> **इह केचित् वृत्तिकारा पठन्ति—स्वं रूपं शब्दस्य ग्राहकं भवति द्योत्यं प्रत्यायकमिति। अपरे तु स्वं रूपं शब्दस्य ग्राह्यं द्योत्यं प्रत्याय्यमिति।**
> —वाक्यपदीय १।६६ हरिवृत्ति

जातिवादी आचार्यों के अनुसार शब्द जाति मे ही अपने स्वरूप को पाता है और उसी रूप मे वह अव्यपदेश्य व्यक्ति का प्रत्यायक होता है। इसलिए सभी शब्द सर्वप्रथम अपनी जाति 'स्वजाति' का अभिधान करते है। अपनी स्वजाति ही शब्दो का अपना असाधारण रूप है। वार्तिककार ने भी 'न वा, शब्दपूर्वकोह्यर्थे सम्प्रत्यय'[1] कह कर शब्दपूर्वक अर्थपरिज्ञान का समर्थन किया है।

---

१. महाभाष्य १।१।६८ वार्तिक

अथवा प्राथम्य, हेलाराज के अनुसार, सम्बन्ध व्युत्पत्तिकाल की अपेक्षा से है। सम्बन्ध के व्युत्पत्तिकाल मे अर्थ जाति से सम्बन्ध नही रहता, शब्द जाति से रहता है। शब्द जाति को सर्वप्रथम ध्यान मे रखकर विभक्ति आदि का विनियोग होता है। अत शब्द सर्वप्रथम अपनी शब्दजाति का अभिधान करता है। यही शब्द जाति स्वरूप शब्द से और स्व जाति शब्द से शास्त्र मे वर्णित है। शास्त्र मे जिन शब्दो का स्वरूपपरक निर्देश है वे तो अपने स्वरूप के प्रत्यायक होते ही हैं, जिनका अर्थपरक निर्देश है वे शब्द भी सर्वप्रथम अपने स्वरूप को ही सामने लाते हैं। हेलाराज के अनुसार, जो शब्द अव्युत्पन्न हैं वे भी शब्द मे अविनाभाव से अवस्थित शब्द जाति के ही प्रत्यायक हैं। जिन शब्दो के उच्चारण से अर्थ अत्यन्त शीघ्र उपस्थित हो जाते है, शब्द के स्वरूप के साथ ही जहाँ अर्थपरिज्ञान होता है, वहाँ भी क्रम रहता है और शब्दजाति का प्रथम उन्मीलन होता है, अर्थजाति का बाद मे होता है क्योंकि, व्याकरणदर्शन मे, अर्थ शब्द के विवर्त हैं। इसलिए शब्द और अर्थ मे तात्त्विक भेद न होते हुए भी और शब्द और अर्थ के साथ-साथ अवभास होते हुए भी उनमे एक क्रम है। शब्द-अवभास पहले, अर्थ-अवभास बाद मे होता है, यद्यपि सूक्ष्म काल के कारण क्रम का अवधारण नही होता।

अथवा सम्बन्ध के व्युत्पत्तिकाल मे, गौ शब्द के उच्चारण से, 'गौ अयम् अर्थ' इस रूप मे शब्द और अर्थ मे अभेद का अध्यारोप किया जाता है। जैसे गौ वाहीक मे किया जाता है। अन्यथा सामानाधिकरण्य की उत्पत्ति नही हो सकती। यह अध्यारोप कौन करता है? इसके उत्तर मे हेलाराज की मान्यता है कि जैसे वाच्यवाचक भाव अनादि हैं, वैसे ही अध्यारोप भी अनादि है, अपौरुषेय है। कहने की आवश्यकता नही कि दूसरे दार्शनिको ने विशेषकर धर्मकीर्ति ने इसका खण्डन किया है। वैयाकरणो के कहने का अभिप्राय यह है कि अध्यारोप पुरुष की इच्छा पर नही होता। पुरुष की इच्छा से जिस किसी शब्द का जिस किसी अर्थ के साथ अध्यारोप मानने से लोक-व्यवहार अव्यवस्थित हो जायगा। इसलिए पुरुष की इच्छा न मानकर लोकानुगत इच्छा प्रत्येक दशा मे माननी पडेगी। लोकानुगत इच्छा को ही, व्याकरणदर्शन मे, व्यवहारनित्यता माना जाता है। इसलिए व्यवहारनित्यता के आश्रय से गौ वाहीक आदि स्थलो मे अध्यारोप पुरुष इच्छाकृत न होकर लोककृत है। दूसरे शब्दो मे वह व्यवहारनित्यत्व के आधार पर अवस्थित है। इस अर्थ मे वह अपौरुषेय है।

शब्द जाति की अभिव्यक्ति कैसे होती है? शब्द वर्णसमूह है। प्रत्येक वर्ण मे जाति की अभिव्यक्ति नही देखी जाती। वर्ण भी असमयसमयभावी होते है, उनकी अभिव्यक्ति मे क्रम होता है, इसलिए वर्णों द्वारा जाति अभिव्यजन सभव नही है। इसका उत्तर भर्तृहरि, हेलाराज आदि ने वैशेषिक दर्शन के कर्म के आधार पर दिया है। वैशेषिक दर्शन मे उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि कर्म हैं। उत्क्षेपण क्षण का भ्रमणक्षण से सारूप्यवश भेद अवगत नही होता, इसलिए उत्क्षेपण क्षण अकेले नियत जाति के अभिधान से अपने-आपको असमर्थ पाता है और दूसरे क्षण की अपेक्षा रखता है। उसमे भ्रमणक्षण से कोई विशेषता नही है क्योकि आरम्भ मे ही उत्क्षेपण क्रिया

के कर्त्ता की भावना प्रयत्न से जनित है। इसी तरह किसी में मन मे 'गो' शब्द का उच्चारण करूँ' यह भावना जन्य प्रयत्न यद्यपि, गान, गगन शब्द के प्रयत्न से भिन्न है, हेतु भेद के कारण ग ग मे भी भेद है फिर भी सादृश्य के कारण इस भेद का अवधारण कठिन है। इसलिए वर्णध्वनि व्यंजक है किन्तु उसका व्यजन अस्फुट है, उसका अवधारण ठीक से नहीं हो पाता, आवर्तमान, दुहराये जाने पर भी सामान्य-विशेष रूप मे विशदतर अभिव्यक्ति नही कर पाती है। जब वह अवयवसन्तान क्रम से उपलब्ध होती है वह शब्द जाति कहलाती है और सब व्यवहार उससे परिचालित होते हैं। श्लोक सकृत् उच्चारण से अर्थ अवभास उतना नही करता जितना बार-बार दुहराने पर करता है। इसी आधार पर स्फोटवादी, वर्णस्फोट, पदस्फोट आदि की कल्पना करते हैं :

वर्णपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुन पुनराविर्भावयन्तो बद्धिष्वध्यारोपयन्ति

—वाक्यपदीय १।८३ हरिवृत्ति।

इसलिए प्रथम अक्षर से केवल जाति का अवभास मात्र होता है, आगे वाले वर्णों से स्फुट, स्फुटतर रूप मे जाति का निर्धारण होता जाता है और इस तरह सस्कार-विशेष बन जाता है जिसके आधार पर अभिव्यक्ति विशेष उसी तरह से शीघ्र ग्राह्य हो जाती है, जैसे रत्नपरीक्षक शीघ्र ही रत्नतत्त्व को समझ लेते है। वैयाकरणो के लिए स्फोटतत्त्व रत्नतत्त्व है। शब्दतत्त्व अन्तत निरवयव है और वह सर्वप्रथम स्वजाति का वाचक होता है। उसी को शब्दजाति कहा जाता है। जिस तरह रक्त गुण के सम्बन्ध से वस्त्र भी लाल कहा जाता है वैसे ही शब्दजाति अर्थजाति के व्यपदेश के लिए होती है। रक्तगुण और वस्त्र की तरह से शब्दजाति और अर्थजाति मे सम्बन्ध है। अवश्य ही यह सम्बन्ध यहाँ योग्यतालक्षण माना जाता है। सभी शब्द सभी अर्थों के साथ योग्यतालक्षण सम्बन्ध से सम्बद्ध है। जैसे गो शब्द नव भिन्न-भिन्न अर्थों मे व्यवहृत होता है किन्तु प्रकरण आदि के सहारे उसके अर्थ का अवच्छेद (निर्धारण) किया जाता है उसी तरह शब्दजाति से शब्दव्यक्ति अभेद रूप मे उपस्थित होती है, अर्थजाति के द्वारा उसका निर्धारण किया जाता है। यह क्रम है। किन्तु, प्रत्यायन मे अक्रमता रहती है। शब्द से कर्बुरित, आक्रान्त, होने पर भी अर्थ के स्वरूप की हानि नहीं होती। जैसे प्रकाश से आक्रान्त घट के स्वरूप का तिरोधान नही होता। शब्द स्वरूप से उपरक्त अर्थ के स्वरूप का लोप नही होता। शब्द और प्रकाश दोनो प्रकाशक मात्र है। शब्दजाति अर्थजाति से एक होकर जाति कार्य का सपादन करती है यह वाजप्यायन का दर्शन है। शब्द मे रहने वाली शब्दजाति की तरह शब्दजाति शब्द मे भी रहने वाली शब्दजाति है। एक ही शब्दजाति प्रयोक्तृभेद से भिन्न होकर अभेदप्रत्यय का निमित्त होता है। फलत उस मे भी शब्दजाति मानी जाती है। इस तरह अध्यास दर्शन के आधार पर शब्दजाति की व्याख्या हेलाराज ने की है।

भर्तृहरि ने अध्यास का आश्रय न लेकर भी जाति पदार्थ की व्याख्या प्रस्तुत की है। शब्द के द्वारा विशुद्ध अर्थ जाति का अभिधान होता है। इस पक्ष में भी,

सभी शब्द जाति के अभिधायक होते हैं। जाति शब्द भी जाति का ही बोधक होता है। व्याकरणदर्शन में सामान्य में भी सामान्य माना जाता है। बाल, कौमार्य आदि अवस्था भेद से भेद मानकर डित्थ आदि व्यक्ति में भी जाति की कल्पना की गई है। व्याकरण-दर्शन में जाति प्रक्रिया वैशेषिकदर्शन से भिन्न रूप मे स्वीकृत है। विज्ञानवाद मे अनुप्रवृत्तिरूप प्रख्या को जाति माना गया है। अनुगताकार वाली बुद्धि मे प्रतिभासमान आकार अर्थ के रूप में माना जाता है। दृश्य और विकल्प मे अभेद के अध्यास से उसी को सामान्य कहा जाता है। शक्ति के रूप मे भी जाति की कल्पना भर्तृहरि ने की है। एक ही शक्ति, हेलाराज के मत मे ब्रह्मशक्ति सर्वशक्तिमय के रूप में है। व्यवहार के लिए जाति आदि के रूप मे उसी का अवच्छेद किया जाता है। सत्य और असत्य भाव सर्वत्र हैं। जो सत्य है वह जाति है। जो असत्य है वह व्यक्ति है (वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश ३२)।

सत्ताजातिवाद

सत्ता जाति है। इस वाद का मूल महाभाष्य मे मिल जाता है।

'स तत्र बुद्ध्या नित्यां सत्तामध्यवस्यति'

—महाभाष्य ३।३।१३३

'न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति'

—महाभाष्य ५।२।९४

आदि वाक्यो मे इस वाद की झलक मिल जाती है। किन्तु इस पर अधिक प्रकाश भर्तृहरि ने डाला है और यह वाद प्राय उन्ही के नाम से विख्यात है।

सत्ता भिन्न-भिन्न पदार्थों से भिन्न होकर सम्बन्धित भेद के आधार पर जाति कही जाती है। अश्व की सत्ता अश्वत्व है। उससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नही है। गो की सत्ता गोत्व है। इस तरह डित्थ की भी सत्ता डित्थत्व है। सभी शब्द सत्ता मात्र के वाचक हैं। सत्ता जाति है। वही महासामान्य है। महासत्ता है। अभाव का भी बुद्धिकल्पित आकार से निरूपण होता है। सत्ता से उसका भी सम्बन्ध है। वही प्रातिपदिकार्थ है। 'प्रातिपदिकार्थ सत्ता' उक्ति प्रसिद्ध है। वह नित्य है। महान् आत्मा है। पाणिनि ने त्व और तल् प्रत्यय से उसी का निर्देश किया है। ये प्रत्यय भाव मे होते है। शब्दो के प्रवृत्ति निमित्त को भाव कहा जाता है। शब्द का भाव सत्ता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। षड्भाव विकारो की योनि भी वही है। क्रमाख्याशक्ति, कालशक्ति सबका स्रोत वही सत्ता है (वाक्यपदीय ३, जाति समुद्देश ३३-३६)। सत्तावाद का विवेचन भर्तृहरि ने सांख्य आदि दर्शनो की दृष्टि से भी किया। भर्तृहरि की यह शैली है कि ऐसे प्रसगो पर दूसरे दर्शनो की मान्यताओं का सकेत करते चलते है। हेलाराज ने इस प्रसग का साराश यो दिया है—सभी शब्दो का वाच्य सत्ता है। फलत जाति पदार्थ की व्याप्ति उपपन्न हो जाती है। यद्यपि भर्तृहरि ने द्रव्यपदार्थ के विवेचन मे ब्रह्मद्रव्य को उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न कहा है फिर भी तात्पर्यभेद से अवस्थाभेद समझना चाहिए। जातिपदार्थ पक्ष मे जाति रूप मे

सर्वत्र ब्रह्म विवक्षित है, द्रव्यपदार्थ पक्ष में ब्रह्म परिनिष्ठित रूप मे विवक्षित है—यह दार्शनिक विकल्प है। वस्तुतः परमार्थ रूप में दोनो पक्षो में अनुगत एक ही तत्त्व है। वह सत्ता है।

द्रव्य

व्याकरण दर्शन मे वह सब कुछ द्रव्य माना जाता है जिसे इद तत् कहा जा सके। अर्थात् इद तत् सर्वनाम मे वाच्य का नाम द्रव्य है। द्रव्य के इस रूप पर तथा गुणाधार द्रव्य के रूप मे पतंजलि आदि के मत का उल्लेख यथावसर आगे किया गया है। वाक्यपदीय मे द्रव्य समुद्देश एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप मे है जो सबसे मिला हुआ है, सबसे भिन्न है। द्रव्य के दो भेद है व्यावहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक रूप का दर्शनभेद से निर्देश भर्तृहरि ने यो किया है

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीर तत्त्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायस्तच्च नित्यमिति स्मृतम् ॥

– वाक्यपदीय, द्रव्य समुद्देश १।

आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तत्त्व इन सब रूप मे द्रव्य का उल्लेख उन दिनो तक हो चुका था। भर्तृहरि के अपने सिद्धान्त मे सत्य वस्तु का अवधारण असत्य वस्तुओ के द्वारा किया जाता है, असत्योपाधिक शब्द से सत्य का निरूपण होता है। यह ससार का वैचित्र्य है। उपलक्षण द्वारा सत्य का निर्भास सदा देखा गया है। काक शब्द देवदत्त के गृह को पूर्ण रूप से जना देना है। असत्योपाधिक कुण्डल आदि के पीछे सत्य, शुद्ध स्वर्ण निहित है। जैसे नाडिका से काल का अवच्छेद होना है वैसे ही आकार से सर्वव्याप्त शक्ति का निर्धारण होता है। वस्तुत तत्त्व और अतत्त्व मे भेद नही है। अविकल्पित तत्त्व विकल्प रूप मे, अविभाज्य काल विभक्त रूप मे प्रतीत होता आया है।

आकृति के विलीन हो जाने पर भी जो अवस्थित रहता है उसे ही सत्य कहा जाता है। वही पारमार्थिक सत्य है। व्याकरण दर्शन की पश्यन्ती-वाक् उसी का प्रतीक है.

संवित् च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्व शब्दात् पारमार्थिकात् न भिद्यते—हेलाराज द्रव्यसमुदेश।[1]

इस प्रसग के भर्तृहरि के अनेक वाक्य नागार्जुन की शैली पर है, जैसे

न तदस्ति न तत्रास्ति न तदेक न तत् पृथक्।
न ससृष्टं विभक्तं वा विकृतं न च नान्यथा।

—द्रव्य समुद्देश १२।

अस्तु व्याकरण दर्शन मे जैसा कि कहा जा चुका है, द्रव्य के पीछे भी किसी शाश्वत शक्ति के देखने की चेष्टा की गई है। हेलाराज, कैयट आदि ने उसे ब्रह्म नाम दिया है।

---

१. हेलाराज ने परावाक् को अलग न मानकर उसे पश्यन्ती स्वरूप माना है।

आख्यात और आख्यातार्थ

आख्यात के देवता सोम कहे जाते है और ऋषि भारद्वाज हैं

भारद्वाजकमाख्यातं भार्गवं नाम भाष्यते ।

वाशिष्ठ उपसर्गस्तु निपातः काश्यपः स्मृतः ॥[1]

इससे यह जान पडता है कि आख्यात का सर्वप्रथम प्रयोग पारिभाषिक रूप में भारद्वाज ने किया था । इसका सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में मिलता है

ओंकार पृच्छामः को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यात, किं लिगं, किं वचनम् का विभक्ति, कः प्रत्यय इति ।[2]

पाणिनि आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में नही करते। अष्टाध्यायी मे केवल आख्यातोपयोग (१।४।२९) और ह्यजुर्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वर पुरश्चरणनामाख्यानाट्ठक् (४।३।७२) इन सूत्रो में आख्यान शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप मे करते थे। काशकृत्स्न सूत्रो मे आख्यात शब्द पारिभाषिक रूप मे मिलता है। जैसे--

धातु. साधने दिशि पुरुषे चेति तदाख्यातम् ।[3]

कात्यायन ने 'आख्यात साव्ययकारकविशेषण वाक्यम्' जैसे वार्तिको में और महाभाष्यकार ने 'क्रियाप्रधानमाख्यातम् (५।३।६६) जैसे वाक्यो मे आख्यात शब्द का पारिभाषिक अर्थ मे प्रयोग किया है। आख्यात शब्द का मूल अर्थ 'जो कहा जा चुका' है।

आख्यात शब्द की व्युत्पत्ति आख्यायतेऽनेन इस रूप मे की जाती है

आख्यायतेऽनेन क्रिया प्रधानभूतेत्याख्यातस्तिङन्तः, कृत्यलुटो बहुलम् इति करणोक्तः, स्वनिकायप्रसिद्धिरेषा । दुर्गाचार्य ने आख्यात की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या यों की है

---

१. वाजसनेयि प्रातिशाख्य, उव्वटभाष्य, ८।५२

२. गोपथ ब्राह्मण, प्रथमप्रपाठक, १।२४,

३. वृषभ ने वाक्यपदीय १।२६ की टीका मे इसे काशकृत्स्न का सूत्र कह कर उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त ने भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृतिविमर्शिनी, द्वितीयभाग, पृष्ठ २६५ पर इस सूत्र को उद्धृत किया है।

आख्यायतेऽनेन गुणभावेन वर्तमाना अनेककारकप्रविभक्ता स्फुरमाणेव प्रधानद्रव्यभावाभिव्यक्त्युन्मुखीभूता क्रिया तस्याश्च प्राधान्येन वर्तमानो भावः स्वात्मलाभप्रधान इत्याख्यातम् ।

अथवा

आख्याते स्त्रीपुन्नपुंसकानि क्रियागुणभावेन वर्तमानान्यनेन क्रिया च तेषामुपरि प्राधान्येन वर्तमानेत्याख्यातम् ।[४]

चन्द्रकीर्ति के अनुसार भू आदि के रूप जिसमे व्यक्त हों वह आख्यात है अथवा जो कर्त्ता के व्यापार को व्यक्त करे वह आख्यात है

आख्यायन्ते कथ्यन्ते अर्थात् निष्पाद्यन्ते भ्वादीनां रूपाणि येन तदाख्यातम् । अथवा आख्यान्ति आचक्षते कर्तृव्यापारमित्याख्याता ।[५]

लघुन्यासकार के अनुसार क्रिया का प्रधान रूप में अथवा साध्य अर्थ को व्यक्त करने वाली के रूप मे होना आख्यात है

आख्यायतेऽनेन क्रिया प्रधानत्वेन साध्यर्थाभिधायितया वेत्याख्यातम् ।[६]

भर्तृहरि के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किये गये आख्यात के कुछ लक्षण निम्न-लिखित है

भावप्रधानमाख्यातम् । पूर्वापरीभूत भावमाख्यातेनाचष्टे ।

—निरुक्त १।८, ११

तदाख्यातं येन भाव सधातुः ।—ऋक्प्रातिशाख्य १।२।१६ ।

क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इहैक एव ।
क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाह ॥

—बृहद् देवता १।४४ ।

आविष्टलिंगं आख्यातं क्रियावाचि —कौटिल्य अर्थशास्त्र २।१०।२८ ।

येषां तूत्पतावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तानि आख्यातानि ।

—मीमांसा सूत्र २।१।४ ।

क्रियाप्रधानम् आख्यातम् । महाभाष्य ५।३।६६ ।

उपर्युक्त सभी लक्षणों में आख्यात का क्रियावाचकत्व समान है । वाक्यपदीय मे भी 'जन्मादि क्रिया आख्यातपद निबन्धना' (वाक्यपदीय १।१३, हरिवृत्ति) आदि स्थलों में आख्यात का क्रियाप्रधानरूप ही अधिक वर्णित है । क्रिया के स्वरूप पर आगे विचार किया जायगा ।

आख्यात चार रूपो मे देखा जाता है—कर्त्ता मे, भाव मे, कर्म मे और कर्म-कर्त्ता मे । पचति जैसे शब्दों मे कर्त्ता मे । भूयते, पच्यते जैसे शब्दो मे भावकर्म मे ।

---

४. दुर्गाचार्य, निरुक्त-टीका १।१।६.

५. श्री क्षितीशचन्द्र चटर्जी द्वारा टैकनिकल टर्म्स एण्ड टैकनिक आफ संस्कृत ग्रामर, प्रथमभाग, पृष्ठ ६९ पर उद्धृत.

६. वही, पृष्ठ ६८

और पच्यते स्वयमेव जैसे स्थानों में कर्मकर्ता में। इन चारों रूपों में द्रव्य के अर्थ अविवक्षित होने से द्रव्य अप्रधान होते हैं, क्रिया ही प्रधान होती है। उस क्रिया को कहता हुआ और स्वयं उस क्रिया में लक्ष्यमाण होता हुआ आख्यात आख्यात की संज्ञा पाता है।

आख्यात के अर्थ

पचति जैसे आख्यात के उच्चारण में कई अर्थों की प्रतीति होती है। पाक आदि क्रिया की प्रतीति होती है। वर्तमान आदि काल की प्रतीति होती है। प्रथम, मध्यम आदि पुरुष की प्रतीति होती है, पचति से पर पुरुष की, पचसि से युष्मदर्थ की और पचामि से अस्मदर्थ की। कर्तृगामिपरगामित्व लक्षण से उपग्रह की प्रतीति होती है पचते, यजते आदि आत्मनेपद के उच्चारण से कर्तृगामि फल की प्रतीति होती है और पचति, यजति आदि परस्मैपद के प्रयोग से परगामिफल की प्रतीति होती है। साधन की भी प्रतीति होती है, पचति से कर्त्ता, पच्यते से कर्म की। संख्या भी प्रतीति होती है। पचति से एकत्व, पचतः से द्वित्व, पचन्ति से बहुत्व आदि। अतः क्रिया, काल, पुरुष, उपग्रह, साधन और संख्या ये आख्यात से गम्य अर्थ माने जाते हैं। फलतः इन्हें ही व्याकरणदर्शन में आख्यातार्थ कहा जाता है।

क्रिया, काल, पुरुष, उपग्रह, साधन और संख्या ये सभी आख्यात के अर्थ हैं इसमें कोई विवाद नहीं है। सभी वैयाकरण इस मत को मानते हैं। सार्वधातुके यक् ३।१।६७ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने लिखा है

तिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते ···तिङभिहितो भावो कर्त्रा सम्प्रयुज्यते।

प्रशंसायां रूपप् ५।३।६६ के भाष्यविवरण में कैयट ने भी आख्यात के क्रिया, काल, उपग्रह आदि अर्थ माने हैं

कालसंख्यासाधनोपग्रहाभिधानेप्याख्यातस्य क्रियाप्रधानत्वावगम.।

इसी तरह महाभाष्य के कः पुनरस्मिन्‌डर्थे पर टिप्पणी करते हुये कैयट ने लिखा है कि काल, साधन, संख्या, पुरुष, क्रिया और उपग्रह ये तिङर्थ हैं। (**कालसाधनसंख्या-पुरुष क्रियोपग्रहरूपस्तिङर्थ:** - महाभाष्यप्रदीप २।२।१८)।

भर्तृहरि ने भी क्रिया, काल, पुरुष आदि का ग्रहण आख्यातार्थ के रूप में किया है

प्रवृत्तिर्जन्मादि क्रिया आख्यातपदनिबन्धना। तस्याः प्रवृत्तिरिति समाख्याता-यास्तत्त्व साध्यत्वं साधनाकांक्षता क्रमरूपोपग्रहकालाभिव्यक्तिहेतुत्वम्।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१३।

क्रियासाधनकालाख्योऽपि कैश्चित् कथंचिदभिधेयत्वेन प्रविभक्ता।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२६।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वाक्यपदीयकार के मत में आख्यात के उपर्युक्त ही अर्थ हैं। क्रिया, काल, पुरुष आदि का आख्यातार्थ के रूप में ग्रहण आलंकारिक भी

करते हैं। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही लिखा है :

तिङन्तपदानुप्रविष्टस्यापि अर्थकलापस्य कारककालसंख्योपग्रहरूपस्य मध्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूक्ष्मदृशा भागगतमपि व्यंजकत्वं विचार्यम्।[७]

साधन काल आदि का आख्यातार्थ के रूप में सर्व प्रथम संकेत काशकृत्स्न सूत्र मे मिलता है। एक सूत्र का रूप है--'धातु साधने दिशि पुरुषे चिति च तदाख्यातम्। लिंग किमिति विभक्तौ एतन्नाम'। इस सूत्र के काशकृत्स्न व्याकरण के होने मे वृषभदेव और अभिनवगुप्त के प्रमाण ऊपर दिये जा चुके है। यह सूत्र अत्यन्त प्राचीन है। इसमे प्रमाण यह भी है कि इस सूत्र मे सख्या के अर्थ मे चिति शब्द का प्रयोग हुआ है। दिक् का अर्थ क्रिया और काल है (दिक् शब्देन क्रियाकालश्चोच्यते-वृषभ, (पृष्ठ ४१)। आख्यात शब्द का प्रयोग और आख्यात के अर्थ रूप मे क्रिया, काल, साधन, पुरुष, सख्या आदि का उल्लेख भी एक साथ हो गया है।

उपर्युक्त आख्यातार्थों का व्याकरणदर्शन की दृष्टि से विवरण अगले अध्यायो मे वाक्यपदीय के आधार पर किया जाएगा।

क्रिया विचार

आख्यातार्थों में क्रिया की प्रधानता

क्रिया आख्यातगम्य है यह पूर्व के अध्याय मे सिद्ध किया जा चुका है। आख्यातार्थों मे क्रिया ही प्रधान मानी जाती है। महाभाष्यकार ने 'क्रिया-प्रधानमाख्यात भवति'[१] कहा है। न्यासकार ने भी क्रिया और साधन दोनो को आख्यात का वाच्य मानते हुए क्रिया को ही उसका प्रधान अर्थ माना है

आख्यातस्य यद्यपि क्रियासाधनञ्चोभयं वाच्य, तथापि तस्य क्रियैव प्रधानमर्थः।[२]

क्योकि जब पूछा जाता है 'देवदत्त क्या कर रहा है' तो ऐसे प्रश्नो का उत्तर क्रिया द्वारा ही दिया जाता है, जैसे वह पका रहा है (पचति)। एक पद उपात्त कारक की अपेक्षा भी क्रिया की प्रधानता देखी जाती है (**एकपदोपात्तार्थापेक्ष च क्रियाप्रधानत्वमभिधीयते-महाभाष्य प्रदीप** ५।३।६६)। व्रीहीन् अवहन्ति जैसे वाक्यो मे व्रीहि द्रव्य के सस्कारक होने के कारण अवघात की अप्रधानता है। अथवा यद्यपि अर्थ (द्रव्य) की दृष्टि से व्रीहि की प्रधानता है फिर भी क्रिया के साध्य होने के कारण शब्द की दृष्टि से उसी की प्रधानता है न कि व्रीहि की। भूत की अपेक्षा भविष्यत्काल मे होने वाला (भाव्य) ही

---

७ ध्वन्यालोक लोचन ३।१६, पृष्ठ ३७६ (चौखम्बा सस्करण)।

१. महाभाष्य, ५।३।६६

२. काशिका विवरणपञ्जिका ५।३।६६, पृ० १२७

निर्वर्त्य कहा जाता है इसलिए साध्य अवस्था मे होने के कारण कारक की अपेक्षा व्यापाररूपी क्रिया की प्रधानता मानी जाती है। यद्यपि इस दृष्टि से क्रिया से भी बढ कर फल की प्रधानता है क्योंकि फल के लिए प्रवृत्ति होती है फिर भी फल की प्रधानता वस्तु की दृष्टि से है। आख्यात के उच्चारण से तो क्रिया की प्रधानता ही निश्चित होती है। क्योंकि पचति शब्द कहने से फल का शब्द के द्वारा उल्लेख नही होता अपितु उसके लिए पदान्तर का प्रयोग करना पडता है। एक पद से जब एक से अधिक अर्थों की अभिव्यक्ति होती है तो उनमे गुण और प्रधानभाव का ही विचार होता है। पचति शब्द से अभिव्यक्त पाकरूप फल और पाकरूप क्रिया मे क्रिया अर्थ ही प्रधान है। पच्यते जैसे कर्म अर्थ मे प्रयुक्त शब्दो मे भी पाकरूप क्रिया की ही प्रधानता जान पडती है क्योंकि पच्यते का अर्थ पाक. निर्वर्त्यते' रूप मे सामने आता है। वह पाक फल की सिद्धि के लिए है। इस अभिप्राय मे हम फल की अपेक्षा क्रिया को गौण समझते हैं परन्तु यथार्थत साक्षात् रूप मे शब्द व्यापार के द्वारा क्रिया का ही प्राधान्य सिद्ध होता है। लोक मे क्रिया का ही अनुष्ठान देखा जाता है, फल तो वस्तुसामर्थ्य मे होता है। क्रिया की प्रधानता से ही वाक्यार्थ का क्रिया के रूप मे व्याख्यान किया जाता है। कर्ता आदि कारक जो सिद्ध रूप मे होते हैं साध्य क्रिया के गुणीभूत रूप मे ही व्यवहृत होते है। कर्म का भी क्रिया के प्रति गुणभाव ही है। जहा कर्म ही फल रूप मे होता है वहा उसकी प्रधानता फल की दृष्टि मे अवश्य होती है पर शब्दत वहा भी क्रिया की ही प्रधानता रहती है। इसलिए आख्यातार्थ साधन और क्रिया मे क्रिया ही प्रधान है। सख्या और पुरुष भी साधन के आश्रय से क्रिया के उपकारी होते हैं अत वे भी क्रिया की अपेक्षा गुणभूत है। काल और उपग्रह क्रिया के साक्षात उपकारक है। फलत वे भी क्रिया के गुणभूत हैं। जहा भाव मे लकार होता है वहा क्रिया की प्रधानता सख्या की अपेक्षा होती ही है। वस्तुत. जो साध्य रूप मे है, अनिर्वृत्त है वह दूसरे का अग-भाव (गुणीभूत) नही हो पाता है। क्रिया साध्य है। अत प्रधान है। इसीलिए भाष्य में क्रिया को 'असत्या भेदाभाव इत्येका क्रिया' कहा गया है। हेलाराज के अनुसार इस वाक्य मे एक शब्द भेदाभाव का प्रदर्शनपरक है न कि सख्या वाचक। असत्त्वभूत होने के कारण क्रिया नि सख्य होती है, उसमे सख्या सभव नही है (हेलाराज, वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ४०)। अत साधन, काल, पुरुष, सख्या आदि की अपेक्षा क्रिया प्रधान होती है।

क्रिया अनुमेय होती है

क्रिया का प्रत्यक्ष नही होता। वह अनुमेय मानी जाती है। यदि क्रिया न होती, द्रव्य ही द्रव्य होता तो फलजनकता का रूप समझाया नही जा सकता। यदि पाक और पाठ मे कोई भेद न हो, उनके फल में भी भेद होना कठिन है। इसलिए कारक के अतिरिक्त किन्तु कारक के आश्रित क्रमस्वरूपवाली भिन्नलक्षण कोई वस्तु है ऐसा अनुमान करना पड़ता है। वही क्रिया है। महाभाष्य मे भूवादयो धातव १।३।१ सूत्र की व्याख्या मे इसे सवाद-पद्धति से यो व्यक्त किया गया है

क्रिया किसे कहते हैं ?
क्रिया ईहा को कहते हैं।
ईहा किसे कहते हैं ?
ईहा चेष्टा को कहते हैं।
चेष्टा किसे कहते हैं ?
चेष्टा व्यापार को कहते हैं।

आप तो केवल एक शब्द के बदले दूसरे शब्द कहते चले जा रहे है। कोई अर्थ स्वरूप सामने नही लाते जिससे ज्ञात हो कि क्रिया क्या है।

क्रिया एक ऐसी वस्तु है जो अत्यन्त अपरिदृष्ट (अपरदृष्ट) है, उसका प्रत्यक्ष नही होता। परमाणुओं के पिण्ड की तरह क्रिया का पिण्डीभूत कोई रूप नही होता। कुक्षिस्थ गर्भ की तरह क्रिया अप्रत्यक्ष होती है अथवा जैसे कुक्षि से बाहर आये हुये गर्भ का प्रत्यक्ष होता है वैसे क्रिया का प्रत्यक्ष नही होता। वह अनुमान से जानी जाती है। सभी साधनों के रहते हुए कभी पचति का व्यवहार होता है और कभी नही होता। जिस साधन के रहते हुए पचति का व्यवहार होता है और जिसके न रहने से नही होता है वह अवश्य क्रिया है। अथवा देशान्तरप्राप्तिलक्षण कार्य से क्रिया रूप कारण का अनुमान होता है। देवदत्त यहा था, कुछ समय बाद पाटलिपुत्र मे दिखाई देता है। उसके स्थानान्तर होने मे अवश्य कोई न कोई व्यापार कारण है। वही क्रिया है। अत. क्रिया अनुमान से जानी जाती है।

क्रिया के अनुमान मे कुछ कठिनाइया है। पहले प्रत्यक्ष के आधार पर सम्बन्ध-ग्रहण हो तो अनुमान हो सकता है। फल और व्यापार मे जन्यजनक भाव के प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद ही कार्यकारण भाव का अनुमान सभव होगा। यहा जब प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नही है, क्रिया विषयक अनुमान भी सभव नही है। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि एक एक क्षण का प्रत्यक्ष होता है। धातुवाच्य समूह का युगपत् सन्निधान सभव नही है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष भी नही होगा किन्तु एक एक क्षण का (अधि-श्रयण, स्थाल्युपस्थापन आदि का) प्रत्यक्ष होता है। बुद्धि के सहारे उन सभी क्षणो को एकत्र सकलन कर पचति का प्रयोग किया जाता है। जब एक ही क्षण के लिए (केवल अधिश्रयण आदि के लिए) पचति का प्रयोग किया जाता है, एक ही क्षण मे समूह का आरोप कर लिया जाता है। शब्द शक्ति के स्वभाव के कारण एक क्षण धातुवाच्य नही माना जाता। कुछ लोगो के मत मे अधिश्रयण आदि भी एक क्षणात्मक नही होते। उनमे भी हाथ का पसारना, पात्र का आदान, चुल्ली-सयोजन आदि अव-यव होते हैं इसलिए केवल अधिश्रयण भी समूह रूप होता है। उसका भी जो अवयव परमाणु रूप होगा वह शब्द शक्ति के स्वभाव के कारण न तो वाच्य होता है और न उसका प्रत्यक्ष होता है। अत स्मृति के बल पर सम्बन्ध का ग्रहण कर क्रिया विषयक अनुमान होता है।

कुछ लोग मानते हैं कि 'पचति' यह प्रख्या (बुद्धि) निरालम्ब होती है। निरा-लम्ब होने के कारण भ्रान्त होती है। भ्रान्त होने के कारण अनुमापक नहीं हो सकती।

फलतः क्रिया को अनुमेय मानना ठीक नहीं है। यदि पचति की प्रख्या सालम्बना मानी जाय तो क्रिया का प्रत्यक्ष मानना ही उचित है (ननु पचतीति प्रख्याया निरालम्बनत्वेन भ्रान्तत्वादनुमापकत्वमयुक्तं स्यात्। सालम्बनत्वे तु प्रत्यक्षैव क्रिया प्रख्याविशेषविषयत्वात्) ।[3] इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि व्याकरणदर्शन में वस्तुरूप अर्थ अर्थ नहीं है अपितु शब्द का अर्थ अर्थ है। अन्वय व्यतिरेक के आधार पर धातु भाग का जो अर्थ निश्चित किया जाता है उसकी उपलब्धि साक्षात् संभव नहीं है। द्रव्य स्वभाव सिद्ध होता है। घटः क्रियते जैसे वाक्यों में जिनमे साध्यावस्था भी व्यक्त है द्रव्यशब्द सन्मात्राकारावलम्बन प्रत्यय सत्ताज्ञान उत्पन्न करते हैं। किन्तु घट क्रियते में घट की जो भाव्यमानावस्था है, जो शिवक, स्तूपक आदि अवस्थाओं से क्रमश अभिव्यक्त होती है, उसकी प्रतीति घट शब्द से नहीं होती। उसकी प्रतीति तो क्रियते जैसे क्रिया पद के प्रयोग से ही संभव है। किसी शब्द का वही अर्थ होगा जो पदान्तर निरपेक्ष रूप मे अन्वय व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होता हो। इस आधार पर घट से केवल सत्ता आकारक बोध होता है। इसीलिए सत्ता को प्रातिपदिकार्थ माना जाता है। क्रियापद के प्रयोग से (जैसे क्रियते शब्द से) आश्रितक्रमरूप अर्थ की, साध्यावस्था की प्रतीति होती है। इसलिये तिङन्त का अर्थ भाव्यमान रूप मे गृहीत होता है। तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ अभिधेय के रूप मे नित्य माने जाते हैं। जहा भूत या भविष्यत्काल का उल्लेख होता है जैसे घट अभूत्, घट भविष्यति आदि ऐसे स्थलो मे भी अर्थ अभिधेय के रूप में नित्य माने जाते है क्योंकि उन स्थलो में भी सत् आकारक ज्ञान होता ही है। इसलिए शब्द रूप मे भाव्यमाना क्रिया होती है। इसीलिए ध्वनति जैसे शब्दो मे क्रियात्व माना जाता है। फलत अन्वयव्यतिरेक के आधार पर द्रव्य से क्रिया का अनुमान होता है (**तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्रव्यादनुमिता क्रिया, हेलाराज, वही**)। अनुमान का प्रकार नागेश ने निम्नलिखित रूप मे प्रकट किया है—

> **अनुमानं त्वेवम्, उत्तरदेशसंयोगादिफलं कारणजन्यं, कार्यत्वादिति। तच्च कारणं प्रसिद्धातिरेके इतरबाधकबलात् क्रियारूपमेव प्रसिध्यतीति भाष्यतात्पर्यम्।—महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।१**

भर्तृहरि ने क्रिया विषयक अनुमान को स्पष्ट करने के लिए कई प्रकार के तर्क सामने रखे हैं। इन्द्रियों का सम्बन्ध सत् वस्तु से ही होता है। क्रियाक्षण क्रमशः सद्-सत् रूप होते हैं, समूह रूप मे होते है, इसलिए इन्द्रियार्थसन्निकर्षज्ञान के विषय वे ठीक से नहीं हो सकते। जहा क्रिया का एक ही क्षण है वहा भी समूह का पौर्वापर्य रूप मे अध्यास होता है, पौर्वापर्यरूप में ही क्रियात्व होता है। इसलिए क्रिया-क्षण इन्द्रियविषय नही है। फिर भी उनका ज्ञान होता है और वह अनुमेय ही कहा जायगा। गौ, अश्व, आदि वर्ण समुदाय जिस तरह संस्कारक्रम से परिपाकप्राप्त अन्त्यबुद्धि निर्ग्राह्य होते हैं उसी तरह क्षणसमाहारात्मिका क्रिया समुदायरूप मे फलानुमेय मानी

३. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश १, पृ० १८, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी के संस्करण में यहां का पाठ असमंजस है।

जाती है। उसमें वर्तमानक्षणगत इन्द्रियसम्बन्ध के आधार पर प्रत्यक्षत्व आरोपित रहता है और उसमें एकत्व का भान भी आपाततः होता है। भर्तृहरि ने इसके स्पष्टीकरण में अलातचक्र का उदाहरण दिया है। जिस तरह तेजी से घूमते हुए अलातचक्र में भ्रान्ति से चक्राकार का अध्यारोप होता है उसी तरह क्रियाक्षणों मे भी एकत्व की परिकल्पना और प्रत्यक्ष का अभिमान होता है। जिस तरह से पचति के अधिश्रयण आदि भाग हैं उसी तरह अधिश्रयण आदि के भी स्वसंस्कारक अवयव हैं। अत पौर्वापर्य उन अवयवो में भी होने के कारण वे प्रत्यक्ष से परे की वस्तु हैं। जो पर्यन्तवर्ती निरंश क्षणमात्र है उसके लिए क्रिया शब्द का प्रयोग नहीं होना। तात्पर्य यह है कि व्याकरणदर्शन मे वास्तविक भेद का विचार नहीं है। जहाँ तक शब्द का सम्बन्ध है, शब्द से क्रिया समूहात्मा रूप में ही भासित होती है यद्यपि वह क्षणमात्रस्वभावमयी है और विप्रकीर्ण अवयव वाली है। अत. क्रिया का सक्रम होना और अतीन्द्रिय होना दोनो सिद्ध होता है। और यदि कभी निरंश क्षणमात्र (अपकर्षपर्यन्त अनुप्राप्त) के लिए क्रिया शब्द का प्रयोग हो भी तो वहा भी पूर्वोत्तर भाग की कल्पना से पौर्वापर्य क्रम अध्यवसित होता है। फलत वह भी आख्यात वाच्य है। इसी आशय से निरुक्तकार ने भी पूर्वापरीभूत भाव को आख्यातवाच्य माना है (वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ६-१२)।

कुछ लोग मानते है कि क्रिया अनित्य है। जिस तरह व्यक्ति से आकृति अभिव्यक्त होती है उसी तरह अधिश्रयण, उदकासेचन, तण्डुलावपन आदि मे क्रिया अभिव्यक्त होती है।

कुछ अन्य आचार्य मानते है कि क्रिया उत्पन्न होती है, अभिव्यक्त नही होती। जब दीप से घट की अभिव्यक्ति होती है, घट की सत्ता पूर्व सिद्ध होती है। क्रिया के लिए अभिव्यक्त पक्ष स्वीकार करने मे अधिश्रयणादि से पूर्व क्रिया की सत्ता माननी पड़ेगी।

कुछ आचार्य मानते है कि जिस व्यापार के अनन्तर फल की निष्पत्ति होती है वही क्रिया है। पचति मे वस्तुत. क्रिया विचटन (तण्डुल के अवयवों का फूल जाना, विक्लित्ति रूप व्यापार है। क्योंकि विचटन के बाद ही ओदन रूप फल की निष्पत्ति होती है। अधिश्रयण आदि विचटन के पूर्व के व्यापार ओदन की निष्पत्ति मे साक्षात् उपकारक नहीं होते। इसलिए उन्हे यथार्थ रूप मे कारक (साधन) नही कहा जा सकता। अधिश्रयण आदि के लिए पचति का प्रयोग प्रधान विचटन क्रिया के अधिश्रयण मे अध्यास से होता है। अथवा यो कह सकते है कि अधिश्रयण आदि विचटन क्रिया के सहायक हैं। अत उनमें क्रियात्व उपचरित है वास्तविक नही। उनमे क्रियात्व तादर्थ्य के आधार पर माना जाता है। जिस तरह से तादर्थ्य के कारण स्थूणा में इन्द्र का आरोप करते है उसी तरह से अन्य अवयवों में क्रिया रूप का आरोप करते हैं। महाभाष्य का अथ क. पचेः प्रधानोऽर्थः यासौ तण्डुलानां विक्लित्तिरिति यह वाक्य भी इस मत का पोषक है। इसी मत के आधार पर क्रिया और व्यापार मे भेद भी किया जाता है। जिससे फल की निष्पत्ति होती है। उस अन्त्य भाग को क्रिया कहते है

और जो अन्य उसके सहायक हैं उन्हें व्यापार कहते हैं—(**फलप्रसवयोग्योऽन्त्यो भाग: क्रिया, तदर्थास्त्वन्ये व्यापारा इति**—(हेलाराज, क्रिया समुद्देश १५)। विचटन नियत-काल में होता है। वह पाक शब्द से वाच्य है। उसमे कोई भेद नही होता, उसमे पूर्व या पर जैसी कोई वस्तु नहीं है। फिर भी उसमे गुण क्रिया के पौर्वापर्य का आरोप कर उसे पूर्वापरीभूत मानते है। अन्यथा पौर्वापर्य के अभाव मे उसमें क्रियात्व संभव ही नहीं हो सकता। कुछ लोग मानते हैं कि विचटन व्यापार के अनेक रूप है। अधि-श्रयण आदि भी उसके भीतर गृहीत हैं। पचति शब्द से अधिश्रयण आदि का भी बोध होता ही है। पचति की किसी अवस्था मे ऐसी कोई विशेषता नही है जिससे एक को प्रधान और दूसरी को गौण माना जाय। कुछ लोग इस रूप मे भी कहते है कि पचि क्रिया का कोई अपना रूप नही है। अधिश्रयण आदि अवयव क्रियाओं का परिकल्पित समुदाय पचि क्रिया है।

क्रिया का स्वरूप

क्रिया के स्वरूप पर वाक्यपदीय मे कई तरह से विचार किया गया है। आख्यात वाच्य भाव को पूर्वापरीभूत रूप मे यास्क ने ग्रहण किया था और यह मान्यता लोक-प्रसिद्धि पर आधारित थी। लोक मे व्रजति शब्द से उपक्रम मे लेकर अपवर्ग पर्यन्त (आरम्भ से लेकर अन्त तक) समझा जाता था। गमन क्रिया का प्रसार देवदत्त के एक स्थान छोडने मे लेकर द्वितीय लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाने तक था और लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाने पर ही गमन क्रिया की पूर्णता समझी जाती थी। यद्यपि क्रिया एक सन्तान के रूप मे एक है फिर भी उसमे पौर्वापर्य देखा जाता है। इस आधार पर उसे पूर्वापरीभूत मानते थे। यद्यपि अन्त्य व्यापार से भाव की निर्वृत्ति देखी जाती है। फिर भी पूर्व के बिना अन्त्य की ही सत्ता कठिन है। अन्त्य पूर्व सापेक्ष ही होता है। पुन अभिमत देश मे पहुँचने मे केवल एक ही क्रिया काम नही करती। इसलिये यास्क के समय मे ही भाव का पूर्वापरीभूत रूप महत्वपूर्ण मान लिया गया था और बाद के वैयाकरणो ने भी इस रूप का परित्याग नहीं किया। अवश्य ही सूक्ष्म दृष्टि से व्याकरणदर्शन में भाव और क्रिया मे थोडा भेद माना जाता है। अपरिस्पन्दनसाधनसाध्य धात्वर्थ को भाव कहते हैं और सपरिस्पन्दनसाधनसाध्य को क्रिया कहते हैं। किन्तु क्रिया के स्वरूप विचार मे सदा इस भेद को ध्यान मे नही रखा जाता और कही कही भाव के दूसरे रूप भी व्यक्त किये गये है जैसे भावे घञ् जैसे स्थानो मे सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थ को भाव कहा गया है। सामान्यत सुविधा की दृष्टि से भाव और क्रिया समानार्थक हैं। और पूर्वापरीभाव क्रिया का एक प्रधान रूप है। इसे भर्तृहरि ने भी स्वीकार किया है और उनके अनुसार क्रिया का शास्त्रीय लक्षण निम्नलिखित है

> **यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।**
> **आश्रितक्रमरूपत्वात् तत् (सा) क्रियेत्यभिधीयते ॥**[४]

---

४. वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश १.

इस लक्षण मे आश्रितक्रम शब्द पूर्वापरीभूत का ही द्योतक है। सयोग विभागात्मक सिद्धस्वभाववाला अर्थ धातु वाच्य नहीं होता। क्योंकि उसका साध्य के रूप मे आश्रितक्रम रूप में ज्ञान नही होता। क्रियात्व की प्रतीति के लिए साध्य के रूप मे अभिधान आवश्यक है। साध्य भले ही अभी असिद्ध हो जैसे पचति और पक्ष्यति मे, अथवा सिद्ध हो चुका है जैसे अपाक्षीत् मे।

पाणिनि के पूर्व के आचार्यो ने 'क्रियावचनो धातु.' यह लक्षण सामने रखा था। इस लक्षण मे कुछ कठिनाइयाँ जान पडी। इस लक्षण को अपनाने से अस्ति भवति, विद्यते जैसे शब्दो मे धातुत्व नही संभव होगा। क्योंकि पचति का करोति के साथ जैसा सामानाधिकरण्य है वैसा सामनाधिकरण्य करोति का भवति आदि के साथ नही है। किं करोति (वह क्या करता है) पूछे जाने पर भवति (होता है) यह उत्तर नही दिया जाता। इसके अतिरिक्त, लोक मे उसी को क्रिया शब्द से कहते हैं जिसमे कुछ न कुछ परिस्पन्द देखा जाता है। अस्ति, भवति आदि का कोई परिस्पन्दमय रूप स्पष्ट नही है। इसलिए महाभाष्यकार ने क्रिया को ईहा, चेष्टा आदि के रूप में मानते हुए भी उसका सकलधातुव्यापक लक्षण बनाया और वह है 'कारकाणा प्रवृत्तिविशेष· क्रिया' (महाभाष्य १।३।१, ५।३।४२)। किन्तु इस लक्षण के अनेक अर्थ किये जाते हैं जिनमे कुछ का विवेचन हेलाराज के आधार पर यहाँ किया जाता है।

कारकों के प्रवृत्तिविशेष का नाम क्रिया है। ठीक है। परन्तु क्या सभी कारको का एक ही प्रवृत्तिविशेष है अथवा प्रति कारक की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न है। सभी कारकों की एक ही प्रवृत्ति संभव नही है। क्योंकि करण की जो प्रवृत्ति होती है वही कर्त्ता की नही होती, सप्रदान की जो प्रवृत्ति होती है वही अधिकरण की नही होती। एक ही क्रिया का आश्रय अनेक नही देखा जाता।

अत प्रत्येक कारक की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न होती है ऐसा मानना चाहिए। परन्तु इस पक्ष मे भी कठिनाई है। प्रति कारक के साथ भिन्न प्रवृत्ति के मानने से सभी कारको के व्यापार का अभिधायक धातु होगा। फलत सभी कारको का अभिधायक लकार भी होने लगेगा। वस्तुत लकार का सम्बन्ध धातु से ही होना चाहिए। यह आक्षेप ठीक है। किन्तु देवदत्त काष्ठै स्थाल्यामोदन पचति जैसे वाक्यो मे पच् धातु का सम्बन्ध प्राय सभी कारक-व्यापारो के साथ देखा जाता है। इसलिए धातु को सभी कारको के व्यापार का अभिधायक माना जा सकता है। फिर भी लकार का सम्बन्ध सभी कारकों से न होकर कर्ता-कर्म से ही इसलिए होता है कि प्रधान रूप मे कर्त्ता और कर्म के ही व्यापार लकारान्त से प्रतीत होते हैं। यह एक मत है।

कुछ लोग मानते है कि सप्रदान आदि कारको के साथ धातु का सीधा सम्बन्ध नही होता, करण आदि के साथ ही होता है। क्योकि करण आदि के साथ स्वातत्र्य की विवक्षा देखी जाती है, अपादान आदि के साथ नही देखी जाती। इसलिए अधिश्रयण, उदकासेचन आदि के रूप मे कर्त्ता आदि के व्यापार का ही नाम क्रिया है। वार्तिककार का भी ऐसा मत है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कारको की प्रवृत्तिविशेष को जब भाष्यकार ने क्रिया कहा है, उनका अभिप्राय क्रिया के स्वरूप

प्रकरण से है न कि धातुवाच्यत्व से। जिस कारक की जो प्रवृत्ति है वही क्रिया है। पाक क्रिया भी अनेक कारकों से सम्बद्ध होने के कारण अनेक हैं। धातु से केवल कुछ का ही अभिधान होता है, कभी कर्मगत के रूप में जैसे पच्यते, और कभी कर्तृगत के रूप में जैसे पचति। अतएव कर्ता और कर्म से ही लकार का सम्बन्ध होता है, उन्ही के व्यापार का ही धातु से अभिधान होता है।

कुछ व्याख्याता प्रवृत्तिविशेष मे विशेष पद पर जोर देते हैं। प्रवृत्तियों के विशेष को वे प्रवृत्तिविशेष मानते हैं। सभी कारको से अन्य विक्लित्ति आदि रूप भूति (भवन) क्रिया है क्योंकि कारक की प्रवृत्ति का फल वही है।

कुछ लोगों के अनुसार यहा कारक से अभिप्राय प्रधानकारक-कर्ता-से है, अप्रधान करण आदि से नही। कारकाणा पद मे बहुवचन इस बात का द्योतक है कि क्रिया भेद से कर्तृ भेद होता है और अनेक क्रिया के अनेक कर्तृ है। अनेक कर्तृत्व को दृष्टि मे रख कर कारक शब्द में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। कोई कह सकता है कि तब कारकाणा के स्थान पर कर्तृ पद का ही प्रयोग क्यो नही किया। इसका समाधान यह है कि कर्म मे भी लकार देखा जाता है, उसका निराकरण न हो इसलिए कर्तृ के बदले कारक शब्द का व्यवहार उस लक्षणवाक्य मे किया गया है। जहाँ कर्म की सम्भावना है वहाँ कर्म का व्यापार भी क्रिया है। विशेष बात यह है कि कर्म का विषय उतना व्यापक नही है जितना व्यापक कर्ता का है, इसलिए व्यापक होने के कारण कर्ता ही यहां विवक्षित है। इसमे प्रमाण—'अन्यथा च कारकाणि शुष्कौदने प्रवर्तन्ते, अन्यथा च मांसौदने'—(महाभाष्य १।३।१) यह वाक्य है। कर्ता सूखे ओदन की ओर मन्द रूप मे प्रवृत्त होता है पर मांस युक्त ओदन की ओर उसकी प्रवृत्ति वेगमयी होती है। मन्दप्रयत्न या सरम्भमय प्रस्थान से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ कारक शब्द से कर्ता ही अभिप्रेत है। उसी की प्रवृत्ति देखी जाती है। वही चेतन भी है, अत: प्रवृत्ति उसी मे सम्भव भी है। भाष्यकार ने क्रिया को मन्द प्रवृत्ति अथवा वेगमयी प्रवृत्ति के रूप में स्वय व्यवहृत किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्ता की विशेष प्रवृत्ति ही क्रिया है। इस मत मे कुछ लोग त्रुटि दिखाते हुए कहते हैं कि यदि क्रिया को प्रवृत्तिविशेष रूप मे मानेंगे तो चेतन कर्त्ता तो गृहीत होंगे परन्तु अचेतन कर्ता गृहीत न हो सकेंगे। अचेतन होने के कारण उनमे प्रवृत्ति सभव नही है। इसके अतिरिक्त मासौदन मे करण आदि का भी हाथ हो सकता है। इसलिए कारक शब्द से केवल कर्ता ही निर्दिष्ट है ऐसा मानना युक्तिसंगत नही जान पड़ता। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि सरम्भ सामान्य का कर्ता मे ही होना सभव है। थाली अथवा अन्य अधिकरण आदि कारक स्वय ओदन की ओर मन्द रूप मे अथवा वेगरूप मे प्रवृत्त नही होते। कर्ता कर्म का सामान्य रूप मे ग्रहण होने के कारण अचेतन प्रवृत्ति उनमे भी सम्भव है। वार्तिककार ने 'न वा तुल्यकारणत्वाद् इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धि' (महाभाष्य ३।१।७) कहा है चेतन और अचेतन मे इच्छा की प्रवृत्ति देख कर ही। इच्छा चेतन देवदत्त मे जैसे है वैसे ही अचेतन कूल मे भी है। इसीलिए कूलं पिपतिषति प्रयोग किया जाता है। भाष्यकार ने इसे स्पष्ट करते हुए

कहा है कि प्रवृत्ति से इच्छा जानी जाती है। देवदत्त जब चटाई बनाना चाहता है चिल्ला-चिल्ला कर नही कहता कि मैं चटाई बनाऊंगा, अपितु उसके हाथ मे रज्जु, कीलक, पूल आदि को देख कर उसकी चटाई बनाने की इच्छा का पता चल जाता है। इसी तरह कूल की प्रवृत्ति से उसकी इच्छा जानी जा सकती है। कूल जब गिरने को होता है लोष्ठ विशीर्ण होकर गिरने लगते हैं, दरारे पड़ जाती हैं और कूल एक स्थान से दूसरे स्थान पर गिर कर चला जाता है (**कूलस्यापि पिपतिषतो लोष्ठाः शीर्यन्ते भिदोपजायते, देशाद्देशान्तरमुपसंक्रामति-महाभाष्य ३।१।७**)। सर्वस्य वा चेतनत्वात्, वार्तिक, महाभाष्य ३।१।७ मे उल्लिखित दर्शन के अनुसार अचेतन मे भी चेतनता संभव है। पदार्थों की उपलब्धि विचित्ररूप मे होने के कारण सर्वत्र चैतन्य उपलब्ध नही होता (वैचित्र्येण च पदार्थानामुपलम्भात् सर्वचेतनधर्मप्रसंग सर्वत्रनोद्भावनीय — महाभाष्यप्रदीप ३।१।७)। दूसरी बात यह है कि भाष्यकार ने ओदन या मास-ओदन की ओर मन्द या वेगवती प्रवृत्ति को दिखा कर प्रवृत्तिविशेष की ओर सकेत किया है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्ता की विशिष्ट प्रवृत्ति को क्रिया कहते है। प्रवृत्तिविशेष का भाव प्रवृत्ति का ही विशेष (प्रवृत्तेरेव विशेष.) है। कारक के स्थान पर केवल कर्तृ-पद नही कहा इसलिए कि कर्म का भी यथा स्थान ग्रहण हो सके, कर्म का भी व्यापार क्रिया के रूप मे प्रतीत होता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस मत मे एक कठिनाई और है। भाष्यकार ने एक स्थान पर कहा 'पच का प्रधान अर्थ क्या है? तण्डुलो की जो विक्लित्ति है, वही प्रधान अर्थ है (**अथ कः पचेः प्रधानोऽर्थः—यासौ तण्डुलानां विक्लित्तिरिति—महाभाष्य ३।१।२६**)। अब यदि कर्तृ व्यापार को ही क्रिया माना जायगा और वही धातुवाच्य होगी, महाभाष्यकार के उपर्युक्त कथन के साथ विरोध होगा। क्योंकि विक्लित्ति कर्ता का व्यापार नही है, कर्ता का व्यापार अधिक से अधिक विक्लेदना है। विक्लित्ति तो फल है, व्यापार नहीं। पर इस आक्षेप का समाधान सरल है। वस्तुतः विरोध नही है। महाभाष्यकार ने विक्लित्ति को पच् का प्रधान अर्थ वस्तु-अर्थ की दृष्टि से कहा है न कि शब्दार्थ की दृष्टि से। अर्थ की दृष्टि से विक्लित्ति ही प्रधान है और शब्दार्थ की दृष्टि से विक्लित्ति सहित विक्लेदन अर्थ प्रधान है। कर्म मे लकार मानने पर विक्लित्ति अथवा विक्लेदन सहित (उपसर्जन रूप मे) विक्लित्ति अर्थ प्रधान है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। अस्तु, इस मत के अनुसार कर्ता और कर्म के व्यापार ही क्रिया है और क्रिया ही धात्वर्थ है। सम्प्रदान, अपादान आदि के व्यापार धातु वाच्य नही है इसमे कारण शब्द शक्ति स्वभाव है। परन्तु कैयट के अनुसार सप्रदान, अपादान आदि मे भी व्यापार है। जैसे, सम्प्रदान का अनुमनन, अपादान का अवधि रूप मे अवस्थान आदि। प्रतीयमान व्यापार भी कारक के व्यपदेश मे निमित्त होता है—

> **शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्च अपादानसंप्रदानव्यापारे धातुर्न वर्तते। वस्तुतस्तु अपादानस्य अवधि भावेनावस्थानं व्यापारोस्ति। संप्रदानस्यापि अनुमनना-विलक्षणः। प्रतीयमानोऽपि व्यापारः कारकव्यपदेशनिबन्धनम्। यथा प्रविश**

पिण्डीभिति—महाभाष्यप्रदीप १।४।२३, पृ० ३५१, गुरुप्रसाद शास्त्री संपादित।

इसलिए कुछ लोगो के अनुसार कारको की प्रवृत्ति ही क्रिया है न कि प्रवृत्ति विशेष क्रिया है। महाभाष्यकार ने क्रिया को सामान्यभूता कहा है (**सामान्यभूता क्रिया वर्तते-महाभाष्य १।४।२३**)। सभी कारको के साध्य होने के कारण क्रिया सब कारको का साधारण (साधारणी) है। अत क्रिया मे सब का कर्तृत्व है। अवान्तर व्यापार की विवक्षा होने पर करण आदि रूप सामने आता है। जैसे सन्तान की उत्पत्ति मे माता-पिता का कर्तृत्व है। किन्तु भेद की विवक्षा से यह इसमे पैदा हुआ, यह इससे पैदा हुआ इस तरह से अधिकरण और अपादान का रूप प्रतिष्ठित होता है। करणत्व आदि की अवस्था मे कर्तृ सज्ञा नहीं होती। स्वतन्त्र कर्ता १।४।५४ मे कारकत्व के कारण ही स्वातन्त्र्य प्राप्त था फिर भी पाणिनि ने स्वतन्त्र शब्द को रखा नियम के लिए। और वह नियम यह है कि कर्तृ सज्ञा उसी की होगी जो स्वत स्वतंत्र होगा। पारतन्त्र्यसहित स्वातंत्र्य युक्त जो होगा उसकी कर्तृ सज्ञा नही होगी। उद्भूत स्वातत्र्यविवक्षा मे कर्तृ सज्ञा होगी जैसे स्थाली पचति मे, किन्तु उद्भूतपारतन्त्र्यविवक्षा मे स्वातन्त्र्य के होने पर भी न्यग्भाव रूप मे होने के कारण स्वातन्त्र्य प्रयुक्त कार्य नही होते।[५]

करण आदि मे कारक सज्ञा तो होगी क्योकि वस्तुस्थिति के कारण तथा उद्भूत होने के कारण अविवक्षित भी स्वातन्त्र्य का आश्रय लेकर करण आदि का विधान किया जाता है। जहा पर शक्तियो का निमित्तनिमित्तभाव से युगपत् विवक्षा होगी वहा पर सज्ञायो का विप्रतिषेध होता है इसलिए करण आदि के विप्रतिषेध भाव की भी अनुपपत्ति नही होगी। अत सामान्यभूत क्रिया के आधार पर कारको की प्रवृत्तिमात्र को क्रिया मान लेना चाहिए। इस मत के अनुसार फलजनन रूप साधारण क्रिया ही प्रवृत्तिविशेष कही जाती है। प्रवृत्ति ही विशेष है (**प्रवृत्तिश्चाय विशेषश्चेति प्रवृत्तिविशेषः**)। यदि विशेष रूप मे किसी का ग्रहण भी करेगे तो फलजनन रूप का ही, न कि अधिश्रयण आदि का। प्रवृत्तियो का जननरूप ही क्रिया है। इस मत के अनुसार सभी कारको की एक ही प्रवृत्ति होती है और वह फलजननमयी है। सभी व्यापार फल उत्पन्न करने के लिए ही हैं। इसलिए फल के उत्पन्न करने वाली क्रिया का सभी कारको के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक है। कोई कारक किसी रूप मे फलजनक होता है और कोई किसी अन्य रूप मे। करण, सप्रदान आदि व्यपदेश अवान्तर भेद के कारण होता है।

कुछ लोग प्रवृत्ति और परिस्पन्द को समानार्थक मानते है। उनके अनुसार लोक मे क्रिया परिस्पन्द रूप मे गृहीत होती है। कणाद दर्शन भी क्रिया को परिस्पन्दलक्षण मानता है। परन्तु व्याकरणदर्शन अन्य दर्शन मे गृहीत क्रिया के स्वरूप को नही

---

५ स्वातन्त्र्ये उद्भूतत्वं च विवक्षितप्रकृतप्रधानसपूर्णधात्वर्थाश्रयत्वरूपमेव। पारतन्त्र्ये उद्भूतत्वं च प्रकृतधात्वर्थानाश्रयत्वरूपमेवेति बोध्यम्-नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।४।२३।

मानता। यदि कणाद दर्शन की क्रिया सम्बन्धी मान्यता स्वीकार की जायगी तो एक ही क्रिया अनेक स्थानों पर नहीं हो सकेगी, उस दर्शन में एक क्रिया अनेकत्र नहीं मानी जाती। यदि केवल प्रवृत्ति शब्द से क्रिया व्यक्त की जायगी परिस्पन्द रूप लोक-प्रसिद्ध व्यापार ही द्योतित होगा। इसलिए, इस त्रुटि को दूर करने के लिए 'विशेष' शब्द रखा गया है। प्रवृत्तिविशेष कहने से प्रवृतिमात्र का बोध होता है, केवल परि-स्पन्द का नही। सभी प्रवृत्तियां दूसरी प्रवृत्तियो से भिन्नता प्राप्त कर विशेष स्वरूप को प्राप्त करती हैं। यह विशेषता सजातीय से और विजातीय से भी होती है। सजा-तीय से भेद प्राप्त होने का उदाहरण सूखे ओदन और मांस-युक्त ओदन की ओर कारको की भिन्न प्रवृत्ति से स्पष्ट है। भोजन की क्रिया जो वस्तुतः एक ही है फिर भी एक मे मन्द प्रवृत्ति के कारण और दूसरी मे सवेग प्रवृत्ति के कारण भिन्न जान पडती है। यदि संरभ वाली प्रवृत्ति को ही प्रवृत्ति-विशेष माना जायगा तो जहा मन्द प्रवृत्ति है वहां क्रियात्व नही लक्षित हो सकेगा। अत प्रवृत्तिविशेष (अर्थात् प्रवृत्ति-मात्र) क्रिया का सामान्य लक्षण है। विजातीय भेद पचति, पठति आदि मे एक दूसरे से नितान्त भिन्न होने के कारण स्पष्ट ही है।

अस्तु, प्रत्येक दशा मे क्रिया कारको का प्रवृत्तिविशेष है, आश्रित क्रमवाली है और साध्यस्वभाववाली है। घण्टा ध्वनति जैसे वाक्यों मे क्रम कार्यकारण भाव से जान पडता है। घण्टा ध्वनि का कारण है और ध्वनि कार्य है। घण्टा मे कुछ क्रिया होने पर ही घण्टा बजता है ऐसा कहते है। वीचिसन्तान के रूप मे फैलती हुई ध्वनि का भी पूर्वभाग उत्तरभाग का कारण है और उत्तरभाग पूर्वभाग का कार्य है। घण्टा के उपरत हो जाने पर ध्वनि को सिद्ध रूप मे (ध्वनि इस रूप मे) व्यक्त किया जाता है। इसी तरह जब श्वेत गुण को श्वेत रूप मे प्रकाशित होने के कारण श्वेतते जैसे तिङन्त पद से अभिव्यक्त करते हैं, उसका क्रमाश्रित क्रियारूप ही सामने आता है। पूर्वापरीभूत क्षणप्रवाह का एक क्रिया के रूप मे एक साथ सन्निधान बौद्धिक सकलन द्वारा होता है। एक फल के उद्देश्य से प्रवृत्त अवयवो मे एकत्व की कल्पना सहज है। काल्पनिक अभेद के आधार पर सभी क्रमभावी अवयवो के समुदाय को क्रिया कहते हैं। यह सब विवरण शब्दार्थ को सामने रख कर है न कि वस्त्वर्थ को।

जाति-क्रियावाद

कुछ आचार्य जाति को क्रिया मानते हैं। इस मत के पीछे वाजप्यायन का जाति-पदार्थ-दर्शन है। भर्तृहरि भी इस मत से प्रभावित हैं और उनका सत्तावाद, जिस पर आगे विचार किया जायगा, जातिवाद का ही एक दार्शनिक रूप है। भर्तृ-हरि ने स्पष्टरूप मे कहा है कि व्याकरणदर्शन मे अन्य दर्शन के जाति-विचार को ज्यो के त्यो ले लेना अथवा उनसे सर्वथा सहमत होना आवश्यक नहीं है (**न चावश्यं शास्त्रान्तरे परिदृष्टा शास्त्राभिव्यक्तिप्रक्रिया वैयाकरणैः परिगृह्यते—वाक्यपदीय हरि-वृत्ति १।१५ पृष्ठ ३२**)। इसीलिए व्याकरणदर्शन सामान्य में भी सामान्य की सत्ता मानता है और एक व्यक्ति मे भी जाति का अस्तित्व मानता है। अभाव में भी

सामान्य की कल्पना करता है। कैयट ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है—

> **गोत्वाऽश्वत्वे सामान्ये इति व्यावृत्तेऽवनुवृत्तप्रत्ययहेतु सामान्यानामपि सामान्यमाश्रितव्यम्। अथवा निःसामान्यानि सामान्यानीति नैयिककर्शनं न वैयाकरणैर्नियोगत आस्थेयम्। कार्योन्नीयमाना हि तेषां पदार्था इति सामान्येष्वपि सामान्यमस्ति। अभावश्चत्वार इत्यत्रापि निरुपाख्यत्वं सामान्यं कल्पनीयम्।**
>
> —महाभाष्य प्रदीप १।२।४६, पृष्ठ १४०

जाति पदार्थ का विस्तार इतना व्यापक होने के कारण क्रिया भी उसके भीतर आ जाती है और इसी दर्शन के आधार पर जाति को क्रिया माना जाता है। एक होते हुए भी अनेक मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाली वस्तु का नाम जाति है। क्रिया मे भी कुछ ऐसी ही बात है। पचति इस एक क्रिया के भीतर अधिश्रयण आदि अनेक क्रियाएँ हैं। अधिश्रयण आदि का भी एक सामान्य रूप है। उन सब के साथ समवाय रूप मे जिस सर्व विषय-सामान्य की अभिव्यक्ति होती है वही पचति का अर्थ है। इस बात को स्वयं भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्य-टीका मे यों व्यक्त किया है

> **एवं पचति शब्दे यास्ता अधिश्रयणादिक्रियास्तासां यानि प्रत्यर्थनियतानि सामान्याधिश्रयणादीनि तैः सहैकार्थसमवायि यत सर्वविषयसामान्यमभिव्यज्यते तत् पचति शब्द वाच्यम्, यथा भ्रमणत्वमनेकार्थविषयं भ्रमणमित्युच्यते।'**
>
> महाभाष्यत्रिपादी, मेनुस्क्रीप्ट पृ० २३ (ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का हस्तलेख)

जाति की सत्ता अनुगताकार प्रत्यय के आधार पर मानी जाती है। कर्त्ता, कर्म आदि मे भेद होते हुए भी पचति ज्ञान की अनुवृत्ति देखी जाती है। अतः क्रियाव्यक्तिसमवेत जाति स्वीकार करनी चाहिए और उसे ही धातुवाच्य मानना चाहिए। जिस तरह से स्फोट की अभिव्यक्ति क्रमिक वर्णों से होती है उसी तरह क्रमिक (असमसमयभावि)। क्षणो से क्रिया जाति की अभिव्यक्ति होती है। अथवा जैसे भ्रमण के क्षणो के उत्पन्न और विनाशशील होने पर भी उनमे भ्रमणत्व का समवाय मानकर भ्रमणत्व जाति की सिद्धि मानी जाती है क्योंकि उन्ही क्षणो की आवृत्ति उसका उपव्यजक है। उसी तरह उपव्यजन (क्रिया के अवयव) के बल से क्रियाजाति अभिव्यक्त होती है। अतः जाति के नाते नित्य होते हुए भी क्रियाजाति मे आश्रय के सहारे पौर्वापर्य के रूप मे क्रमिकता और साध्यत्व बने रह सकते हैं। क्रियाजाति मे साधन की आकाक्षा आश्रय (अपने अवयवो) के द्वारा होती है।

कुछ लोगो के मत मे क्रियाजाति क्रिया का वह अंतिम भाग है जिसके तुरन्त बाद फल की सिद्धि होती है। जिस क्रिया-व्यक्ति के अनन्तर फल की निष्पत्ति होती है उसके साथ समवाय सम्बन्ध से रहने वाली वस्तु जाति है, वही क्रिया है। उससे पूर्व की क्रियाएं तादर्थ्यरूप मे (उस अंतिम क्रियाव्यक्ति के कार्य मे सहायक होने के कारण) क्रिया जाति के भीतर गृहीत होती हैं। उपर्युक्त दोनों मत निम्नलिखित कारिकाओं मे उल्लिखित हैं :

> **जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम्।**
> **असाध्या व्यक्तिरूपेण सा साध्येवोपलभ्यते॥**

अन्ते या या क्रिया भागे जातिः सैव क्रिया स्मृता ।
सा व्यक्तेरनुनिष्पादे जायमानेव गम्यते ।।

—वाक्यपदीय ३, क्रिया समुद्देश २०, २१

जातिक्रियावाद के आधार पतंजलि के क्रियासामान्यात् सिद्धम् (महाभाष्य १।२।६४) और सामान्यभूता क्रियावर्तते (महाभाष्य १।४।२३) जैसे कथन माने जा सकते हैं।

सत्ता क्रियावाद

सत्ता क्रियावाद जातिक्रियावाद का ही एक रूप है। सत्तावादी जाति को सत्ता ही मानते हैं। इस दर्शन के अनुसार प्रति पदार्थ का एक सत्य रूप है और एक असत्य रूप है। जो सत्य रूप है वह जाति है, जो असत्य रूप है वह व्यक्ति है। वह सत्य रूप सत्ता है। उसे ही परमसत्ता, अपरसामान्य, महासत्ता आदि नाम से व्यक्त करते हैं। सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है। विचित्र शक्ति योग के बल से वह सत्ता स्वयं भोक्ता, भोग्य, साधना आदि के रूप में व्यवहार का कारण होती है। भोग्य, भोक्तृ आदि में सन्मात्र ही सविद रूप में सत्य है। नानात्व कल्पित है। गोत्वादि जाति उसी महासत्ता का विवर्त रूप है। सम्बन्धिभेद से वही सत्ता गोत्व आदि भिन्न-भिन्न रूप में, जाति रूप में आभासित होती है। सभी प्रकार के शब्द सत्ता रूप जाति में व्यवस्थित है। उसी को प्रातिपदिकार्थ, उसी को धात्वर्थ कहते हैं। वह नित्य है। महान् आत्मा है, त्व, तल् आदि प्रत्यय उसी के व्यंजक है। यहां तक कि अभाव भी सत्ता विहीन नहीं है। उसकी भी बौद्धिक सत्ता (**अभावस्यापि बुद्ध्याकारेण निरुपणात्**)। साधन के परिस्पन्द के कारण वही सत्ता क्रमरूप को प्राप्त होकर क्रिया के रूप में अभिव्यक्त होती है। अत साक्षात् सत्ताक्रिया ही सभी धातुओं का विषय है। (वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश ३२-३५)।

महासामान्यरूप महासत्ता क्रिया है। उसका क्रियाजातित्व साधनों के व्यापार से भी सिद्ध है। क्योंकि कर्ता, कर्म आदि साधनो के क्रियाभेद मे सत्ता ही समवायिनी होती है। इसलिये कर्ता, कर्म के व्यापार से अवच्छिन्न सत्ता क्रियाजाति है। अथवा यो भी कह सकते हैं कि व्यापारो मे समवाय रूप से रहने वाली सत्ता आश्रय भेद से भेदमयी होकर क्रिया कहलाती है।

पहले कहा जा चुका है कि कुछ लोग जिस व्यापार के बाद फल निष्पन्न होता है उसे ही क्रिया मानते हैं। उसी आधार पर सत्तावादियो मे भी कुछ अन्त्यव्यापारभाग की सत्ता को क्रिया मानते है (**अन्त्ये वात्मनि या सत्ता सा क्रिया कैश्चिदिष्यते—वाक्यपदीय, क्रियासमुद्देश २३**)।

बुद्धिसत्ता क्रियावाद

जो लोग बुद्धि को शब्दार्थ मानते हैं उनके मत में बुद्धिसत्ता ही क्रिया है। इस मत के अनुसार दृश्य और विकल्प मे अभेद होता है, उसी आधार पर बुद्धि का भाव में अध्या-

रोप कर लिया जाता है। भाव के सहारे बुद्धिक्रिया में साधन की आकांक्षा और साध्यत्व भासित होते हैं।

भावसत्ता क्रियावाद

कुछ लोग सत्ता को भाव रूप मे लेते हैं और उसी को क्रिया मानते है (**सत्तैव भावशब्दवाच्या मुख्यः क्रियेति मन्यन्ते—हेलाराज, वाक्यपदीय३, क्रियासमुद्देश २१**)। आचार्य वार्ष्यायणि ने षट्भावविकार का निर्देश किया था। (**षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः**)[६]। इस आधार पर भी भर्तृहरि ने क्रिया का विवेचन किया है। भावविकार के विषय मे व्याख्याकारो के कई प्रकार के मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि भाव का अर्थ क्रिया है। द्रव्य मे विकार देख कर उसके भाव स्वरूप का अनुमान किया जाता है। क्योकि द्रव्य स्वय अपने आप मे विकार नही पैदा कर सकता, अपने आप मे क्रिया नही होती। (स्वात्मनि क्रियाविरोधात्) और किसी असत् वस्तु से विकारकता नही आ सकती। ऐसा असंभव है। विकार शब्द यद्यपि प्रकृतिविकारभाव आदि मे कार्यवचन के रूप मे देखा जाता है फिर भी यहा उसे प्रकार-वचन के रूप में मानना चाहिए। क्योकि क्रिया के प्रति क्रिया का कारणत्व नही होता, कर्म कर्मसाध्य नही देखा जाता। इसलिए भावविकार का भाव है क्रिया प्रकार, क्रियाभेद और वे छ. होते है।

कुछ विद्वान् मानते है कि भाव शब्द पदार्थ का पर्याय है। 'कस्यचिद् भावस्याचिरव्यामा' 'स्तम्भकुम्भादयोभावा' इत्यादि प्रयोगो मे भाव शब्द पदार्थपर्याय के रूप में देखा जाता है। इसलिए वार्ष्यायणि के सूत्र मे भाव का अर्थ पदार्थ है। यद्यपि वह एक ही है फिर भी उसके छ भेद संसर्गिभेद से होते हैं, जैसे स्फटिक मे संसर्गवाली वस्तु के धर्म (गुण) से भेद आ जाता है। कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि भाव शब्द का भाव शब्द है। इसीलिए यद्वा सर्वे भावा स्वेन भावेन भवन्ति स तेषा भावः के भाव शब्द के लिए शब्द शब्द का प्रयोग पतजलि ने किया है—यद्वा सर्वे शब्दा स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थ।[८] शब्द यहा अर्थवान् और वाक्यभूत रूप मे गृहीत है। क्योकि जब तक क्रिया पद का प्रयोग नही होता प्रवृत्ति या निवृत्ति, सत्य या झूठ का पता नही चलता। केवल अंकुर शब्द कहने मे अथवा केवल वन्ध्यासुत कहने से ठीक से अर्थ बोध नही होता। जब इनके साथ किसी क्रिया पद का प्रयोग करते हैं जैसे अस्ति, नास्ति आदि का, तभी ठीक से बोध होता है। अत भावभेद का तात्पर्य, इस मत के अनुसार, वाक्यभूत शब्द भेद से है।

किन्तु भर्तृहरि भाव शब्द के सत्ता अर्थ वाले पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं। वार्ष्यायणि के भाव शब्द का अर्थ सत्ता, महासामान्य है। इसी सत्ता को कुछ लोग

---

६. निरुक्त १।२।८, महाभाष्य १।३।१

७. पाणिनिसूत्र ५।१।११९ पर का.य.य १-वार्तिक

८. महाभाष्य ५।१।११९

परमात्मा अथवा परमब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। वही सत्ता परा प्रकृति भी है। वह सर्वविकारों की अनुयायिनी है। वही सत्य है। इसकी पुष्टि के लिए भर्तृहरि ने निम्नलिखित अंश उद्धृत किया है—

> पृथिवीघातौ किं सत्यं विकल्पः, विकल्पे किं सत्यं विज्ञानं, विज्ञाने किं सत्यं ॐ अथ तद् ब्रह्म इति ।
>
> —महाभाष्यत्रिपादी, मैनुस्क्रीप्ट, पृष्ठ ३४ (श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का हस्तलेख) ।[६]

अतः भावविकार से तात्पर्य महासामान्यात्मक सत्ता के जन्मादि विकार से है। वह विकार दर्शनभेद से परिणामरूप मे अथवा विवर्तरूप मे होता है और उत्तरोत्तर विकार प्राप्त कर जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते और विनश्यति इन रूपों मे व्यक्त किया जाता है।

षड्भाव विकारों का विश्लेषण

छ प्रकार के भावविकारो मे पहली अवस्था 'जायते' शब्द से अभिव्यक्त की जाती है। यास्क के अनुसार 'जायते' से पूर्वभाव का आदि व्यक्त होता है।[१०] भर्तृहरि के अनुसार जायते से उत्पन्न होने की प्रक्रिया मात्र की अभिव्यक्ति होती है। जन्म का हो जाना नही, अपितु जन्म का होते रहने वाला रूप जायते से व्यक्त किया जाता है। इसमे अर्थात्मा पूर्व अवस्था को पूर्ण रूप मे अभी छोड़ता नही है और उत्तर अवस्था का केवल संस्पर्शमात्र करता है। दूसरे शब्दो मे, जायते अस्ति का पूर्वभाव है और अस्ति जायते का उत्तरभाव है। पूर्वभाव को छोडने और उत्तर भाव से संयोग होने के पूर्व तक जो अन्तराल-अवस्था है उसे जन्म शब्द से कहते हैं। इसे भर्तृहरि ने यो व्यक्त किया है—

> पूर्वावस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तरम् ।
> संमूर्च्छित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते ।[११]

यहा प्रश्न यह है कि जायते की प्रक्रिया मे कर्तृत्व प्रकृति का है अथवा स्वय भावविकार का। हेलाराज के अनुसार दोनो का है। पूर्व अवस्था (कारण अवस्था) को पूर्ण रूप में न छोडने मे प्रकृति के कर्तृत्व की सभावना है और उत्तर अवस्था के प्राप्त करने के प्रयत्न में विकार का भी कर्तृत्व है। प्रकृति और विकार दोनो के सामानाधिकरण्य होने से दोनो मे कर्तृत्व मानना उचित है। अत. जायते से उस दशा को समझना चाहिए जो पूर्व और अपर दोनो अवस्थाओ की उपाधियो से अवच्छिन्न है, जो पूर्व अवस्था से सर्वथा विच्छिन्न नही है पर उत्तर अवस्था के प्राप्त करने मे उन्मुख है, और जो प्रचीयमान है। सत्कार्यवाद के अनुसार जायते का अभिप्राय अभिव्यक्ति है और असत्कार्यवाद के अनुसार उसका अभिप्राय जन्म है। जायते

९. हेलाराज ने भी इस अंश को जाति समुद्देश ३२ की टीका में उद्धृत किया है।
१०. निरुक्त १।२।८
११. वाक्यपदीय, साधनसमुद्देश ११६, द्रष्टव्य क्रियासमुद्देश २८ और जाति समुद्देश ३९

को अस्ति से पूर्व इसलिये रखा गया है कि जायते की प्रक्रिया के उपरान्त ही अस्ति का अस्तित्व सामने आता है।

द्वितीय भावविकार 'अस्ति' शब्द से व्यक्त किया जाता है। अस्ति से उत्पन्न सत्व का अवधारण द्योतित होता है। वह जायते का उत्तरभाग है। क्योंकि जन्म सत्ता की ओर अभिमुख होने का ही नाम है जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। जन्म की प्रक्रिया (व्यापार) के अवसान पर वस्तु सत्ता को प्राप्त कर अस्ति शब्द से अभिव्यक्त होती है पर उसमे पूर्व व्यापार का अध्यारोप भी रहता है। इसलिए अस्ति से अपने आप को धारण करना (आत्मान विभर्ति) अथवा अपनी सत्ता की भावना करना (सत्ता भावयति) जैसे व्यापार ध्वनित होते हैं। अत अस्ति मे किसी परिस्पन्द के न देखे जाने के कारण, अथवा पचतितराम् मे जैसा प्रकर्ष देखा जाता है वैसा अस्तितराम् मे न देखे जाने के कारण, अथवा किंकरोति (क्या करता है ?) का प्रतिवचन अस्ति (है) प्राय न सुने जाने के कारण जो लोग अस्ति मे क्रियात्व का सदेह करते हैं उनका सदेह निराधार है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, अस्ति, विद्यते, आदि मे आत्मधारणमयी क्रिया है। विद्यतेतरा इहधान्यम् मे प्रकर्ष का बोध देखा जाता है और कभी कभी क्या करता है के उत्तर मे भी "है, कुछ नही करता है" जैसे वाक्य सुने ही जाते है। सभी क्रियाओ के व्यापारानन्तर कोई न कोई फल देखा जाता है। अस्ति मे वह स्पष्ट नही है फिर भी आत्मभरणप्रवृत्ति का जो ही फल होगा वही अस्ति क्रिया का फल माना जायगा।[१२] उत्पत्ति से लेकर विनाश तक सब वस्तुओं मे सत्ता अनुषगरूप से रहती ही है और इसीलिये उन वस्तुओ की प्रतीति अस्ति रूप मे होती है। दूसरी बात यह है कि सभी क्रियाओं की योनि सत्ता है और वह अस्तित्व का ही दूसरा नाम है। वही अस्तित्वमय सत्ता जन्मादि रूपो मे भासित होती है—**सत्त्वैवानेकक्रियात्मिका साधनसम्बन्धादवसीयमानसाध्यरूपा जन्मादिरूपतया अवभासते महाभाष्यप्रदीप १।३।१ पृ० १७४**। यद्यपि भावविकारो मे निष्ठति की गणना नही की गई है फिर भी उसका अस्ति मे ही अन्तर्भाव मानना चाहिए। और उसमे भी क्रियात्व मानना चाहिये। भाष्यकार के 'क्रिया क्रिया की निर्वतिका होती हैं' इस उक्ति के आधार पर तिष्ठति मे भी क्रियात्व है क्योकि तिष्ठति कहने से वृद्धि और अपक्षय दोनो की निवृत्ति देखी जाती है। उसमे भी आत्मधारण रूप प्रवृत्ति है। भर्तृहरि ने आश्रित सारूप्य जन्म को ही स्थिति माना है। (**जन्मैवाश्रितसारूप्यं स्थितिरित्यभिधीयते-क्रियासमुद्देश** २६)।

तीसरी अवस्था विपरिणमते है। स्थित की विकारापत्ति विपरिणाम है। विपरिणाम से वस्तु का परिवर्तन मात्र लक्षित होता है, उस वस्तु की सत्ता बनी रहती है। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि मे आकार-परिवर्तन होता रहता है फिर भी उनकी मूल सत्ता बनी रहती है।

---

१२. हेलाराज के अनुसार वह फल आत्मपोषण है (किमत्रफलमिति चेद् आत्मपोषणरूपेण इति अमुमः-क्रियासमुद्देश १, पृष्ठ १६.

चौथी अवस्था वर्धते शब्द से व्यक्त की जाती है। कोई भी वस्तु मुहूर्त भर भी अपने आप में ज्यों के त्यों अवस्थित नहीं रहती। वह या तो बढ़ती रहती है अथवा घटती रहती है। बढ़ती हुई दशा को चौथा भाव-विकार माना गया है।

पाचवीं अवस्था अपक्षीयते शब्द से द्योतित की जाती है। वर्धते के विपरीत अपक्षीयते का व्यापार है।

अंतिम अवस्था विनश्यति से व्यक्त की जाती है। इसमें सर्वथा नाश का व्यापार रहता है। सत्कार्यवादी इसे नाश न कह कर तिरोधान या तिरोभाव कहते हैं।

कुछ लोग मूल भाव विकार तीन ही मानते हैं जायते, अस्ति और विनश्यति। इन में ही शेष तीन का अन्तर्भाव हो जाता है। जन्म में अवयवों की वृद्धि अन्तर्भूत रहती है। अतः वर्धते का जायते में अन्तर्भाव हो जायगा। इसी तरह परिणमते का भी अन्तर्भाव जायते में हो जायगा, क्योंकि परिणाम धर्मान्तर आविर्भाव को व्यक्त करता है जो जायते के व्यापार में भी है। अपक्षीयते का अन्तर्भाव नश्यति में सहज ही हो जायगा।[13]

वाक्यपदीयकार ने षड्भावों की समीक्षा करते हुए मूलभाव दो ही माने हैं और वे भी औपचारिक रूप में। वस्तुतः उनके मत में एक ही भाव है और वह सत्ता-लक्षण है। पर व्यवहार की दृष्टि से आविर्भाव और तिरोभाव अथवा जन्म और नाश की कल्पना कर ली जाती है। सत्तालक्षण भाव नित्य है, उसमें उदय और ध्वंस संभव नहीं है। सदा एक स्वरूप होने के कारण उसमें आविर्भाव और तिरोभाव भी संभव नहीं हैं। इसलिए वे कल्पित होते हैं और कल्पित रूप में क्रियाव्यवहार के विषय होते हैं। इन्हीं के भीतर शेष भाव विकार किसी न किसी रूप में आ जाते है। अतः भाव विकारों में एक सत्ता ही रह जाती है (**अतो भावविकारेषु सत्तैका व्यवतिष्ठते**)। वह नित्य होती हुई भी क्रम भाव प्राप्त कर साध्यस्वभाव क्रिया के रूप में व्यक्त होती है।

विवर्तवाद के अनुसार क्रिया

वाक्यपदीय में विवर्तवाद के आधार पर भी क्रिया का लक्षण समझाया गया है। भर्तृहरि के मत में मूल तत्त्व एक है। वह अन्य रूपों में दिखाई पड सकता है पर इस विक्रिया से उसके मूल रूप में कोई भेद नहीं पडता। वह ज्यों का त्यों रहता है। संसार में अन्य पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के संसर्ग से अपने स्वरूप को खोते हुए जान पडते हैं, स्फटिक लाल रंग के संपर्क से लाल रूप में दिखाई देता है। पर वह मूल तत्त्व कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। किन्तु भेद के अवभास के कारण

---

१३. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ४८.

वह एक ही अनेक रूपों में बंटा ज्ञात पड़ता है। अनेक रूपों का अवभास वस्तुत. मिथ्या होता है। एक का भेद के आश्रय से अनेक रूप में मिथ्या अवभास विवर्त है :

एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१, पृष्ठ ५ लाहौर सस्करण।[14]

भर्तृहरि ने विवर्त के दो रूपों का उल्लेख किया है—

(१) मूर्ति विवर्त, और

(२) क्रियाविवर्त।

इनकी परिभाषा वृषभ ने यों की है **देशभेदावग्रहरूपेणावस्थानं मूर्तिविवर्तं। उत्पादविनाशादिक्रियोपहितरूपावस्थानं क्रियाविवर्तः।**[15] हेलाराज ने इनकी व्याख्या यों की है—**कालशक्त्यवच्छिन्नो हि क्रियाविवर्तः। दिक्शक्त्यवच्छिन्नः मूर्तिविवर्तः।** दूसरे शब्दों मे, जिन्हे हम नाम वा सिद्ध रूप कहते है वह मूर्तिविवर्त है और जिसे हम साध्यरूप कहते हैं वह क्रियाविवर्त है। भर्तृहरि के अनुसार ब्रह्म 'सर्वपरिकल्पातीतत्व' है। उसमे सभी शक्तियाँ समाविष्ट हैं। कालाख्य स्वातंत्र्यशक्ति से क्रम का अवभास कराता हुआ पूर्वापरीभूत क्रिया की प्रतिपत्ति उत्पन्न करता है। एक का तत्त्व से अप्रच्युत का वस्तुत कोई क्रम नही होना फिर भी क्रम रूप मे उसका आभास होता है। निष्क्रिय होते हुए भी सक्रिय रूप सा उसका प्रकाशन क्रियाविवर्त है।[16]

प्रवृत्तिशक्ति-क्रियावाद

कुछ लोगों के अनुसार प्रवृत्ति ही एक शक्ति है, वही क्रिया है। वह साधन शक्ति मे सहयोग कर साध्यफल को प्रसूत करती है। उस शक्ति को कोई अपूर्व, कोई कालशक्ति और कोई क्रिया शक्ति कहते है। उसका एक सामान्य रूप है और एक विशेष रूप है। अपने प्रथम अवस्था मे, अपूर्व आदि के रूप मे वह सामान्य रूप मे रहती है। साधन व्यापारो से विभक्त होकर क्रिया का रूप धारण करती है। और आश्रय के अनुसार पकाना, फाड़ना आदि विशेष क्रिया रूपों को अपनाती है। वही प्रवृत्तिशक्ति सभी साधनो की प्रकृति है (**प्रकृतिः साधनानां सा**)। प्रेरक होने कारण उसकी उपमा स्रोत-प्रवाह से दी जाती है। फिर भी वह नित्य है और कारकों की प्रथम साधिका है। वही प्रकृति रूप प्रवृत्ति साधन-भेद के कारण प्रविभक्त होकर विशेष क्रियाओं का रूप धारण करती है। कुछ लोग सामान्य रूप प्रवृत्ति से विशेष साधन

---

१४. [illegible]र्त की इस परिभाषा को अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी—प्रथम भाग पृष्ठ ८ पर और हेलाराज ने वाक्यपदीय साधन समुद्देश ७८ की टीका में उद्धृत किया है।

१५. वाक्यपदीय १।१ पर वृषभटीका—पृष्ठ ६ लाहौर संस्करण।

१६. वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ३४।

व्यापारों को भिन्न मानते हैं।[१७]

विमर्श-क्रियावाद

शैवागम के अनुसार क्रिया विमर्श स्वभावा है। विमर्श रूप होने के कारण क्रिया का मूल रूप संवेदन है। प्रकाश का स्वात्मविश्रान्तिलक्षण परा वाक् का रूप विमर्श क्रिया है। पश्यन्ती मे अहम् इदम् की सकीर्ण भावना (विमर्श) रहती है। उसमें प्ररोह नहीं रहता। किन्तु इदम्भाव अहम्भाव से ग्रस्त रहता है। इदम्भाव का सूचक पश्यन्ती की क्रिया है। मध्यमा इदभाव को अह से खीचती है—'मैं इसको जानता हूँ' 'मैं इसे करता हूँ' आदि। इसी रूप मे दूसरो से कहने की भावना जब प्राण मे परिस्फुट होती है, वह वैखरी कही जाती है और शरीर मे स्पन्दन रूप क्रिया होती है। यहाँ तक सर्वत्र विमर्श रूप क्रिया सब मे अनुगत है। 'मैं चलता हूँ', 'सिर हिलाता हूँ' जैसे विमर्श होने पर ही शरीर और उसके अगो मे चेष्टा देखी जाती है। ऐसी क्रियाए जिनमें परिस्पन्द दृष्टिगोचर नही होता, जैसे ठहरना, खडे रहना आदि मे, उनमे भी खडे रहने वालो मे (कर्त्ता मे) क्रमिक परामर्शमयी (मैं खडा हूँ इस रूप में) क्रिया है। इसी कारण वह (खडे रहने की क्रिया) जड शिला आदि के स्थिर रहने की क्रिया से विलक्षण है। जड पदार्थगत क्रिया भी विमर्श रूप है। क्योकि जड पदार्थ स्वय आत्मनिष्ठ नही हो सकता। उनमे जो स्वात्मनिष्ठा है वह वस्तुत प्रमाता की सवित् मे परिनिष्ठित होने के कारण। ज्ञान शक्ति के मूल मे अह के साथ इद भी जुडा है। इद (वस्तु) मे गतिशीलता अह के विमर्श मे युक्त है। अत सभी क्रियाए विमर्श रूप हैं।[१८]

क्रियाभेद से आभास और परामर्श भिन्न होते हुए भी एक परामर्श मे व्यवहृत होते हैं

> **क्रिया भेदेन च आभासपरामर्शौ भिन्नावपि एकपरामर्शप्रतिष्ठितौ भवतः निपीयमानं मधु मदयति, कुम्भकारोऽयं क्रियते इति।**[१९]

भावना-क्रियावाद

मीमासको के अनुसार भावक पुरुष का भाव्य स्वर्ग के लिए यज् धातु करणक आख्यात-प्रत्ययवाच्य व्यापार भावना क्रिया है।

---

१७. वही, क्रियासमुद्देश ३२-३८, साधन समुद्देश ३३-३४, हेलाराज के अनुसार यह मत जरन्मीमांसकों का है अथवा सांख्य दर्शन का है। (साधनाशक्तिः प्रवृत्ति लक्षणा क्रियाऽपकर्षति वहनीति केषांचिज्जरन्मीमासकानामागमः। रजो लक्षणा वा प्रवृत्तिः नित्या सर्वभावेष्वनुयायिनी स्वकार्यप्रसवसमर्था कार्याणि जनयतीति सांख्यनयः। साधनसमुद्देश ३३, पृष्ठ १६७।

१८. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, प्रथम भाग, पृष्ठ १०५।

१९. वही, द्वितीयभाग, पृष्ठ २१२

उपर्युक्त सभी दार्शनिक प्रवादों में क्रिया का पूर्वापरीभूत क्रमिक रूप और साध्यस्वरूप साधारण है। आख्यात से क्रिया की प्रतीति होती है यह निश्चित है। भाव का तिङन्तपद से वाच्य रूप साध्य है और कृदन्त पद से वाच्य रूप सिद्ध है।

तिङभिहितभाव और कृदभिहितभाव में भेद

तिङन्त से, शब्दशक्ति के अनुरोधबल से, पूर्वापरीभूत भाव का बोध होता है जैसे पचति से। कृदभिहितभाव का सिद्ध रूप में बोध होता है जैसे पाक से। कृदभिहितभाव में भी धातुभाग से साध्यमान अवस्था वाली क्रिया का ही बोध होता है। अन्तर यह है कि आख्यात से उसका बोध प्रधान रूप में होता है जबकि कृदन्त में वह प्रत्ययार्थ में गुणीभूत रहती है।

महाभाष्यकार के अनुसार तिङभिहितभाव का क्रिया के साथ समवाय नहीं होता, पचति, पठति ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता। वस्तुत यह नियम करण आदि भाव को दृष्टि में रख कर है। कर्तृकर्मभाव से क्रिया-आख्यात वाच्य क्रिया के साथ सम्बन्ध प्राप्त करती है जैसे, भवति पचति, पश्य मृगो धावति आदि में। इसीलिए भाष्यकार ने पचादि क्रिया को भवति क्रिया का कर्ता माना है (**पचादय क्रिया भवति क्रियायाःकर्त्र्यो भवन्ति**)[20] अर्थात् उनमें साध्यसाधनभाव होता है न कि सामान्य-विशेष भाव। यद्यपि क्रिया स्वय साध्य है अत किसी दूसरी क्रिया के प्रति उसका स्वय कर्ता या कर्म होना सहज नहीं है फिर भी विषयभेद से एक ही वस्तु का अपने आप में साधनसाध्य सम्बन्ध देखा जाता है। जैसे, पश्य मृगो धावति में आख्यात कर्ता भी है कर्म भी है -- सरण क्रिया धावति की दृष्टि से साध्य है और दर्शन की दृष्टि से साधन है। भोक्तु इच्छति जैसे वाक्यों में दो क्रियाओं का सम्बन्ध स्पष्ट है। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि क्रिया भी क्रिया से ईप्सित होती है, सप्रेक्ष्यति क्रिया से, प्रार्थयति-क्रिया से और अध्यवस्यति क्रिया से—

> **क्रियापि क्रिययेप्सिततमा भवति। कया क्रियया। संपश्यति क्रियया प्रार्थयति क्रियया अध्यवस्यति क्रियया वा। इह य एव मनुष्य प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध्या तावत् कंचिदर्थं संपश्यति, संदृष्टे प्रार्थना, प्रार्थितेऽध्यवसाय:, अध्यवसाये आरम्भ:, आरम्भे निर्वृत्ति, निर्वृत्तौ फलावाप्तिः। एवं क्रियापि कृत्रिमं कर्म।**[21]

कृदभिहितभाव का लिंग से योग होता है जैसे, पक्ति, पचन, पाक। तिङभिहित भाव का लिंग से योग नहीं होता। लिंग सत्वधर्म है। आख्यात असत्वभूत है। जिस तरह आख्यात से संख्या आदि की अभिव्यक्ति होती है उसी तरह आख्यात से लिंग की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती इसका ठीक-ठीक समाधान संस्कृत के वैयाकरणों ने नहीं

२०. महाभाष्य १।३।१
२१. महाभाष्य १।३।१४

किया है । कैयट ने इसे भावशक्ति का वैचित्र्य माना है—

आख्यातस्य साकल्याश्रयद्रव्यसंख्या प्रतिपादने सामर्थ्यं न तु लिंगप्रतिपादने, विचित्रत्वाद्भावशक्तीनाम् ।

—महाभाष्य प्रदीप १।२।४७, पृष्ठ ७२

कृदभिहितभाव में भी घञादि अभिहित भाव से ही लिंग योग होता है, अव्ययकृदभिहित से नहीं होता । क्योंकि अव्ययकृदभिहितभाव साध्यस्वभाव सा ही जान पड़ता है न कि सिद्धस्वभाव सा । उसे क्रिया की तरह माना जाता है, द्रव्य की तरह नहीं । अत. उसके साथ लिंग सख्या आदि का योग नहीं होता । क्रियावत् माने जाने के कारण ही उससे कृत्वसुच् जैसे प्रत्यय देखे जाते हैं जबकि घञादि अभिहितभाव से कृत्वसुच् प्रत्यय नही होते । शायिनण्यम् भवता, त्रि भुक्त देवदत्तेन, द्वि भुक्त्वा गत जैसे प्रयोग देखे जाते हैं परन्तु द्वि पाक जैसे प्रयोग नही होते । महाभाष्यकार 'पञ्चकृत्व पचति' इस वाक्य को तो उचित समझते है परन्तु 'पञ्चकृत्व पाक' इसका प्रयोग पसन्द नही करते है । कुछ लोग घञन्त आदि के प्रयोग के साथ भी कृत्वसुच् प्रत्यय का प्रयोग उचित समझते हैं । स्वय पाणिनि ने द्विर्वचनेऽचि १।१।५९। मे द्विर्वचन शब्द का प्रयोग किया है । द्विरावृत्ति , द्विःप्रयोगोद्विर्वचनम् जैसे प्रयोग देखे ही जाते है ।

कृदभिहितभाव का सख्या के साथ सम्बन्ध होता है, तिङभिहितभाव का सख्या से योग नही माना जाता । यद्यपि सख्या आख्यातार्थ है फिर भी क्रिया निःसख्य मानी जाती है । पचति, पचत पचन्ति आदि मे जो सख्या की प्रतीति होती है वह साधनगतसख्या की होती है, पचति अर्थात् पाक-क्रिया का कर्त्ता एक है आदि । अत क्रिया निःसख्य होने के कारण एक मानी जाती है । आख्यात वाच्य क्रिया सर्वत्र भेद रहित ही प्रतीत होती है । 'भवद्भिः आस्यताम्' जैसे वाक्यो मे कर्तृभेद से वस्तु-स्थिति के कारण भेद होते हुए भी तिङन्त मे भेद की प्रतीति नही होती । एक क्रिया की भी जब आवृत्ति की जाती है, उसमे आवृत्ति निबन्धन भेद सख्या से सम्बद्ध होता है, उसे सख्या का अनुभव होता है । इसी कारण कृत्वसुच् आदि आवृत्ति द्योतक प्रत्ययों की उत्पत्ति भी उससे होती है । हेलाराज के अनुसार अत्यन्तभेद अथवा अत्यन्त अभेद मे आवृत्ति सम्भव नही है । जहाँ भेद और अभेद दोनो हो वही आवृत्ति होती है ।[22] फिर भी क्रिया मे स्वत सख्या योग नही होता । कैयट के अनुसार भी प्रकर्ष (जैसे पचतितराम्) और अभ्यावृत्ति (जैसे द्वि पचति) क्रिया के एकत्व के बाधक नही होते । क्योंकि वे आश्रय के प्रकर्ष अथवा अभ्यावृत्ति के भेद के निमित्त होते है ।

प्रकर्षाभ्यावृत्यादयस्तु भेदनिबन्धना आश्रयप्रकर्षाभ्यावृत्यादिभेदनिमित्ता नैकत्वं क्रियाया विघ्नन्ति ।[23]

जहाँ क्रियापृथक्त्व है वहाँ भी क्रिया मे सख्या नही होती । पञ्चधा गच्छति मे एक ही गमन क्रिया का पाँच प्रकार से होना निर्दिष्ट है । इस सम्बन्ध मे पाणिनि

---

२२. वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ४१, टीका-पृ० ४० त्रिवेन्द्रम संस्करण ।

२३. महाभाष्यप्रदीप १।२।६४ पृष्ठ, ११३

और वार्तिककार में कुछ मतभेद आभासित होता है। पाणिनि ने संख्याया विधार्थे धा ५।३।४२ कहा था। इस पर कात्यायन ने 'धा विधानं धात्वर्थ पृथग्भावे' कहा है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि पाणिनि के मत में 'पञ्चधा श्लोकाः' प्रयोग होना चाहिए परन्तु कात्यायन के मत से यहाँ धात्वर्थ न होने से ऐसा प्रयोग नही होना चाहिए। साथ ही एकधा भुक्ते मे, जहाँ क्रिया है भी, पर पृथग्भाव के न होने के कारण प्रत्यय नहीं होना चाहिए। इस मतविरोध का समाधान इस रूप मे किया जा सकता है। पञ्चधा श्लोकाः मे क्रियापद के प्रयोग न होते हुये भी अस्ति क्रिया के अध्याहार से क्रिया पृथग्भाव मान लिया जाएगा। एकधा भुक्ते मे भी अनेक प्रकार की भोजन क्रिया की अपेक्षा एक प्रकार की भोजन क्रिया मे क्रियापृथग्भाव है ही। एकः पाक में प्रकार की विवक्षा न होने पर धा प्रत्यय नही होता, विवक्षा होने पर एकधा पाक होना ही है। इसी तरह पञ्च पाका और पञ्चधा पाक का भेद समझना चाहिए।

तिङन्तार्थ का उपमानोपमेयभाव नहीं होता

तिङन्तार्थ साध्यस्वभाववाला अपरिनिष्पन्नरूप होता है। इसलिए उसके साथ उपमानोपमेयभाव नही होता। उपमानोपमेय भाव वहा होता है जहा अभेद का अध्यवसाय हो सके, जैसे, सिहो माणवक. मे 'वह यह है' (सोऽयम्) के आधार पर अभेद सम्बन्ध सिद्ध होता है। तिङन्तपदो से सिद्ध रूपो का प्रत्यायन नही होता। इसलिए उनमे इद तत् जैसे परामर्श का अभाव रहता है। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार ने भी कहा है — **न वै तिङन्तेनोपमानमस्ति।**[२४]

'क्रन्दतीव गायति' 'नृत्यतीव गच्छति देवदत्त, जैसे वाक्यो मे इव शब्द के प्रयोग के कारण भेद से उपमानोपमेयभाव की प्रतीति होती है। यहा पर भी जो गा रहा है, वह मानो क्रन्दन कर रहा है, इस रूप मे साधनगत ही साम्य है न कि क्रियागत। यद्यपि यहा सर्वनाम के कारण साधन व्यापार से प्रधान नही है अपितु उसका गुणीभूत है फिर भी य. स. के रूप मे प्राधानरूप से उसी का सम्बन्ध देख पडता है। कारक के द्वारा भी क्रिया मे उपमानोपमेयभाव नही होता। 'पर्वत चलति' जैसे वाक्य मे किसी लम्बे व्यक्ति मे पर्वत का अध्यारोप किया जाता है और अध्यारोप के द्वारा साधन का क्रिया से सम्बन्ध होता है न कि यहा उपमा है। चलतीव के रूप मे यहा उपमानोपमेयभाव की प्रतीति नही होती।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनंनभ मे उत्प्रेक्षा है, उपमा नही। क्योकि उपमेय का निर्देश नही है। दूसरी बात यह है कि न्यून का परिपूर्ण के साथ उपमानोपमेयभाव होता है। चन्द्र इव दर्शनीय मुखमस्या. मे उपमान चन्द्र परिपूर्णगुण वाले के रूप मे प्रसिद्ध है, उपमेय मुख न्यूनगुण वाला है। उपमान उत्कृष्टगुणवाला माना ही जाता है। और उपमेय उससे कुछ न्यून गुण वाला। व्यतिरेक अलकार में भी, जब नारी मुख को उपमान के रूप में और शशिबिम्ब को उपमेय के रूप मे

२४. महाभाष्य ३।१।७, पृ०ठ ४०, ४१ (गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित)

वर्णन किया जाता है, नारीमुख उत्कृष्टगुणशाली के रूप में ही सामने आता है। क्रिया अपने आश्रय में सर्वात्मना परिपूर्ण होती है, उसमें न्यूनता असंभव है। अतः वह उपमा का विषय भी नहीं बन सकती।

सजातीय क्रियाओं मे उपमानोपमेयभाव नहीं होता। दो वाक्य लीजिये—

(१) हंसः पक्षाभ्या पतति।

(२) आति पक्षाभ्यां पतति।

इन दो वाक्यो में हस और आति (पक्षिविशेष) की गमन क्रिया समान है। दोनों के साधन पंख भी समान हैं। इसलिए न्यूनाधिकभाव न होने से पतति क्रिया सजातीय है। जिस तरह से सजातीय होने के कारण गवय इव गवय नहीं कहते उसी तरह पतति इव पतति नहीं कहा जा सकता, इनमें उपमानोपमेय नही होगा। 'आतिः पतति हस इव' इसमे उपमानोपमेयभाव साधनो (हंस और आति) में है न कि दोनों की क्रियाओं मे है।

विजातीय क्रियाओ मे भी उपमानोपमेयभाव नही होता। पचति का गच्छति से इतनी अधिक भिन्नता है कि इनमे सादृश्यनिबन्धन उपमानोपमेयभाव सामने नही आता। सर्वनाम (इद तत्)से परामर्श योग्य उपमान का क्रिया के रूप के साथ सबध दुर्घट है और एक क्रिया का उपमान रूप मे दूसरी क्रिया के साथ और दुष्कर है। कभी-कभी विजातीय क्रियाओ का परस्पर उपमानोपमेयभाव अवश्य देखा जाता है जैसे,

(१) स्थातव्येन तुल्य गमन मन्दत्वात्,

(२) नृत्तेन तुल्यं गमनं बहुविकारत्वात्,

इनमे गमन क्रिया का भिन्न जातीय नृत्तक्रिया और स्थातव्यक्रिया के साथ उपमानोपमेयभाव है। परन्तु यहा भाव कृदभिहित के रूप मे है, तिङभिहित के रूप मे नही है। अवश्य ही कृदभिहितभाव का केवल द्रव्यवत् भाव ही नही देखा जाता, क्रियावत्भाव भी देखा जाता है, इसी दृष्टि से भोक्तु पाक, कारकस्य गति. जैसे स्थलो में तुमुन् और ण्वुल्, प्रत्यय देखे जाते हैं, क्रिया को उपपद मान कर ही ये प्रत्यय होते हैं। फिर भी उपर्युक्त वाक्यो मे सिद्ध के रूप मे कथन है साध्य के रूप मे नही। अत साध्यरूप क्रियाओ का उपमानोपमेय सम्बन्ध नही होता।

हन्तीति पलायते,

वर्षतीति धावति,

जैसे वाक्यो मे विशेषणविशेष्यभाव जैसे माना जाता है वैसे ही उपमानोपमेयभाव नहीं माना जा सकता। क्योंकि इनमे न्यून-आधिक्य-भाव का अभाव है।

पचतिकल्पम्, पचतितराम् में क्रमश. न्यून और अधिक भाव का बोध क्रिया के सम्बन्धों के कारण होता है न कि क्रिया से।

वार्तिककार ने एक स्थान पर कालप्रकर्षात्तूपमानम्'[२५] लिखा है। इससे जान

२५. पाणिनि सूत्र ३।३।१५ पर वार्तिक।

चक्ता है, उनके मत में क्रियाओं में उपमानोपमेय भाव सभव है। जैसे यह वाक्य लीजिये—

'इय नु कदा गन्ता या एवं पादौ निदधाति'

यह कब पहुंचेगी जब इस तरह से पैर डाल रही है (अर्थात् विलम्ब के कारण न पहुच सकेगी) इस वाक्य मे भविष्यत्सामान्य के अर्थ में अनद्यतनसामान्य का प्रयोग हुआ है। वार्तिककार के मत मे यहा उपमानोपमेयभाव है कालप्रकर्ष के आधार पर, अर्थात् वे गन्ता इव गन्ता के रूप मे इसकी व्याख्या करते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार तिङन्त के साथ उपमान सभव नही है अत वे अनद्यतन इव अनद्यतन के आधार पर इसे समझाते हैं। गमन मे दीर्घकाल के लगने की सभावना मान कर भविष्यत् सामान्य के अवसर पर अनद्यतन का प्रयोग हुआ है। यहा भविष्यत्काल अनद्यतनकाल के सदृश है यह तात्पर्य है। महाभाष्यकार के अनुसरण पर भर्तृहरि भी क्रियाओं मे उपमानोपमेय भाव नही मानते।[२६]

पूर्वकालिक क्रिया

यद्यपि पूर्वकाल के अर्थ मे वर्तमान धातु से भाव मे क्त्वा प्रत्यय का विधान होता है फिर भी धातु सम्बन्ध के बल से वाक्यार्थ के अनुप्राणक के रूप मे क्त्वान्तार्थ की प्रतीति होती है। उदाहरण के लिए—

(१) पूर्व आसव पिबति ततो गायति
(२) आसव पीत्वा गायति

इन दो वाक्यों मे पूर्व के वाक्य से जैसा पौर्वापर्य झलकता है ठीक वैसा ही दूसरे वाक्य से नही झलकता। अपितु दूसरे वाक्य मे पीत्वा शब्द के बल से आसवपान प्रधान वाक्यार्थ के अनुप्राणक के रूप मे सामने आता है। स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति जैसे वाक्यो मे भी व्रज-क्रिया के प्रति स्नान भोजन आदि क्रियाओ की पौर्वकालिक सत्ता है। साथ ही आख्यात वाच्य क्रिया के विशेष्य होने के कारण व्रज क्रिया के प्रति स्नानादि क्रियाएँ विशेषण है फलत उनमे परस्पर असम्बन्ध है जैसा कि न्याय है **गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्ध समत्वात्**। अर्थात् प्रधानक्रिया मे अन्वय यदि सम्भव है, गुणभूत क्रिया मे अन्वय करना उचित नही है। क्त्वा प्रत्यय से पौर्वकाल्य के द्योत्य होने के कारण 'मुख व्यादाय स्वपिति" इस वाक्य मे व्यादाय शब्द का प्रयोग कहा तक उचित माना जायगा। क्योंकि मुख का खुलना सोने की क्रिया के बाद मे होता है वह पूर्वकालिक व्यापार नही है। वार्तिककार का ध्यान इस पर गया था और उन्होंने इसकी सिद्धि उपसख्यान के बल पर करनी चाही। परन्तु उन्होने स्वय यह भी सुझाव दिया कि क्षणभर भी मुख खोल कर यदि कोई सोता है तो सोने की क्रिया के पूर्व ही मुख खोलने की क्रिया घटित होती है। अत यहां भी पूर्वकालता है। कैयट के मत मे यद्यपि स्वप्नक्षण

२६. द्रष्टव्य वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ५३-५७.

पहले हैं और मुखव्यादान कुछ बाद मे घटित होता है फिर भी दूसरी, स्वप्न क्रिया से (प्रथमस्वप्नक्षणो के बाद जो गाढी नीद की क्रिया होती है) पहले होता है (यद्यपि स्वप्नक्षणानां व्यादानात् पूर्वकालता तथापि व्यादानंतरभाविस्वप्नक्रियापेक्षं व्यादानस्य पूर्वकालत्वमस्ति)।[२७]

'पक्त्वा ओदनं भुंक्ते देवदत्त

पक्त्वा ओदन भुज्यते देवदत्तेन'

इन दोनो वाक्यो मे क्त्वा प्रत्यय द्वारा कर्ता और कर्म के अनभिधान होने पर भी द्वितीया और तृतीया विभक्तियां पाक की अपेक्षा से नही होतीं। क्योंकि आख्यात वाच्य क्रिया विशेष्य होने के कारण प्रधान होती है। विशेषणभूतक्रिया अप्रधान होती है। इसी आधार पर उन क्रियाओ के साधक शक्तियो मे भी गुण-प्रधानभाव होता है। प्रधान शक्ति के अभिधान मे गुणक्रियाशक्ति अभिहित के रूप मे प्रकट होती है। प्रधान का मुखापेक्षी गुण होता है, उसके विरुद्ध नही चल सकता।[२८] परन्तु हरदत्त के अनुसार एक बार ही सुने जाने वाले का एक ही साथ दो के साथ सम्बन्ध नही हो सकता। इसलिए प्रधान के साथ शाब्द अन्वय और अन्य के साथ आर्थ-अन्वय मान लेना चाहिए (पदमजरी ३।४।२६, पृष्ठ ७२८)। परन्तु नागेश ने हरदत्त की उक्ति को युक्तिसगत नही माना है। हरदत्त के मत के मान लेने पर ग्रामाय गन्तुं इच्छति प्रयोग सभव न हो सकेगा। ग्राम मे चतुर्थी न हो सकेगी। परन्तु महाभाष्यकार ने स्वय इसका प्रयोग सन् सूत्रस्थ भाष्य मे किया है (महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।४।२६ पृष्ठ ३५०)। नागेश ने कैयट के क्षुधं प्रतिहन्तु शक्यम् इस प्रयोग की भी आलोचना की है। यहा यह जान लेना चाहिये कि भाष्यकार ने 'शक्य चानने क्षुत् प्रतिहन्तु' वाक्य का प्रयोग किया है। सामान्यतौर पर क्षुत् के स्त्रीलिंग होने के कारण शक्या का प्रयोग होना चाहिये। कैयट ने निम्नलिखित तीनो तरह के प्रयोग की उपपत्ति समझाई है—

(१) शक्य चानेन क्षुत् प्रतिहन्तुम्,
(२) शक्या चानेन क्षुत् प्रतिहन्तुम्,
(३) शक्य चानेन क्षुध प्रतिहन्तुम्।

—महाभाष्यप्रदीप पस्पशाह्निक, पृष्ठ ५७, गुरुप्रसाद शास्त्री सम्पादित।

---

२७. महाभाष्यप्रदीप ३।४।२१, पृष्ठ ३४४, गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित।

२८. इस सम्बन्ध में पीछे के वैयाकरणों में विवाद था। उपर्युक्त मत कैयट का है जो वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिकाओं पर आश्रित हैं—

प्रधानेतरयो यत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक्।
शक्ति गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते॥
प्रधानविषया शक्तिः प्रत्ययेनाभिधीयते।
यदा गुणे तदा तद्वदनुक्तापि प्रतीयते।

वाक्यपदीय ३, साधन समुद्देश ८०,८१.

तत्स्था क्रिया

पहले कहा जा चुका है कि अपरिस्पन्दसाधनसाध्य धात्वर्थ को भाव कहते हैं और सपरिस्पन्दसाधनसाध्य को क्रिया कहते हैं। परन्तु इस भेद को ध्यान में न रखकर सामान्यरूप से तत्स्था क्रिया का विचार किया जाता है। स्वय पाणिनि से लक्षण-हेत्वोः क्रियायाः (३।२।१२६) और यस्य च भावेनभावलक्षणम् (२।३।३७) जैसे सूत्रों मे क्रिया और भाव मे अभेद माना है। तत्स्था क्रिया वहा होती है जहा क्रियाकृतविशेष कभी कर्त्ता मे और कभी कर्म मे दिखाई देता है। इस आधार पर क्रिया भी कभी कर्तृस्था और कभी कर्मस्था होती है। यद्यपि ऐसी कोई क्रिया नही होती जिससे कर्तृगत-विशेषता कुछ-न-कुछ लक्षित न हो फिर भी प्राधान्य के कारण व्यपदेश होते हैं। इस उक्ति के आधार पर कर्तृस्था और कर्मस्था क्रिया कहते है। गच्छति, धावति, हसति आदि मे क्रियाकृत विशेष कर्त्ता में दिखाई देता है। चलना, दौडना, हँसना ये सब व्यापार उसी मे दिखाई पड़ते हैं। गाम् अवरुणद्धि, कटं करोति जैसे वाक्यो में क्रिया कर्मस्था है क्योंकि क्रियाकृतविशेषताए गाय और कट मे देख पडती हैं। नागेश के अनुसार जिस धातु के द्वारा कर्तृकर्मसाधारण फल शब्द से प्रतिपादित होताहै वह कर्तृस्थभावक है। जैसे, पश्यति, गच्छति आदि मे। पश्यति मे विषयता और समवाय के आधार पर ज्ञान उभयनिष्ठ है। गच्छति मे भी संयोग उभयनिष्ठ है। जहां धातु से कर्ता मे न रहने वाला धर्मरूपफल शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है वहा क्रिया कर्मस्थभावक है। जैसे, भिनत्ति आदि मे।[२९] कभी-कभी क्रिया कर्तृस्था और कर्मस्था दोनों जान पडती है। "चैत्राय रोचते मोदक" इस वाक्य मे मोदक प्रीणयिता है और चैत्र अभिलाषवान् होने के कारण कर्म है। अत क्रिया को यहाँ कर्मस्था ही कहना चाहिए। परन्तु रोचते क्रिया अपने विषयक अभिलाष उसमे पैदा करती है। इसलिए विषयिविषयभाव सम्बन्ध के आधार पर रुचिकर्तृक अभिलाष ही प्राधान्यरूप मे प्रकट होता है। रोचते क्रिया अपने कर्ता को अप्रधान-सा करती है और अपने प्रयोजक व्यापार को भी गौण रूप देती है फलत. यहा सम्प्रदान सज्ञा होती है। सम्बन्ध-सम्बन्धि-भाव की दृष्टि से भी चैत्र अभिलाषा करने में कर्ता है, इसलिए क्रिया कर्तृस्था भी है। हेलाराज के अनुसार, "दृश्यते स्वयमेव" प्रयोग नही होना चाहिए। वे क्रिया-व्यवस्था को शब्द के आधार पर विचार करने वाले पक्ष का समर्थन करते हुए जान पड़ते हैं। केवल विशेषदर्शन के आधार पर यदि क्रिया व्यवस्था की जायगी तो कुछ कठिनाई पड़ सकती है। पच् जैसी क्रियाए कर्मस्थभावक हैं। परन्तु पकाने की क्रिया मे कर्ता में भी परिश्रम आदि देखे जाते हैं, वे भी क्रियाकृतविशेष किसी-न-किसी रूप मे है ही। अत. शब्द के द्वारा विशेष की उपलब्धि को स्वीकार कर क्रिया व्यवस्था करनी चाहिए। शब्द प्रमाणकों के लिए शब्द का आश्रय ही उपयुक्त है। वस्तुत· जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, प्राधान्येन व्यपदेशा. भवन्ति के आधार पर

२९. महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।१।८७, पृष्ठ १६१.

क्रिया विशेष-दर्शन के आधार पर तत्त्वतः क्रिया की व्यवस्था की जा सकती है। भर्तृहरि ने दोनों पक्षों का निर्देश कर दिया है—

विशेषदर्शनं यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता ।
क्रियाव्यवस्था त्वन्येषां शब्दैरेव प्रकाश्यते ॥

—वाक्यपदीय, ३ साधन समुद्देश ६६ ।

क्रिया का सकर्मक-अकर्मक रूप

क्रिया का सकर्मक और अकर्मक रूप भी क्रिया के स्वरूप से प्रभावित है और दर्शन-भेद से यहां भी विभिन्न प्रकार के विचार हैं। तत्त्वतः क्रिया के विचार के समय स्पष्ट किया जा चुका है कि क्रिया से क्रियाकृतविशेष का आभास होता है। एक तरह से प्रत्येक क्रिया किसी-न-किसी ईप्सा का द्योतक है, उससे किसी-न-किसी भाव का अवगमन होता है। इस दृष्टि से सभी क्रियाएं सकर्मक ही होनी चाहियें। फिर भी व्याकरण शास्त्र मे सकर्मक-अकर्मक का विवेचन है। क्योंकि क्रिया की ईप्सा होने पर भी प्रत्येक क्रिया से बाह्य विषय की सम्भावना नही व्यक्त होती। कुछ क्रियाएँ कर्ता मे ही विश्रान्त देखी जाती हैं, वे किसी बाह्यभाव की अपेक्षा नहीं रखतीं। जैसे, आस्ते, शेते आदि। शयन पूर्ण रूप से कर्तृविश्रान्तलक्षण है। 'शयन करता है' इस अर्थ मे सोने की भावना का पर्यवसान देखा जाता है, शयन की भावना का "भाव्य" शयन ही है। इसलिए किम् (क्या) जैसे प्रश्न नही पूछे जाते जो वस्तुतः बाह्यभाव-विषयक हैं। कुछ ऐसी क्रियाए होती हैं जो बाह्यभावो की अपेक्षा रखती हैं, जिनमे बाह्य निष्ठ भावना होती है। जैसे, पचति आदि। इस तरह की क्रियाओ का उत्तर बाह्यभावविषयक प्रश्न किम् (क्या) से मिल जाता है। जैसे क्या पका रहा है प्रश्न का उत्तर 'ओदन' है जो बाह्यभाव है। इन दो तरह की क्रियाओ मे बाह्यभाव की अपेक्षा न रखने वाली क्रिया अकर्मक और बाह्यभाव की अपेक्षा रखने वाली क्रिया सकर्मक मानी जाती है।

व्याकरण-दर्शन मे भावना और क्रिया मे कुछ भेद माना जाता है और वह यह है कि भावना सदा सकर्मक ही होती है जब कि क्रिया सकर्मक भी होती है और अकर्मक भी होती है। फिर भी साध्य रूप दोनों मे समान है और साधारण तौर पर भावना और क्रिया शब्द पर्याय के रूप में प्रायः प्रयुक्त होते है :

भावना सकर्मिकैव, अकर्मिकापि क्रियेति सत्यपि भेदे साध्यत्वाविशेषाद् अभेद-एवानयोः। यथा धात्वर्थभूता क्रिया साध्यरूपैव तथा भावनापीति कथम-वान्तरभेदाद् भेदोऽनयो र्भवेत् । —पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

हेलाराज ने भी भावना और क्रिया मे ज़रा-सा भेद माना है—

यद्यपीह दर्शने भावना धात्वर्थ एव तथापि फलपर्यन्ताऽसौ कर्तृव्यापाररूपा दीर्घतरावयवक्रियामात्रात् पृथक् व्यवहारसंज्ञा ।

—साधन समुद्देश ८६, पृष्ठ २३४।

परन्तु यहां भावना और क्रिया में अभेद मान कर ही सकर्मक-अकर्मक का विचार किया जा रहा है।

महाभाष्यकार ने कर्म की व्याख्या क्रियाकृतविशेष के आधार पर की थी (यत्र कश्चित् क्रियाकृतो विशेष उपजायते तन्नाप्यं कर्मेति)। इसे वे प्राकृतकर्म (स्वाभाविक) कर्म समझते थे। परन्तु स्वाभाविक कर्म को क्रियाकृतविशेष के रूप में लेने पर आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं श्रृणोति जैसे वाक्यों में कर्म की सत्ता सिद्ध करना कठिन होगा। क्योंकि सूर्य को देखने आदि की क्रिया में कोई क्रियाकृतविशेष सूर्य में नहीं दिखाई देता है। प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा हम सूर्य मे दर्शनक्रिया के कारण कोई विकार नही समझ पाते हैं। कुछ लोग आदित्य का दर्शन क्रिया का ईप्सिततम होना ही क्रियाकृतविशेष यहा मानते हैं और आदित्य को कर्म समझते हैं और क्रियाकृतविशेष के आधार पर सकर्मक-अकर्मक का विभाग किया जा सकता है ऐसा स्वीकार करते हैं।

महाभाष्यकार की यह भी मान्यता जान पड़ती है कि काल, भाव आदि की सर्वत्र सत्ता होने के कारण कोई भी धातु अकर्मक नही है, काल आदि के कारण सभी सकर्मक हैं। पर इसे स्वीकार करने में भी सकर्मक-अकर्मक का विभाग अनुपपन्न रह जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि अविवक्षा के आधार पर अकर्मक धातु माने जा सकेंगे। जब उनका व्यवहार कर्म की विवक्षा किये बिना ही होगा, वे अकर्मक माने जायेंगे। परन्तु अविवक्षा के आधार पर तो पच् आदि भी अकर्मक कहे जा सकते हैं। इसलिए, कैयट के अनुसार, जिस धातु के कर्म कभी सभव ही न हों अकर्मक पद से उन्ही का ग्रहण होना चाहिए। पाणिनि ने गतिबुद्धि··· १।४।५२ सूत्र मे अकर्मक शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। अकर्मक शब्द से अन्य पदार्थ प्रधान के बल पर धातु का ग्रहण होना चाहिए, न कि धातु के अर्थ का। अर्थ का आश्रय लेने पर कर्म की अविवक्षा होने पर अर्थ का नाम भी अकर्मक पडने लगेगा। धातु को अकर्मक मानने पर पच् आदि अकर्मक नहीं कहे जा सकेंगे। क्योंकि एक बार भी जो धातु कर्म के सहित देखा गया रहेगा उसे प्रत्यभिज्ञा अथवा सादृश्य प्रतिपत्ति के आधार पर अविवक्षा दशा मे भी सकर्मक कहा जा सकेगा। अर्थ तो कारकभेद से भिन्न-भिन्न होते हैं इसलिए सकर्मक अन्य और अकर्मक अन्य होगे। यदि अर्थ मे भी स्वत. भेद नही होता इस सिद्धान्त को माना जायगा तब अर्थ से अन्य पदार्थ के रूप मे बोध समझना चाहिए :

> अर्थास्तु कारकभेदाद् भिन्ना एवेत्यन्ये सकर्मका अन्य एवाकर्मका इति स्याद् व्यपदेशः। यदा स्वर्थस्यापि नास्ति स्वतो भेद इति दर्शनं तदार्थेऽप्यन्यपदार्थेऽवबोधः।
>
> —महाभाष्यप्रदीप १।४।५२, पृष्ठ ४०१.

कुछ लोगों के अनुसार अकर्मक क्रिया उसे कहेंगे जहां फल और व्यापार एक निष्ठ हो जाता हो। जहा फल और व्यापार एकनिष्ठ न होकर अलग-अलग आधार वाले हों, वहां क्रिया को सकर्मक समझना चाहिए। वैयाकरणभूषणकार का यही मत है। इस मत में भी कुछ कठिनाइयां हैं। 'आत्मानं जानाति' इस वाक्य में जानाति

क्रिया का फल और व्यापार एकनिष्ठ हैं, फलतः इसे अकर्मक होना चाहिए, परन्तु यह सकर्मक हैं। कुछ लोग इसका समाधान महाभाष्यकार के दो आत्मा वाले कथन के आधार पर करते हैं। महाभाष्य में एक स्थान पर लिखा है "आत्मा दो हैं। अन्तरात्मा और शरीरात्मा। अन्तरात्मा के क्रिया-कलाप से शरीरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है और शरीर की क्रियाओं से अन्तरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है।"[30] आत्मानं जानासि में फल और व्यापार के आधार दो आत्माओं के अलग-अलग हो जाने से सकर्मकत्व अक्षुण्ण रहेगा।

कुछ लोगों के अनुसार जब धात्वर्थ साक्षात् और अव्यभिचरित रूप में कर्म का भागी होता है, उस धातु को सकर्मक कहते हैं। यदि साक्षात् न होकर परम्परया कर्म का भागी होता है वह क्रिया अकर्मक होती है। इस मत मे अन्योन्याश्रय दोष-सा आ जाता है। कर्म के निरूपण के बाद ही सकर्मक का विचार होगा और सकर्मक होने पर ही कर्म का निरूपण होगा। यही अन्योन्याश्रय है।

कुछ लोग मानते हैं कि जिस क्रिया के उच्चारण में कर्म की आकांक्षा होती है वह सकर्मक है, जहां आकांक्षा नही होती वह अकर्मक है। परन्तु यह मत भी निर्दोष नही माना जाता है। आता है(गच्छति), गिरता है (पतति) जैसी क्रियाओं में कर्म की आकाक्षा नही देखी जाती फिर भी ये क्रियाएँ सकर्मक हैं। पतति क्रिया के सकर्मक होने में प्रमाण पतित शब्द के साथ द्वितीया तत्पुरुष समास का विधान ही है जो द्वितीयाश्रितातीतपतित० २।१।४ सूत्र से सिद्ध है।

नागेश ने सकर्मक-अकर्मक को सार्थक शब्द माना है। उनके अनुसार व्याकरण-शास्त्र से संपादित कर्म सज्ञा से युक्त धातु सकर्मक है और उससे रहित अकर्मक है। इस आधार पर ही अध्यासिता भूमयः जैसे प्रयोग संभव हो पाते है।[31]

वस्तुत सकर्मक-अकर्मक सापेक्ष शब्द हैं और एक-दूसरे के स्वरूप धारण करते रहते हैं। बाह्यकर्म के सद्भाव होते हुए भी क्रिया अकर्मक हो सकती है और किसी कर्म के न रहने पर भी क्रिया सकर्मक कही जा सकती है।

भर्तृहरि ने बाह्यकर्म के सद्भाव होते हुए भी क्रिया के अकर्मक कहे जाने के निम्नलिखित चार कारण बताये हैं—

(१) धातु के प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ का अभिधान,
(२) धात्वर्थक्रिया मे कर्म का अन्तर्भाव,
(३) प्रसिद्धि,
(४) अविवक्षा।

---

३०. महाभाष्य ३।१।८७, पृष्ठ १६६.
३१. वैयाकरणभूषणसार की टीका काशिका में उद्धृत, पृष्ठ ३२४.

जब धातु अपने प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ में व्यवहृत होता है, सकर्मक होता हुआ भी कभी कभी अकर्मक हो जाता है। जैसे, "भारं वहति" इस वाक्य में वहति (ढोता है) सकर्मक है। परन्तु बहने के अर्थ में वह अकर्मक हो जाता है जैसे 'नदी वहति'। बहने में जो जल का प्रवाह प्रतीत होता है वह नद्यात्मक जल से भिन्न नहीं है।

धातु के अर्थ बदलने में उपसर्ग आदि भी कारण होते हैं। फलतः सकर्मक क्रिया अकर्मक होती रहती है। चरति क्रिया देशान्तरगमन अर्थ में सकर्मक है परन्तु उत् उपसर्ग के साथ ऊपर उठने के अर्थ में वह अकर्मक मानी जाती है जैसे वाष्प उच्चरति, धूम उच्चरति। यहां उच्चरति अकर्मक है।

कभी-कभी आत्मनेपद के प्रयोग से भी सकर्मक क्रिया की अकर्मक के रूप में अभिव्यक्ति होती है। जैसे, तपति सकर्मक है परन्तु उत्तपते अकर्मक हैं। उत्तपते का अर्थ भासित होना है। यावद् भुक्तमुपतिष्ठते, सर्पिषो जानीते जैसे वाक्यो मे आत्मनेपद का प्रयोग क्रिया के अकर्मकत्व का सूचक है।

कभी-कभी वाक्य के सामर्थ्य से अकर्मकत्व की अभिव्यक्ति होती है, जैसे 'वायुर्वहति' मे। इसमे वायुलक्षणकर्तृविशेष के सामर्थ्य से बहने की क्रिया मे अकर्मकत्व भासित होता है।

पच्यते ओदनः स्वयमेव, भोक्ष्यते वत्स स्वयमेव जैसे स्थलो मे कर्म के कर्ता के रूप मे व्यवहृत होने के कारण अकर्मकत्व की प्रतीति होती है।

धात्वर्थक्रिया मे जब कर्म का अन्तर्भाव हो गया रहता है तब क्रिया अकर्मक मानी जाती है। जीवति क्रिया मे प्राणधारणरूप कर्म अन्तर्हित है इसलिए वह अकर्मक है। इसी तरह म्रियते मे प्राणत्यागरूप कर्म छिपा है। अस्ति मे आत्मधारणरूप कर्म का अन्तर्भाव है। कर्म का अन्तर्भाव वही देखा जाता है जहा स्व शब्द से उसका निर्देश सभव न हो। पच् और भिद् जैसी क्रियाओ मे कर्म का अन्तर्भाव सभव नहीं है। क्योंकि इनके कर्म का स्वशब्द से उल्लेख सभव है जैसे पचति पाक्यम्, भिनत्ति भेद्यम्। जहा अन्तर्भाव होगा स्वशब्द से निर्देश सभव नही होगा, जैसे जीवति जीवितं जैसे प्रयोग नही देखे जाते।

कभी-कभी व्याकरण सम्बन्धी अन्वाख्यान-व्यवस्था के कारण उनका भी अन्तर्भाव मान लिया जाता है जिनके स्वरूप निर्धार्यमाण होते हैं, जैसे, पुत्रीयति में पुत्र कर्म का अन्तर्भाव है। वस्तुतः यहा पुत्र कर्म क्रिया के भीतर अन्तर्हित है केवल प्रक्रिया दिखाने के लिए पुत्रं इच्छति इस तरह का विग्रह किया जाता है। ऐसे स्थलो मे भी कभी-कभी पुत्र उपमा के रूप मे सामने आता है, इसलिए उसका अन्तर्भाव नही माना जाता, फलत. क्रिया सकर्मक ही होती है जैसे पुत्रीयति छात्रम्।

कभी-कभी सामान्य कर्म के अन्तर्भूत होते हुए भी विशेषकर्म के द्वारा सकर्मकत्व अक्षुण्ण बना रहता है। जैसे, मुण्डयति माणवकम्। मिश्रयति तिलान् आदि। कभी-कभी विशेषकर्म अन्तर्भूत रहता है, जैसे धूमायते रोमन्थायते आदि मे।

वे सकर्मक क्रियाएं भी अकर्मक के रूप में प्रतीत होती है जिनका कर्म सदा

अव्यभिचरित रूप में उनके साथ दृष्टिगोचर होता है। जैसे, वर्षति। वर्षण की क्रिया में देव की कर्ता के रूप में और जल की कर्म के रूप में प्रतीति स्वभावतः हो जाती है। इसलिए कर्म यहां अन्तर्हित-सा है। फलतः वर्षति अकर्मक है। अकर्मक मान कर ही वृष्टो देवः जैसे प्रयोग निष्पन्न होते हैं यहां कर्त्ता के अर्थ में क्त प्रत्यय अकर्मकत्व के आश्रय से हुआ है। परन्तु जब कर्म प्रसिद्ध नहीं होता, वर्षति क्रिया सकर्मक मानी जाती है जैसे, रुधिरं वर्षति, लाजान् वर्षति आदि। उत्पलः वृष्टः में कर्म में क्त प्रत्यय हुआ है।

प्रसिद्धि के कारण सकर्मक क्रिया के जो अकर्मक रूप होते हैं उनमें भी देश, काल आदि के भेद से अवान्तर भेद पाये जाते हैं। जैसे, दक्षिणापथ मे यदि दोपहर के के पहले पच्यताम् कहा जाता था तो इसका तात्पर्य यवागू होता था। परन्तु यदि दोपहर के बाद पच्यताम् कहा जाता था तो उसका अभिप्राय ओदन होता था। यवागू और ओदन रूपी कर्म देश और काल के आधार पर समझ लिये जाते थे।

क्रिया के स्वरूपसामर्थ्य के बल से कभी प्रसिद्ध कर्म प्रतीत होता है जैसे केवल वर्षति से जल रूप कर्म की प्रतीति हो जाती है। कभी-कभी कर्ता के स्वरूपसामर्थ्य के कारण भी कर्म की झलक मिल जाती है, जैसे, सज्जनः करोति इस वाक्य मे सज्जन शब्द के बल से उपकार रूपी कर्म की व्यजना हो जाती है। इस तरह प्रसिद्धि के बल से सकर्मक के रूप में अभिव्यक्ति के अपरिमित रूप सभव हैं।

कर्म के रहते हुए भी यदि क्रिया मात्र के प्रतिपादन में तात्पर्य हो, कर्म की बिल्कुल ही विवक्षा न हो, वहा भी अकर्मकत्व देखा जाता है। ददाति पचति जुहोति क्रिया सकर्मक हैं परन्तु यदि ऐसा कहा जाय 'दीक्षितो न ददाति न पचति न जुहोति' यहा कर्म की विवक्षा न होने से इनका प्रयोग अकर्मक रूप में माना जाता है। क्योकि दीक्षित व्यक्ति न देता है, न पकाता है, न हवन करता है यह कहते समय केवल विशेष क्रियाओ के निषेध के प्रति संकेत है न कि किसी कर्म के प्रति।

अविवक्षा का उद्देश्य भी कभी-कभी कर्म के सादृश्य मात्र के प्रतिपादन से रहता है जैसे, 'अनुवदते कठः कलापस्य' इस वाक्य में कठ और कलाप का भाषण-सादृश्य प्रतिपाद्य है, कर्म की विवक्षा नही है। इसी तरह यदि पूछा जाय देवदत्त क्या कर रहा है और यदि इसका उत्तर हो देवदत्त पका रहा है (पचति) अथवा पढ़ रहा है (पठति) तो ऐसे स्थलों में भी विशेष कर्म (कर्मसम्बन्ध) अविवक्षित ही रहता है। इसी तरह पचति एव, ददाति एव, जैसे स्थलों मे क्रियाप्रबन्ध का अखण्डरूप ही अभिप्रेत रहता है—वह सदा पकता ही है, देता ही है कहने में वक्ता का अभिप्राय कर्म से न होकर क्रिया के बराबर घटित होने वाले स्वरूप से रहता है। अत ऐसे स्थलों में भी कर्म की अविवक्षा होने में क्रिया अकर्मक मान ली जाती है।

इसी तरह अकर्मक क्रियाएँ भी उपसर्गसंयोग, अर्थान्तरवृत्ति आदि कारणों से सकर्मक रूप में परिणत हो जाती हैं। भवति क्रिया अकर्मक है परन्तु अनुभवति सकर्मक है। उपसर्ग के योग से वह सकर्मक हो गई है :

भवतिरयमकर्मकः । अकर्मका अपि वै धातवः सोपसर्गा सकर्मका भवन्ति ।—

—महाभाष्य ३।१।१०७.

यही भवति क्रिया प्राप्ति के अर्थ मे सकर्मक है—

भवतिरकर्मक ।······प्राप्त्यर्थः सकर्मकास्ति ।

—महाभाष्यप्रदीप ३।१।१०७.

काल आदि के आधार पर सभी क्रियाए सकर्मक कही जा सकती हैं। इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

क्रिया और उपसर्ग

क्रिया और उपसर्ग का बहुत घना सम्बन्ध है। एक तरह से उपसर्ग नाम क्रिया से सयुक्त होने पर ही पडता है। एक मत यह भी है कि उपसर्ग क्रिया से अतिरिक्त सत्ता नही रखते। उपसर्ग सहित जो धातु का रूप है उसे ही धातु का स्वरूप समझना चाहिए। शास्त्र मे जो उपसर्गों का विवेचन है वह अपोद्धार पद्धति पर है और व्याकरण के नियमो के निर्वाह के लिए है जैसे, अट् द्विर्वचन आदि के। लङ् लुङ् आदि लकारो मे अट्, आट् धातु के पूर्व परन्तु उपसर्ग के बाद देखे जाते है। यदि उपसर्ग सहित धातु को धातु माना जायगा, अट् आदि उपसर्ग के पूर्व लगने लगेगे। अत शास्त्र मे प्रक्रिया निर्वाह के लिये उपसर्ग के धातु से पृथक् होने की कल्पना की जाती है। वस्तुत उपसर्ग सहित धातु भी धातु है। इसीलिए असग्रामयत मे उपसर्ग के पूर्व अट् लगा है और सिमड् ग्रामयिषते मे उपसर्ग महित का द्वित्व हुआ है।[३२]

सोपसर्ग धातु के मानने से ही धातूपसर्ग के आश्रय से होने वाले मुड् आदि अंतरग माने जाते हैं। उपसर्ग युक्त होकर ही क्रिया कारक के साथ सम्बन्ध प्राप्त करती है। अतएव अनुभूयते मे कर्म के अर्थ मे लकार होता है। अतएव 'अडभ्यासव्यवा-

---

३२. महाभाष्यकार के अनुसार सग्राम में सम् उपसर्ग है। जैसा कि उनके 'अवश्य सग्रामयते : सोपसर्गादुत्पत्तिर्वक्तव्या' (महाभाष्य ३।१।१२) इस वाक्य से स्पष्ट है। भर्तृहरि और कैयट का भी यही मत है। परन्तु नागेश संग्राम के सम् को उपसर्ग नहीं मानते—यद्यपि संग्राम शब्दे संशब्दो नोपसर्गस्तथापि सोपसर्गादित्यस्य सोपसर्गसमानाकारादित्यर्थो बोध्यः। परन्तु कैयट के अनुसार ग्राम शब्द ही युद्ध करने के अर्थ में है सम् शब्द केवल द्योतक है। जैसे इक् स्मरणे. इङ् अध्ययने मे अधि द्योतक है। यदि 'संग्राम' को शब्द माना जायगा यहा 'वा पदान्तस्य ८।४।५९ मे परसवर्ण विकल्प से नही हो सकेगा। महाभाष्यकार ने सग्राम शब्द को नियमार्थक माना है अर्थात् सग्राम यह नियम करता है कि यदि सोपसर्ग धातु से अट् आदि हों तो सग्रामयते से ही हों अन्य सोपसर्ग धातु से न हों। इसलिये अन्य सोपसर्ग धातुओं से उपसर्ग के बाद परन्तु धातु से पूर्व अट् आदि होते हैं।

वस्तुतः केवल इसी एक (असंग्रामयत) उदाहरण के बल पर सामान्य नियम बनाना उचित नहीं है। या तो इसे अपवाद मान लेना चाहिए, अथवा, जैसा कि नागेश ने माना है, संग्राम के सम् को उपसर्ग नहीं मानना चाहिए।

येपि' इस सूत्र की आवश्यकता नहीं मानी जाती। नागेश ने इस सूत्र को इसीलिए अनार्ष माना है। (**एवञ्चाडभ्यासव्यवायेपीत्यनार्षः सूत्रपाठः**—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ६।१।१३५) । इन्ही आधारों पर कहा जाता है कि धातु पहले उपसर्ग से जुड़ता है, बाद में साधन (कारक) से अन्वित होता है। (पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन)।[33] कारको की विशेष प्रवृत्ति को ही क्रिया कहते हैं। उपसर्गयुक्त विशिष्ट क्रिया ही साधन के साथ अर्थ लाभ के लिये जुडती है। विशिष्ट क्रिया साधन (कारक) से साध्य होती है न कि साधन द्वारा लब्ध स्वरूप क्रिया किसी अन्य से विशेषता प्राप्त करती है। यह ठीक है कि साधन से सम्बन्ध के पूर्व क्रिया का विशेषरूप निष्पन्न नही होता फिर भी धातु—उपसर्ग के सबध को अभ्यन्तर मान कर धातु का साधन से सम्बन्ध होता है। वह बुद्धि निरूपित होता है और भावि साधन को मान कर होता है। इसलिए धातु-उपसर्ग समुदाय से ही विशिष्ट क्रिया की अभिव्यक्ति होती है। फलत. 'पूर्वं धातु उपसर्गेण युज्यते' इस पक्ष को अधिक महत्त्व देना चाहिए। यदि यह माना जायगा कि धातु का सम्बन्ध पहले साधन से होता है बाद में उपसर्ग से होता है तो उसके लिए इसे समझाना कठिन हो जायगा कि क्यों आस्यते गुरुणा मे क्रिया अकर्मक है परन्तु उपास्यते गुरु मे सकर्मक है।

जो लोग धातु का सम्बन्ध पहले साधन से मानते है और बाद मे उपसर्ग से मानते हैं उनका तर्क यह है कि साधन से सम्बद्ध होकर क्रिया साध्य स्वरूपवाली कही जाती है। साधन ही क्रिया का निर्वतक है। जब तक साधन से योग नही होगा क्रिया अनिष्पन्न रहेगी फलत किसी विशेषण की भी आकाक्षा उसमे न हो सकेगी। अत धातु पहले साधन से सम्बन्ध प्राप्त करता है बाद मे उपसर्ग से जुडता है .—

> **इह प्रसिद्धं विशेष्यमनेकप्रकार संभवे सति दृष्टप्रयोगेण शब्देनाभिधीयमानं विशेषणविशेष्यभावं प्रतिपद्यते। साध्यत्वाच्चक्रियायाः साधनसम्बन्धनिर्वृत्तिः। तस्मात् प्राक् साधनसम्बन्धादनुपजाता क्रिया निरात्मिका द्योतकेनोपसर्गेण सह विशेषणविशेष्यसम्बन्ध नोत्सहते प्रतिपत्तुम्। पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते इत्येकेषा दर्शनम्।**
>
> —वाक्यपदीय, हरिवृत्ति, २।१८४ लाहौर सस्करण

क्रिया के साथ उपसर्ग की प्रवृत्तियां

क्रिया और उपसर्ग मे विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना जाता है और वह अर्थद्वारक माना जाता है

> **अर्थद्वारकश्च तेर्षा सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावलक्षण.। स चोपसर्गैरेव पर्याविभिः संभवति, नान्यं।** —न्यास १।३।१८

क्रिया के साथ उपसर्ग के सयोग होने पर प्राय· अर्थपरिवर्तन देखा जाता है :—

---

३३. महाभाष्य ६।१।१३५, ८।१।७०

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
गंगासलिलमाधुर्यं सागरेण यथाम्भसा ॥[३४]

फिर भी उपसर्ग की कई प्रकार की अवान्तर प्रवृत्तियाँ भी पाई जाती हैं। कुछ का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

असंदेहार्थ उपसर्ग

कभी-कभी असंदेहार्थ उपसर्ग का आश्रय लिया जाता है। महाभाष्यकार ने लिखा है कि मनायते के स्थान पर सुमनायते इसलिए कहा जाता है कि श्रोता को सदेह न हो। केवल मनायते कहने से यह नही पता चलता कि उसका मन शुभ रूप में हो रहा है अथवा दुखी हो रहा है.

तत्र मनायत इत्युक्ते संदेहः स्यात् अभिमवतौ, सुभवतौ, उद्‌भवतौ, दुर्भवतावित‍ि। तत्रासंदेहार्थमुपसर्गः प्रयुज्यते।

(यहा यह ध्यान देने की बात है कि अभिमनस्, सुमनस्, उन्मनस्, दुर्मनस् आदि का उपसर्ग सहित ही पाठ मिलता है। ये उपसर्ग सहित ही प्रकृति माने गये है। इस विषय को लेकर वैयाकरणो मे प्रत्ययार्थ विशेषणपक्ष और प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष रूप मे विवाद है। मन शब्द का सु, उत्, दुर्, अभि आदि उपसर्गों के साथ यदि समास नही माना जायगा तो वे उपसर्ग प्रत्ययार्थ के विशेषण होगे। मन शब्द यहाँ तद्वान्—मनस्वी-अर्थ मे है। अत. सुमनस् का अभिप्राय प्रत्ययार्थविशेषण पक्ष मे मनस्वी अच्छा (सुष्ठु) होता है अर्थ होता है। जब सु अभि आदि का मन शब्द के साथ बहुब्रीहि समास माना जायगा, वे उपसर्ग प्रकृत्यर्थ के विशेषण होगे।)

उपसर्ग क्रिया का अर्थान्तर व्यक्त करता है

उपसर्ग धात्वर्थ के बाधक रूप मे भी प्रसिद्ध हैं। तिष्ठति का अर्थ ठहरना है परन्तु प्रतिष्ठते का अर्थ प्रस्थान करना है। उपसर्ग की इस शक्ति के कारण सस्कृत भाषा की क्रियाओ का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। धातुपाठ मे सीमित धातुओ का उल्लेख होते हुए भी उपसर्ग के बल से अर्थान्तर व्यक्त करने की क्षमता आ जाने के कारण उनके रूप का विस्तार हो गया है। कभी-कभी उपसर्गों के द्वारा बिल्कुल विरोधी अर्थ व्यक्त किया जाता है जैसे,

पतति (गिरता है)	उत्पतति (उडता है),
ददते (देता है),	आददते (स्वीकार करता है)

"मलीमसीमाददते न पद्धतिम्
(रघुवश ३।४६)

---

३४. चन्द्रकीर्ति, माध्यमिक कारिका टीका, पृष्ठ ५.

३५. महाभाष्य १।१।१२, पृष्ठ ६३, गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सपादित।

सृजति (रचना करता है)	उत्सृजति (छोड़ता है) उत्सृष्टसकलव्यापारतया (कादम्बरी पृ० २४०)
सीदति (दुखी होता है)	प्रसीदति (प्रसन्न होता है)।

उपसर्ग धात्वर्थ का अनुगामी होता है

कभी-कभी उपसर्ग धात्वर्थ का अनुवर्तन करता है। जैसे सूते, प्रसूते। अध्यागच्छति पर्यागच्छति मे अधि और परि उपसर्ग अनर्थक से हैं। इनका प्रयोग केवल स्पष्टार्थक है। अध्येति, अधीते जैसी क्रियाओं मे यह धातु का सहयोगी है। कुछ लोग इङ् और इक् धातु को निरर्थक मानते है, उपसर्ग के कारण वे सार्थक माने जाते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार अधीते मे अधि का अर्थ उपरिभाव है अर्थात् अधीते का अर्थ विशिष्टार्थ युक्त शब्दो का अध्ययन है (ततश्चाधीत इत्यस्य विशिष्टार्थयुक्तानां शब्दाना पठनं, विधिपूर्वकं करोतीत्यर्थ —महाभाष्यप्रदीप १।३।१)।

उपसर्ग की ससाधनक्रियावाचकता

बहुत से प्रत्यय उपसर्गों से किये जाते हैं। ऐसे स्थानों में उपसर्ग साधनसहित क्रिया की अभिव्यक्ति करते हैं—

त एते उपसर्गेभ्यो विधीयमाना ससाधनाया क्रियाया भविष्यन्ति—महाभाष्य ५।२।२८ विशाल, विशंकट शब्द विउपसर्ग से शालच् और शकटच् प्रत्यय लगा कर बनाये जाते है। विशाल का अर्थ है बडी सीग वाला बैल। सकट, प्रकट, उत्कट आदि शब्द भी उपसर्ग से बनाये गये है। इन सब स्थानो पर उपसर्ग साधनक्रियवचन माने जाते हैं।[३६]

उपसर्ग का क्रिया द्योतकत्व

कुछ आचार्य उपसर्ग को द्योतक मानते हैं। इसका उल्लेख पदार्थ विचार के अवसर पर किया जा चुका है। धातु को अनेकार्थ मान कर उपसर्ग का द्योतकत्व प्रकट किया जाता है। तिष्ठति का अर्थ गमन भी है, प्र उपसर्ग इस गमन का द्योतकमात्र है। भर्तृहरि के अनुसार उपसर्ग का द्योतकत्व दो तरह के अनुमान से सिद्ध होता है। सामान्यतो दृष्ट से और विशेषतो दृष्ट से। प्रपचति मे प्र शब्द आदि कर्म का द्योतक देखा गया है। इस सामान्य दृष्ट के आधार पर सभी प्रशब्द आदि कर्म के द्योतक हैं, प्र उपसर्ग है अत सभी उपसर्ग द्योतक है।

इसी विशेषतो दृष्ट अनुमान से भी द्योतकता निश्चित की जाती है। प्र शब्द के समानधर्मा सभी प्रादि हैं। प्र शब्द मे द्योतकत्व है। अत सभी उपसर्गों मे द्योतकत्व है। इसी तरह धातु भी सामान्यतो दृष्ट और विशेषतो दृष्ट द्विविध अनुमान

---

३६. कैयट के अनुसार ये सब गुण शब्द हैं, केवल व्युत्पत्ति मात्र उपर्युक्त प्रकार से की जाती है—व्युत्पत्त्यनुसारेण चेदमुच्यते। गुणशब्दास्तु विशालादय:। साधुत्वाख्यानाय तु कंचिदुपायमाश्रित्य व्युत्पत्तिः क्रियते। यथा प्रतिलोमोनुलोम इति।—महाभाष्यप्रदीप ५।२।२८, पृष्ठ ३६८.

के बल से अनेकार्थ हैं।[३७]

भर्तृहरि के अनुसार द्योतकत्व भी दो तरह का होता है

(१) अनाविर्भूताविर्भावन, और

(२) सहाभिधान

द्योतनमपि द्विविधम्। अनाविर्भूताविर्भावनम्। अव्युवासप्रसंगे वा प्रकारान्तरव्युवासेन कस्यचिदवधारणम्। तद् यथा प्रतिष्ठते उत्पुच्छयते अभिमनायत इति। तदपि प्रसिद्धाप्रसिद्धावियुतप्रयोगाणाम्। उपास्ते प्रपचति अधीते अध्येतीति यथा। सहाभिधानं वा। यावकः गोपायिता ब्रह्मणाधीनं जुगुप्सत इति।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति २।१६५,१६६, लाहौर सस्करण

सग्रहकार के अनुसार भी उपसर्ग द्योतक होते हैं—**शब्दान्तरोपग्रहमन्तरेण संभवि सन् अलब्धनियमो यो ऽर्थस्तद् द्योतको नियमन् वाचकतामतिक्रामतीति संग्रहकार आह।** -

—वाक्यपदीय २ १८९, हरिवृत्ति, हस्तलेख

उपसर्ग का वाचकत्व

उपसर्ग के सयोग से क्रिया के जो अवान्तर अर्थ जान पडने है, उनके वाचक, कुछ आचार्यों के अनुसार, उपसर्ग हैं। तिष्ठति कहने से स्थिर रहने की अभिव्यक्ति होती है परन्तु प्रतिष्ठते कहने से चलने का जो अर्थ भासित होता है वह प्र उपसर्ग के कारण अत प्र को विशेप अर्थ का वाचक मान लेना चाहिए। भर्तृहरि ने उपसर्ग के वाचकत्व का निर्देश 'स वाचको विशेषाणाम्' कह कर किया है। यद्यपि बाद के वैयाकरण उपसर्ग को द्योतक ही मानते है परन्तु भाषा की दृष्टि से यह अच्छी तरह सिद्ध किया जा सकता है कि उपसर्गों के कभी स्वतन्त्र अर्थ थे। और उनके सार्थक मानने का अर्थ ही है उनमे वाचकत्व स्वीकार करना। महाभाष्यकार ने स्वय कई उपसर्गों के अर्थों का उल्लेख किया है जो प्राय निरुक्त मे दिये हुए अर्थो से मेल खाते हैं। 'आङ् आभिमुख्ये वर्तते, 'प्र शब्द आदि कर्मणि,' 'निरय बहिर्भावे' वर्तने' जैसी उक्तियां उपसर्गों के सार्थक होने का सकेत करती है। बाद मे इनका व्यवहार प्रतीक के रूप मे होने लगा था। सम् उपसर्ग समता सतुलन का प्रतीक था। अभि सामने अथवा प्रत्यक्ष का प्रतीक था और अभिनव अर्थ मे भी प्रयुक्त होता था। अभ्यका गाव (वे गाय या बैल जिन पर पहचान क लिए नये चिह्न लगे हो) मे अभि शब्द अभिनव अर्थ मे प्रयुक्त है (अभिशब्दोऽभिनवार्थे वर्तते—न्यास २।१।१४)।

---

३७. वाक्यपदीय २।२९१, तथा इस पर पुण्यराज की टीका। भर्तृहरि ने उपसर्ग में वाचकत्व, द्योतकत्व और सहाभिधायकत्व माना है—वाचकत्वं द्योतकत्वं सहाभिधायकत्वमित्युपसर्गेषु त्रिविधा प्रतिपत्तिराचार्याणाम्। तत्रानभिहितार्थमभ्यारोपयन् वाचक इति प्रतिज्ञायते। सभविनमर्थमनभिव्यक्तमभिव्यंजयन् द्योतक इत्यभ्युपगम्यते। स्वभावतः प्रातिनियतशक्तिमात्रमादधत् स्वार्थिकवत् सहाभिधाया व्यवस्थाप्यते—वाक्यपदीय २।१९० हरिवृत्ति हस्तलेख

भर्तृहरि ने वृत्ति के विषय में उपसर्गों की सार्थकता कण्ठ खोल कर स्वीकार की है और उन्हे सत्त्वाभिधायी कहा है—

क्रियायां साधने द्रव्ये प्रादयो ये व्यवस्थिता. ।
तेभ्यः सत्त्वाभिधायीभ्यो वतिः स्वार्थे विधीयते ।।

—वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ५८३

उद्वत् (उत्+वत्) , निवत्(नि+वत्) इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि उपसर्ग यहा सार्थक है। जयादित्य ने भी "प्रादयो हि वृत्तिविषये ससाधना क्रियामाहु"—(काशिका ६।२।१६२) कह कर उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि की है।

बहुत से ऐसे प्रत्यय हैं जो उपसर्गों से स्वार्थ मे हुये है। यह तभी सभव है जब कि उपसर्गों के स्वतन्त्र अर्थ हो। उदाहरण के लिये पाणिनि का यह सूत्र लीजिये

अनुकाभिकाभीकः कमिता ५।२।७४

इसमे अनुक (अनु+क), अभिक (अभि+क) और अभीक(अभि+ई+क)उपसर्गों से कन् प्रत्यय लगा कर बनाये गये है।

उत्तर, उत्तम का उल्लेख पहले किया जा चुका है। भाष्यकार ने इसे अव्युत्पन्न शब्द होने का सकेत किया है और कैयट ने भी स्पष्ट ही कहा है कि ···· **उत् शब्दात् तमबेव, नास्ति, अव्युत्पन्न एवतूत्तमशब्दः स्वभावात् त्रिप्रभृतीनामन्त्यमाह (महाभाष्यप्रदीप ४।१।७८)**। परन्तु कोई भी भाषाविज्ञान का विद्यार्थी कैयट के मत से सहमत नही हो सकता। जैसा कि उद्वा, उद्वती मे उन् से प्रत्यय हुए है वैसे ही उत मे तर और तम प्रत्यय हुए है। कैयट ने स्वय उद्वा मे उत् को सार्थक माना है (**उद्गतमस्यास्तीति ससाधनक्रियावचनात् उपसर्गात् प्रत्ययः**—महाभाष्यप्रदीप ५।२।१०६)

यह मान्यता कि उपसर्ग असम्बद्ध रूप मे, स्वतन्त्र रूप मे अर्थ व्यक्त नही करते, पूर्ण रूप से ठीक नही है। कवियो ने स्वतन्त्र रूप मे भी इनके सार्थक प्रयोग किये हैं जैसे—**रेखामात्रमपिक्षुण्णाद् आ मनो वर्त्मन परम्** (**रघुवंश १।१७**) इसमे आ का स्वतन्त्र रूप मे प्रयोग हुआ है। जैसा कि मल्लिनाथ ने कहा है आ और मनु यहाँ दो शब्द है (**आ मनोः। मनुमारभ्यइत्यभिविधि । पदद्वयं चैतत् । समासस्य-विभाषितत्वात्**)। कुछ शब्द तो पूर्ण रूप से उपसर्ग से ही बने है और आज स्वतन्त्र शब्द से जान पडते हैं। जैसे अणु शब्द। यास्क के अनुसार अनु उपसर्ग ही अणु शब्द बन गया है।[३८] अन्, अन्तर् और मरुत् शब्दो का उपसर्गो के भीतर समावेश भी उपसर्गों के वाचकत्व का परिचायक है। कभी-कभी उपसर्ग तद्धित प्रत्यय के अर्थ मे भी व्यवहृत होते देखे गये है। दुर्गाचार्य ने प्रमगन्द (कुसीदी की सन्तान) शब्द मे प्र को अपत्यार्थक माना है।[३९] प्रस्कण्व मे भी प्र शब्द अपत्यार्थक है। अभिरूपायकन्यादेया का भाव अभिरूपतमाय कन्या देया है अर्थात् अभि का प्रयोग यहाँ तमप् अर्थ मे हुआ है।

---

३८. निरुक्त ६।२३।४.
३९. निरुक्त टीका ६।३२।१२७.

धातु और उपसर्ग के संघात में वाचकत्व

कुछ विचारकों की यह धारणा है कि उपसर्ग और धातु दोनों मिलकर संघात रूप में अर्थ के वाचक होते हैं। उपसर्गों का अलग विवरण अट् आदि की व्यवस्था के लिए है—

> **परमार्थतः धातूपसर्गसंघात एव क्रियावाची, पृथगुपदेशस्तु धातूपसर्गयोरडाविव्यवस्थार्थः।**[४०]

क्रिया और अव्यय

अव्ययों में कुछ विभक्त्यर्थप्रधान होते हैं और कुछ क्रिया प्रधान होते हैं। जैसे हिरुक्, पृथक् ये क्रियाप्रधान अव्यय है। क्रिया विशेषण होने के कारण इन्हे क्रिया प्रधान माना जाता है। पृथग् देवदत्त जैसे प्रयोग अवश्य देखे जाते है, इसमे कोई क्रियापद नही है फिर भी ऐसे प्रयोग स्थितिं आदि क्रियापद के आक्षेप की आकांक्षा रखते हैं। क्रियाप्रधान होने के कारण तथा अव्यय होने के कारण इनके साथ लिंग और संख्या का योग नही होता। क्रिया मे तो एकत्व संख्या मानी भी जाती है और पचतिरूपम् जैसे प्रयोगो मे नपुंसक लिंग भी देखा जाता है परन्तु क्रिया प्रधान अव्यय के साथ लिंग और संख्या नही जुड़ते।

क्रिया और रूढि शब्द

रूढिशब्द उन शब्द को कहते हैं जिसके विग्रह वाक्य मे अन्य अर्थ प्रतीत होता है और वृत्ति मे अन्य।

> **"येषां तु वाक्यप्रक्रमोऽन्य एवार्थः क्रिया सम्बन्धी वृत्तिक्रमोऽन्य एव तेषां रूढिशब्दत्वम्।**
>
> —वाक्यपदीय, हरिवृत्ति २।३७, लाहौर संस्करण

विग्रह वाक्य और वृत्ति मे सादृश्य की कल्पना की जाती है। फिर भी किसी-किसी शब्द के विग्रह-वाक्य से सर्वथा अन्य अर्थ प्रकट होने लगता है, ऐसे ही शब्दो को रूढि शब्द कहते है। जैसे, तैलपायिका। इस शब्द का विग्रह तैल पिवति (तेल पीता है) के रूप मे किया जाता है और इससे यही अर्थ झलकता है परन्तु वस्तुतः इस शब्द का अर्थ कीट विशेष है। तेल पीने से इसका कोई सम्बन्ध नही है। इसलिए तैलपायिका रूढि शब्द है।

रूढिशब्दो मे क्रिया का आश्रय केवल व्युत्पत्ति के लिए लिया जाता है। गौ शब्द की व्युत्पत्ति गच्छतीति के द्वारा समझाई जाती है। परन्तु यह व्युत्पत्ति मात्र है, वास्तविकता से इसका दृढ सम्बन्ध कोई नही है। अतः जो गमन नही करती है

---

४०. महाभाष्यप्रदीप ८।१।७०।

उस गाय को भी गौ कहते हैं और गमन करने वाली गाड़ी आदि को गौ नहीं कहते हैं।

क्रिया का जो सम्बन्ध रूढ़िशब्दो के साथ है वही ताच्छीलिक शब्दों के साथ है। ताच्छीलिक भी एक तरह के रूढि शब्द ही हैं। रूढि शब्द में और ताच्छीलिक मे केवल यही अन्तर है कि रूढ़ि शब्दों मे किसी का गति से सम्बन्ध नहीं होता जबकि ताच्छीलिकों में कुछ का गति से सम्बन्ध होता है और कुछ का गति से सम्बन्ध नहीं होता। ताच्छील्य शब्द भी क्रिया विषयक ताच्छील्य के आश्रय से प्रयुक्त होते हैं यद्यपि उनमें क्रिया का आवेश नही रहता। उनमे कुछ गति से जुडते हैं जैसे आगामुक., प्रवर्षुक। कुछ नही जुडते। जैसे कामुक:। प्रकामुक नही होता। व्याघ्र जैसे शब्द उपसर्ग सहित ही रूढि शब्द माने जाते हैं, इनके साथ किसी दूसरे गति की आवश्यकता नही है।

क्रियाभ्यावृत्ति

एककर्तृक तुल्यजातीय क्रियाओं का बार-बार घटित होना अभ्यावृत्ति कहलाता है। अभ्यावृत्ति क्रिया में ही सम्भव है, द्रव्य और गुण मे नही। क्योंकि शब्द से प्रतिपाद्य द्रव्य और गुण स्वभाव सिद्ध होते हैं, अभ्यावृत्ति साध्यस्वभाववाली क्रिया मे होती है। कभी-कभी "पुन पुन दण्डी", "पुन पुन स्थूल" जैसे स्थलो मे द्रव्य और गुण की भी अभ्यावृत्ति देखी जाती है परन्तु ऐसे स्थलो मे भी वस्तुत. सामर्थ्यवश क्रिया की ही अभ्यावृत्ति होती है। पुन-पुन दण्डी भवति, पुन पुन स्थूलो भवति इस रूप मे क्रियापद का आक्षेप ऐसे शब्दो मे समझना चाहिए।

महाभाष्यकार ने कहा है कि आवृत्ति अभ्यावृत्ति नही है अपितु अभिमुखीप्रवृति को अभ्यावृत्ति कहते हैं।[४१]

> **अभ्यावृत्ति भिन्न काल की क्रियाओ में होती है (अभ्यावृत्तिहि भिन्नकालानां क्रियाणां भवति।—न्यास ५।४।१७.**

नित्य, आभीक्ष्ण्य और क्रियासमभिहार—

क्रियाभ्यावृत्ति की तरह नित्य और आभीक्ष्ण्य भी क्रिया से सम्बद्ध है। बार-बार क्रिया की प्रवृत्ति को आभीक्षण्य कहते हैं। आभीक्ष्ण्य साध्यरूप क्रिया मे ही सम्भव है, द्रव्य मे नही। द्रव्य के सिद्धरूप होने से उसमे पुन-पुन प्रवृत्ति नही होती। नित्य भी आभीक्ष्ण्य का अर्थ रखता है। पाणिनि ने नित्यवीप्सयो ८।१।४ मे नित्य शब्द का व्यवहार आभीक्ष्ण्य के अर्थ मे किया है। जिस क्रिया को कर्ता प्रधानरूप से लगातार करता है उसे नित्य कहते हैं। आभीक्ष्ण्य और नित्य मे थोडा-सा अन्तर है। आभीक्ष्ण्य मे क्रिया की आवृत्ति प्रतीत होती है जब कि नित्यता मे क्रिया का

---

४१. महाभाष्य ५।४।१६.

अविच्छेद जान पड़ता है। जैसे "भुक्त्वा-भुक्त्वा व्रजति" इस वाक्य में क्रिया के विच्छेद होने पर भी बार-बार खाता है और बार-बार जाता है इस रूप मे क्रिया की आवृत्ति प्रतीत होती है। अतः यहा आभीक्ष्ण्य है। "जीवति-जीवति" कहने से क्रिया का अविच्छेद प्रतीत होता है, वह जीता ही है यह अर्थ भासित होता है। उसमे वह जीकर मरता है, अथवा मर कर जीता है इस रूप मे आवृत्ति नही जान पडती। व्यक्ति का दीर्घकाल तक अविच्छिन्न रूप मे जीवित होना ही व्यक्त होता है।

क्रियासमभिहार शब्द क्रिया के बार-बार होने को अथवा उसके अत्यन्त तीव्र-स्वरूप को व्यक्त करता है। क्रियासमभिहार का रूप प्राय यङन्त से द्योतित होता है—

पौनः पुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः।—काशिका ३।१।२२

क्रिया की प्रत्येक परिसमाप्ति—

कुछ विशेष क्रियाओ को लेकर भर्तृहरि ने क्रिया के सम्बन्ध मे यह भी विचार किया है कि क्रिया का वाक्य मे प्रत्येक परिसमाप्ति माना जाय अथवा समुदाय परिसमाप्ति अथवा उभयपरिसमाप्ति। वाक्यपदीय मे तीनो तरह के मत उल्लिखित है उनका विवरण सक्षेप मे यहाँ दिया जा रहा है।

एक मत यह है कि वाक्यार्थभूत क्रिया का अवस्थान प्रत्येक से सम्बद्ध है। उस अवस्थान को "सामर्थ्यलक्षण" शब्द से व्यक्त किया जाता है। सघ, एक शेष, द्वन्द्व मे क्रिया की प्रत्येक मे परिसमाप्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिए भोजन की क्रिया (भुजि क्रिया) को लीजिए। जब कहा जाता है कई ब्राह्मण अथवा एक ब्राह्मण अथवा देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र भोजन करे तो इस वाक्य से ब्राह्मण कर्तृक भोजन क्रिया का प्रत्येक से सम्बन्ध होता है। क्योंकि भोजन क्रिया का फल तृप्ति है और वह प्रत्येक भोक्ता मे अलग-अलग होती है। भोजन के व्यापार भी, जैसे पाद-प्रक्षालन, आसन पर बैठाना, दूसरे द्वारा परोसे जाना आदि—प्रत्येक भोक्ता के अलग-अलग किये जाते हैं। अथवा प्रत्येक भोक्ता स्वय इन व्यापारो को करता है। इसलिए फल की दृष्टि से और स्वरूप की दृष्टि से भी भोजन-क्रिया की परिसमाप्ति प्रत्येक मे होती है।

भुजिक्रिया नाट्यक्रिया की तरह नही है। नाट्यक्रिया अनेक साधन से साध्य है और सब साधनो के सहयोग से फलवती होती है। भोजन-क्रिया वैसी नही है। वह तो प्रत्येक कारक (यहा भोक्ता) से निर्वर्त्य है। यह भेद वस्तुगति की दृष्टि से है। वस्तुगति नियत होती है [**नियत स्वरूपा हि वस्तुगतयो दृश्यन्ते**]।[४२] वस्तु-स्वभाव के कारण ही दीपक की प्रकाश-क्रिया एक अधिकरण [आधार] पाकर भी चारो ओर प्रकाश-फल देती है। परन्तु भोजन-क्रिया विभक्त रूप मे ही प्रत्येक मे तृप्ति-फल उत्पन्न करती है।

---

४२. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३८०

इस मत का समर्थन शास्त्र से भी किया जा सकता है। व्याकरण का पारिभाषिक वृद्धि शब्द आ ऐ औ इनमे से प्रत्येक में परिसमाप्त माना जाता है अर्थात् प्रत्येक वृद्धि सज्ञक कहा जाता है।[43]

क्रिया की समुदायपरिसमाप्ति

एक मत यह भी है कि क्रिया की परिसमाप्ति समुदाय मे होती है। यदि यह कहा जाय 'देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र देखें" तो देखने की क्रिया दर्शनीय वस्तु के समुदाय मे परिसमाप्त होती है। और दर्शनक्रिया का फल भी युगपत् ही होता है।

जिस क्रिया मे भिन्न-भिन्न व्यापार विभिन्न कारको के देखे जाते है उसकी परिसमाप्ति समुदाय मे सम्मिलितरूप से (सभूय) माननी चाहिये। जैसे, "देवदत्त: काष्ठै: स्थाल्यामोदन पचति" इस वाक्य मे वाक्यार्थभूत पकाने की क्रिया मे देवदत्त, काष्ठ, स्थाली आदि विभिन्न कारको का व्यापार भिन्न-भिन्न है। कर्ता के भी सदर्शन, प्रार्थना, अध्यवसाय आदि कई व्यापार हैं। उपर्युक्त सभी व्यापार सघ रूप मे पाकक्रिया के साधक माने जाते है। कुछ लोग कहते हैं कि क्रिया चाहे कर्तृस्था हो या कर्मस्था पचिक्रिया कर्म मे ही समवेत होती है। कुछ लोग मानते है कि पचिक्रिया के कर्म मे समवेत होने पर भी उसमे अधिश्रयण, उपसर्जन, विक्लित्ति आदि कई व्यापार भी उसके अर्थ के भीतर हैं, उन सबके द्वारा पचि क्रिया निष्पन्न होती है अत उसकी समुदाय मे ही परिसमाप्ति माननी चाहिए।

"गर्गा शत दण्ड्यन्ताम्" जैसे वाक्यों से सौ के दण्ड की परिसमाप्ति समुदाय मे ही देखी जाती है। यहा प्रत्येक गर्ग को सौ का दण्ड देना अभिप्रेत नही है। यदि यहा प्रत्येक मे दण्ड की परिसमाप्ति मानी जायगी तो शत के स्थान पर शतानि सख्या का आश्रय लेना पडेगा जिससे वाक्य मे विरोध होगा, प्रधानकर्म का स्वरूप भ्रंश होगा और वीप्सा की भी प्राप्ति नही होगी। अत गर्गसघ पर ही शत दण्ड समझा जाता है।

शास्त्र मे भी कार्यपदान्वाख्यान—दर्शन के अपनाने पर समुदायपरिसमाप्ति पक्ष देखा जाता है। समास सज्ञा और अभ्यस्त संज्ञा समुदाय की ही होती है।[44]

---

४३. वाक्यपदीय २।३७९-३८४. आ, ऐ, औ प्रत्येक वृद्धिसज्ञक है इसमें प्रमाण पाणिनि का सकेत है। प्रस्थे वृद्धमकर्क्यादीनाम् ६।२।८७ सूत्र प्रस्थ उत्तरपद रहते पूर्वपद उदात्त करता है कर्क्यादि और "वृद्ध" को छोड कर, मालादीनां च ६।२।८८ यह सूत्र भी प्रस्थ उत्तर पद रहते पूर्वपद को आदि उदात्त करता है। 'वृद्ध' यहाँ पारिभाषिक है जो वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् १।१।७३ के अनुसार होता है। अब आ, ऐ, आदि को प्रत्येक को वृद्धि संज्ञा जब होगी तभी मालादि उपर्युक्त सूत्र (१।१।७३) से वृद्ध कहे जा सकेंगे—

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३८४।

४४. वाक्यपदीय २।३८२, ३८३, ३८५, ३९४।

उभयपरिसमाप्ति

कुछ क्रियाओं में ऐसा देखा जाता है कि उनकी परिसमाप्ति प्रत्येक में भी और समुदाय में भी एक साथ ही देखी जाती है। जैसे यह कहा जाता है कि वृषल को इस मन्दिर में आना मना है तो यहा निषेधरूपक्रिया का संबंध वृषल से एकाकीरूप में भी होता है और वृषलसघ के साथ भी होता है। शास्त्र में भी णत्व करने मे अट् कवर्ग पवर्ग आङ्नुम् आदि का व्यवधान प्रत्येक रूप मे और सामूहिकरूप में भी माना जाता है।[४५]

वस्तुत. वाक्यार्थक्रिया की परिसमाप्ति कही प्रत्येक मे होती है और कही समुदाय मे होती है। ऐसा कोई नियम नही है कि केवल प्रत्येक मे ही हो अथवा वाक्य मे ही हो .—

> **प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरित्येतत् न राजाज्ञावशात् व्यवस्थाप्यते ।—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३८५**

क्रिया एक अथवा अनेक

क्रियाओ के सम्बन्ध मे भर्तृहरि ने उनके एकत्व और नानात्व पर भी विचार किया है। भुजि क्रिया एक है अथवा अनेक। एक भी है और अनेक भी है। भोक्ता की तृप्ति की दृष्टि से भोजन-क्रिया का समारम्भ होता है वहा वह एक ही मानी जायगी। क्योंकि तृप्तिफल समान है। परन्तु देशभेद कालभेद आदि के कारण एक होते हुए भी अनेक जान पडती है। इसके विपरीत, कुछ लोग मानते हैं कि भोक्तृभेद से फलभेद होता है। इसलिए भोजन-क्रिया मे भी स्वभावत भेद माना जायगा। उसमे यदि अभेद की प्रतीति होती है तो इसलिए होती है कि भोजन-व्यापार के पात्र आदि प्राय एक से भासित होते हैं। पात्र के अभेद से उसमे एकत्व और स्वभावत अनेकत्व है।

फल की दृष्टि से भी क्रिया मे भेद जान पडता है। कोई स्वर्ग के लिए यजन करता है, कोई पुत्र के लिए, कोई धन के लिए। इस फल भेद से इतिकर्तव्यता मे भी भेद आ जाता है और इस कारण क्रिया मे अनेकत्व झलकता है। परन्तु वस्तुत क्रिया एक है। (**एकाहि क्रिया-महाभाष्य १।२।६४**)। आख्यात वाच्य क्रिया सर्वत्र भेद-निवृत ही होती है, यही सिद्धान्त है। फल और साधनभेद से यजन—क्रिया मे भेद अर्थ की दृष्टि से भले ही अवगत हो, शब्द की दृष्टि से वह सदा सामान्यरूप मे एक है। प्रकर्ष या आवृत्ति के कारण क्रिया का एकत्व विघटित नही होता। क्रिया के एकत्व की रक्षा के लिए भर्तृहरि ने क्रिया मे व्यक्तिभाग और जातिभाग की कल्पना की है :—

> **क्वचित् क्रिया व्यक्तिभागैरुपकारे प्रवर्तते ।**
> **सामान्यभाग एवास्याः क्वचिदर्थस्य साधकः ।।**[४६]

---

४५. द्रष्टव्य वाक्यपदीय २। ३८७-३६०
४६. वाक्यपदीय २।४६५

क्रिया का एक व्यक्तिभाग है और एक उसका सामान्यरूप जातिभाग है। समीहित सिद्धि के लिए कभी व्यक्तिरूप में क्रिया प्रवृत्त होती है और कभी जातिरूप मे। बाधा, विकल्प, समुच्चय, अतिशय, प्रशंसा[४७] आदि में क्रिया व्यक्तिभाग के रूप में प्रवृत्त होती है क्योंकि क्रिया के सामान्यरूप से प्रवृत्ति मानने पर समुच्चय विकल्प आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती। अनेक क्रियाओ के अध्याहार को समुच्चय कहते हैं। तुल्य बलवाली अविरोधी क्रियाओं का अध्याहार भी समुच्चय है। जैसे—**देवदत्तं भोजय लवणेन सर्पिषा शाकेन च**, अथवा—

अहरहनयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्।
वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदः॥

इसमें एक ही नयति क्रिया मे गौ, अश्व, पुरुष आदि का समुच्चय है। ऐसे स्थलों में क्रिया का जातिस्वरूप प्रवृत्त नही होता क्योकि जाति मे समुच्चय सम्भव नही है। विकल्प भी तुल्यबल के विरोध मे होता है। जैसे कौण्डिन्य को दधि और तक्र दिया जाय मे विकल्प है। यहा भी क्रिया व्यक्तिभाग के द्वारा उपकारक है। इसी तरह अतिशय आदि स्थानो मे समझना चाहिये। परन्तु लोक-व्यवहार की सिद्धि के लिये क्रिया जाति रूप मे भी प्रवृत्त होती है जैसे पचति, यजते आदि मे क्रिया का सामान्य-रूप ही वाक्यार्थ मे अधिक उपयोगी होता है। कालभेद अथवा साधनभेद से क्रिया-भेद की प्रतीति क्रिया के जातिरूप का विघातक नही होती।

जहा क्रिया विजातीय और विभिन्नपदवाच्य है परन्तु साधन एक ही है वहा भी कालभेद से साधन मे भेद मानकर क्रिया की प्रत्येक के साथ परिसमाप्ति सिद्ध होती है जैसे, 'अक्षा भक्ष्यन्ता भज्यन्ता दीव्यन्ताम्' मे अक्ष साधन एक शब्दोपात्त है और क्रिया भिन्न जाति वाली और भिन्न शब्दोपात्त है फिर प्रतिपत्ति बेला मे अक्ष शब्द से बहेड़े, गाडी की धूरी और जूवे की प्रतिपत्ति होने से विभिन्न क्रियाओं का इन विभिन्न साधनो से पृथक् पृथक् सम्बन्ध हो जायगा। क्योकि विभीतक का ही भक्षण होता है न कि शकटाक्ष अथवा देवनाक्ष का। इसी तरह शकटाक्ष का ही भजन होता है न कि विभीतक अथवा देवनाक्ष का। इसीलिये क्रिया को यौगपद्य अवस्था मे भी क्रमवाली माना जाता है—

क्रिया तु यौगपद्येऽपि क्रमरूपानुपातिनी[४८]।

वस्तुत. क्रम और यौगपद्य शब्द की शक्तिविशेष हैं जिन्हें क्रमश. भेदशक्ति और ससर्ग-शक्ति कह सकते हैं। ये शब्द के व्यापार हैं जो शब्द से भिन्न-से जान पडते हैं।

---

४७. त्रिप्रकारा हि प्रशंसाशब्दाः। केचिज्जाति शब्दाः परार्थे प्रयुज्यमाना प्रशंसामाचक्षते यथा सिंहोदेवदत्त इति। केचिद गुणशब्दाः गुणगुणिसम्बन्धेन प्रशंसा वचना भवन्ति यथा रमणीयो ग्रामः, शोभनः पाचक इति। केचिद् रूढिशब्दा मतल्लिकादयः। तेषां प्रशंसैव पदार्थः—न्यास २।१।६६

४८. वाक्यपदीय २।४७१

आख्यातशब्द वाक्यम्

वाक्य का सर्वस्व क्रिया पर अवलम्बित है। भर्तृहरि ने क्रिया का विचार वाक्य की दृष्टि से भी किया है। वाक्यपदीय द्वितीयकाण्ड के प्रारम्भ मे वाक्य सम्बन्धी आठ तरह के विकल्प उल्लिखित है। उनमे से पहला आख्यात शब्द है। कुछ विचारको के अनुसार क्रियाशब्द वाक्य हैं। कभी कभी एक ही क्रियापद से कर्ता और कर्म के अर्थ-सहित बोध देखा जाता है। जैसे वर्षति से। वर्षति क्रिया से देव-कर्ता का और जल-कर्म का बोध हो जाता है। फलतः वर्षति वाक्य है।[४९]

वार्तिककार ने वाक्य के दो पारिभाषिक लक्षण दिये हैं। एक है—आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। यहा आख्यात पद से एक क्रियापद का ग्रहण होता है। अव्यय, कारक, विशेषण सहित आख्यात वाक्य है। अव्यय सहित जैसे, उच्चै: पठति। कारक सहित, जैसे, ओदनं पचति। क्रियाविशेषणसहित जैसे, सुष्ठु पचति। ये सब अलग अलग और समुदितरूप मे भी गृहीत होते हैं। अव्यय यद्यपि कारक और विशेषण भी होता है फिर भी प्रपचार्थ उसका ग्रहण यहा किया गया है। अख्यातं सविशेषण इतना ही लक्षण पर्याप्त है। अख्यात पद से यहा क्रिया की प्रधानता लक्षित है इसलिये 'देवदत्त न शयितव्यम्' भी वाक्य है। यह वाक्य का शास्त्रीय लक्षण है। कैयट के अनुसार वाक्य का लौकिक लक्षण "अर्थैकत्वादेकं वाक्य साकाक्ष चेद् विभागे स्यात्"[५०] है अर्थात् साकाक्ष एकार्थ पद समूह को वाक्य कहते हैं। यह मीमांसको का मत है जिसे कैयट ने लौकिक माना है। यह वाक्यलक्षण व्याकरण-दर्शन मे मान्य नहीं है। अय दण्डो, हरानेन (यह लाठी है इससे गायो को ले जाओ), ओदन पच, तव भविष्यति (भोजन बनाओ, तुम्हारा अथवा तुम्हारे स्वामी का होगा) जैसे वाक्य वस्तुत दो वाक्य माने जाते है। क्योकि इनमे दो आख्यातपद है। इन्हें दो वाक्य मान कर ही वार्तिककार ने ऐसे स्थानो मे निघात आदि के निषेध के लिए '**समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा**'[५१] इस वार्तिक मे समानवाक्य शब्द रखा है। लौकिक अथवा मीमासक वाक्यलक्षण के अनुसार उपर्युक्त वाक्यो मे एक वाक्य होने से निघात आदि की प्राप्ति होने लगेगी। अत वार्तिककार का ही वाक्यलक्षण अधिक उपयुक्त है।

वार्तिककार के इस वाक्यलक्षण के अनुसार ही व्रजानि देवदत्त जैसे वाक्य में पाणिनिसूत्र ८।१।१९ से निघात सिद्ध होता है। क्योंकि यहां जाने की क्रिया सबोध्य देवदत्त के जाने की क्रिया से अथवा यज्ञदत्तविषयक जाने की क्रिया से पृथक् होने के कारण विशिष्ट मानी जाती है फलत. देवदत्त क्रियाविशेषण होने के कारण वाक्य की परिभाषा के भीतर आ जाता है। क्रिया का विशेषण सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य दोनो रूपो मे देखा जाता है। शोभन करोति, सुष्ठु करोति जैसे वाक्यो मे किया की सुष्ठु आदि विशेषण युक्त रूप में ही प्रतीति होती है। इसलिये करोति क्रिया

---

४९. वाक्यपदीय २।३२७

५०. मीमांसासूत्र २।१।४६, महाभाष्यप्रदीप ८।१।१९

५१. पाणिनि सूत्र ८।१।१८ पर वार्तिक

का सुष्ठु, शोभन के साथ सामानाधिकरण्य है। असत्वमूतक्रिया के विशेषण होने के कारण ही क्रियाविशेषण सदा नपुंसक लिंग वाले ही होते हैं। क्रिया के निर्वर्त्य होने के कारण क्रियाविशेषण में कर्मत्व भी स्वाभाविक ही है। व्रजानि देवदत्त में वैयधिकरण्य के रूप मे विशेषण है। यहा देवदत्त और जाने की क्रिया का सामानाधिकरण्य नहीं है। देवदत्त को आमंत्रण करके जाने मे केवल बिना आमन्त्रण के जाने की अपेक्षा आमन्त्रणपूर्वक जाने वाली क्रिया विलक्षण हो गई है इसलिये आख्यात इस वाक्य में सविशेषण है। नागेश के अनुसार सविशेषण का अर्थ साक्षात् अथवा परम्परा विशेषण सहित है अतः 'नद्यास्तिष्ठति कूले' मे समान वाक्यत्व सिद्ध होता है।

भर्तृहरि ने वार्तिककार के दूसरे वाक्यलक्षण पर भी विचार किया है और वह है "एकतिङ्वाक्यम्"। वार्तिककार के प्रथम वाक्य लक्षण मे आख्यात शब्द में एकत्व की अविवक्षा की शका किसी को न होने पावे इसलिये ही वार्तिककार ने 'एकतिङ्वाक्यम्' पुन. कहा है अर्थात् दो आख्यात वाले वाक्य एक वाक्य न माने जाय यह उनका अभिप्राय है। परन्तु पाणिनि ने तिङतिङः ८।१।२८ सूत्र मे अतिङ् ग्रहण किया है। इससे जान पडता है कि उनके मत मे अनेक तिङन्तपद के रहते हुए भी यदि अर्थ साकाक्ष है तो एक वाक्य ही मानना चाहिये।

कुछ लोग मानते हैं कि वार्तिककार और सूत्रकार मे यहा मतभेद नही है। वार्तिककार का एकतिङ्त्व प्रधानतिङन्त की अपेक्षा प्रतिपाद्यमान है अत सूत्रकार के मत के अनुकूल ही वार्तिककार का भी मत है। परन्तु कुछ लोग इस व्याख्या को स्वीकार नही करते और दोनो मुनियो मे वाक्यविषयक मतभेद मानते हैं।[५२] कुछ लोग अनेक क्रियापदो वाले वाक्यो मे भेदाभेद सिद्धान्त को अपनाते हैं। पश्य मृगो याति इस वाक्य मे दो तिङन्तपद होने के कारण यहा वाक्यभेद है साथ ही मृग पद का याति पद से और उसका पश्य से योग होने के कारण एक ही वाक्य है, अभेद है—

> तिङन्तान्तरयुक्तेषु युक्तयुक्तेषु वा पुनः।
> मृगः पश्यत यातीति भेदाभेदौ न (च) तिष्ठतः॥[५३]

क्रियावाक्यार्थवाद

वाक्यपदीय में वाक्यार्थ छ प्रकार के विवेचित हैं—संसर्ग, प्रयोजन, ससृष्टि, निराकाक्षपदार्थ, प्रतिभा और क्रिया। इनमे क्रियावाला पक्ष क्रिया वाक्यार्थवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसके भी फलवाक्यार्थवाद और कर्मवाक्यार्थवाद नाम के अवान्तरभेद होते हैं। जो लोग आख्यातपद को वाक्य मानते है उनके मत मे क्रिया ही वाक्यार्थ है। क्रिया के अनुपग से ही पदार्थ की प्रतीति होती है। बिना क्रिया के किसी वस्तु के अस्तित्व अथवा नास्तित्व का पता नही चलता। जहा एक ही पद निराकाक्ष सत्ता का प्रतिपादक होता है वहा भी है, था, नही हुआ आदि रूप में अनुभूति होने पर ही वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है। अत ऐसे स्थलों मे भी किसी न किसी रूप में क्रियापद का सम्बन्ध अनिवार्य है। क्रिया वाक्यार्थ होने के कारण ही एक

---

५२. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४५२

५३. वाक्यपदीय २।४५२

क्रिया दूसरी क्रिया से विशिष्ट होती है, फलतः भिन्न होती है। क्रिया के आधार और साधन नियत होते हैं इसी से क्रिया में वैशिष्ट्य आता है। वाक्य में विशेषणों (साधनों) के प्रयोग क्रिया के मुख्य रूप के उद्बोधन में सहायक होते हैं।[५४]

जब फल पर अधिक दृष्टि रहती है तब क्रिया का प्रयोजन फल होता है। अतएव क्रिया फल का अंगभूत हो जाती है। ऐसे स्थलों में ही फलवाक्यार्थवाद का सिद्धान्त अपनाया जाता है। इसे भर्तृहरि ने **'साध्यप्रयुक्तान्यङ्गानि फलं तस्याः प्रयोजकम्** (वाक्यपदीय २।४३४) के रूप मे व्यक्त किया है।

कर्मवाक्यार्थवाद मे भी क्रिया कर्म के लिये होती है। इस दृष्टि से कर्म क्रिया से प्रधान ठहरता है .—

पचिक्रिया करोमीति कर्मत्वेनाभिधीयते।
पक्ति. करणरूप तु साध्यत्वेनप्रतीयते ।।[५५]

फलवाक्यार्थवाद, कर्मवाक्यार्थवाद और क्रियावाक्यार्थवाद एक ही के विभिन्न पहलू हैं। क्रिया मुख्य है। कर्म क्रिया से ही निष्पन्न होता है और फल तो फल है। क्रिया के बिना इनकी सत्ता नही है। इसीलिये भर्तृहरि ने क्रियावाक्यार्थवाद को महत्त्व दिया है।

वस्तुत भर्तृहरि के अनुसार प्रतिभा वाक्यार्थ है। प्रतिभा पर आगे विचार किया जायगा। परन्तु वाक्यार्थरूप प्रतिभा भी क्रियाश्रित ही है। पुण्यराज ने इसकी पुष्टि मे निम्नलिखित वाक्यपदीय का श्लोक उद्धृत किया है यद्यपि यह श्लोक छपे वाक्यपदीय मे नही मिलता .—

प्रतिभा यत् प्रभूतार्था (प्रभूत्यर्था) यामनुष्ठानमाश्रितम्।
फलं प्रसूयेत यतः सा क्रिया वाक्यगोचर. ।।

—वाक्यपदीय २।१ की टीका मे पुण्यराज द्वारा उद्धृत।

---

५४. वाक्यपदीय २।४२१
५५. वही २।४३६

५

कालविचार

शक्त्यात्मदेवतापक्षे भिन्नं कालस्य दर्शनम्

—वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ६२ ।

आख्यातार्थो मे क्रिया के बाद प्रमुख स्थान काल का है। भर्तृहरि ने काल पर विचार एक दार्शनिक की भाति किया है। इनके काल सम्बन्धी अपने स्वतन्त्र विचार हैं जो व्याकरण-सप्रदाय मे प्रसिद्ध नही रहे है। आगे हम देखेंगे कि इनका काल-दर्शन कश्मीर शैवागम की मान्यताओं से मेल खाता है। परन्तु अपने स्वभाव के अनुसार भर्तृहरि ने काल सम्बन्धी उन दार्शनिकवादो का भी वाक्यपदीय मे संकेत किया है जो उनके समय तक प्रसिद्धि पा चुके थे।

अपने देश मे काल सम्बन्धी विचार वैदिक काल मे ही प्रारम्भ हो गये थे। यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि ससार परिवर्तनशील है। रात बीतती है। दिन आता है। शरद्, हेमन्त आदि बारी-बारी से आते-जाते रहते है। ग्रह और नक्षत्र अनवरत गतिशील हैं। कोई भी वस्तु अपने आप मे क्षण भर स्थिर नही रहती। वह या तो बढती रहती है अथवा घटती रहती है। इस परिवर्तन की अवस्था विशेष के बोध के लिये और अवस्थाओ के पूर्वापरसबन्ध ज्ञान के लिये किसी न किसी उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। वह उपाय काल है। वैदिक ऋषियो ने "ऋत" नाम की एक शक्ति की कल्पना की थी जो सार्वभौम नियम के रूप मे थी।[1] ऋतावा (वरुण) यह देखते थे कि सूर्य और चन्द्र, नदिया तथा सभी जन यथास्थान यथावसर अपने अपने व्यापार करते है। वरुण कालज्ञ थे। वे बारह महीनो को और उनसे उत्पन्न होने वाले मास (मलमास) को जानते थे :—

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावत· ।
वेदा य उपजायते । ।[2]

---

१. ऋत शब्द का सम्बन्ध अवेस्ता के अश शब्द से है। अवेस्ता में अश के कई रूप मिलते हैं। अश, अर्श, एर्श और एरेत। ऐरेत वैदिक ऋत शब्द का ही रूपान्तर है। यह निश्चित सा है कि आर्यकाल में, जबकि भारतीय आर्य और इरानी आर्य अलग नहीं हुए थे, ऋत का ज्ञान पूर्ण रूप में फैल चुका था। अवेस्ता के एरेत और वेद के ऋत दोनों का अर्थ अपरिवर्तनीय शाश्वत नियम है।

२. ऋक्संहिता १।२५।८

वत्सर, परिवत्सर आदि शब्द तथा भूत भव्य इत्यादि काल-भेद द्योतक शब्द ऋग्वेद में मिलते हैं। काल-दर्शन के बीज भी ऋग्वेद मे हैं। यह कहा गया है कि देश, काल आदि पुरुष के ही विकार हैं। सूर्य और चन्द्र पुरुष से ही प्रसूत हैं, वसन्त, ग्रीष्म, शरद् पुरुष की क्रिया हैं (वसन्तो अस्यासीदाज्य ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः)।[3] काल भी पुरुष ही है ·

पुरुष एवेद सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।[4]

अथर्ववेद मे काल परमदेवता के रूप मे स्थित है। काल ही स्रष्टा है। काल ही भर्ता है। काल मे सब कुछ प्रतिष्ठित है। काल से विश्व का विकास हुआ है :—

काले भूतिमसृजत् काले तपति सूर्य ।
कालो ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥[5]
कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः ॥[6]

काल के स्वरूप का विचार उपनिषदो मे मिलता है। सभी भाव किसी देश और किसी काल मे उत्पन्न होते है। अत काल-रचना प्रपच का कारण हो सकता है कि नही इसका विचार-विमर्श उपनिषदों मे मिलता है —

कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा
भूतस्य योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।[7]

पुराणों मे काल के देवता-स्वरूप का ही अधिक विवरण है। महाभारत मे "काल. पचति भूतानि काल सहरते प्रजा" आदि के रूप मे अथर्ववेदोक्त काल के अलौकिक महिमा का विवरण पाया जाता है। भर्तृहरि ने इन सब मतो का सकेत शक्त्या-मदेवतापक्षे भिन्न कालस्य दर्शनम्" इस वाक्य से किया है और ये सब विचार आगे के काल-दर्शन के विवरण मे पीठिका रूप से उपयोगी है।

काल शब्द की व्युत्पत्ति जटिल नही है फिर भी प्रकारभेद देखा जाता है। यास्क के अनुसार काल शब्द गत्यर्थक कालय से निष्पन्न हुआ है—**काल कालयते-र्गति कर्मणः**।[8] पाणिनीय धातुपाठ मे कल शब्दसख्यानयो, कलक्षेपे, कल गतौ सख्याने च इस रूप मे कल धातु के कई अर्थ उल्लिखित है। क्षीरस्वामी ने "कलयत्यायुः काल." ऐसा कहा है।[9] फिर भी "स. कला कालयन् सर्वा कालाख्य लभते विभु।"[10] कालो-

३. ऋकसहिता, पुरुषसूक्त १०।९०
४. वही १०।६०।२
५. अथर्व संहिता १९।५३।६
६. वही १९।५४।१
७. श्वेताश्वतरोपनिषद् १।२
८. निरुक्त २।२५।१
९. अमरकोश १।१।५९
१०. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश १४

ऽन्य कलनात्मक .[११] "कालः कलयतामहं "[१२] इत्यादि वाक्यों में इसका प्रयोग गति और संख्यान अर्थ में ही बहुधा देखा जाता है। इसलिये काल शब्द का व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ गति और संख्यान हैं। काल के विचार मे व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ का भी थोड़ा सा प्रभाव है।

न्याय-वैशेषिक के मत में काल

कालसमुद्देश की प्रथम कारिका मे भर्तृहरि ने काल के सम्बन्ध मे न्याय-वैशेषिक-दर्शन के मत का उल्लेख किया है। नैयायिक और वैशेषिक काल की बाह्य सत्ता मानते हैं। उनके मत मे काल द्रव्य है। काल की सत्ता अनुमान से सिद्ध होती है। पर-अपर, चिर-क्षिप्र आदि लिंगो के द्वारा काल की सत्ता का अनुमान होता है :

कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिंगम् । तेषां विषयेषु पूर्व-प्रत्ययविलक्षणानामुत्पत्तौ अन्यनिमित्ताभावात् यदत्र निमित्तं सः कालः ।[१३]

पर-अपर, चिर-क्षिप्र आदि का ज्ञान आदित्य के परिस्पन्द के द्वारा जाना जाता है। केवल आदित्यपरिस्पन्द को ही काल इसलिए नही कह सकते कि काल युगपदादि ज्ञान से भी अनुमेय होता है। केवल आदित्य-परिवर्तन से युगपदादि ज्ञान सब को सम्भव नही है। वैशेषिक के मत मे काल सभी कार्यों का हेतु है। नित्य है। विभु है। एक है।

नैयायिको मे रघुनाथशिरोमणि काल की पृथक् सत्ता अगीकार नही करते। उनके मत मे दिक् और काल ईश्वर के अतिरिक्त नही है, उनका ईश्वर मे ही अन्त-र्भाव सम्भव है

दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात् । तत् तत् निमित्तविशेषसमवधा-नवशाद् ईश्वरादेव तत् तत् कार्यविशेषाणामुत्पत्तेः ।[१४]

किन्तु रघुनाथ शिरोमणि से सैकडो वर्ष पूर्व भर्तृहरि ने इस मत का प्रतिपादन भी वाक्यपदीय मे किया था जो निम्नलिखित कारिकाओं से स्पष्ट है—

चैतन्यवत् स्थिता लोके दिक्कालपरिकल्पना ।
प्रकृतिं प्राणिनां तां हि कोऽन्यथा स्थापयिष्यति ॥[१५]
कालविच्छेदरूपेण तदेवैकमवस्थितम् ।
स ह्यपूर्वापरो भागः पररूपेण लक्ष्यते ॥[१६]

---

११. सूर्यसिद्धान्त १।१०
१२. भगवद्गीता १०।३०
१३. प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ ३३२.
१४. पदार्थ तत्त्व निरूपण, पृष्ठ १-२.
१५. वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश १८.
१६. वही, साधन समुद्देश ४२.

सांख्य-दर्शन के अनुसार काल

वाक्यपदीय मे सांख्यदर्शन के अनुसार जो काल का विवरण है वह वर्तमान समय में उपलब्ध सांख्य के किसी ग्रंथ में नही मिलता। हम उसका उल्लेख काल-भेद विचार के अवसर पर करेंगे। कुछ आचार्यों के अनुसार सांख्यदर्शन मे कालतत्व की चर्चा नहीं है। स्वयं वाचस्पति मिश्र भी इस मत के पोषक जान पडते हैं। उनके मत में सांख्य के आचार्यों ने काल तत्व का निर्देश इसलिए नहीं किया है कि जिन उपाधियों के आधार पर काल भेद किया जाता है वे ही उपाधियां काल-व्यवहार का काम कर सकती हैं—

> कालश्च वैशेषिकाभिमतो एको न अनागतादि व्यवहार भेदं प्रवर्तयितुमर्हति। तस्मादयं यैरुपाधिभिर्भेदैरनागतादि भेदं प्रतिपद्यते, सन्तु त एवोपाधयः येऽनागतादिव्यवहारहेतव, कृतमन्तर्गडुना कालेनेति सांख्याचार्याः।[१७]

सांख्य के इस मत का भी वाक्यपदीय मे सकेत है। व्यवहार की सुविधा के लिए क्रिया आदि काल की उपाधि रूप मे मान लिए जाते हैं। अभिन्न-काल से व्यवहार सम्भव नही है। काल भेद उपाधिकृत होता है। अत उपाधि ही मुख्य है। काल नाम की किसी वस्तु की बाह्य सत्ता नही है। और यदि उसके कल्पित रूप की आवश्यकता होगी भी तो भी उसका स्वरूप बौद्धिक ही होगा। काल का लक्षण इस मत के अनुसार, बुद्ध्यनुसहारात्मक है। बुद्धि के द्वारा चिर क्षिप्र आदि क्रियाओं का जो संकलनात्मक काल्पनिक रूप है वही काल है। उसकी बाह्य सत्ता नही है—

> कलाभिः पृथगर्थाभि प्रविभक्तं स्वभावतः।
> केचिद् बुद्ध्यनुसहारलक्षणं तं प्रचक्षते॥[१८]

परन्तु बाद के सांख्याचार्यों ने काल को आकाश की तन्मात्रा का परिणाम मान लिया है जैसा कि "दिक्कालावाकाशादिभ्य "इस सांख्य सूत्र से स्पष्ट है।

योग-दर्शन में काल

उपर्युक्त सांख्य-दर्शन की मान्यता के अनुरूप ही योग-दर्शन के भी काल सम्बन्धी विचार हैं। एक परमाणु पूर्व देश को छोड कर उत्तर देश के साथ जब तक सयोग प्राप्त करता है उस काल को क्षण कहते हैं। क्षण के निरन्तर प्रवाह को क्रम कहते है। क्षण और उसके क्रम का समाहार सम्भव नही है क्योकि क्षण अयुगपत् होते हैं। इसलिए बौद्धिक समाहार माना जाता है। वही बौद्धिक समाहार मुहूर्त, अहोरात्र आदि के रूप मे जान पडता है। काल वस्तुशून्य (अवास्तविक) है। वह बुद्धिनिर्मित है, शब्दज्ञानानुपाती है और भ्रान्तिवश वस्तु रूप में प्रतिभासित होता है।[१९] भर्तृहरि

---

१७. तत्वकौमुदी, सांख्यकारिका ३३.
१८. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ५७.
१९. वाक्यपदीय ३, काल समुद्देश ६९

ने इसे इस रूप में व्यक्त किया है कि जितने क्षण-सन्तान बुद्धि के द्वारा संकलात्मक-रूप से एक के रूप में गृहीत होते हैं तब तक एक काल होता है। इसी आधार पर मास, वर्ष आदि का विभाग समझना चाहिए। क्षण में और मन्वन्तर आदि में भेद केवल यह है कि अपचय का पराकाष्ठागत काल क्षण है और उपचय का पराकाष्ठागत काल मन्वन्तर है। सर्वथा काल भेद बुद्धि-भेद पर आधारित है। बाह्य क्रिया के अभाव में भी बुद्धि-निवेशिनी क्रिया द्वारा चिर-क्षिप्र आदि काल भेद का ज्ञान सभव है। योगी प्राणचार की प्रक्रिया से क्षण आदि का परिज्ञान करते देखे जाते हैं। लोक में भी प्राणगति से कालगति की कलना होती है। प्राणसंचारमयी क्रिया काल है। इस मत का दार्शनिक आधार, जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा है, यह है कि सभी रूपों की ज्ञान मे संक्रान्ति देखी जाती है, सभी वस्तुओ का परिज्ञान उनकी बुद्धि मे संक्रान्त होने के बाद ही होना है। साथ ही ज्ञान के द्वारा ही उन सब का अनुसंहार अथवा संकलन भी होता है। (**ज्ञाने रूपस्य संक्रान्तिः ज्ञानेनैवानुसंहृतिः**)।[२०] काल की बौद्धिक प्रातिभासिक सत्ता होने के कारण ही काल सापेक्ष रूप मे जान पडता है। योगवासिष्ठ मे काल के सापेक्ष रूप को अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है। विरह-पीडित किसी व्यक्ति को एक दिन भी वर्ष की भाति जान पडता है। और ध्यान में लीन व्यक्ति को दिन-रात का पता नही चलता। काल की लघुता और दीर्घता सर्वथा सापेक्ष हैं (**देश वैध्यं यथा नास्ति कालवैध्यं तथाङ्गने**)।[२१] योगवासिष्ठ मे काल को सकल्पमात्र माना गया है।[२२]

बौद्ध दर्शन मे भी काल की बाह्य सत्ता नही मानी गई है। उसके अनुसार क्षणिक प्रवाह रूप विज्ञान-संतति ही काल है।

अद्वैतदर्शन के अनुसार काल

हेलाराज ने अद्वैत मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि ब्रह्मतत्व क्रमरहित है। परन्तु अविद्यावश क्रम रूप मे उसका विवर्त होता है और विवर्त देश काल मे होता है। कोई भी वस्तु सर्वप्रथम किसी देश और किसी काल मे होती है। काल की वास्तविक सत्ता नही है। परब्रह्म में अध्यारोपित उसकी प्रातिभासिक सत्ता है। काल के आधार पर जो भेद-प्रभेद किये जाते हैं, सब अविद्या-जन्य हैं। विद्या के आदि-भूत होने पर सभी प्रपंच का विलय हो जाता है। काल का भी विलय हो जाता है। अत काल के विषय मे युक्तायुक्त विचार करने मे प्रयासमात्र फल है।[२३]

---

२०. वही ७८.

२१. योगवासिष्ट ३।२०.२२.

२२. चिप्रसंकल्पमात्रोऽसौ कालो ह्यात्मनि तिष्ठति—
योगवासिष्ठ ५।४१।४.

२३. वाक्यपदीय ३,कालसमुद्देश, टीका ६२.

ज्योतिष में काल

ज्योतिषशास्त्रप्रसिद्ध ग्रहो की गति पर अवलम्बित काल-स्वरूप का निर्देश भर्तृहरि ने निम्नलिखित कारिका में किया है—

> **आदित्यग्रहनक्षत्रपरिस्पन्दमथापरे ।**
> **भिन्नमावृत्तिभेदेन कालं कालविदो विदुः ।।**[२४]

व्याकरण-दर्शन में काल

पाणिनि ने काल सम्बन्धी नियम अशिष्य माने थे । काल का ज्ञान लोक से सहज ही हो जाने के कारण काल विशेष द्योतक अनद्यतन आदि शब्दो की परिभाषा करने की कोई आवश्यकता नही थी । फलत पाणिनि का व्याकरण अकालक कहा जाना था (**पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम् काशिका** २।४।२१) । परन्तु महाभाष्यकार आदि ने काल पर एक दार्शनिक की भाति विचार किया है । महाभाष्य मे काल सम्बन्धी कई तरह के वक्तव्य है ।

कुछ वैयाकरण मानते हैं कि क्रिया ही काल है । क्रिया मे काल का बोध होता है अत क्रिया को ही काल मान लेना चाहिये (**नान्तरेण क्रिया भूतभविष्यत्-वर्तमानकाला व्यज्यन्त—महाभाष्य १।१।७०**) । इस मत के पोषक कैयट है । उनके मत मे उस प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया को काल कहते है जो अप्रसिद्ध परि-माणवाली दूसरी किसी क्रिया की परिच्छेदिका है —

> **कालो हि प्रसिद्धपरिमाणाक्रिया अप्रसिद्धपरिमाणस्य क्रियान्तरस्य परिच्छे-दिका—महाभाष्यप्रदीप १।१।७०**

कैयट ने क्रिया के प्रसिद्ध परिमाणको सूर्यादिकर्तृक माना है । "दिवसमधीते" इस वाक्य मे दिवस शब्द से सूर्य की गति-क्रिया अभिप्रेत है जो उदय से लेकर अस्त-काल तक व्याप्त है । वह दिवस (आदित्य-क्रिया-प्रबन्ध) अध्ययन क्रिया का परिच्छेदक है अत उसे काल कहते है

> **प्रसिद्धपरिमाणक्रिया सूर्यादिकर्तृका अप्रसिद्धपरिमाणाया क्रियाया परिच्छे-दोपात्ता अहरादिव्यपदेश्या काल इत्याहु ।**
>
> —महाभाष्यप्रदीप ३।२।८४

इस मत की पुष्टि महाभाष्यकार के भी कुछ वक्तव्यो मे होती है । एक स्थान पर उन्होने कहा है—**बाह्यश्च पुन आस्यात् कालः** अर्थात् काल मुख मे बाह्य है । यह उक्ति क्रिया को काल मान कर ही सभव है (**क्रियैव कालो नातिरिक्तमते इदम्**)।[२५] प्रसिद्ध परिमाण वाली क्रिया बाह्य क्रियान्तर का परिच्छेदक होती है । इस बाह्यत्व के आधार पर उस क्रिया को बाह्य काल कहा गया है । "गोदोहमास्ते"—गाय के दोहन-

---

२४. वही, कालसमुद्देश ७६

२५. महाभाष्यप्रदीपोद्योत, अ इ उ ण

काल तक ठहरता है—इस वाक्य मे गोदोह क्रियाविशेष है। उसके काल की इयत्ता अच्छी तरह ज्ञात होने के कारण वह क्रिया प्रसिद्ध परिमाण वाली है। इसलिये वह देवदत्त के ठहरने की क्रिया का परिच्छेदक है। फलत वह काल है। जहा पर बाह्य-क्रिया नही है, जहां सूर्य सचार अथवा नालिकाव्रुति [काल-नापने का यन्त्र] आदि प्रसिद्ध परिमाण बतानेवाले साधन नही हैं, वहा बुद्धिनिवेशिनी क्रिया ही क्रियान्तर का परिच्छेदक हो जाती है। प्राणप्रवाह के आधार पर काल की गणना सभव है। प्राण प्रवाह के आधार पर अधिक बुद्धि के उदय से चिरकाल का और अल्प बुद्धि के उदय से क्षिप्रकाल का परिज्ञान हो जायगा।

यदि क्रिया से अतिरिक्त काल की सत्ता नही है तो 'भूता सत्ता' जैसे वक्तव्य कैसे सम्भव है क्योकि क्रिया स्वय सत्ता रूप है उसका किसी सत्ता रूप क्रिया से योग संभव नही है। इस प्रश्न का उत्तर स्वय भर्तृहरि ने दिया है। जिस तरह से "भूतो घट' इस वाक्य मे सत्ताख्य क्रिया की ही भूतता मानी जाती है वैसे ही "भूता सत्ता" इस वाक्य मे भी सत्ताख्य क्रिया की ही सत्ता भूत रूप मे मानी जाती है। भाव यह है कि भूतो घट मे भूतता घट की सभव नही है। घट द्रव्य है। द्रव्य का काल से सीधा सम्बन्ध नहीं होना। साध्य स्वभाववाली क्रिया का करणभूत काल के साथ सम्बन्ध होता है। निष्ठा प्रत्यय के द्वारा धातु वाच्य सत्ताख्य क्रिया की भूतता अभिव्यक्त होती है। वह सत्तारूप क्रिया यहा घट मे है। इसलिये काल का क्रिया के सम्बन्ध से घट से भी परम्परया सम्बन्ध हो जाता है और घट की भूतता जान पडती है, यहा द्रव्य और काल का सीधा सम्बन्ध नही है। इसी तरह "भूता सत्ता" इस वाक्य में भी धातु वाच्य क्रिया रूप सत्ता अन्य है और प्रातिपदिक पद [सत्ता शब्द) वाच्य द्रव्यमय अन्य है। यहा भी धातुवाच्य सत्ता की भूतता के द्वारा ही द्रव्यायमाण सत्ता के भूतत्व की प्रतीति होती है। इसलिये क्रिया को काल मानने मे कोई अनुपपत्ति नही है। सत्ता नित्य है। फिर भी आश्रय भेद से उसमे भेद मान कर भूत, वर्तमान आदि त्रिकालभेद की व्यवस्था भी सम्भव है।

कुछ वैयाकरण काल को क्रिया से भिन्न मानते है और काल को क्रिया का परिच्छेदक मानते है। क्रिया अनेकक्षण का समाहाररूप है। क्षण युगपत् नही होते। क्रम से होते हैं। इसलिये क्रिया सक्रमा होती है। क्रम काल का धर्म हैं। अतः सक्रमा क्रिया काल शक्ति से अनुगृहीत होती है। दो क्रियाओ का उदय और अन्त समान होते हुये भी एक चिर से सम्पन्न होती देखी जाती है और दूसरी क्षिप्र सम्पन्न होते देखी जाती है। यह विलक्षण परिच्छेद बिना किसी उपाधिभूत सम्बन्धी के सम्भव नही है। क्रिया मे आश्रयभेद से भेद होता है। अत एक क्रिया चिरता और क्षिप्रता की प्रतीति का कारण नही हो सकती। आश्रयभेद से भेद होने के कारण उसमे भेद की अनुवृत्ति हो जाया करेगी। जिसमें भेद की अनुवृत्ति होती है वह अभिन्न व्यपदेश का हेतु नही हो सकता। इसी आधार पर कार्य-द्रव्य भी यहा निमित नही हो सकता। उसमे भी भेद होता है। कारक भी निमित्त नही हो सकते। उनमे भी भेद की अनुवृत्ति होती है। अतः यहा विलक्षण परिच्छेद का जो निमित्त है वह काल है। जिस तरह से तुला-

ताम्र रजत स्वर्ण आदि द्रव्य की गुरुता को पल आदि के रूप में परिच्छिन्न करता है उसी तरह काल भी अपनी शक्ति की महिमा से क्रियासन्तान का चिर अचिर रूप में परिच्छेद करता है।

क्रिया भेद के परिच्छेदक होने के कारण ही काल हायन [संवत्सर] कहा जाता है। हायन का अर्थ है क्रिया को छोडना (जहाति क्रिया इति हायन)। हायन व्रीहि को भी कहते हैं क्योंकि व्रीहि भी सह अवस्थित उदक को छोड़ देता है। हरदत्त के अनुसार जांगल (कुरु जागल)[२५] देश के धान को हायन कहते हैं (जांगलदेशोद्भवा केचिद् व्रीहयो हायन इत्याहु :—पदमञ्जरी ३।१।१४८)। इसी दृष्टि से पाणिनि ने भी "हश्च व्रीहिकालयो" ३।१।१४८ सूत्र के द्वारा हायन शब्द की सिद्धि व्रीहि और काल दोनो अर्थ मे अभिव्यक्त की है।[२६] जिस तरह से सह अवस्थित जल से व्रीहि का उपकार होता है उसी तरह सहकारी क्रियाओ से काल भावों का उपकार करता है।

विश्वप्रपंच मूर्ति विवर्त के भीतर आ जाता है। इनका विवेचन पहले किया जा चुका है। इनमे मूर्ति के परिच्छेदक प्रमाण, परिमाण, उन्मान आदि हैं। दिष्टि, वितस्ति आदि एक दिग् विभाग के अवच्छेद से वस्तु के परिच्छेदक होते हैं। इन्हे प्रमाण कहते हैं। प्रस्थ, द्रोण, आढक आदि आरोह और परिणाह के द्वारा धान्य आदि के परिच्छेदक होते हैं। इन्हें परिमाण कहते है। निष्क, पल आदि सुवर्ण आदि के गुरुत्व के परिच्छेदक होते है। इन्हे उन्मान कहते है। ये सब मूर्तिभेद के लिये माने जाते है। परन्तु काल क्रिया का परिच्छेदक है। वह क्रिया के भेद के लिये है (क्रिया भेदाय कालस्तु)।[२७] सूर्य आदि ग्रहो की सचार क्रिया काल से मापी जाती है। उस माप को मास, सवत्सर आदि के द्वारा व्यक्त करते है। परिच्छेदक की दृष्टि से सख्या और काल मे यह भेद है कि काल केवल क्रिया का परिच्छेदक होता है जब कि सख्या मूर्त-अमूर्त सब की परिच्छेदिका है। जैसे द्वौ घटौ। बहव आत्मान। द्वे क्रिये। एका वितस्ति। द्वौ हस्तौ। चत्वार प्रस्था। पञ्च पलानि। सख्या संख्या की भी परिच्छेदिका है जैसे दो बीस (द्वे विंशती) पाँच पचास (पञ्च पञ्चाशत)।

सभी पदार्थो की उत्पत्ति, स्थिति और उनके विनाश देखे जाते हैं। पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति आदि का अलग अलग रूप काल के आधार पर ही सभव है। पदार्थ किसी न किसी काल मे उत्पन्न होते है, किसी न किसी काल मे स्थित होते है और किसी न किसी काल मे विनष्ट होते है। इसलिये जन्मादि अवस्था वाले पदार्थों का निमित्तकारण काल है। फलत जन्मादि क्रिया का परिच्छेदक है। यद्यपि वह एक है फिर भी उपाधिभेद से भेद प्राप्त करता है और ससर्गी क्रियाओ मे भेद करने मे

२५अ. कुरुजागल जनपद पृथूदक(वर्तमान पिहोवा)के दक्षिण पश्चिम में था। आज कल का हरियाना कुरुजांगल है। हासी, हिसार, फतेहाबाद, सिरसा आदि इसी में हैं।

२६. काशिकाकार ने काल के अर्थ में हायन शब्द की व्युत्पत्ति जिहीते से की है—जिहीते भावान् इति। इसकी व्याख्या हरदत्त ने यों की है—भावाः पदार्थाः तान जिहीते गच्छति परिच्छेदकत्वेन व्याप्नोतीत्यर्थः—पदमंजरी ३।१।१४८.

२७. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश २.

समर्थ होता है। मास आदि भेद व्यवहार और भूत आदि व्यपदेश संसर्गिसूर्यादि क्रिया के भेद से होते हैं।[२८]

जिस तरह से द्रव्य न तो शुक्ल है और न कृष्ण है फिर भी संसर्गि गुण के कारण शुक्ल और कृष्ण आदि रूप में व्यक्त होता है उसी तरह काल भी भेद-अभेद से अनिर्वाच्य है। उत्पत्ति आदि क्रिया के सम्बन्ध के कारण काल को उत्पत्तिकाल, स्थितिकाल, विनाशकाल जैसे भेद द्योतक शब्दों से व्यवहृत करते है। वस्तुत. भर्तृहरि के अनुसार भेद-अभेद, एकत्व-अनेकत्व, आदि किसी के भी स्वाभाविक नहीं होते। इसीलिये कहा है—"**न हि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात् गौः**" इति।[२९]

महाभाष्यकार ने काल की एक परिभाषा यो दी है—

येन मूर्तीनाम् उपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमित्याहुः।[३०] तरु, तृण, लता आदि का कभी उपचय देखा जाता है और कभी अपचय। पदार्थों के इस वृद्धि-ह्रास से काल का अनुमान होता है। उपचय और अपचय काल कृत हैं।[३१] उसी काल का किसी क्रिया से सम्बन्ध होने पर दिन और कभी रात्रि आदि नाम पडता है। वह क्रिया, भाष्यकार के अनुसार, आदित्यगति है। यद्यपि आख्यात से क्रिया की अभिव्यक्ति सदा निवृत्तभेद रूप मे ही होती है और इसलिये क्रिया एक मानी जाती है फिर भी आदित्य आदि साधन भेद से क्रिया भिन्न भिन्न ही होती है। काल का उपर्युक्त स्वरूप भी 'काल क्रिया का भेदक है' इस पक्ष की परिपुष्टि करता है।

परन्तु नागेश इस मत से सहमत नही है। उनके मत मे काल को क्रिया का भेदक मानने पर क्रिया मे क्षण—उपाधि सभव नही है। उत्तरदेश-सयोगावच्छिन्न क्रिया को मानने पर भी क्रिया के विशेषण विशेष्य और सम्बन्ध रूप मे होने के कारण तीनो के स्थिर रहने के कारण उसके लिये क्षण का व्यवहार असभव है। नागेश ने 'क्रिया ही काल है' इस पक्ष मे भी यह दोष दिखाया है। साथ ही प्रसिद्धपरिणामा क्रिया को काल मानने में नागेश के अनुसार अनवस्था भी है। यदि क्रिया से काल को अतिरिक्त माना जाय तब भी काल को अखण्ड न मान कर उसे क्षण पदार्थ के रूप मे मानना चाहिये। क्षणों के प्रचय से मुहूर्त आदि व्यवहार की उपपत्ति हो जायगी :

आद्यपक्षे क्षणोपाधेर्निर्वक्तुमशक्यत्वम्। उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नक्रियेति चेत् तस्या विशेष्यविशेषणसम्बन्धरूपत्वे त्रयाणामपि स्थिरत्वात् क्षणव्यवहारनिया-

---

२८. वाक्यपदीय ३. कालसमुद्देश ३.

२९. मम्मट के अनुसार यह वाक्य वाक्यपदीय का है। परन्तु अब तक की प्रकाशित वृत्ति में यह वाक्य नहीं है। इसे कहीं न कहीं होना चाहिए। इस वाक्य का उल्लेख हेलाराज ने सम्बन्ध-समुद्देश ५२ की टीका में किया है।

३०. महाभाष्य २।२।५.

३१. इस मत को भर्तृहरि ने निम्नलिखित कारिका में व्यक्त किया है—
मूर्तीनां तेन भिन्नानामाचयापचयाः पृथक्।
लक्ष्यन्ते परिणामेन सर्वासां भेदयोगिना॥ कालसमुद्देश १३.

सकस्याभाव:। अतिरिक्तत्वे सिद्धोऽतिरिक्त:क्षणपदार्थ इति तत् प्रचयैरेव कलामुहूर्तादिव्यवहारोपपत्तौ किमखण्डेन तेन।

·········किंच प्रसिद्धपरिमाणेत्युक्तिरसंगता, तस्या अपि क्रियान्तरस्यैव परिच्छेदकत्वे अनवस्थापत्तिरितिदिक्।[32]

नागेश ने क्षण-प्रवाह को ही काल माना है और अर्वाचीन साख्य-आचार्यों के शब्दतन्मात्रा के परिणाम वाले वाद का भी समर्थन किया है·

प्रकृतेः परिणामस्य विवर्तस्य वातिमङ्गुरस्य विभोः क्षणस्य धारायाः कालत्वात्।·········यद्वा शब्दतन्मात्रापरिणाम एव विभवत् काल।[33]

स्पष्ट ही नागेश योग-दर्शन और साख्य-दर्शन के मत से प्रभावित हैं। उनकी काल सम्बन्धी मान्यता व्याकरण-सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध मान्यता के विरुद्ध हैं। अपने मत के अनुकूल उन्होने भाष्य के वक्तव्यो का तोड-मरोड कर अर्थ किया है। नागेश की उपर्युक्त समीक्षा भी सार-हीन है। क्योकि नागेश ने क्षण की सत्ता पहले से मान ली है। वस्तुत क्षण भी क्रिया-सन्तान के भीतर है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है क्रिया-भेद के लिये काल की सहायता अनिवार्य है। व्याकरण की दृष्टि से अस्ति, अभूत्, भविष्यति इन क्रिया रूपो को विना काल के आश्रय के समझाया ही नही जा सकता।

भर्तृहरि का काल-दर्शन

काल स्वातंत्र्य-शक्ति है

भर्तृहरि के मत मे काल शक्तिविशेष है।

स्वातन्त्र्य शक्ति को काल कहते है।

स्वातन्त्र्य रूप काल-शक्ति के आश्रय से जन्मादि षड्भावविकार विश्व के विकास मे सहायक होते हैं। काल-शक्ति लोकयत्र का सूत्रधार है। काल विश्वात्मा है—**काल एव हि विश्वात्मा व्यापार इति कथ्यते।**[34] भर्तृहरि के अनुसार सत्य भाव परमब्रह्म है। उसमें नानाशक्ति योग समाविष्ट है। उस शक्ति योग द्वारा भावो की कला को वह बिखेरता है (कालयति) इसलिये उसे काल कहते हैं। अपनी कर्तृशक्ति के कारण काल शक्ति को स्वातन्त्र्यशक्ति कहते है।[35] हेलाराज ने भर्तृहरि के काल-विचार का निष्कर्ष दो वार स्वातन्त्र्यशक्ति के रूप मे व्यक्त किया है —

---

३२. महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।२।८४ और मंजूषा, पृष्ठ ८४७.
३३. मंजूषा, पृष्ठ ८३९, ८४०.
३४. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश १२
३५. वही, १४

अतएव स्वातंत्र्यशक्तिः काल इति वाक्यपदीये सिद्धान्तितम् ।[36]

तथा

कालाख्या स्वातंत्र्यशक्तिर्ब्रह्मण इति तत्रभवद्भर्तृहरेरभिप्रायः ।[37]

भर्तृहरि ने स्वय भी काल का स्वातंत्र्यशक्ति के रूप मे उल्लेख किया है .—

कालाख्येन हि स्वातंत्र्येण सर्वा परतन्त्रा जन्मवत्यः शक्तयः समाविष्टाः कालशक्तिवृत्तिमनुपतन्ति। ततश्च प्रतिभावं वैश्वरूपस्य प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां शक्त्यवच्छेदेन क्रमवानिवावभासोपगमो लक्ष्यते। सर्वेषा हि विकाराणां कारणान्तरेष्वप्यपेक्षावतां प्रतिबन्धजन्मनामाभ्यनुज्ञयासहकारिकारणकालः।

—वाक्यपदीय १।३ हरिवृत्त, लाहौर संस्करण.

भर्तृहरि के अनुसार कालशक्ति की सहकारिणी कई अवान्तर शक्तियाँ है। वाक्यपदीय मे प्रतिबन्धशक्ति, अभ्यनुज्ञाशक्ति, क्रमशक्ति, समवायशक्ति और जराख्याशक्ति का उल्लेख है। इनमे प्रथम दो महत्वपूर्ण है।

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा शक्ति

किसी क्रिया के साधनशक्तियो के व्यापार का विघात प्रतिबन्ध है और इसके विपरीत अभ्यनुज्ञा है। कोई शक्ति प्रतिबन्ध करती है और कोई प्रतिबन्ध को हटाती है। ये व्यापार सर्वत्र होते हैं। जैसे किसी एक वृक्ष मे पहले किसलय की अभ्यनुज्ञा और पल्लव का प्रतिबन्ध होता है। पुन किसलय का प्रतिबन्ध और पल्लव की अभ्यनुज्ञा होती है। भावो का स्थगन और उन्मज्जन, जन्म और नाश इन दो शक्तियों से परिचालित हैं। पौर्वापर्य का ज्ञान इन्ही शक्तियो की क्रिया है। काल प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के द्वारा विश्व को विभक्त करता है।

भर्तृहरिके अनुसार यदि प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा अपने व्यापार न करे तो भावों की युगपत् उत्पत्ति होने लगे, बीज, अंकुर, नाल, काण्ड आदि मे पौर्वापर्य क्रम विच्छिन्न हो जाय और सर्वत्र सांकर्य छा जाय।[38] सर्ग, स्थिति और प्रलय भी कालकृत प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के वश से होते हैं।

अतीत और अनागत भी क्रमश प्रतिबध और अभ्यनुज्ञा के ही पर्याय हैं।

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा मे विरोध नही है। दोनो एक ही शक्ति से परिचालित है। वाक्यपदीयकार ने इसे स्पष्ट करने के लिये शकुन्त-तन्तु का उदाहरण दिया है। पहले कभी ऐसा होता था कि बहेलिये किसी छोटे पक्षी को सूत्र मे बाँध देते थे। यथावसर उन्हें उड़ाते थे फिर सूत्र खीच लेते थे। पक्षी उतनी ही दूर तक उड सकते थे जितनी सूत की लम्बाई होती थी। उनका उडना और उनका पुन वापस आना सूत

---

३६. हेलाराज वही

३७. हेलाराज, वाक्यपदीय कालसमुद्देश ६२.

३८. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ६.

के विस्तार और संकोच पर निर्भर था। बहेलिये बड़े पक्षी को फँसाने के लिये इस तरह के व्यापार करते थे। सूत्र के विस्तार की तरह अभ्यनुज्ञा शक्ति है और सूत्र के सँकोच की तरह प्रतिबन्ध शक्ति है। दोनो का नियन्ता काल है। हेमन्त से जो साधन-शक्ति को कुंठित करता है वही वसन्त से उन्हें उद्भूत भी करता है। काल सूत्र से बंधे हुए सभी पदार्थ सकोच विकास, उत्पत्ति और ध्वस का अनुभव करते हैं। काल रूपी प्रसेवक (बोरे) के भीतर सम्पूर्ण विश्व पड़ा हुआ है। वह उसमे उगता है, विकसित होता है और विनष्ट भी होता है।

जराख्याशक्ति

जराख्या शक्ति प्रतिबन्ध शक्ति का ही एक रूप है। भर्तृहरि ने लोक से इसे विचार-क्षेत्र मे ले लिया है। चर-अचर सब के यौवन को कुण्ठित करने वाली जरा शक्ति-विघातक मानी जाती है और शक्ति-विरोधी दूसरे जरा-जन्य दोष का कारण होती है—

> जराख्या काल शक्तिर्या शक्त्यन्तर विरोधिनी।
> सा शक्ति प्रतिबध्नाति जायन्ते च विरोधिनः ॥[३९]

स्थिति भाग [जन्म के बाद वाली दूसरी अवस्था] के हेतु जरा शक्ति के आगमन से हटने लगते है और भावो मे कार्यकारिता शक्ति प्रक्षीण होने लगती है।

क्रम शक्ति

क्रमाख्या शक्ति उस शक्ति को कहते है जिनके आधार से उपसहृत वस्तु अपने अवयवो मे फिर से अभिव्यक्त होती है। भर्तृहरि ने क्रमशक्ति का उल्लेख शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के प्रसग मे भी किया है। अन्त करणस्थ शब्द मे उसके विभाग प्रत्यस्तमित रहते है, लीन रहते हैं। विवक्षा होने पर उस अन्त शब्द मे पद वाक्य आदि के विवर्त के रूप में प्रत्येक अवयवो का विकास होता है परन्तु वह क्रम से ही होता है। अवयवो का क्रम से अवभास होना ही क्रमाख्या शक्ति का काम है। क्रम से उदय और क्रम से प्रत्यस्त होना दोनो ही उसकी किया है। वस्तुत क्रम क्रिया का धर्म है—

> क्रमाख्यां शक्तिम्। यतस्तेऽवयवाः क्रमेणावभासमुपगच्छन्ति।
> तेषामवयवानां च क्रमेणोदयप्रत्यस्तमयप्रत्यवभासः संहारस्य क्रिया।[४०]

भर्तृहरि ने इस क्रमशक्ति को काल की मीमासा मे भी अपनाया है। काल विश्वात्मा है। उससे विश्व का विकास होता है। वह विकास भी क्रम शक्ति के

---

३९. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश २४.
४०. वृषभ, वाक्यपदीय १।५२ टीका, लाहौर संस्करण.

आधार पर होता है। काल की शाश्वत वृत्ति प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा से लक्षित होती है। काल वृत्ति से विश्व अवयवो मे विभक्त होता है। वह विभाग क्रमिक होता है। क्रम मुख्यतः क्रिया का धर्म है पर क्रिया भी काल के सम्बन्ध से ही अपना स्वरूप पाती है। इसलिए काल मे भी क्रम है। भाव सतत परिणामी हैं। उनमें सदा परिवर्तन होता रहता है। उस परिवर्तन का आधार भी क्रम ही है। काल ही क्रम का रूप धारण कर लेता है—

प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य शाश्वती।
तया विभज्यमानोऽसौ भजते क्रमरूपताम् ॥[४१]

अदृष्टवश से परमाणुओं मे क्रिया उत्पन्न होती है। परमाणुओ के परस्पर मिलन से द्वणुक आदि बनते हैं और उनके द्वारा सभी पदार्थ स्वरूप प्राप्त करते हैं। इन सभी व्यापारो मे क्रमाख्य काल शक्ति का हाथ रहता है—"**अत्र च सर्वत्र क्रमाख्या कालशक्तिः स व्यापारेऽभ्यनुज्ञेयम्।**"[४२] कुछ लोग मानते है कि विश्व अपने मूल रूप मे अक्रम है। वह ब्रह्म का विवर्त है। काल ब्रह्म की शक्ति है। वह अविद्या का सहकारी है। अविद्या के कारण अक्रम क्रमवान-सा होने लगता है। क्रम के अध्यास से ही कालभेद का ज्ञान होता है। फलत: क्रम को ही काल कहते हैं। निमेष आदि भी सूक्ष्म क्रम रूप काल से परिच्छिन्न हैं। अत सभी भावो मे क्रमाख्या कालशक्ति सूक्ष्म रूप से अनुस्यूत है। सभी प्रकार के सवित् क्रम से अनुप्रमाणित रहते हैं। पश्यन्ती स्वरूप सवित् क्रम का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्त होता है—

अक्रमा हि पश्यन्ती रूपा संवित् प्राणवृत्तिमुपारूढा कालात्मना परिगृहीतक्रमेव चकास्तीति कृतनिर्णयं वाक्यपदीये शब्दप्रभायामस्माभि·।

—हेलाराज, कालसमुद्देश ६२

समवाय शक्ति

काल के प्रसग मे समवाय शक्ति जन्मादि क्रिया के विश्लेषण में व्यवहृत हुई है। समवाय शक्ति वह शक्ति है जो कारण और कार्य के भेद को तिरोहित करती है। इस शक्ति के साहचर्य से कारण और कार्य अभिन्न से लगने लगते हैं। भर्तृहरि के अनुसार विशिष्ट काल के सम्बन्ध से परिपाकप्राप्त शक्तियो मे नित्य क्रिया अभिव्यक्त होती है। सामान्यभूत प्रवृत्ति क्रिया है। परमाणुओ मे कार्यजनक शक्ति के अभिमुख होने से परस्पर सश्लेष होता है अथवा मूल तत्त्व मे प्रेरणामय कर्म विशेष अभिव्यक्त होता है। उससे किसी अद्भुत शक्ति के द्वारा फल की अभिव्यक्ति होती है। फल व्यक्ति (कार्य) और उसके कारण मे एकत्व की सी बुद्धि समवाय शक्ति से होती है—

---

४१. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ३०.
४२. हेलाराज, वाक्यपदीय, कालसमुद्देश २०.

ततस्तु समवायाख्या शक्तिर्भेदस्य बाधिका ।
एकत्वमिव ता व्यक्तीरापादयति कारणैः ॥[४३]

इन सब व्यापारों से जन्म की अभिव्यक्ति होती है और जन्म भी काल का ही व्यापार है । इसी तरह से स्थिति भी काल परतन्त्र है । ये सब काल की अभ्यनुज्ञा-शक्ति के भीतर आ जाते हैं ।

उपर्युक्त सभी शक्तिया स्वातन्त्र्यशक्ति रूप काल की ही शाखायें हैं ।

स्वातंत्र्यशक्ति और कर्तृशक्ति

भर्तृहरि ने स्वातन्त्र्य शक्ति और कर्तृशक्ति में कोई भेद नही माना है । ब्रह्म की कर्तृशक्ति क्रम रूप पाकर काल शक्ति के रूप मे व्यक्त होती है—

अध्याहितकलां (अव्याहता कलाः) यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः । तस्य क्रमवद्भिः मात्राकर्षैः कर्तृशक्तिः प्रविभज्यमाना विकार-मात्रागतं भेदरूपं तत्राध्यारोपयति । —वाक्यपदीय १-३, हरिवृत्ति.

वृषभ ने भी स्वातन्त्र्य को कर्तृशक्ति के रूप मे ग्रहण किया है :—

(स्वातंत्र्य कर्तृशक्तिः । पदार्थनिष्पादनोपसंहारयोग्या कर्तृशक्तिः) ।[४४]

भर्तृहरि का कालदर्शन और कश्मीर शैवागम में काल

भर्तृहरि की काल शक्ति की कल्पना कश्मीर शैवागम मे गृहीत काल स्वरूप से बहुत दूर तक मेल खाती है । भर्तृहरि जिस तरह से काल को द्रव्य नही मानते उसी तरह शैवागम में भी काल द्रव्य नही है । भर्तृहरि जिस तरह क्रम को काल का धर्म मानते हैं उसी तरह शैवागम मे भी क्रम को क्रिया का सर्वस्व फलत; काल का आधार माना गया है । क्रम को आभासित करने वाली भगवान् की शक्ति काल शक्ति है । वैयाकरणों की तरह कश्मीर शैवागम मे भी सूर्यादिसंचार रूप प्रसिद्ध परिणाम वाली क्रिया को अन्य अप्रसिद्ध क्रियाओ का परिच्छेदक माना गया है और भावो के अवच्छेदक होने के कारण उसे काल माना गया है । इस मत मे अनवस्था दोष, जैसा कि नागेश ने बताया है, बताना ठीक नही है । अभिनव गुप्त ने अनवस्था दोष का परिहार कनक-प्रतिवर्तक के दृष्टान्त से किया है । प्रतिवर्तक (सोने को नापने के लिए सोने की ही मासे जैसी वस्तु) से सोना नापा जाता है । एक मासे स्वर्ण का जो परिच्छिन्न रूप है वह स्वर्ण के रूप से भिन्न नही है । मासे (प्रतिवर्तक) मे जो स्वर्ण है वह उपलक्षण-मात्र है न कि प्रतिवर्तकगत स्वर्ण परिच्छेद्य स्वर्ण मे जाकर मिलता है अथवा आक्रान्त होता है । इसी तरह सूर्यादिसंचार की क्रिया उपलक्षण रूप मे है । वसन्त काल मे क्रम के दर्शन कोरक, मुकुल पिक-स्वर आदि विचित्र परिवर्तनो में हो सकते हैं, सूर्य की गति तो उपलक्षण मात्र है । फलतः अन्योन्याश्रय और अनवस्था जैसे दोष प्रसिद्ध

---

४३. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश १८.

४४. वाक्यपदीय टीका १।१ पृष्ठ ११ लाहौर संस्करण.

या नियत परिणाम वाली क्रिया के पक्ष मे नहीं सम्भव है (**अनवस्थादि च कनक-प्रतिबलंकवृत्तान्तेन कृतसमाधानमेव**) ।[४५] सूर्यादिगत जो नियत स्वभाव भेद है वह क्रम है और वही काल है। अभिनवगुप्त के अनुसार सभी दर्शनों के कालस्वरूप का अन्तर्भाव क्रम-दर्शन मे हो जाता है। वैशेषिको का द्रव्य रूप काल परत्व अपरत्व आदि के द्वारा क्रम मय है। सांख्य दर्शन मे काल रजः स्वभाव है और रजोगुण प्रवर्तक के रूप मे क्रम मय ही है। वैयाकरणो का काल-स्वरूप नित्य अनाश्रित ? (आश्रित) प्रवृत्ति स्वभाव है और प्रवृत्ति क्रमाश्रित होती है। बौद्धो का भी सन्तान प्रवाहमय काल क्रम से सर्वथा रहित नही है—

> **तेन सूर्यसंचारादिभिः योऽन्यो लक्ष्यते प्रवहण धर्मा···चिरक्षीप्रतायसंकीर्ण-भावस्वभावोत्थापको वैशेषिकाणां द्रव्यरूपः, कापिलानां रजःस्वभाव. प्रवर्तना त्मकत्वात्, वैयाकरणानां नित्यानाश्रितप्रवृत्तिस्वभावः, सौगतानां सन्तन्यमान-भावैकपरमार्थ., सोऽपि वस्तुतः क्रमरूपतां न प्रतिक्रामतीति क्रम एव नाम बहिः काल इति व्यवहृयते ।**
>
> —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तृतीयभाग, पृ० ५

भर्तृहरि की स्वातन्त्र्य शक्ति और कश्मीर शैवागम मे गृहीत स्वातन्त्र्य शक्ति भी समान है। दोनो दर्शनो मे वह काल का दूसरा नाम है। एक मे वह ब्रह्म की शक्ति है और दूसरे मे परमेश्वर की।

शैवागम मे भगवान् की इच्छाशक्ति का नाम स्वातन्त्र्य शक्ति है। (स्वतत्र इनि तस्येच्छा शक्ति· स्वातन्त्र्यसज्ञिता)[४६]। "प्रकाश" और "विमर्श" भी स्वतन्त्र के रूप मे गृहीत होते हैं। शैवागम मे प्रकाश ज्ञान का और विमर्श क्रिया का प्रतीक है। स्वातन्त्र्य शक्ति भगवान् की कर्तृशक्ति है। भगवान् मे जब अपने आपको अथवा अपने अन्तर्व्यवस्थित चिन्मात्र रूप भाव जगत् को अवभासित करने की इच्छा होती है, भगवान् की कर्तृ शक्ति, निर्माण करने वाली माया शक्ति के सम्बन्ध से काल-क्रम के रूप मे अवभासित होते लगती है। अपने आप को इस तरह से प्रकाशित करने की परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति कालोत्थापक होने के कारण उसकी काल शक्ति कही जाती है। वही स्वातत्र्य शक्ति प्रमातृ प्रमेय आदि रूप मे क्रिया के आधार से विस्तार पाती है। क्रिया प्रधान रूप से प्रतिभासित होती हुई भी काल शक्ति से अनुविद्ध होती है। सर्वथा काल शक्ति स्वातन्त्र्य शक्ति का ही रूप है .

> **···यस्याः परमेश्वरस्वातंत्र्यशक्ते., सा कालोत्थापकत्वात् भगवतः कालशक्ति-रिति उच्यते, अव्याहतकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता इत्यादौ ।**[४७]

अभिनवगुप्त ने यहा स्वातन्त्र्य शक्ति के सम्बन्ध मे अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिये वाक्यपदीय की कारिका उद्धृत की है। यह इस बात का प्रमाण है कि दोनो दर्शनो

४५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तृतीय भाग, पृष्ठ ५.

४६. अभिनवगुप्त, मालिनीविजय वार्तिक ८७.

४७. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृतिविमर्शिनी द्वितीय भाग, पृष्ठ ८.

में काल का स्वरूप एक सा है और स्वातन्त्र्य शक्ति भी एक सी है।

भर्तृहरि के स्वातन्त्र्यशक्ति मे और शैवागमगृहीत स्वातन्त्र्य शक्ति में यदि अन्तर है तो यह कि शैवागम मे स्वातन्त्र्यशक्ति कई विभिन्न रूपो में उपचरित है जब कि भर्तृहरि ने इस पर विशेष चर्चा नही की है और उसका स्वरूप भी अपेक्षाकृत सीमित है। दूसरा अन्तर यह है कि शैवागम मे स्वातन्त्र्यशक्ति का सम्बन्ध परावाक् से है—

> **चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता**
> **स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥**[४८]

जब कि भर्तृहरि परावाक् की सत्ता स्वीकार नही करते। यदि वाक् से स्वातन्त्र्यशक्तिरूप काल का सम्बन्ध जोडा भी जाय तो पश्यन्ती के साथ जोडना उचित होगा जैसा कि हेलाराज ने किया है

> **अक्रमा हि पश्यन्तीरूपा संवित् प्राणवृत्तिमुपारूढा कालात्मना परिगृहीतक्रमेव चकास्ति।**[४९]

स्वातन्त्र्य शक्ति का मूल स्रोत क्या है ? महाभाष्य मे स्वातन्त्र्य शक्ति जैसी किसी शक्ति का सकेत नही है। शैवागम के जितने लेखक सप्रति ज्ञात है वे सब भर्तृहरि के बाद हुए है। परन्तु यह कल्पना किसी न किसी आगम की ही जान पडती है। बहुत सभव है शैवागम की परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन हो। भर्तृहरि आगमो से अधिक प्रभावित थे और व्याकरणदर्शन को भी आगम मानते थे।

कुछ लोग स्वातन्त्र्यशक्ति का मूल उद्भावक पाणिनि को मानते है।[५०] उनके मतव्य का आधार पाणिनि का "स्वतन्त्रः कर्त्ता" १-४-५४ यह सूत्र है। स्वतन्त्र शब्द से अपने आपका प्राधान्य अभिव्यक्त होता है (**स्व आत्मा तंत्रं प्रधानं यस्य स स्वतंत्र उच्यते। महाभाष्यप्रदीप १।४।५४**)। स्वातन्त्र्य शक्ति मे भी अपनी इच्छा का अविघात और आत्म प्राधान्य है। फिर भी व्याकरण सप्रदाय मे कर्त्ता के स्वातन्त्र्य को न तो शक्ति के रूप मे ग्रहण किया गया है और न उसका सम्बन्ध काल से जोडा गया है। स्वय भर्तृहरि ने भी स्वतन्त्र कर्त्ता की व्याख्या मे स्वातन्त्र्यशक्ति का संकेत नही किया है। स्वय पाणिनि ने स्वातन्त्र्य को प्रयोजक हेतु के अर्थ मे भी लिया है और कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८ जैसे सूत्रो मे उसे साधन के रूप मे भी व्यवहृत किया है।

काल एक, नित्य और विभु

काल व्यापक है। पर-अपर, चिर-क्षिप्र आदि का ज्ञान सब को सब देश मे समान होता

४८. वही, पृष्ठ १८७.
४९. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ६२ की टीका.
५०. डा० के० सी० पाण्डेय, एन हिस्टारिकल एण्ड फिलासफीकल स्टडी आफ अभिनवगुप्त, पृष्ठ २०३, २०४.

है इससे काल की व्यापकता स्पष्ट है। काल अमूर्त है। अकृतक है। अतः नित्य है। वह एक है। उसमे भेद कल्पित है।

महाभाष्यकार ने काल को नित्य माना है (**नित्ये हि कालनक्षत्रे—महाभाष्य** ४।२।३)। काल को नित्य और एक मानने मे एक कठिनाई सामने रखी गई थी। पाणिनि ने ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुत १।२।२७ इस सूत्र मे कालभेद का सकेत किया है। महाभाष्यकार ने भी द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता वृत्तियो के सम्बन्ध मे काल-भेद का उल्लेख किया है।[५१] ह्रस्व के उच्चारण मे नालिकायन्त्र से जलबिन्दु अल्पमात्रा में चूते हैं, दीर्घ के उच्चारण मे उससे अधिक और प्लुत के उच्चारण मे उससे भी अधिक चूते हैं। इनमे ६: १२. १६ पानीयपल का आनुपातिक सम्बन्ध माना जाता है। अब यदि काल के काल्पनिक भेद के आधार पर ह्रस्व आदि मे भेद की कल्पना की जाय तो यह उचित नही है। क्योकि सलिल-स्रुति की यथार्थ सत्ता है, एक कल्पित वस्तु का यथार्थ वस्तु से अन्वय सभव नही है। भाव यह है कि कल्पना के आधार पर ह्रस्व आदि मे काल्पनिक भेद मानने पर जल-स्रुति के प्रकर्ष को, एक की अपेक्षा दूसरे मे अधिक पानीयपल के चूने को—समझाना कठिन हो जायगा। जो लोग शब्द को नित्य मानते है वे ह्रस्व आदि मे काल्पनिक भेद ही स्वीकार करते है। जिस तरह "यह शीघ्र किया" "यह देर में किया" इन दोनो ज्ञान के समानकाल वाले होने पर भी विषयगत विस्तार अथवा अविस्तार के आधार पर काल-भेद प्रतिभासित होता है, उसी तरह मे शब्द के नित्य होने के कारण समानकाल होने पर ह्रस्व आदि में कालभेद उपचरित होता है। अब कालभेद उपचरित मानने पर ह्रस्व आदि के उच्चारण समय जो पानीयपलो मे अन्तर देखा जाता है वह नही होना चाहिये। पर होता है। इससे जान पडता है कि ह्रस्व आदि स्वभावत भिन्न-भिन्न काल वाले है। फलत शब्द की नित्यता मे व्याघात पहुँचता है। इस कठिनाई का समाधान भर्तृहरि ने किया है। उनके अनुसार शब्द का तत्त्व अभिन्न है, वह प्रचित या अपचित नही होता। अभिव्यक्त के निमित ध्वनिकृत कालभेद उसमे आभासित होता है। प्राकृत ध्वनिया स्वगत कालभेद को शब्द मे भी प्रतिबिम्बित करती है। अर्थात् व्यंजक का धर्म व्यग्य मे जान पडता है। फलत कालभेद से सलिलस्रुति मे भी उपचय अप-चय का ज्ञान-भेद जान पडेगा ही। इससे शब्द की नित्यता मे बाधा नही पडती। वैकृतध्वनि जनित भेद शब्द का भेदक नही होता। ह्रस्व, दीर्घ आदि शब्दधर्म सर्वथा व्यंजकाधीन है—

> **वैकृतध्वनिजनितस्तु वृत्तिभेदो न भेदक इति निर्णीतमेव पूर्वकाण्डे। वक्ष्यते चाग्रे "सर्वश्च ह्रस्वदीर्घानुनासिकत्वादि धर्मव्रातः शब्दात्मनि व्यजकाधीन" इति।**[५२]

सर्वथा काल भेद औपाधिक है। नालिका यंत्र की जल-स्रुति ही काल नही

---

५१. कि पुनः कारणं न सिध्यति। कालभेदात्—महाभाष्य १।१।७०.
५२. हेलाराज द्वारा, कालसमुद्देश ६५ की टीका में भर्तृहरि के वाक्य के रूप में उद्धृत।

है। काल उसका परिच्छेदक है। जल-स्रुति का परिच्छेद निमेष के व्यापार से अथवा प्राण-संचार से अथवा बुद्धि क्षण-सन्तान से सम्भव है। वह परिच्छिन्न होकर दूसरे कालों के परिच्छेद में समर्थ होता है। नालिका के अल्पछिद्र से जल देर में गिरता है और बड़े छिद्र से शीघ्र ही गिर जाता है। इससे दीर्घकाल और अल्पकाल का परिज्ञान अवश्य होता है परन्तु इससे काल की अभिन्नता खण्डित नहीं होती।[५३] भर्तृहरि ने लता, तरु आदि पदार्थों की वृद्धि और ह्रास के साथ अपने आप मे भेद की विचित्रता प्रकट करने की काल की इच्छा को "आक्रीड" (खेल) कहा है। जिस तरह से राह चलने वाले के गति-भेद से मार्ग मे भेद नही होता और न उसके रुक जाने से राह समाप्त हो जाता है उसी तरह क्रिया आदि के भेद से काल के स्वरूप मे भेद नहीं होता। जिस तरह मार्ग का दूर होना या समीप होना चलने वाले की गति पर निर्भर है न कि स्वभावत: मार्ग भेद है उसी तरह दीर्घकाल या अल्पकाल क्रिया-सन्तान की दीर्घता या अल्पता पर निर्भर है। स्वभावत काल मार्ग की तरह अभिन्न है। दिन बीत गया, रात चली गई, वसन्त नही रहा आदि भाव क्रिया के शान्तभाव (उपरम) के द्योतक हैं न कि काल के उपरम का। जिस तरह से एक व्यक्ति को क्रिया भेद के कारण कभी बढई कहते हैं और कभी उसे लोहार कहते हैं उसी तरह विशेष पुष्प, फल आदि को उत्पन्न करने वाली क्रिया के भेद से वसन्त आदि नाम काल के पडते हैं। काल नित्य और एक है।

परन्तु नागेश भट्ट काल के एकत्व के पक्ष से सहमत नही है। काल के एकत्व स्वीकार करने पर, उनके मत से, काल मे कार्य-वैचित्र्यनियामकता सिद्ध नही हो सकती—

वस्तुतस्तु एकत्वे तस्य कार्यवैचित्र्यनियामकत्वानुपपत्तिः

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।२।५

नागेश काल की नित्यता भी नही मानते। काल का कार्य के अधिकरण के रूप मे व्यवहार होता है। परन्तु काल मे अपरिच्छिन्न सूर्यादि क्रिया के द्वारा उपाधित्व संभव नही है और यदि सूर्यादि क्रिया को किसी दूसरी क्रिया से परिच्छिन्न मानेंगे तो अनवस्था दोष आ जायगा। अत: काल नित्य अखण्ड या विभु नही हो सकता।[५४] यदि काल को नित्य माना भी जाय तो प्रवाह नित्यता के रूप मे ही नित्य माना जा सकता है और यदि उसे एक कहा जाय तो समूह के रूप मे ही।[५५]

नागेश के ये दोनो मन्तव्य चिन्त्य हैं। ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जन्म, स्थिति और लय तीनो अवस्थाएँ काल कृत हैं। क्रम काल का धर्म है और सभी वैचित्र्य क्रमाश्रित हैं।

अनवस्थादोष का निराकरण अभिनवगुप्त के आधार पर कनक-प्रतिवर्तक-

५३. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ७१.

५४ मंजूषा ८४८.

५५. नित्यः प्रवाहनित्यतया। एकः समूहरूपेण। महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।२।५ पृष्ठ १६६.

न्याय से पहले किया जा चुका है। सूर्य गति के अतिरिक्त क्रिया की इयत्ता के परिचायक निमेष व्यापार, प्राणप्रवाह, बुद्धिक्षण आदि हैं। सूर्यादि संचार भी लोक में दिन-रात के रूप में निश्चित परिमाण के रूप में प्रसिद्ध हैं।

भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से काल को नित्य माना है—

न नित्यः परमात्मभिः कालो भेदमिहार्हति

—वाक्यपदीय, २।२४

भर्तृहरि के अनुसार काल शक्ति प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के आधार पर पर-अपर की पहचान कराती है (**कालाख्या हि कर्तृशक्तिः कार्येष्वेव प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां पौर्वापर्यं प्रकल्पयति—वाक्यपदीय** २।२२ **हरिवृत्ति**)। यदि काल नित्य है तो उसमें पौर्वापर्य सम्भव कैसे है? इसके उत्तर मे भर्तृहरि का कहना है कि वह काल शक्ति की महिमा है कि एक होते हुए भी क्रम के रूप में प्रतिभासित होती है। यहां भर्तृहरि ने बौद्ध-दर्शन और वेदान्तदर्शन की क्रम-मीमासा का उल्लेख किया है। बौद्ध-दर्शन मे बुद्धिलक्षण अक्रम है। उसमे सब का विरुद्ध रूप भी अविरुद्ध रूप में प्रतिभासित होता है, क्रम एकत्व का अतिक्रमण नही करता। वेदान्त की दृष्टि से विश्वात्मा एक है, क्रम का अवभास उसके एकत्व का व्याघातक नही होता—

> **क्रमप्रत्ययवभासत्वम् एकत्वानतिक्रमेण अक्रमे बुद्धिलक्षणे क्षणिकवादिनः सर्वस्य विरुद्धरूपमिवाविरुद्धं भवति। त्र्यन्तविदां तु विश्वात्मन्येकत्वानतिक्रमेण क्रमप्रत्ययवभासत्वं भवति।**

—वाक्यपदीय, २।२२ हरिवृति, लाहौर संस्करण

भर्तृहरि ने इस प्रसग मे एक ऐसे दर्शन का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार मात्रा भेद के आधार पर काल भेद सम्भव नही है क्योकि मात्राओं की सत्ता उदय-अस्तमयी है, वे स्वय असत् सी है और उनके अभाव मानने पर क्रम भी, जो मात्राओ के परिणाम पर निर्भर करता है, सभव नही है। इस दर्शन के अनुसार विश्व की मात्रा, परिणाम जन्यभेद, अनित्य है, पूर्व का अपर के साथ कोई सम्बन्ध नही है। सब कुछ एक दूसरे से असस्पृष्ट है। पूर्व और अपर भी निरुपाख्य हैं। इनमे सम्बन्ध अहंकार द्वारा होता है जो पूर्व और अपर का परामर्श सा करता है। सूक्ष्म (अपकर्षपर्यन्त), अभेद्य और परिमाणभेदरहित होते हुए भी पूर्वापर का सम्बन्ध मिथ्या-अभ्यासवश अबुध व्यक्ति को दीर्घ-सा जान पडता है। इस दर्शन के अनुसार सभी व्यवहार एक धर्म से आबद्ध, एक धर्म मे प्रतिष्ठित और अभिन्न काल वाले होते है। मात्राभेद असत् हैं। असत् का असत् से अथवा असत् का सत् से सम्बन्ध में कोई क्रम नही होना। खरहे की सींग का ऊँट की सींग के साथ में अथवा हिमालय के साथ मे कोई क्रम नही होता.

> **तदेतस्मिन् पक्षे एकधर्मावबद्धेषु एकधर्मप्रतिष्ठितेषु अभिन्नकालेषु सर्वव्यवहारेषु कीदृश. सतामत्यन्तासतां च मात्राभेदानांक्रम'। न हि**

सत्यविन्ध्यस्योच्छ्रविधानेन हिमवता वा कश्चिदपि क्रमो विद्यते ।

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।२४

इस दर्शन के अनुसार, किसी एक अर्थ का समानकालिक अथवा भिन्न-कालिक व्यापार के साथ भी क्रम-सम्बन्ध नही होता । क्रम की संभावना न देखकर और कोई दूसरा उपाय न पाकर, एक व्यावहारिक क्रम मान लिया जाता है । मूर्तियों का जो परिमाण भेद है वही भेद है। उसके अतिरिक्त कोई कल्पित परिमाण भेद नही है । इस मत के अनुसार, सह उत्पन्न सभी भाव काल, मन्वतर अथवा क्षण जैसे कल्पित कालान्तर अवस्थाओ मे आत्म तत्त्व का अतिक्रमण नही करते और न किसी आगन्तुक अथवा अनागन्तुक भेद से सस्पृष्ट होते हैं। उन भावो के अतिरिक्त क्षण, काल, मन्वन्तर नाम जैसी कोई वस्तु ही नही है जिसके आधार पर उन्हें कालान्तर अवस्थायी, नित्य अथवा क्षणिक कहा जा सके (हरिवृत्ति, वही) ।

यदि यह कहा जाय कि परिमाण भेद की व्याख्या प्रचित और अप्रचित बुद्धि के आधार पर कर लिया जायगा, काल की कोई आवश्यकता नही तो यह भी ठीक नही है क्योकि बुद्धि एक है । इसलिए बुद्धि प्रत्यवमर्श भी भाग रहित ही होगे ।

भर्तृहरि ने इन सब के समाधान के लिए क्रमाख्या शक्ति का आश्रय लिया है । उस शक्ति के सामर्थ्य से मात्राओ मे क्रम का आभास होता है—

भेदभावनानुगतबुद्धीनामेकत्वेन व्यवहरताम् अनादिना मिथ्याभ्यासेन विहित-समवायानाम् एकस्यां बुद्धौ अव्यतिरिक्तासु अनपायोपायिनीषु सर्वमात्रासु क्रमाख्याया शक्ते. सामर्थ्यमविद्यमानं प्रकल्प्यते क्रम प्रसिद्धये ।

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।२७

अत काल मे क्रमभेद से भेद होता है । काल औपाधिक भेद से भिन्न है । स्वत: अभिन्न है । नित्य है ।

काल का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान

किसी के मत से काल प्रत्यक्षगम्य है और किसी के मत से वह अनुमेय है । महा-भाष्यकार के मत मे काल अनुमान-गम्य है । जैसे क्रिया का पिण्डीभूत दर्शन सम्भव नही है वैसे ही काल का भी । वर्तमाने लट् ३।२।१२३ के भाष्य मे स्पष्ट ही "सूक्ष्मो-हि भावोऽनुमितेन गम्य" कह कर काल को अनुमेय माना है । वाक्यपदीय मे भी अनुमान पक्ष का समर्थन किया गया है । भर्तृहरि के अनुसार दो विभिन्न आश्रयवाली क्रियाओ मे उनके उदय और अस्त समान होने पर भी उनके शीघ्र या देर से सिद्ध होने का ज्ञान बिना किसी सम्बन्धी परिच्छेदक के सम्भव नही है । काल के अनुमान मे यह भी एक हेतु है :

क्रिययोरपवर्गिण्योर्नानार्थसमवेतयो ।
सम्बन्धिना विनैकेन परिच्छेदः कथं भवेत् ।।[५६]

---

५६. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश २७.

मूर्त पदार्थों का उपचय और अपचय भी काल के अनुमान मे सहायक हैं ।

कुछ लोग काल को अतीन्द्रिय मानते हैं और दिक् के विपरीत परत्व-अपरत्व के आधार पर काल का अनुमान करते हैं ।

नागेश 'इस समय देख रहा हूँ', 'इस समय सूँघ रहा हूँ' जैसे अनुभवों के आधार पर काल को षड् इन्द्रिय वेद्य मानते हैं (**क्षणसमूहरूपश्च स षडिन्द्रियवेद्यः- मंजूषा पृष्ठ ८४६**) । मीमांसकों का भी यही मत है (**स च कालः षडिन्द्रियग्राह्यः**)।[५७] कुछ लोग काल का प्रत्यक्षत्व स्वीकार करते है । काल मे रूप न होना काल के प्रत्यक्ष होने मे बाधक नही है क्योकि इन्द्रियग्राह्यता का नाम प्रत्यक्ष है और वह काल में है ।

वैशेषिक प्रसिद्ध काल-गुणो का उल्लेख महाभाष्य मे मिलता है जैसे—

कालपरिमाण	(महाभाष्य २।२।५)
कालपृथक्त्व	(महाभाष्य ३।१।२६)
कालविभाग	(महाभाष्य ३।२।३२)
काल सयोग	(,, ३।१।२६)

इसके अतिरिक्त तत्रभव ४।३।५३ सूत्र के भाष्य में कालाभिसम्बन्ध" का और तपरस्तत्कालस्य १।१।७० सूत्र के भाष्य मे "कालसहचरित" शब्द का उल्लेख है ।

कालभेदविचार

काल का स्वरूप चाहे जो हो शाब्द व्यवहार मे वह भिन्न रूप मे ही देख पडता है । व्याकरण-दर्शन का सम्बन्ध मुख्यरूप मे शब्द-व्यवहार वाले काल के स्वरूप से है । अस्ति, अभूत्, भविष्यति आदि क्रिया भेद की विवेचना उसे करनी ही पडेगी

> **नास्माभिर्दर्शनविवेक प्रारब्धः, किन्तु शाब्दे व्यवहारे यदङ्ग तत् परीक्ष्यम् । अस्ति च भिन्नकालः शाब्दो व्यवहारोऽभूत्, अस्ति, भविष्यतीति । तत्र यथा-योगमविचारितरमणीय कालोऽभ्युपगन्तव्य ।**[५८]

फलतः व्याकरणदर्शन काल को वर्तमान, भूत और भविष्यत् इन तीन रूपो मे विभक्त कर देता है । परन्तु इस विभाग के पीछे भी कुछ दार्शनिक प्रवाद है जिनका उल्लेख भर्तृहरि ने किया है ।

काल की तीन शक्तियां

कुछ लोग मानते है कि काल तो एक है किन्तु उसकी तीन शक्तिया हैं । कार्य के भेद से कारण भेद का अनुमान होता है । शक्तिभेद से ही कार्यभेद सम्भव है । इस आधार पर काल की शक्तियाँ स्वीकार की जाती है । इन शक्तियो के आधार पर भावो का

---

५७. नारायणभट्ट, मानमेयोदय, पृष्ठ १३७, मद्रास संस्करण.

५८. हेलाराज, वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ५८.

उन्मीलन और निमीलन, दर्शन और तिरोधान होता है। इनमें दो आवरणात्मक हैं और एक प्रकाश है। अतीत शक्ति और अनागत शक्ति भावों का आवरण करती हैं। वर्तमान शक्ति भावों को प्रकाश मे लाती है। अनागत शक्ति आवरणात्मक होते हुये भी वर्तमान शक्ति का प्रतिबन्धक नहीं है क्योंकि जो अनागत है वही वर्तमान का रूप धारण करता है। परन्तु अतीत शक्ति वर्तमान का विरोधी है जो अतीत हो चुका वह फिर वर्तमान नही होता। मृत व्यक्ति फिर लौट कर नही आता, जो रास्ता बीत गया वह पुन. आगे नही आता। कालसमुद्देश ४९-५१।

इन शक्तियों का विवेचन परिणामवाद के आधार पर भी भर्तृहरि ने किया है। सत्व, रज और तम ये तीनो गुण नित्य हैं, इनका स्वभाव एक दूसरे के विरुद्ध है, फिर भी तीनों साथ रहते हैं और दीपवर्तिका न्याय के अनुसार परस्पर सहयोग प्राप्त कर, अङ्गाङ्गिभाव के आधार पर विचित्र सृष्टि करते हैं। उसी तरह काल शक्तियां भी आवरण और प्रकाशक के रूप मे एक दूसरे के विरुद्ध जान पडती हुई भी अपनी शक्ति के बल से भावो के भेद मे क्रम का परिज्ञान कराती है। काल विभाग को मार्गभेद की तरह कहा गया है। जिस तरह पथिक एक मार्ग मे बीते हुए मार्ग और आगे के मार्ग के रूप मे विभाग किया करते हैं वैसे ही भाव परिणाम का अनुभव करते हुए अतीत अनागत आदि का भेद व्यक्त किया करते हैं। जो भविष्य मे है वही वर्तमान पर आता है और जो वर्तमान मे है वही अतीत मे हो जाता है। इसीलिये परिणाम-वादी पदार्थ को "त्रैयध्विक" कहते है। पातजलदर्शन मे इसे "धर्मास्तु त्र्यध्वान" (व्यासभाष्य ३।१३) के रूप मे अभिव्यक्त किया गया है। अतीत वर्तमान और भविष्य एक दूसरे से सर्वथा विमुक्त नही होते। वे एक दूसरे की सीमा छूते रहते है। इनके अवियुक्त स्वभाव को इस प्रसिद्ध दृष्टान्त से व्यक्त किया जाता है—

यथा पुरुषः एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवति। व्यास-भाष्य ३।१३

कुछ साख्यवादी मानते है कि अतीत, अनागत आदि सत्व, रज और तम की शक्तिया हैं। भाव सतत परिणामी है। सभी भावो मे तीनो गुण हैं। शक्ति के उद्भव से उनकी सत्ता जान पडती है और उसके अनुद्भव से वे असत् जान पड़ते है। काल के गुणो के शक्ति रूप मे होने के कारण भावो की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति के साथ वह भी अतीत, अनागत आदि नाम पाता है। इनमे अतीत और अनागत तमोगुण के प्रतीक हैं क्योकि तमोगुण आवरण करता है। वर्तमान सत्वगुण का प्रतीक है क्योकि सत्वगुण प्रकाशक माना जाता है। रजोगुण कालमात्र मे अन्वित है क्योंकि यह प्रवृत्यात्मक है। प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के द्वारा काल प्रेरणात्मक है ही। साथ ही कुछ साख्यवादी यह भी मानते हैं कि जो अतीत है वह पुन वर्तमान भी हो सकता है। पहले कहा जा चुका है कि जो अतीत हो चुका वह वर्तमान नही हो सकता। जगत् परिवर्तनशील है फिर भी अतीत नही वर्तमान होता है अपितु अतीत के सदृश हो सकता है। इसलिये अतीत का वर्तमान से विरोध माना गया था। परन्तु सांख्यवादी

"नाभावो विद्यते सतः" वाले सिद्धान्त के आधार पर यह मानते हैं कि जो तिरोभूत है वही वर्तमान होता है। सभी भाव मानो किसी प्रसेवक (बोरे) के भीतर रहते हैं वहीं से अपने आपको व्यक्त करते हैं और पुनः उसी में लीन हो जाते हैं। हेलाराज के अनुसार पञ्चाधिकरणदर्शनस्थ सांख्यों का यह दर्शन है।[५९] यह विचार धर्मी और धर्म में कुछ भेद मानकर है। धर्मी स्थायी सदा रहता है और उसके धर्म तीन अध्वा वाले (त्र्यध्वान·), अतीत, वर्तमान और अनागत के रूप में प्रकट होते हैं।

जो लोग धर्म को धर्मी से अतिरिक्त नही मानते उनके मत मे भी धर्मी का एकसाथ ही अतीत, वर्तमान आदि व्यपदेश धर्म के द्वारा सम्भव हैं। वर्तमान के समय मे भी अतीत के कुछ धर्म से अतीत, और अनागत के कुछ धर्म होने से अनागत कहा जा सकता है। अत. धर्मी सदा वर्तमान होता हुआ भी धर्म के तीन तरह के होने के कारण तीन अध्वावाला अथवा तीन काल वाला कहा जाता है। हेतु के आधार पर जब कोई क्रिया-कलाप प्रत्यक्ष होने लगता है उसे वर्तमान कहते हैं। जब हेतु-व्यापार बंद हो जाते हैं, उन्हे कुछ करने को नही रहता तब भावो का अदर्शन होता है, उसे अतीत कहते हैं। जब हेतु अर्थक्रिया के लिए चेष्टा नही करते उसे अनागत कहते हैं। इस तरह एक के ही उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं। इसमे साकर्यदोष नही है। क्योकि वृत्ति-वैचित्र्य है। आविर्भाव और तिरोभाव क्रम रूप से घटित होते हैं। दर्शन और अदर्शन यही वृत्तियो का व्यापार है और वह विलक्षण है। वर्तमान शक्ति से दर्शन और अतीत-अनागत शक्ति से अदर्शन यह एक दूसरे को बाधा न देते घटित होते है। इसलिये सकर्य सम्भव नही है। दृष्ट और अदृष्ट अवस्था मे भी धर्मी एक है। सत्त्व से असत्त्व का भेद नही है। सत्त्व तिरोभूत होकर असत्त्व कहा जाता है। इसलिये भावों से शक्ति के अतिरिक्त न होते हुए भी और सदा एक साथ रहते हुए भी साकर्य नही होना। हेलाराज के अनुसार यह महाभाष्यकार का मत है

धर्मधर्मिणोरव्यतिरेकं भाविकमाश्रित्य धर्मिणो युगपदपि व्यपदेशत्रयं धर्मद्वारकं प्रवर्तत इति महाभाष्यमतम्।[६०]

हेलाराज के अनुसार ब्रह्मदर्शन ? के अनुसार भी शक्ति रूप काल के तीन गुणोमय परिणाम सम्भव है। जीवात्मा मे ज्ञान क्रिया और शक्ति (इच्छा ?) के रूप मे तीनों गुण रहते हैं—**त्रैगुण्यपरिणामश्च ब्रह्मदर्शनेऽपि कालस्योपपन्नमेव शक्ति-रूपस्यापि। ज्ञानक्रियाशक्तिभिः जीवात्मनि गुणत्रयम्।**[६१]

क्रिया के आधार पर भी कालभेद की मीमासा की जाती है। व्याकरणदर्शन इसी मत को प्रश्रय देता है

---

५९. हेलाराज, वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ५३.

६०. वही, ५४, यह मत वस्तुतः योग-सूत्र भाष्य का है। प्राचीन टीकाकार व्यासभाष्य को पातंजल मानते थे। इसी आधार पर हेलाराज ने उपर्युक्त वक्तव्य महाभाष्यकार का माना है।

६१. वही ५३ त्रिवेन्द्रम संस्करण में यह वाक्य खंडित है, उसमें 'ब्रह्मदर्शन' पाठ नहीं है। यह शब्द काशी वाले संस्करण में है। उसी से यहां उद्धृत किया गया है।

तस्याभिन्नस्य कालस्य व्यवहारे क्रियाकृताः ।
भेदा इव त्रय सिद्धा यॉल्लोको नातिवर्तते ।।[६२]

भूत, भविष्य और वर्तमान क्रियोपाधिक हैं। जब क्रिया उत्पन्न होकर ध्वस्त हो जाती है, उनके उपाधि-काल को भूत कहते है। जब क्रिया के साधन सन्निहित रहते हैं और उनका आरम्भ समीप रहता है, उसके उपाधि-काल को भविष्यत् कहते हैं। जब क्रिया प्रारब्ध हो गई रहती है परन्तु अभी समाप्त नही हुई रहती उसके उपाधि-काल को वर्तमान कहते है।

क्रिया जो बीत गई है, जो अब वर्तमान नही है वह काल में भूतकालत्व कैसे लाती है? इसी तरह जो क्रिया अभी हुई नही है वह काल मे भविष्यत् का स्वरूप कैसे दिखाती है? इसके उत्तर मे भर्तृहरि का कहना है कि जो क्रिया बीत जाती है वह काल मे अपना संस्कार छोड जाती है। बुद्धि या स्मृति के द्वारा उस सस्कार का ग्रहण कर काल मे भूतकाल का व्यपदेश किया जाता है। इसी तरह अभी सम्पन्न होने वाली क्रिया का भी प्रतिबिम्ब काल मे पडता है। उस होने वाली क्रिया के प्रतिबिम्ब का काल मे अध्यारोप कर काल को भविष्यत् काल कहते है। भर्तृहरि के अनुसार काल एक स्वच्छ आदर्श की तरह है

काले निधाय स्वं रूपं प्रज्ञया यन्निगृह्यते ।
भावास्ततो निवर्तन्ते तत्र सङ्क्रान्तशक्तयः ।।
भाविनां चैव यद् रूपं तस्य च प्रतिबिम्बकम्
सुनिर्मिष्ट इवादर्शे काल एवोपपद्यते ।।[६३]

वर्तमान काल

वाक्यपदीय मे वर्तमानकाल पर विचार महाभाष्य की पद्धति पर है। पतञ्जलि के पूर्व ही वर्तमानकाल के विषय मे कुछ विप्रतिपत्तिया सामने आ गई थी जिन्हे सुलझाने का प्रयत्न कात्यायन ने किया था। पतञ्जलि ने भी अपनी पद्धति से उन्हे सुलझाया और अन्य दर्शनो मे भी, जैसा कि वात्स्यायनभाष्य से जान पडता है, उन पर विचार होता रहा।

वर्तमान काल के सूचक लट् की प्राचीन सज्ञा "भवन्ती" थी। कात्यायन ने "इह अधीमहे" 'इह वसाम" जैसे वाक्यो मे वर्तमान के होने मे इस आधार पर आक्षेप लगाया था कि अध्ययन करने और रहने के बीच मे दूसरी भी क्रियाएँ होती रहती है। अत अध्ययन आदि क्रियाएँ विच्छिन्न हो जाती है। वर्तमान काल से हम उसी क्रिया की अभिव्यक्ति करेगे जो आरम्भ तो कर दी गई हो परन्तु जिसका उपरम अभी नही हुआ हो। बीच मे खण्डित होती हुई क्रिया को वर्तमान रूप नही देगे।

इसका समाधान कई तरह से कर दिया गया था। वर्तमान काल उसको माना जायगा जहा क्रिया का आरम्भ समाप्त न हुआ हो (**एष नाम न्याय्यो वर्तमानः कालः**

---

६२. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ४८.
६३. वही ३९,४०.

यत्रारम्भोऽनपवृक्तः महा—भाष्य ३।२।१२३) । अत. अध्ययन जब तक समाप्त नही होगा हम उसे वर्तमान काल मे व्यक्त कर सकते हैं । बीच बीच में जो भोजन आदि की क्रिया व्यवधानरूप मे जान पडती हैं वे नान्तरीयक हैं । अत वे व्यवधायिका नही हो सकतीं । "देवदत्त भोजन कर रहा है" इस वाक्य मे भोजन की क्रिया को वर्तमान-काल में बिना किसी हिचक अथवा सशय के व्यक्त करते हैं । परन्तु भोजन के व्यापार में भी बीच बीच मे बोलना, हसना, पानी पीना आदि व्यापार होते ही रहते हैं । जिस तरह से इन व्यापारो के होते हुए भी 'भुक्ते' मे वर्तमान काल की अनुपत्ति नहीं मानी जाती उसी तरह "इह अधीमहे" जैसे स्थलो मे भी अवान्तर क्रियाओ के होते हुये भी कोई अनुपपत्ति नही होगी ।

भर्तृहरि के अनुसार ऐसी कोई क्रिया नही है जो किसी न किसी अन्य क्रिया से सकीर्ण सी न जान पडती हो और नही तो निमेष-क्रिया, श्वास क्रिया जैसी क्रियाएँ सभी व्यापारो के साथ रहेगी ही । अत अन्तरालवर्ती क्रियाओ से मुख्य का व्यवधान नही मानना चाहिये । अन्तरालवर्ती क्रियाओ को मुख्य क्रिया का अवयव मान लेना चाहिये । इस तरह भोजन के बीच मे हसने आदि के व्यापार भोजन क्रिया के अवयव है अत व्यवधायक नही हो सकते । भोजन की प्रवृत्ति हो जाने पर भी ऊपर से दधि शक्कर आदि का बाद मे परोसे जाना जैसे भोजन क्रिया का अग ही माना जाता है वैसे ही मित्रो का परस्पर बातचीत करते, हसते-बोलते भोजन करना भोजन क्रिया का अ ग ही है ।

अथवा हम फल की दृष्टि से क्रिया-सन्तान की व्याख्या करेगे । भोजन की क्रिया का फल तृप्ति है । अध्ययन की क्रिया का फल ज्ञान है । जब तक इन फलो के लिये पयत्न जारी है बीच मे अन्य व्यापारो के होने हुये भी वे अविच्छिन्न माने जायेगे इसलिये अन्य व्यापारो के करते हुये भी 'अधीमहे' कहा जा सकता है ।

अथवा भौतिक व्यापार के उपरत होने पर भी मानसिक व्यापार के द्वारा क्रिया-सन्तान का एकत्व जहा बना रहेगा हम उसे वर्तमान काल मे व्यक्त कर सकते है । पहले क्रिया विचार के अध्याय मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस तरह क्रिया मे सदर्शन, प्रार्थना आदि अध्यवसाय होते है । जानाति, इच्छति ततो यतते— मनुष्य पहले जानता है, तब इच्छा करता है और तब उस इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील होना है ..यह सब तरह के व्यापार का मनोवैज्ञानिक पहलू है । अत. मानस व्यापार जब तक विरत न हो तब तक क्रिया भी उपरत नही मानी जायगी

> **संदर्शनादिफलपर्यन्त क्षणसमूह क्रिया । तत्र च भौतिक व्यापारोपरमेऽप्यन्तरा सन्दर्शनप्रार्थनादे मानस-व्यापारस्य यावत् फलाधिगम: तावदविराम एव ।**[१४]

तात्पर्य यह है कि प्रत्यवयव क्रियासमाप्ति न मान कर फलपर्यन्तक्रिया समूह के आश्रय से क्रियासन्तान का विवेचन करना चाहिये ।

---

१४. हेलाराज, वाक्यपदीय कालसमुद्देश ८२,८३

वर्तमान काल के सम्बन्ध मे दूसरी समस्या यह थी कि जो नित्यप्रवृत्त भाव हैं, जिनका कभी बीच मे विच्छेद नही होता उन्हें हम वर्तमान काल से कैसे व्यक्त करेंगे। क्योंकि वर्तमानकाल भूत और भविष्यत् काल का प्रतियोगी है। नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भूत और भविष्यत् संभव नहीं है। अत. वर्तमान भी सम्भव नही है। यह कहना ठीक नही होगा कि अविच्छिन्नरूप मे सदा प्रवृत्त भावो मे भूत, भविष्यत् तो सम्भव नही है परन्तु उनके सदा वर्तमान होने के कारण उनके साथ वर्तमान काल का सम्बन्ध सदा बना रहेगा ही। क्योकि यहाँ काल का सम्बन्ध उन्ही भावो से होता है जो नियत अवधि वाले होते है। साधन के सन्निहित होते हुये जिनकी उत्पत्ति आसन्न होती है उनका सम्बन्ध हम भविष्यत् काल से जोडते हैं, साधनो के बल पर जन्म प्राप्त कर जब तक ठहरे रहते हैं उन्हें हम वर्तमान काल से प्रकट करते है और जो नष्ट-भ्रष्ट हो जाते है, जिनके शरीर विलुप्त हो जाते हैं उन्हे हम भूत शब्द से व्यक्त करते हैं। इसलिये वर्तमान की सत्ता भूत और भविष्यत् के बीच मे होती है। फलत. जहा भूत और भविष्यत् की सभावना नही है वहा वर्तमान भी सभव नही है। दूसरी बात यह है कि काल तो क्रियोपाधिक है। नित्यप्रवृत भावो मे किसी क्रम के न होने के कारण क्रमाश्रित साध्यस्वभाववाली क्रिया ही सभव नही है इसलिये वहा काल विभाग ही सभव नही है।

इसके उत्तर मे व्याकरण सप्रदाय के अनुसार भर्तृहरि का कहना है कि किसी के स्वरूप मे, आत्मा मे भेद नही होता। भेद परत होता है। सभी भावजात वस्तु उपाधिसंसर्ग से भेद प्राप्त करती है। अत नित्य प्रवृत्त वस्तुओ मे भी कालभेद संभव है और जब कालविभाग सभव है तो वर्तमान काल भी सभव है। अस्तु, पर्वत हैं 'नदियाँ बहती है' जैसे नित्यप्रवृत्ति के द्योतक वाक्यो मे भी तत् तत् कालीन राजाओ की क्रिया के आधार पर काल विभाग किया जा सकता है। राजाओ की क्रियाओ मे त्रैकाल्य, क्रमिकता और साध्यमानता है। अत: उनके साहचर्य से पर्वतो आदि के साथ त्रैकाल्य सभव है। पर्वत थे, पर्वत होगे ऐसे प्रयोग इसी आधार पर होंगे जब भूत भविष्यत् सभव होगे, वर्तमान की उपपत्ति भी उनके साथ होगी ही (वाक्यपदीय कालसमुद्देश ८०)।

अथवा एक विरूपावयव क्रिया होती है और एक सरूपावयवक्रिया होती है। पर्वत के स्थितिरूप व्यापार मे सरूपावयव क्रिया है। आत्मभरणरूप क्रियावयव एक दूसरे के सदृश हैं। सादृश्य के कारण उनमे भेद की अभिव्यक्ति उतनी सरल नही है जितनी कि पकाने आदि के व्यापार मे विरूपावयव क्रियाएँ होती हैं। राजाओ की क्रिया विरूपावयव है। अत. उनमे विभाग सभव है। वे प्रसिद्धपरिमाणवाली हैं। प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया ही किसी दूसरी क्रिया के परिच्छेदक होकर काल कहलाती है। स्थिति, भूत आदि के रूप मे राजाओं की क्रिया भिन्न-भिन्न होकर पर्वत की स्थिति आदि का भेदक होकर कालशब्द से व्यवहृत होती है। अतः नित्यप्रवृत्त भावो में भी क्रिया और तीनो काल के योग उपपन्न हैं। राजक्रिया को सूर्य-सचार आदि का उपलक्षण मानना चाहिये। नित्य पदार्थों मे भी अपने आपको प्रतिक्षण धारण करने

की क्रिया में क्रियात्व है। शब्द व्यवहार में शब्द का अर्थ ही अर्थ रूप मे गृहीत होता है। तिष्ठति आदि क्रियापदों से क्रम की अभिव्यक्ति होती है। अतः क्रिया-योग नित्य पदार्थों के साथ भी शब्द शक्ति के कारण है। साहचर्य से काल व्यपदेश के उदाहरण बहुत से हैं। कलापी उस काल को कहते हैं जिस समय मयूर कलापी होते है (**यस्मिन् काले मयूराः कलापिनो भवन्ति स कलापी—काशिका ४।३।४६**)। महाभाष्यकार ने माना है कि यहां साहचर्य से काल व्यपदेश है (**कलापिसहचरितः कालः कलापी काल.—महाभाष्य ४।३।४८**)। इसी तरह अश्वत्थ और यवबुस भी काल वाचक शब्द है जो साहचर्य के आधार पर गठित हुए है।

वर्तमानकाल की सत्ता पर आक्षेप

कुछ लोग मानते है कि यदि काल विभाग है तो वह दो ही हैं भूत और भविष्यत्। वर्तमान काल नाम का कोई तीसरा विभाग सभव नही है। कोई भी वस्तु या तो सत् होती है अथवा असत् होती है। कोई तीसरी कोटि नही है। जो क्षण बीत गया वह सिद्ध स्वभाव का हो गया। फलत क्रिया भी अतीत कहलावेगी। जो क्षण अभी आया नही है वह भावी है। इसलिये उसकी द्योतक क्रिया भविष्यत् से सम्बन्ध जोडेगी। बीच मे कोई तीसरा क्षण जो सत् भी हो और असत् भी हो नही है। अत वर्तमान काल भी नही है। पतति मे पतनक्रिया की सत्ता सिद्ध नही की जा सकती। क्योकि पात-क्रिया का जो अनागतरूप है वह असत्व है, उसे पतति शब्द से नही कहा जा सकता। और जो पातक्रिया का अतीत रूप है वह भी अतिक्रांत होने के कारण असत्त्व है, इस-लिये उसके लिये भी पतति का प्रयोग नही हो सकता और इस दशा मे भी कोई पतति का प्रयोग करे तो उसके लिये हिमवान् अपि चलति—हिमालय भी हिलता डोलता है—कहना सरल है।

दूसरी बात यह है कि वस्तु या तो सत् रूप है या असत् रूप है। इन दोनो रूपो मे क्रम सभव नही है। जो सत् है वह विद्यमान होने के कारण अनिर्वर्त्य है, उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नही है और इसीलिये उसे क्रम के आश्रय लेने की भी आवश्यकता नही है। जो असत् है वह भी असत् अवस्था मे है, सिद्ध किये जाने की कोटि मे नही है इसलिये उसमे भी क्रम सभव नही है। इन दोनो अवस्थाओ मे निर्व-र्त्यमान क्रमिक क्रियारूप के अभाव होने के कारण वर्तमानता संभव नही है।

तीसरी बात यह है कि सदा एक ही क्षण की उपलब्धि होती है। एक मे कोई भेद नही होता। भेद न होने से उसमे कोई क्रम भी सभव नही है। एक ही क्षण मे गमन आदि क्रिया का संभार संभव नही है इसलिये गच्छति—जाता है—जैसे वर्तमान कालिक वक्तव्य अनुपपन्न है...

> **एक एव क्षण उपलभ्यते, नातीतो नापि अनागतो, न चैकस्य क्षणस्य गमनादिक्रियावेश संभवति—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३**

इसका समाधान

उपर्युक्त आक्षेप के उत्तर में यह कहा जाता है कि देवदत्त के एक स्थान से

दूसरे स्थान पर जाने में कोई न-कोई हेतु अवश्य है। और वह गमन क्रिया है। गमन क्रिया ही उसके एक स्थान से दूसरे स्थान मे होने का निमित्त है। उस गमन क्रिया के अवलम्ब से 'जाता है' ऐसा ज्ञान अबाधित रूप मे व्यक्त होता है। अतः क्रिया का भी सत्व है। पुन सत्व ही वर्तमान का लक्षण नही है। वर्तमान का लक्षण प्रारब्ध-अपरिसमाप्तत्व है। क्रिया के आरम्भ से लेकर समाप्ति के समीप तक जितने क्षण हैं उनके समूह मे वह अध्यस्त रहता है। कार्य-सम्पादन के लिए मानसिक व्यापार से लेकर शारीरिक चेष्टा तक सब उसके भीतर गृहीत है। क्रम रूप में समूह की जो विद्यमानता है वही वर्तमान है। एक-एक क्षण मे भी क्रम अध्यस्त हैं। एक फल के उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण क्षण समूह भी एक हैं। अथवा अनेक क्षण-समूहात्मक क्रिया प्रबन्ध का बौद्धिक सकलन कर "जाता है" जैसा प्रयोग किया जाता है। क्रिया-कलाप के अवयव बिखरे रहते है फिर भी ज्ञानात्मा मे उनका आकार सक्रान्त रहता है, ज्ञानात्मा के एक होने से वे भी एक जान पडते है। इस आधार पर वर्तमान को भी अनेक क्षण समूहात्मक और एक माना जाता है

क्रियाप्रबन्धरूप यदध्यात्मं विनिगृह्यते।
सङ्कान्तबिम्बमेकत्र तामाहुर्वर्तमानताम् ॥—काल समुद्देश ६०

दूसरी बात यह है कि यदि वर्तमान की सत्ता न मानी जायगी तो भूत और भविष्यत् की सत्ता भी खतरे मे पड जायगी। वर्तमान के अभाव मे उनका भी अभाव होगा। वर्तमान के आधार पर ही भूत और भविष्यत् की भित्ति खडी है। वर्तमान की सिद्धि से ही अतीत और अनागत की सिद्धि सम्भव है अन्यथा नही

वर्तमानात्वाभावे च भूतभविष्यतोरप्यभावप्रसंग, वर्तमानो हि भूतत्वं भविष्यत्वञ्च प्रतिपद्यते।—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३

महाभाष्यकार के अनुसार काल के तीन विभाग योगियो के अनुभव से सिद्ध हैं। वस्तुत वे सूक्ष्म हैं और अनुमान गम्य हैं

अस्तीति तां वेदयन्ते त्रिभावाः सूक्ष्मो हि भावोऽनुमितेन गम्य
महाभाष्य ३।२।१२२

दो प्रकार का वर्तमान काल

भर्तृहरि के अनुसार वर्तमान काल दो तरह का है। एक तो मुख्य है जो प्रारब्ध-अपरिसमाप्त अर्थ मे होता है। दूसरा वह है जो वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद् वा ३।३।१३१ सूत्र के अनुसार भूत और भविष्यत् अर्थ मे होता है। कभी-कभी क्रिया की समाप्ति के बाद भी क्रिया के सस्कार शेष रह जाते है। उसके आधार से भूत विषयक वर्तमान सामीप्य होता है अर्थात् भूत काल के अर्थ मे वर्तमान काल का प्रयोग किया जाता है। भविष्यत् विषयक वर्तमानसामीप्य वहा होता है जहा भविष्यत् क्रिया का मानस सकल्प से वर्तमान रूप आ जाता है। वर्तमान का यह रूप वैकल्पिक माना जाता है। फलत अयम् आगच्छामि, अयम् आगमम्, एषोऽस्म्यागतः जैसे वाक्य

एक ही अवसर के लिए प्रयुक्त होते हैं।

आशंसा के अर्थ में भी वर्तमान काल का प्रयोग वैकल्पिक रूप में देखा जाता है। अप्राप्त प्रिय-अर्थ के प्राप्त करने की इच्छा को आशसा कहते हैं। यद्यपि प्रार्थना अथवा इच्छा का सम्बन्ध वर्तमान से है परन्तु आशसा का विषय भविष्यत् काल होता है। इस आधार पर महाभाष्य में इसे भविष्यत् काल का माना है (**आशंसा नाम भविष्यत्काला—महाभाष्य ३।३।१३२**)। भविष्यत् काल से सम्बन्ध होते हुए भी उसके साथ भूतकाल (भूत सामान्य) के से प्रलय होते हैं। फलतः वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनो काल आशंसा की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होते हैं। कुछ लोग आशंसा और सभावना को समानार्थक मानते है। कुछ लोग संभावना को आशसा का अवयव मानते हैं। कुछ लोग दोनों मे कुछ भेद मानते हैं। भेद की दृष्टि से इनमे अन्तर यह है कि आशंसा मे ईप्सित अर्थ की प्राप्ति साधन बल से शक्य और अशक्य दोनों होती है जब कि सम्भावना मे उसकी प्राप्ति शक्य होती है—

> **आशंसा नाम प्रधारितोर्थोऽभिनीतश्चानभिनीतश्च। संभावनं नाम प्रधारितोऽर्थोऽभिनीत एव**।—महाभाष्य ३।३।१३२

वस्तुत. आशसा प्रयोक्तृधर्म है। वह शब्दार्थ नही है। फिर भी आशंसा शब्दसस्कार मे निमित्त होती है। पुरुषधर्म मे भी शास्त्र की प्रवृत्ति होती है यह वाक्यपदीयकार का मत है (**पुरुषधर्मेऽपि शास्त्रमधिकृतमिति विचारितं वाक्यपदीये — हेलाराज, कालसमुद्देश १०५**।

कभी-कभी भूत अर्थ मे भी वर्तमान काल का प्रयोग होता है, जैसे, कंस और बलि की घटना को बीते सैकडो वर्ष हो जाने पर भी "कस घातयति," "बलि बन्धयति" ऐसे वर्तमानकालिक प्रयोग देखे जाते हैं। भाष्यकार के अनुसार इन वाक्यो मे वर्तमान काल के प्रयोग का आधार वर्तमान काल मे रंगमच पर दिखाये जाने वाले कस वध और बलि बधन के व्यापार है। शौभिक (नटो के आचार्य) और ग्रन्थिक (कथक) उन व्यापारो को प्रत्यक्ष से दिखाते हैं। कथकग्रन्थिक के मन में उन व्यापारो की बुद्धिविषयकसत्ता रहती है इसलिए वे उन्हे प्रत्यक्ष-सा व्यक्त करने मे समर्थ होते हैं—

> **शब्दोपहितरूपांश्च (रूपांस्तु) बुद्धेर्विषयतां गतान्।**
> **प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥**
>
> —वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश ५।

केवल वर्तमान का ही नही भूत और भविष्य का भी ऐसे अवसरो पर प्रयोग देखा जाता है। उस एक ही घटना के तीनों काल मे इस तरह प्रयोग देखा जाता है—

जाओ देखो कंस मारा जा रहा है (गच्छ हन्यते कंसः)। जाओ देखो कस मारा जायगा (गच्छ घानिष्यते कसः)। अब जाने से क्या लाभ, कंस मार डाला गया (किं गतेन, हतः कसः)।

कभी-कभी मुख्य वर्तमान के क्षेत्र में, प्रारब्ध-अपरिसमाप्त की अवस्था में भूतकाल का व्यवहार देखा जाता है। कोई पाटलिपुत्र के लिए चल पड़ा। एक दिन बीत जाने पर रास्ते में ठहर गया। अभी वह पाटलिपुत्र पहुँचा नहीं है और जब तक नहीं पहुंचेगा उसकी गमन क्रिया अपरिसमाप्त मानी जायगी। फिर भी रास्ते मे एक दिन के बाद ठहर जाने पर भी "आज इतना रास्ता बीत गया (इदमद्य गतम्)" ऐसा भूतकालिक प्रयोग करते हैं। गमन क्रिया के समाप्त न होने पर भी जितना अंश समाप्त हो चुका है उसी को मान कर समाप्ति सूचक भूतकाल का प्रयोग किया जाता है। वस्तुत: क्रिया के कई अवयव होते हैं। शब्द के आधार पर समूह रूप क्रिया का जिस अवयव के साथ सम्बन्ध होता है उसी मे उसकी समाप्ति भी होती है। अवयवों का तीनों काल से सम्बन्ध होने के कारण क्रिया का भी तीनो काल से योग उपपन्न है :

> शब्देन प्रत्याय्यमाना येन येनावयवेन संबध्यते समूह-रूपा क्रिया तस्मिन्नेवावयवे समाप्यते। तत्र अवयवानां कालत्रययोगात् क्रियाया अपि कालत्रययोग:
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ३।२।१०२

भूतकाल

जिसकी अपनी सत्ता समाप्त हो जाती है वह भूत शब्द से व्यक्त किया जाता है (यस्य स्व सत्ता व्यपवृक्ता तत्सर्वं भूत शब्देनोच्यते—महाभाष्यप्रदीप २।२।८४)। कभी-कभी अल्प सत्ता की परिसमाप्ति पर भी भूतकाल माना जाता है (एष च न्याय्यो भूतकालो यत्र किंचिदपवृक्तं दृश्यते—महाभाष्य ३।२।१०२)। उत्पन्न होकर ध्वस्त हुई क्रिया की उपाधि के रूप मे भूतकाल का प्रयोग किया जाता है। भर्तृहरि के अनुसार भूतकाल पाच तरह का होता है। हेलाराज के अनुसार ये पांच प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) सामान्य भूत,
(२) अद्यतनभूत,
(३) अनद्यतनभूत,
(४) अद्यतनानद्यतनभूत,
(५) भविष्यत् के स्थान पर आरोपितभूत

सामान्यभूत

भूत विशेष का आश्रय न लेकर केवल सामान्यभूत के अर्थ में क्रिया का प्रयोग देखा जाता है। पाणिनि ने लुङ् लकार से ऐसे ही भूत सामान्य को द्योतित किया है। विशेष मे भी सामान्य होता है और इस आधार पर कभी-कभी विशेषभूत के अर्थ में सामान्यभूत का व्यवहार देखा जाता है। जैसे अगमाम घोषान् अपाम पय जैसे

वाक्यों में विशेषभूत की सम्भावना होते हुए भी उसकी अविवक्षा से सामान्यभूत का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः विवक्षारूढ़ अर्थ ही शब्द प्रयोग का निमित्त होता है। विशेषभूत की विवक्षा होने पर उपर्युक्त वाक्यों मे विशेषभूत के द्योतक लङ् आदि लकारों के प्रयोग हो सकते हैं।

ननु शब्द के साथ प्रश्न के उत्तर देने पर सामान्यभूत के अर्थ में वर्तमानकाल का प्रयोग होता है जैसे—"अकार्षी. कटं देवदत्त, ननु करोमि भोः (देवदत्त तुमने चटाई बीन ली, जी, अवश्य मैंने चटाई बीन ली)। नु शब्द के साथ प्रत्युत्तर देने में भी सामान्यभूत के अर्थ में वर्तमानकाल व्यवहृत होता है परन्तु विकल्प से। जैसे, अकार्षीः कटं देवदत्त, नु करोमि भोः। अथवा, नाकार्षम्।

अद्यतनभूत

अद्यतन की परिभाषा दो तरह की व्याकरण सप्रदाय मे प्रसिद्ध है। न्यासकार, कैयट, हरदत्त आदि के अनुसार पूरा दिन, बीती हुई रात का अंतिम (चौथा) पहर और आने वाली रात का पहला पहर अद्यतनकाल है

> **दिवस सकल. अतिक्रान्ताया रात्रेश्चतुर्थो याम आगामिन्याश्च प्रथमो याम इत्येषोऽद्यतन.कालः।**
>
> न्यास ३।२।११०

भट्टोजि दीक्षित के अनुसार बीती हुई पिछली आधी रात से लेकर आगे आने वाली आधी रात तक का समय अद्यतन है·

> **अतीताया रात्रे पश्चार्धेन आगामिन्याः पूर्वार्धेन च सहितो दिवसः अद्यतनः।**
> —सिद्धात कौमुदी पृष्ठ ३०१

वस्तुत अद्यतन और श्वस्तन शब्द पाणिनि के पूर्व के आचार्यों के है और अपने मूल रूप मे इनका भाव अद्य भव. अद्यतन कालः श्वो भव. श्वस्तन. काल· के रूप मे था।

जब अद्यतन मे कोई क्रिया समाप्त हुई रहती है उसे अद्यतन भूत के रूप मे व्यक्त किया जाता है। यद्यपि यहाँ सामन्यभूत की भी सत्ता है। फिर भी सामान्य में विशेष रहता है। इस आधार पर हम अद्यतन को विशेष मान लेते हैं और सामन्यभूत से अद्यतनभूत को अलग करते है।

महाभाष्यकार के अनुसार अद्यतन मे भी अद्यतन संभव हैं। (**अद्यतनेऽपि अद्यतनो विद्यते। कथम्। व्यपदेशिवद् भावेन—महाभाष्य** ३।२।१११)। अद्यतन का भी एक सामान्य रूप है और उसके भीतर मुहूर्त क्षण आदि के रूप मे अद्यतन का एक विशेष रूप भी है। इस तरह समुदाय और अवयव के रूप मे भेद मान कर समुदाय अद्यतन मे अवयव अद्यतन है ऐसा कहा जा सकता है। वस्तुतः यहाँ अवयव से व्यतिरिक्त रूप मे समुदाय की सत्ता आधार रूप में नही है। एक काल का दूसरे काल के

साथ आधाराधेयभाव सर्वथा कल्पित होता है, यथार्थ नही। इसे भर्तृहरि ने इस रूप में व्यक्त किया है—

> कालस्याप्यपरं कालं निर्दिशन्त्येव लौकिकाः।
> न च निर्देशमात्रेण व्यतिरेकोऽनुगम्यते ॥
>
> —वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ८३.

अनद्यतनभूत

अनद्यतन शब्द मे बहुव्रीहि समास माना जाता है। जिसमे अद्यतन न हो वह अनद्यतन है। अर्थात् जहा अद्यतन का गध भी है वहाँ अनद्यतन भूत नही होता है। अनद्यतन-भूत का प्रतिनिधि लकार लङ् है। अकरोत्, अहरत् जैसी क्रियाएँ अनद्यतनभूत को व्यक्त करती है।

परोक्ष भी अनद्यतनभूत का ही एक भेद है। इसलिये पाँच प्रकार के उपर्युक्त भूत-भेदो से अतिरिक्त के रूप मे इसकी गणना भर्तृहरि ने नही की है। परोक्ष का प्रतिनिधि लकार लिट् है। परोक्ष शब्द में अक्षि शब्द केवल आँख मात्र का बोधक न होकर सभी इन्द्रियो का वाचक माना जाता है। इसलिये जो इन्द्रियो से परे है, जो वस्तु इन्द्रियगोचर नही है वह परोक्ष है। एक तरह से सभी धात्वर्थ परोक्ष ही होते है क्योकि धात्वर्थ वह क्रिया है जो साध्य है। जो अभी साध्यमान है वह असत् है। जो असत् है वह इन्द्रियो का विषय नही है। अत धात्वर्थ परोक्ष होगा। फिर भी जहाँ पर साधन प्रत्यक्ष है उसके आधार पर क्रिया के प्रत्यक्ष की बात लोक मे देखी जाती है। साधन यद्यपि शक्तिरूप है फिर भी द्रव्याश्रित होने के कारण द्रव्य के प्रत्यक्ष के द्वारा वे भी प्रत्यक्ष होने वाले मान लिये जाते है। अथवा शक्ति और शक्तिमान मे अभेद की विवक्षा से साधन को ही द्रव्य मान लिया जाता है। जहाँ द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है वहाँ प्रत्यक्ष का और जहाँ द्रव्य का परोक्ष होता है वहाँ परोक्ष का व्यवहार लोक मे देखा जाता है।

पतजलि के समय मे परोक्ष के विषय मे कई तरह की मान्यताएँ प्रचलित थी। किसी के अनुसार सौ वर्ष पहले का वृत्त परोक्ष था। किसी के अनुसार किसी दिवाल या कुटी से अन्तरित वृत्त भी परोक्ष था। कुछ लोग दो-तीन दिन पहले बीती हुई घटना को भी परोक्ष मानते थे। कैयट के अनुसार इन्द्रिय से अगोचर साधन से साधित सभी अनद्यतन क्रियावाची अर्थ एक तरह से परोक्ष है और ऐसे परोक्ष मे लिट् का प्रयोग साधु है। फलत "कल पकाया" इस अर्थ मे "ह्य पपाच" वाक्य शुद्ध है:—

> **इन्द्रियागोचरसाधनसाधितानद्यतनक्रियावाचिनस्तु धातोर्लिट् प्रत्यय इति निर्णय। तथा ह्य. पपाचेत्याद्यपि भवति। महाभाष्य प्रदीप ३।२।११५**

उत्तम पुरुष मे 'जहा क्रिया आत्मसाध्य होती है, परोक्ष का व्यवहार चित्तव्याक्षेप अथवा अपह्नव के आधार पर माना जाता है। भाष्कार ने इस प्रसग मे

शाकटायन की तल्लीनता का उल्लेख किया है जो राजमार्ग पर स्थित होते हुये भी सामने से जाते हुए शकटों को नही देख सके थे। पतंजलि के अनुसार मन से संयुक्त होकर इन्द्रिया उपलब्धि में कारण होती हैं। मन यदि पास में नही है तो वस्तु प्रत्यक्ष होती हुई भी परोक्ष सी है—

> **किं पुनः कारणं जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते। मनसा संयुक्तानि इन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति, मनसोऽसान्निध्यात्।** महाभाष्य ३।२।११५

स्वयं अनुभूत न होने के कारण जो परोक्ष घटनाएँ हैं परन्तु वक्ता के समय मे ही घटित हुई हैं उनके लिये परोक्ष के अर्थ मे अनद्यतन का व्यवहार किया जाता है। अर्थात लिट् के स्थान पर लङ् लकार का प्रयोग किया जाता है जैसे "अरुणत् यवनः साकेतम्"। इस वाक्य मे वक्ता के स्थिति काल में साकेत पर यवनों का आक्रमण हुआ था। यह भाव लङ् के प्रयोग से जान पडता है। (**अरुणत् इत्युदाहरणे तु तुल्यकालः प्रयोक्तेति बोध्यम्—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।२।११५**)। इसी तरह ह, शश्वत और आसन्न-काल प्रश्न के सम्बन्ध मे भूत अनद्यतन परोक्ष के अर्थ मे लङ् लकार का प्रयोग पाणिनि ने उपयुक्त माना है।

वस् (निवास करना) के साथ अनद्यतन के अर्थ मे सामान्यभूत का लकार (लुङ्) प्रयुक्त होता है। कोई प्रात.काल सोकर उठता है। उससे कोई पूछता है "आप ने रात कहा बिताई"। वह उत्तर देता है--"इस स्थान पर रहा" (अमुत्र अवात्सम्)। परन्तु यहा लङ् लकार का प्रयोग तभी होता है जब कि जागरण सन्तति अर्थ गम्य हो अर्थात् रात के चौथे पहर मे जग जाने के बाद वक्ता फिर नही सोया हो। यदि चौथे पहर मे जग जाने के बाद वह एक मुहूर्त के लिये भी सोता है, "अवात्सम्" के स्थान पर उसे "अवसम्" कहना चाहिये। कैयट के अनुसार जागरण सन्तति का अभिप्राय यह है कि यदि प्रयोक्ता रात्रि के प्रथम तीन पहर जागे जागे ही बिताया हो तभी अवात्सम् प्रयोग होगा, यदि बीच मे सोकर पुन उठ कर अपने सोने की बात वह करता है तो उसे अवमम् कहना चाहिये।

पुरा और स्म के साथ (उपपद रूप मे) अनद्यतन भूत के अर्थ मे वर्तमान काल का व्यवहार देखा जाता है, पुरा शब्द के साथ वैकल्पिक रूप मे ही वर्तमान काल मिलता है। जैसे, वसन्तीह पुरा छात्रा। इति स्मोपाध्याय. कथयति।

अद्यतन-अनद्यतनभूत

भूत काल का एक अद्यतन और अनद्यतन का मिश्र रूप भी भर्तृहरि ने स्वीकार किया है। अद्यतन और अनद्यतन का समुदाय अनद्यतन से भिन्न है। इसलिये अद्यतना-नद्यतन नाम से एक अलग भूतभेद मान लिया गया है। इसका उदाहरण "अद्य ह्य· अभुक्ष्महि" है।

भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत

पाणिनि ने आशंसाया भूतवच्च ३।३।१३२ जैसे सूत्रो द्वारा भविष्यत् काल के अर्थ मे

भूतकाल के प्रत्ययों का विधान किया है। ऐसे स्थलो के लिये भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत होने से इसे एक अलग भूत-भेद मान लिया गया है।

भविष्यत् काल

भर्तृहरि के अनुसार भविष्यत् काल चार प्रकार का है—

(१) सामान्य भविष्यत,
(२) अद्यतन भविष्यत्,
(३) अनद्यतन भविष्यत,
(४) अद्यतनानद्यतन भविष्यत्।

इनमें सामान्य भविष्यत् का निर्देशक लृट् लकार है। अद्यतन भविष्यत् के लिए भी लृट् का प्रयोग किया जाता है। अनद्यतन भविष्यत् अनद्यतन भूत की तरह है। इसका द्योतक लुट् लकार है। अद्यतनानद्यतनसमुदाय अद्यतन और अनद्यतन भविष्यत् से भिन्न है।

जिस तरह भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत होता है उसी तरह अनद्यतन भूत के अर्थ मे भविष्यत् काल का भी आरोप देखा जाता है, विशेषकर स्मरणार्थक धातुओं के साथ। जैसे, अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः। परन्तु भर्तृहरि ने इसे अलग भविष्यत् भेद के रूप मे स्वीकृत नही किया है इसी तरह अनद्यतन-भविष्यत् होते हुए भी जिनमे सामान्यभविष्यत् के प्रत्यय आदि प्रतिषेध के आधार पर किये जाते हैं उन्हे सामान्य भविष्यत् मे ही परिगणित करना चाहिए (**यस्तु अनद्यतनवत् प्रतिषेधात् भविष्यत् सामान्यकार्याणि प्रतिपद्यते, सोऽनद्यतनोपि शास्त्र-व्यवहारो भविष्यत्सामान्यमेव—हेलाराज, काल समुद्देश ३८**)।

परिदेवन (खेद) के अर्थ मे अद्यतनभविष्यत् के लिये अनद्यतन भविष्यत् का प्रयोग साधु माना जाता है जैसे, इय कदा नु गन्ता या एवं पादौ निदधाति (जब यह इस तरह से पैर रख रही है, तब कब पहुँच सकेगी)। पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य लुट् को श्वस्तनी और लृट् को भविष्यन्ती कहते थे।

लोक मे भविष्यत् के अर्थ मे भूत का प्रयोग एक वाक्य मे देखा जाता था। वह वाक्य यह है—देवश्चेद् वृष्ट निष्पन्ना शालय (यदि पानी बरसेगा धान की फसल अच्छी होगी)। वस्तुत सपत्स्यन्ते शालय कहना चाहिये क्योकि अभी धान होने वाले हैं, वे अभी निष्पन्न नही हुए हैं। फिर भी जनता भविष्यत् काल का प्रयोग नही करती थी और यदि कोई भविष्यत् काल का प्रयोग (सपत्स्यन्ते) कर देता था तो उससे कहा जाता था कि सपत्स्यन्ते के स्थान पर सपन्ना कहो। वाक्य-पदीयकार ने यहाँ भूतकाल के प्रयोग के पक्ष में कुछ अपने सुझाव दिये है।

उनके मत में निष्पत्ति शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो आरम्भ जो फल की उत्पत्ति के कारण है और दूसरा फल का सिद्ध होना। जहाँ तक धान की निष्पत्ति का प्रश्न है पहले अर्थ के अनुसार जल और शालि का संयोग ही निष्पत्ति है। धान के सिद्ध होने में जल-शालि का सयोग सम्पन्न होने वाली अवस्था का एक अवयव

है। वह वर्षण क्रिया मात्र से सिद्ध है। धान की जो फसल होगी उसके बहुत पहले ही जल-शालि का संयोग घटित हो गया रहता है। इस आधार पर क्रिया अतीत मान ली जायगी और भविष्यत् के स्थान पर भूत का (निष्पन्न शब्द का) प्रयोग उपपन्न हो सकेगा।

यदि निष्पत्ति शब्द का दूसरा अर्थ, फल प्रसव रूप अर्थ, लिया जायगा तब भी उपर्युक्त वाक्य मे भूतकाल के व्यवहार का समर्थन किया जा सकता हैं। धान की निष्पति का अर्थ फल रूप धान का सम्पन्न होना है। उसके कारण जल-शालि सयोग आदि हैं। कार्य के धर्म का कारण के धर्मों मे अध्यास किया जाता है। इस आधार पर फलनिष्पन्नरूप कार्य का जल-शालि सयोग में अध्यास हो जायगा। जल-शालि का संयोग केवल वर्षण क्रिया से सिद्ध हो जाने के कारण क्रिया अतीत मान ली जायगी। फलतः फल निष्पत्ति भी अध्यस्त रूप मे अतीत ही मानी जायगी और इस तरह निष्पन्न शब्द का व्यवहार, भविष्यत् के अर्थ मे भूत का प्रयोग उपपन्न हो जायगा।[६६]

अथवा कार्य मे कारण के धर्म का अध्यारोप किया जायगा। धान की फल-निष्पत्ति कार्य है। जल-शालि का संयोग कारण है। उसका वर्षण क्रिया अतीत-धर्म है, उस धर्म का निष्पत्ति मे आरोप कर निष्पत्ति को अतीत मान 'निष्पन्नाः शालयः' कहा जा सकता है। पूर्व वाले मत से इस मत मे इतना ही अन्तर है कि पहले कारण धर्म मे कार्य धर्म का आरोप कहा गया था, इसमे फल में कारण धर्म का अध्यास कहा गया है। कात्यायन ने 'हेतुभूतकालसप्रेक्षितत्वात् (वार्तिक, महाभाष्य ३।३।१३३) के द्वारा इसी मत का समर्थन किया है। धान की निष्पत्ति मे हेतुभूत वर्षा आदि हैं। वर्षा के काल का (अतीत का) धान की सपन्नतारूप कार्य में अपेक्षा की जाती है अर्थात् कार्य और कारण मे अभेद मान कर कारण को ही कार्य रूप में व्यक्त किया जाता है। इस तरह औपचारिक व्यवहार करने का प्रयोजन किसी विशेष कारण को अन्य कारणों की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न जताना है। यदि इस तरह से शालि निष्पन्न माना जायगा तो उससे भोजन आदि के व्यापार (अर्थक्रिया) भी तुरन्त क्यो नही होने लगते ? इसके उत्तर मे महाभाष्यकार ने कहा है कि जो धान यथार्थरूप मे निष्पन्न हो चुके हैं और खलिहान से उठा कर कोठलो (कोष्ठ) मे रखे गये है वे भी तुरन्त बिना किसी दूसरी क्रिया के सहारा लिये अर्थ क्रिया के उपयोगी नही होते। उन्हे भी भोजन के योग्य होने के लिये अवहनन (मूसल से छाटना) आदि व्यापारो की अपेक्षा होती है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई विद्यमान वस्तु अर्थ क्रिया को नही कर रही है तो इसका यह अर्थ नही कि उसमे अर्थ क्रिया की शक्ति ही नही है। उसमे भी अर्थ क्रिया की शक्ति अनभिव्यक्त रूप में हो सकती है। इसलिए निष्पन्न कहे जाने वाले पर अभी अनिष्पन्न शालि भी जनन आदि क्रिया की प्रतीक्षा करने वाले कहे जा सकते हैं। और अर्थक्रियाशक्ति सपन्न माने जा सकते हैं।

इस प्रसंग में भर्तृहरि ने निष्पत्ति और सिद्धि मे थोड़ा सा भेद दिखाया है

---

६६. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश १०६, १०७।

जो ध्यान देने योग्य है। भर्तृहरि के अनुसार निष्पत्ति के हेतु अनवस्थित होते हैं, उसकी कारण-शक्ति की परिकल्पना ठीक ठीक नहीं हो पाती है। जबकि सिद्धि का साधन सदा सन्निहित और व्यवस्थित होता है। निष्पत्ति का सम्बन्ध हेतुजन्म और फलजन्म दोनो से है जबकि सिद्धि का सम्बन्ध फल से ही है। निष्पत्ति बाह्य साधनों के अधीन है जब कि सिद्धि अन्तरंग साधन के अधीन है :

> निष्पत्तावबधिः कश्चित् कश्चित् प्रतिविवक्षितः।
> हेतुजन्मव्यपेक्षातः फलजन्मेति चोच्यते ॥
> अबहिस्साधनाधीना सिद्धि र्यत्र विवक्षिता।
> तत् साधनान्तराभावात् सिद्धमित्युपदिश्यते ॥
>
> —वाक्यपदीय ३, काल समुद्देश १०६, ११०

भर्तृहरि ने अवधिभेद के आधार पर उपर्युक्त वाक्य मे भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल के प्रयोग का समर्थन किया है, निष्पन्ना शालय, निष्पत्स्यन्ते शालय, निष्पद्यन्ते-शालयः ये तीनो वाक्य विवक्षानुसार प्रयुक्त हो सकते है। भर्तृहरि ने सर्वत्र तीनो कालों की मान्यता पर जोर दिया है। इसके पीछे उनका सत्ता-दर्शन है। रास्ते मे एक कूप है। जो पथिक उसे प्रत्यक्ष देख रहा है उसके लिये कूप की वर्तमान-सत्ता है, जो उसे देख चुका है उसके लिए उस कूप की भूत-सत्ता है और जो उसे अभी देखेगा उसके लिये उस कूप की भविष्यत्-सत्ता है। इन्द्रिय सम्बन्ध या असम्बन्ध के आधार पर एक ही सत्ता भिन्न-भिन्न व्यपदेश वाली है। साथ ही वस्तु की बौद्धिक सत्ता सदा वर्तमान रूप में उपलब्ध हो सकती है। इस आधार से "कूप है" जैसे वर्तमानकालिक प्रयोग सर्वथा उपपन्न है। इस तरह की उपलब्धि मे भूत भविष्यत् आदि की विवक्षा प्राधान्यरूप मे नही उठती, केवल वस्तु के सन्मात्र की विवक्षा मानसिक ग्रहण में देखी जाती है :

> सतामिन्द्रियसम्बन्धात् सैव सत्ता विशिष्यते।
> भेदेन व्यवहारो हि वस्त्वन्तरनिबन्धनः ॥
> अस्तित्वं वस्तुमात्रस्य बुद्ध्या तु परिगृह्यते।
> यः समासादनाद् भेदः स तत्र न विवक्षितः ।
>
> —वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ११२, ११३

क्रियातिपत्ति में भूत और भविष्यत्

जब किसी प्रतिबन्धक के कारण अथवा सामग्री की विकलता से किसी क्रिया की उत्पत्ति बिल्कुल नही हो पाती है, उसे क्रियातिपत्ति कहते हैं : **कुतश्चिद् वैगुण्याद् अनभिनिर्वृत्तिः क्रियायाः क्रियातिपत्तिः**—काशिका ३।३।१३९। अब प्रश्न यह है कि क्रिया की अनुत्पत्ति के साथ भूत या भविष्यत् का सम्बन्ध नही जोडा जा सकता। क्योंकि भूत उत्पन्न के अतिक्रान्त अवस्था को द्योतित करता है जो अनुत्पन्न है उस के साथ उसका सम्बन्ध दुर्घट है। इसी तरह साधनसन्निधान के होते हुए संभावित उत्पत्ति भविष्यत् का क्षेत्र है। अनुत्पन्न से उसका भी सम्बन्ध कठिन है।

भर्तृहरि ने इस प्रश्न का समाधान अवधिभेद से विषयभेद के आधार पर किया है। यदि कमलकम् आह्वास्यन् न शकटं पर्याभविष्यत् (यदि कमलक को बुलाता गाडी नही टूटती)। कमलक एक ऐसा व्यक्ति है जो शकट को सभालने में कुशल है, उसकी कुशलता पूर्व के अवसरों पर परीक्षित है। इसलिए भविष्य मे भी कमलक का आह्वान शकट की सुरक्षा मे साधक हो सकता है ऐसा समझना स्वाभाविक है। शास्त्रीय शब्द मे यही लिंग है और कमलक का आह्वान सामान्य धर्म है। यहाँ कमलक के पुकारे जाने की और गाडी के टूटने की अप्रतिपत्ति है और वह प्रमाणान्तर गन्य है। कमलक के पुकारे जाने की अप्रतिपत्ति उसके देशान्तर चले जाने से सम्भव है और गाडी का भंग होना भी अत्यधिक भार आदि से सम्भव है। इस बात को समझते हुए ही वक्ता ने उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग किया है। इसमे कमलक के आह्वान और शकट के न टूटने मे हेतुहेतुमद्भाव है। इस वाक्य से इन दोनो की अप्रतिपत्ति भविष्यन् कालिक जान पडती है। वर्तमान मे तो वह देख ही रहा है कि कमलक को बुलाया नही जा सकता और न गाडी ही टूटने से बचाई जा सकती है। अन यहाँ भविष्यत् काल सम्बन्धी क्रियातिपत्ति है। अर्थात् काल का अवच्छेद भविष्यत् रूप मे होने के कारण क्रियातिपत्ति का सम्बन्ध भी भविष्यत् से हो गया है।

इसी तरह क्रियातिपत्ति का सम्बन्ध भूतकाल से भी हो जाता है। जैसे कोई किसी से कह रहा है—"मैंने अपने भूखे पुत्र को भोजन की फिराक मे इधर-उधर घूमते देखा है, एक दूसरे आदमी को भी देखा जो भोजन कराने के लिये ब्राह्मण की खोज में घूम रहा था। यदि उसे देखा होता अवश्य खिलाता, परन्तु उसने भोजन नहीं किया वह दूसरे रास्ते से चला गया" इस उक्ति मे न भोजन करने का व्यापार, जो भोजन का प्रतिद्वन्द्वी है, भूतकाल के रूप मे व्यक्त किया गया है, वह अतीत को विषय हो गया है। इसलिये क्रियातिपत्ति भी अतीत विषय वाली जान पडती है। इसलिये यहाँ उसका व्यवहार भूत रूप मे किया गया है।

नागेश के अनुसार ऐसे स्थलो मे भविष्यत् आदि का आरोप किया जाता है और इस आरोपित अर्थ के द्वारा ही क्रियातिपत्ति का भविष्यत् आदि से सम्बन्ध हो पाता है—

> साधनाभावाद् अभविष्यदपि वस्तुनि भविष्यत्त्वम् आरोप्यते निषेधप्रतियोगित्वायेत्यदोषात्। सुभिक्षभवन-हेतुसुवृष्टिभवनं भविष्यत्वेन असम्भावयन् एवमभिधत्ते। एवं हि क्रियातिपत्ति. अवगता भवति—मंजूषा, पृष्ठ ९२३

व्यामिश्र काल

सस्कृत में ऐसे बहुत से वाक्य मिलते हैं जिनमें दो विरुद्ध काल एक साथ उलझे रहते हैं जैसे—

(१) भावि कृत्य आसीत्,

(२) अग्निष्टोमयाजस्य पुत्रो जनिता,

(३) साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो ये प्लावयिष्यन्ति समं ततोमी,

(४) गोमान् आसीत्, आदि।

इनमें प्रथम वाक्य में भावि शब्द में भविष्यत्काल का प्रत्यय है, आसी त् भूतकाल का है। द्वितीय वाक्य में अग्निष्टोमयाजी शब्द में भूत काल का प्रत्यय है, जनिता भविष्यत् काल है। तृतीय वाक्य में नदन्तः वर्तमानकाल का "प्लावयिष्यन्ति" भविष्यत् काल से सम्बन्ध है। चतुर्थ वाक्य में वर्तमान काल का भूतकाल से सबंध है। पाणिनि ने इस तरह के प्रयोगों की साधुता दिखाने के लिये 'धातु सम्बन्धे प्रत्यया.' ३।४।१ इस सूत्र का निर्माण किया था। धात्वर्थों में परस्पर संबंध सभव है। वह विशेषण विशेष्यभाव रूप में होता है। सुबन्तवाच्य अर्थ विशेषण होता है और तङन्त वाच्य अर्थ प्रधान होने के कारण विशेष्य होता है। अग्निष्टोमयाजी में भूतकाल विशेषण है, जनिता शब्द में भविष्यत् काल विशेष्य है। विशेषणविशेष्यसबन्ध के बल पर भूतकाल भविष्यत् काल से मिल कर भविष्यत्काल हो जाता है। अतः उपर्युक्त वाक्य का भाव हो जाता है—"इसको ऐसा पुत्र होगा जो अग्निष्टोम से यज्ञ करेगा"। इसलिये पाणिनि का उपर्युक्त सूत्र से अभिप्राय यही था कि धातु के संबध में कालान्तरविहित प्रत्यय वाले शब्दो का किसी अन्यकाल के साथ सम्बन्ध सभव हो सके और उन्हें साधु माना जाय। पर तु महाभाष्यकार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है और भर्तृहरि आदि ने इस सम्बन्ध मे महाभाष्यकार का अनुकरण किया है। कात्यायन के अनुसार प्रत्यय के यथाकाल विधान से काम चल जायगा। जिस तरह से "इन सूत्रो से साडी बनाओ' इस वाक्य से साडी की भावि व्यपदेश रूप में प्रतिपत्ति होती है उसी तरह अग्निष्टोमयाजी के भृत का जनिता के भविष्यत् के सहारे भाविव्यपदेश हो जायगा। उपपद में, विशेषण में विशेष्य के काल से अन्य काल का होना अस्वाभाविक नही है परन्तु वाक्य के सामर्थ्य से विशेषण का काल विशेष्य के काल से सम्बद्ध होकर ही भासित होगा। इसलिये सूत्र के बिना भी काम चल सकता है। किन्तु भर्तृहरि ने सूत्र की सार्थकता के पक्ष मे भी अपने विचार व्यक्त किये है। व्यामिश्रकाल में, भूत और भविष्यत् आदि के एक साथ प्रयोग को मान्यता देने के लिये सूत्र की सार्थकता है—

शुद्धे च काले व्याख्यातमामिश्रे न प्रसिध्यति।
साधुत्वमयथाकालं तन् सूत्रेणोपदिश्यते॥[१७]

इस तरह से वाक्यपदीय में ग्यारह तरह के कालभेद का विवेचन किया गया है

भूतः पञ्चविधस्तत्र भविष्यंश्च चतुर्विधः।
वर्तमानो द्विधा ख्यात इत्येकादश कल्पनाः॥[१८]

---

६७. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ६८.
६८. वही ३८.

परन्तु भर्तृहरि-दर्शन में ये सब भेद व्यवहार की सुविधा की दृष्टि से कल्पित हैं, यथार्थ नहीं हैं। कालाख्य स्वतन्त्रशक्ति भेद से सर्वथा रहित है—

> **विकल्पकपं भजते तत्त्वमेवाविकल्पितम् ।**
> **न चात्र कालभेदोऽस्ति कालभेदश्च गृह्यते ॥**[६९]

दिक् और काल

भारतीय विचार परम्परा में दिक् और काल साथ-साथ आते रहे हैं। व्याकरण में भी इनका साहचर्य है। पाणिनि ने कई नियम दोनों के लिये साथ-साथ व्यक्त किये हैं जैसे···"दिग्देशकालेष्वस्ताति.' ।५।३।२७। भर्तृहरि ने भी काल की तरह दिक् पर भी विचार किया है।

भर्तृहरि के दर्शन में दिक् और काल में कई तरह के साम्य हैं। जिस तरह वे काल को शक्ति मानते हैं वैसे ही दिक् को भी शक्ति मानते हैं —

> **शक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थितः ।**
> **दिक् साधनं क्रिया काल इति वस्त्वभिधायिना ॥**

—वाक्यपदीय, दिक् समुद्देश १

कालशक्ति क्रिया का भेदक है और दिक् शक्ति मूर्ति का (**कालात् क्रियाविभज्यन्ते आकाशात् सर्व मूर्तयः**—वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश, अधिकरण, ६)।

दिक् और काल दोनो क्रम के आधार पर भेदक होते हैं। देश भेद चलने वाले (गन्ता) की गति से स्पष्ट है। ठहरने (तिष्ठति) मे भी देश भेद है। काल भेद तो क्रमाश्रित है ही। यौगपद्य मे भी परमार्थत क्रम रहता है।

भर्तृहरि के अनुसार दिक् अवधि और अवधिमान मे भेद का हेतु है। ऋजु या वक्र के ज्ञान का निमित्त भी दिक् है। कर्म के तिर्यक् ऊर्ध्व आदि के व्यजक भ्रमण उत्क्षेपण आदि जातिभेद की अभिव्यक्ति भी दिक् के ही आश्रय से होती है। दिक् शक्ति एक है फिर भी उपाधिभेद से दश प्रकार की मानी जाती है। दिक् के सहारे ही परत्व और अपरत्व विवेचन होता है। मूर्ति (सर्वगतद्रव्यपरिमाण) मे क्रमरूप की कल्पना दिगाश्रित है। अमूर्त आकाश मे भी परत्व अपरत्व वस्तुओ के सयोग-विभाग के आधार पर औपाधिक रूप मे माने जाते हैं।[७०] इसी पूर्व अपर आदि ज्ञानो के बल पर दिक् की सत्ता का अनुमान किया जाता है (**यथा पूर्वापरादि प्रत्ययलक्षणेन कार्येण अनुमित सत्वा तथाभ्युपगन्तव्या शक्तिरूपा दिक्**—**हेलाराज, दिक् समुद्देश ७**)

भर्तृहरि ने दिक् की बाह्य सत्ता के अतिरिक्त उसकी आन्तरिक सत्ता भी मानी

---

६९. वही, द्रव्यसमुद्देश ८

७०. वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश २–५।

है। उनके अनुसार दिक् अन्तःकरण का एक धर्म है जो बाह्य रूप में, पूर्व-अपर रूप में, प्रकाशित होता है। दिक् का कोई बाह्य रूप नही है (न बाह्या काचिद् विद्यास्ति—हेलाराज, दिक् समुद्देश २३)।

अन्तःकरणधर्मो वा बहिरेवं प्रकाशते।[७१]

---

७१. वही, दिक् समुद्देश २३

६

उपग्रह-पुरुष-संख्या-विचार

उपग्रह शब्द पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों का जान पडता है यद्यपि निरुक्त और प्रातिशाख्यों मे इस शब्द का प्रयोग नही मिलता, किन्तु कात्यायन, पतंजलि आदि ने इसका व्यवहार पारिभाषिक रूप मे किया है। पाणिनि-सूत्रो मे यह शब्द नही है। पाणिनि के एक सूत्र 'चूर्णान्यप्राणिषष्ठ्या' ६।२।१३४ का पाठभेद 'चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहात्' इस रूप मे मिलता है। इसका उल्लेख काशिका मे वामन ने किया है। इसमें उपग्रह शब्द है। वामन के अनुसार पूर्व के आचार्य षष्ठ्यन्त को उपग्रह कहते थे:

चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहादिति सूत्रस्य पाठान्तरम्। तत्रोपग्रह इति षष्ठ्यन्तमेव पूर्वाचार्यानुरोधेन गृह्यते।—काशिका ६।२।१३४

पूर्वाचार्या हि षष्ठ्यन्तमुपग्रह इत्येवमुपचरन्ति स्म।

—न्यास ६।२।१३४

किन्तु आख्यातगम्य उपग्रह षष्ठ्यन्त-उपग्रह से भिन्न है। आख्यातगम्य उपग्रह शब्द का प्रयोग कात्यायन ने उपग्रह प्रतिषेधश्च (वार्तिक ३।२।१२७) मे किया है। महाभाष्य मे पारिभाषिक उपग्रह शब्द का व्यवहार कई स्थलो पर मिलता है। जैसे—

न निष्ठापरस्यानुप्रयोगेण पुरुषोपग्रहौ विशेषितौ स्याताम्।

महाभाष्य ३।१।४०

सुप्तिङुपग्रह लिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेन॥

—महाभाष्य ३।१।८५

तिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते।

—महाभाष्य ३।१।६७

उपग्रह की परिभाषा

स्कन्दस्वामी ने उपग्रह के स्वरूप बतलाते हुए उसे कर्तृगामी और परगामी लक्षण वाला माना है। आत्मनेपद के उच्चारण से फल कर्तृगामी जान पड़ता है और परस्मैपद

के उच्चारण से फल परगामी जान पड़ता है :—

> **उपग्रहः कर्तृगामि परगामित्व लक्षणः। स्वरितञितः आत्मनेपद उच्चारिते ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इति कर्तृगामिफलत्वं प्रतीयते। परस्मैपदे तु यजन्ति याजका इति परगामिफलत्वम्।**[1]

जिनेन्द्र बुद्धि के अनुसार उपग्रह एक तरह का क्रिया विशेष है परन्तु उससे आत्मनेपद और परस्मैपद इसलिये गृहीत होते हैं कि वे ही उसकी अभिव्यक्ति में निमित्त हैं—

> **लादेश व्यङ्ग्यः क्रियाविशेषो मुख्य उपग्रहः। इह तु तद् व्यक्तिनिमित्तत्वात् परस्मैपदात्मनेपदयोर्वर्तते।**[2]

इसको भट्टोजि दीक्षित ने यों कहा है:—

> **लादेश व्यङ्ग्यः क्रियासाधनविशेषरूपः स्वार्थपरार्थत्वादिश्चोपग्रहशब्दस्य वाच्यः।**[3]

इन सब उक्तियो का आधार वाक्यपदीय है। उपग्रह की परिभाषा वाक्यपदीय मे ही सर्वप्रथम देख पड़ती है। वह यो है:—

> **य आत्मनेपदाद् भेदः क्वचिदर्थस्य गम्यते।**
> **अन्यतश्चापि लादेशान्मन्यन्ते तमुपग्रहम्॥**[4]

आत्मनेपद या परस्मैपद के प्रयोग से क्रिया या साधन के किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है जिसका सम्बन्ध सीधे कर्त्ता से होता है अथवा कर्त्ता से अन्य किसी दूसरे से होता है। इसी क्रिया या साधन के विशेष को उपग्रह कहा जाता है। हेलाराज के अनुसार पूर्वाचार्यों ने इसी अर्थ मे उपग्रह शब्द का व्यवहार किया था और उसी आधार पर उसी अर्थ मे यह शब्द संप्रति व्याकरण-दर्शन मे गृहीत है :—

(पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्योपग्रहशब्दवाच्योऽयमर्थो व्यवहृयतेऽत्र शास्त्रे—हेलाराज, उपग्रह-समुद्देश १)।

साधन उपग्रह रूप में

कर्म, कर्त्ता जैसे साधन आत्मनेपद से व्यंग्य होने के कारण उपग्रह कहीं कही कहे जाते हैं। जैसे, 'पच्यते', 'गम्यते' जैसे शब्दों मे आत्मनेपद से कर्म द्योतित होता है। एधते,

---

१. निरुक्तभाष्यम् पृष्ठ १, डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित।
२. काशिका विवरण पंजिका ३।१।८५
३. शब्द कौस्तुभ पृष्ठ ८६१(चौखम्बा संस्करण)
४. वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश १

याति जैसे शब्दों में आत्मनेपद और परस्मैपद से कर्ता अन्य है। कभी कभी भाव भी साधन के रूप में व्यवहृत होता है और वह आत्मनेपद से अभिव्यक्त होता है। जैसे आस्ते, शय्यते जैसे पदो में आत्मनेपद के द्वारा ही भाव की अभिव्यक्ति होती है, भाव क्रिया के एकपदवाच्य साधनावेश को अभिव्यक्त करता हुआ स्वयं साधन हो जाता है। कभी कभी उपग्रह साधन के विशेषणरूप मे व्यक्त होता है, विशेषकर व्यक्तवाक् के अर्थ मे। जैसे "सप्रवदन्ते ब्राह्मणा." इस वाक्य मे उपग्रह साधन का विशेषण है। यद्यपि शुक, सारिका आदि के उच्चारण मे भी वर्णों के स्पष्ट उच्चारण जान पड़ते हैं किन्तु वे सीमित या इने-गिने वर्णों मे ही स्पष्ट जान पडते हैं और वह भी पुरुष के प्रयत्न से, बहुत दिन तक सिखाने-रटाने से संभव हो पाते हैं। इसलिये उनके लिये 'वदन्ति' शब्द का ही प्रयोग होता है 'वदन्ते' शब्द का नही।

क्रियाविशेष उपग्रह रूप में

कभी कभी क्रियाविशेष उपग्रह होते हैं। जैसे गन्धन (पीड़ा पहुचाने वाली निन्दा) और अवक्षेपण (भर्त्सना) धातु से वाच्य क्रियाविशेष होते हुये भी जब तक आत्मनेपद से न व्यक्त किये जाय तब तक अनभिव्यक्त ही रहते हैं। जैसे, उत्कुरुते। इस शब्द से हिंसात्मक निन्दा का अर्थ आत्मनेपद के प्रयोग से ही जान पडता है। इसी तरह "श्येनः वर्तिकाम् उदाकुरुते" इस वाक्य मे श्येन द्वारा वर्तिका की भर्त्सना उदाकुरुते मे आत्मनेपद के प्रयोग से अवगत होती है। इसी तरह कर्मव्यतिहार भी क्रियाविशेषण के रूप मे आत्मनेपद से व्यंग्य होकर उपग्रह होता है। कर्मव्यतिहार का अभिप्राय यहां क्रिया-व्यतिहार है। जब एक सम्बन्धी क्रिया को कोई दूसरा व्यक्ति करने लगता है और दूसरे के लिये नियत क्रिया को जब पहला व्यक्ति करने लगता है उसे कर्म व्यतिहार अथवा क्रिया-व्यतिहार कहते हैं (**यत्रान्य सबन्धिनीं क्रियामन्यः करोति, इतर सम्बन्धिनीं चेतरः स कर्म व्यतिहार —काशिका १।३।१४**)। क्रिया के साध्यस्वभाव के होने के कारण, क्षणस्थायि होने के कारण उनमे व्यतिहार अथवा विनिमय यद्यपि संभव नही है फिर भी साध्य-साधन का विपर्यास संभव है। योग्यतावश से अमुक व्यक्ति की यह क्रिया साध्य है और अमुक का यह साधन है इस तरह के ज्ञान होते हुये भी जब साध्यसाधनभाव मे व्यत्यास हो जाता है उसे क्रियाव्यतिहार कहते हैं। वस्तुत. क्रिया अभी करने वाले को अभीष्ट रहती है, "मैं इस क्रिया को करूंगा" इस तरह के विचार उसके मन में रहते हैं तभी कोई दूसरा व्यक्ति उस क्रिया को करने लगे तो क्रिया व्यतिहार होता है जैसे-व्यतिलुनीते। इसका अभिप्राय है कि अन्य द्वारा काटे जाने वाले धान को पहले ही कोई दूसरा काट रहा है। यहा आत्मनेपद से यही व्यत्यास द्योतित है। फलतः क्रियाव्यतिहार भी उपग्रह माना जाता है। क्रिया व्यतिहार में तो आत्मनेपद होता है परन्तु साधनकर्म व्यतिहार मे नहीं होता, जैसे देवदत्तस्य धान्य व्यतिलुनन्ति (देवदत्त द्वारा संग्रहीत धान्य को कोई अन्य संग्रह कर रहे हैं)। यहा अन्य सम्बन्धी धान्य का अन्य द्वारा संग्रह किये जाने के कारण साधन-

कर्म-व्यतिहार है। इसे परस्मैपद से ही व्यक्त किया जाता है। कभी कभी परस्परकरण भी क्रिया व्यतिहार होता है जैसे—'संप्रहरन्ते राजान.।' इस वाक्य में एक ही क्रिया संचारिणी सी जान पड़ती है। क्रिया व्यतिहार प्रायः उपसर्ग से द्योतित किये जाते हैं (उपसर्गाश्च प्रायः कर्मव्यतिहारद्योतनाय प्रयुज्यन्ते—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।३।१६) उपसर्गों मे भी प्रायः व्यति (वि और अति) ही क्रियाव्यतिहार के लिए प्रयुक्त होते हैं। कभी कभी सम् भी प्रयुक्त होता है। क्रिया व्यतिहार प्राय· अनेक कर्तृक होता है इसलिये उसके लिये क्रियाशब्द सदा बहुवचन में ही होता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। किन्तु "अन्यो व्यतिस्ते तु ममापि धर्म" जैसे वाक्यों मे एकवचन का प्रयोग भी देखा जाता है।

विषयभेद के आधार पर क्रिया विशेष उपग्रह रूप में

एक ही क्रिया विषयभेद से भिन्न-भिन्न मान ली जाती है और उसके भिन्न स्वरूप आत्मनेपद और परस्मैपद से द्योतित किये जाते हैं। पचति और पचते मे अन्तर है। पचति शब्द मे परस्मैपद इस बात का द्योतक है कि पकाने वाले की पकाने की क्रिया जीविका रूप में है, वह केवल भृत्य की तरह का व्यापार है। यहां प्रधान क्रिया-फल कर्तृगामी नही है, भृत्य के लिये वेतन मात्र फल है। किन्तु पचते मे आत्मनेपद से यह ध्वनित होता है कि पाक-क्रिया का प्रधान फल कर्त्ता को मिलेगा। कर्त्ता अपने लिये ही पका रहा है। विषयभेद के आधार पर क्रिया का भेद वाक्य मे भी दिखाई दे सकता है।, जैसे"स्वं यज्ञं यजते" और "स्व यज्ञ यजति"। यह भ्रम हो सकता है कि परस्मैपद से द्योत्य (यजति) प्रधान क्रिया-फल कर्तृगामी नही होगा। ऐसे भ्रम के निवारण के लिये ही 'विभाषोपपदेन प्रतीयमाने' (१।३।७७) सूत्र की आवश्यकता है। अर्थात् उपपद (समीप मे उच्चरित, न कि पारिभाषिक) से द्योत्य क्रियाफल कर्तृगामी होगा चाहे वह आत्मनेपद से द्योत्य हो अथवा परस्मैपद से। फलत: 'स्व कटं करोति और स्वं कट कुरुते' मे फल की दृष्टि से कोई अन्तर नही है।[५] वस्तुत. इन वाक्यो मे प्रधानफल का कर्तृगामित्व के रूप मे बोध स्व शब्द की शक्ति के कारण होता है। अत विषयभेद से क्रिया भेद के आधार पर कही कही क्रियाविशेषण भी उपग्रह हो सकते हैं।

इस प्रसंग मे महाभाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि याति, वाति जैसी क्रियाओ मे आत्मनेपद क्यो नही होता। क्योकि जब क्रिया-फल कर्तृ-अभिप्राय वाला (कर्तृगामी) हो, आत्मनेपद होता है। एक तरह से सभी क्रिया-फल कर्तृ-अभिप्राय वाले होते हैं। इसका समाधान स्वय उन्होने किया है। उनका कहना है कि उन धातुओ से आत्मनेपद होगा, जिनके क्रिया-फल कर्तृ-अभिप्रायवाले और अकर्तृ-अभिप्राय वाले भी होगे। या, वा जैसे धातु कर्तृगामी और अकर्तृगामी भी क्रिया-फल

---

५. वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश ३.

वाले नहीं हैं। इसलिये इनसे आत्मनेपद नहीं होता। पाणिनि ने, महाभाष्यकार के अनुसार, ऐसे भी स्वरित ञित् धातु पढ़े हैं जिनके क्रियाफल कर्तृगामी भी हैं और अकर्तृगामी भी हैं। फलतः "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" १।१।७२ इस सूत्र में स्वरितञित् की आवश्यकता नहीं है।[६] यद्यपि पाणिनि ने धातुओं में ञ आदि अनुबन्ध को लक्ष्य कर ही स्वरितञित् ग्रहण किया होगा और इस दृष्टि से स्वरितञित् की सार्थकता भी है परन्तु प्रत्याख्यान के पक्षपाती ञकार आदि अनुबन्धों को धातु की स्वाभाविक शक्ति के द्योतक मानते हैं (स्वाभाविको हि धातूनां शक्तिः नियतविषया, ञकाराद्यनुबन्ध तदवगमाय कृतो गणकारै —हेलाराज, उपग्रहसमुद्देश ११)। भर्तृहरि के अनुसार ञकार आदि अनुबन्ध स्मरणार्थक हैं। जो लोग केवल प्रयोग से धातु के स्वाभाविक अर्थ के समझने में असमर्थ हैं उनके लिये अनुबन्धों का विन्यास किया गया है। प्रयोगज्ञ के लिये उनकी आवश्यकता नहीं है।

अनुबन्धश्च सिद्धेऽर्थे स्मृत्यर्थमनुषज्यते[७]

कुछ लोगों के अनुसार स्वार्थ की दृष्टि से जब क्रिया आरंभ की जाती है, आत्मनेपद होता है। परार्थ की दृष्टि से जब क्रिया का आरभ होता है, परस्मैपद होता है परन्तु एक तरह से सभी क्रिया स्वार्थ के लिये ही होती हैं। महाभाष्यकार ने इसे इस रूप में व्यक्त किया है—"सभी व्यक्ति अपने अपने लाभ के लिये ही क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं। जो गुरु की सेवा दिन-रात किया करते हैं वे भी वस्तुत अपने स्वार्थ के लिये ही ऐसा करते हैं। हमे पुण्य मिलेगा और प्रसन्न होकर गुरु हमें पढ़ावेगा ऐसी उनकी भावना गुरु सेवा मे अन्तर्हित रहती है। जो कमकर (कर्मकर) हैं वे भी स्वार्थ-भावना से ही काम करते हैं। हमे अन्न-वस्त्र मिलेंगे और फटकार न सुननी पड़ेगी ऐसी उनकी अभिलाषा रहती है। शिल्पी भी वेतन और मित्र की अभिलाषा से ही अपने काम मे प्रवृत्त होते हैं।"[८] स्वार्थता ही पारमार्थिक (सत्य) है और परार्थता असत्य है। अत. कुछ लोग स्वार्थता-परार्थता को विवक्षाधीन मानते हैं। कुछ लोग स्वार्थता मे स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण उसे विवक्षा-निमित्त नही मानते, केवल परार्थता को विवक्षा-निबन्धन मानते है। कुछ लोग प्रधानफल की दृष्टि से स्वार्थता और परार्थता दोनों को वास्तविक मानते हैं। कैयट ने स्वार्थपरार्थता की दृष्टि से भी स्वरितञित् ग्रहण को प्रत्याख्येय माना है क्योकि जहाँ स्वार्थ-परार्थ दोनो की विवक्षा होगी वही सूत्र की प्रवृत्ति होगी। याति आदि क्रियाओ मे परार्थता सभव नही है इसलिये वहां आत्मनेपद की प्राप्ति ही न होगी। फलत उपर्युक्त सूत्र मे स्वरितञित् ग्रहण की आवश्यकता नही है।

---

६. महाभाष्य १।३।७२
७. वाक्यपदीय ३, उपग्रहसमुद्देश १२.
८. महाभाष्य, ३।१।२६

कुछ लोग मानते हैं कि संविधानवृत्ति वाले धातुओं से आत्मनेपद होता है। संविधान शब्द के दो तरह से अर्थ किये जाते हैं। एक मत के अनुसार संपूर्ण धात्वर्थ की प्रवृत्ति के अनुकूल प्रवर्तना नामक व्यापार को सविधान कहते हैं। (सविधानं कृत्स्न-धात्वर्थ-प्रवृत्त्यनुकूलः प्रवर्तनाख्यो व्यापार.)। दूसरे मत के अनुसार क्रिया की सिद्धि के लिये आवश्यक सामग्री का सघटन ही संविधान है (**संविधानं सामग्रीसंघटनरूपम् —महाभाष्यप्रदीपोद्योत** १।३।७२)। इस मत के अनुसार पचते का भाव पकवाता (पाचयति) है। यजते और याजयति का अर्थ समान है। धातु के अनेक अर्थ होते हैं। जब धातु की प्रकृति से ही संविधान (सामग्रीसंघटन) अर्थ व्यक्त हो, उसका द्योतक आत्मनेपद होता है। जब प्रकृति से संविधान अर्थ न झलकता हो, उसकी अभिव्यक्ति के लिये णिच् (पाचयति) का आश्रय लिया जाता है। जब कर्तृ-अभिप्राय-क्रियाफल के लिये ण्यन्त से आत्मनेपद होता है, द्वितीय सविधान में ण्यन्त की वृत्ति की कल्पना करनी चाहिये। जैसे, "राजा पाचयते" मे। कर्तृ-अभिप्राय-क्रियाफल मे आत्मनेपद विधान करने से संविधानलक्षण ही क्रियाविशेष लक्षित होता है। कुछ लोग आत्मनेपद मे और णिच् मे अन्तर मानते हैं। यजते और याजयति कहने मे शाब्दी प्रतीति भिन्न भिन्न होती है। यजते से ज्ञात होता है कि फल चाहने वाला व्यक्ति स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र रूप में याग की भावना कर रहा है। यहाँ किसी अन्य के प्रेरक होने की ध्वनि नही है। याजयति कहने से जान पड़ता है याग की प्रेरणा अन्यत्र से आ रही है, याग पर-प्रयुक्त है। इसलिये आत्मनेपद और णिच् के विषय भिन्न भिन्न मानने चाहिये। सवि-धान मे आत्मनेपद और प्रैष मे णिच् मानना उपयुक्त है। जिस धात्वर्थ मे पारार्थ्य (पर का प्रेरक भाव) किसी दूसरे शब्द के साहचर्य से अवगत होता है वहा आत्मनेपद नही होता, जैसे, उक्तः करोति (कहने पर करता है)। इसी तरह अजा नयति ग्रामम् और अजां नयते ग्रामम् मे अर्थ की दृष्टि से सूक्ष्म भेद है। पहले वाक्य में परस्मैपद से भृत्य का कर्तृत्व द्योतित है जब कि दूसरे वाक्य मे आत्मनेपद से स्वामी का कर्तृत्व अभिप्रेत है।

जो लोग णिच् के साथ आत्मनेपद का विकल्प मानते है अर्थात् यजते और याजयति का प्रयोग एक अर्थ मे करते हैं उनके सिद्धान्त के आधारभूत कुछ शिष्ट प्रयोग हैं। जैसे, वपते, धत्ते, चिनुते आदि। "केशश्मश्रु वपते" यह एक शिष्ट प्रयोग है। वपन का अर्थ मुण्डन है। यहा आत्मनेपद से कर्तृगामी क्रियाफल जान पड़ता है। परन्तु प्राचीन काल मे बाल स्वयं नही बनाते थे अत· वाक्य के सामर्थ्य से दूसरा व्यक्ति (नापित आदि) से बाल बनवाने का अर्थ उपर्युक्त वाक्य से भासित होता है। यहां णिच् और आत्मनेपद का समान विषय हो गया है। शिष्टों का एक दूसरा वाक्य है "तृप्ता पत्नी रेतो धत्ते"। इस वाक्य मे यद्यपि धत्ते शब्द का प्रयोग है परन्तु इसका अर्थ धापयति है। क्योंकि रेतस् का धारण पुरुष-इन्द्रिय मे संभव है, स्त्री-इन्द्रिय मे नहीं। यहां भाव यह है कि तृप्त पत्नी रेतस् का आधान करवाती है। धत्ते क्रिया में आत्मनेपद से धारणस्वातंत्र्य मात्र झलकता है। विशेष अर्थ पत्नी शब्द के

साहचर्य से और वाक्यार्थ के पर्यालोचन से समझ पड़ता है। ऐसे उदाहरणों में अर्थ के सामर्थ्य से जिस ण्यर्थ की उपलब्धि होती है उसकी आत्मनेपद से ही उपलब्धि का भ्रम होना स्वाभाविक है। और इस भ्रान्ति के आधार पर आत्मनेपद और णिच् के विकल्प का सिद्धान्त खड़ा है। परन्तु नागेश इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मत में विकल्प-उक्ति असंगत है। वपते, चिनुते आदि प्रयोग अन्तर्भावितण्यर्थ के आधार पर उपपन्न हो सकते हैं। अथवा प्रकरण आदि के बल पर उनका तात्पर्य समझा जा सकता है और इस तरह की बात परस्मैपद के प्रयोगों के साथ भी दिखाई दे सकती है—

> **चिनुते इत्यादिप्रयोगश्च अन्तर्भावितण्यर्थतया उपपाद्य : प्रकरणादिकं च तात्पर्यग्राहकम्। कदाचित् परस्मैपदेऽपि तत् प्रतीत्या तस्यावश्यकत्वाच्च।[९] वस्तुत णिच् प्रेरणावाची।···किञ्च सामान्यविहितस्य णिचो धातुविशेषाद् विहितेनात्मनेपदेन बाध एवोचित·।[१०]**

अकर्तृ-अभिप्राय-क्रियाफल मे भी आत्मनेपद देखा जाता है यदि अण्यन्तावस्था का कर्म ण्यन्त मे कर्म होता हुआ भी कर्त्ता के रूप मे व्यवहृत हो। जैसे, आरोहयते हस्ती स्वयमेव। अण्यन्तावस्था मे यह वाक्य "आरोहन्ति हस्तिन हस्तिपका:" के रूप में था। हस्तिन् शब्द कर्म था। वही कर्म ण्यन्तावस्था मे कर्म होता हुआ कर्त्ता हो गया है। इसलिए यहा आत्मनेपद है। एक ही समय मे एक ही शब्द कर्म और कर्त्ता दोनों कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि धर्म भेद से ऐसा सम्भव है। एक वस्तु-धर्म है, दूसरा विवक्षा-धर्म है। हस्ती पर आरोहण किया जाता है, वह आरुह्य है, अत: वस्तु-धर्म के कारण उसमे कर्मत्व है। स्वातन्त्र्य की विवक्षा से उसमे कर्तृत्व भी है। आङ्पूर्वक रुह् धातु से दो क्रियाएँ अवगत होती है न्यग्भवन् (नीचे झुकना) और न्यग्भावन (झुकवाये जाना)। न्यग्भवन क्रिया मे हस्ती कर्त्ता है। न्यग्भावन क्रिया मे हस्तीपक कर्त्ता है। झुकते हुए हाथी को हस्तीपक (पिलवान) झुकाता है। किन्तु अच्छी तरह से सिखाया हुआ और सरल हाथी न्यग्भवन क्रिया मे अनुकूल हो जाता है। उस दशा मे हस्ती हस्तीपक के प्रयोजक होता है और हस्तीपक प्रयोज्य होता है। "मुझ पर आरोहण करो" इस भावना से हस्ती हस्तीपक का प्रयोजक होता है। प्रयोज्य प्रयोजक भाव की विवक्षा मे णिच् होता है। पुन. हाथी इतना कुशल हो सकता है कि उसे किसी प्रयोज्य की अपेक्षा न हो। उस अवस्था मे रुह् का अर्थ न्यग्भवन मात्र है और ऐसे ही समय पर "आरोहयते हस्ती स्वयमेव" प्रयोग किया जाता है। प्रयोज्य प्रयोजक भाव की निवृत्ति होने पर भी णिच् की निवृत्ति नही होती। क्योंकि निवृत्ति के कारण का यहा अभाव है। जैसे देवदत्त के व्यापार की निवृत्ति होने पर भी "पच्यते ओदन स्वयमेव" कहते हैं अर्थात् पच् की पाक से निवृत्ति

---

९. महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।७२, पृष्ठ २६१, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

१०. मंजूषा, पृष्ठ ६४०

नही होती वैसे ही प्रयोज्यप्रयोजक व्यापार के निवृत्त हो जाने पर भी णिच् की निवृत्ति नहीं होती। कर्मकर्तृ की अवस्था को भर्तृहरि ने पंचमी अवस्था मानी है। अर्थ-विभाग-भूमि की अन्तिम अवस्था पांचवीं अवस्था मानी जाती है और वह प्रायोगिक होती है :—

> यावतीषु सोपानस्थानीयासु पदं विन्यस्येय प्रायोगिकी पर्यन्तभूमिः प्राप्यते ता अन्तरालभाविन्यो गम्यमाना भूमयोऽवस्थाशब्दवाच्या ।[11]

न्यग्भवन और न्यग्भावन दो रूप शुद्ध रुह् (णिच् रहित रुह्) से प्रतीत होते हैं। ये दो रूप णिच् सहित रूप से भी व्यक्त किए जाते हैं। ये चार अवस्थाएँ हैं। पाचवीं अवस्था कर्मकर्तृ अवस्था से द्योतित होती है :

> न्यग्भावना न्यग्भवनं रुहौ शुद्धे प्रतीयते।
> न्यग्भावना न्यग्भवनं ण्यन्तेऽपि प्रतिपाद्यते ॥
> अवस्था पंचमीमाहु. ण्यन्ते तां कर्मकर्तरि।
> निवृत्तप्रेषणाद् धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते ॥[12]

(१) आरोहन्ति हस्तिन हस्तिपका,
(२) आरुह्यते हस्ती स्वयमेव,
(३) आरोहयन्ति हस्तिन हस्तिपका,
(४) आरोहयते हस्ती स्वयमेव।

इन वाक्यो मे एक ही व्यापार को सौकार्य-असौकार्य के आधार पर विभिन्न रूपो मे व्यक्त किया गया है। कैयट ने इसे एक-दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है —

(१) लुनाति केदार देवदत्त.,
(२) लूयते केदार स्वयमेव,
(३) लावयते केदार स्वयमेव।

इनमे प्रथम दो वाक्यो का कर्मकर्त्ता ण्यन्त वाले तीसरे वाक्य मे भी कर्मकर्त्ता है। ऐसा इसलिए होता है कि लुनाति क्रिया का अर्थ द्विधाभवन और द्विभाभावन भी है। "लुनाति केदार देवदत्त" ऐसा कहने से "खण्ड होते हुए धान को खण्ड-खण्ड कर रहा है" ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। जब धान के सौकार्यातिशय को प्रकट करने की इच्छा होती है, देवदत्त के व्यापार की विवक्षा नही की जाती है। तब लुनाति-क्रिया का अर्थ केवल द्विधाभवन है। धातु के अनेक अर्थ होते हैं इस आधार पर ऐसा कहा जाता है। अथवा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले धातु वस्तुत. भिन्न-भिन्न होते हैं। सारूप्य के कारण वे एक-से जान पडते है। अस्तु, द्विधाभवन में केदार का कर्तृत्व हैं उसमे कर्म-कार्य

---

११. हेलाराज, वाक्यपदीय साधनसमुद्देश पृ० २११, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।६७.
१२. वाक्यपदीय, साधनसमुद्देश ५९, ६०.

का अतिदेश किया जाता है। फलतः "लूयते केदारः स्वयमेव" प्रयोग उपपन्न होता है। जहां पर देवदत्त हाथ में हंसुवा (दात्र) लिए दिखाई देता है वहां भी सौकार्य की विवक्षा से उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है। सूर्य की किरणो से सूखे हुए जर्जर धान के डठल स्वय विशीर्ण हो जाते हैं—उन्हे काटने मे कुछ भी कठिनाई नही पडती। यह दूसरी अवस्था है। पहली अवस्था मे केदार के द्विधाभवन की बुद्धि होती है, केदार मे काटे जाने की योग्यता देख कर ही व्यक्ति उसमे प्रवृत्त होता है। द्वितीय अवस्थां मे यह भाव झलकता है कि धान अन्य द्वारा नही, स्वय अपने आप ही कट रहा है। इस अवस्था मे भी स्वयं पद कहने की विशेष आवश्यकता नही है। "लूयते केदार" इतना पर्याप्त है। क्योकि यदि स्वय का अर्थ अपने द्वारा है तो अपनी अपेक्षा से कर्मत्व है ही। अथवा "स्वयम्" शब्द से अपना करणत्व प्रतिपादन किया जाता है न कि कर्तृत्व। प्राचीन वृत्तिकार स्वय पद से अन्य कर्त्ता का परिहार समझते थे। इसके बाद तीसरी अवस्था आती है। द्विधाभवन अर्थ वाली लुनाति-क्रिया मे देवदत्त-प्रयोजक-व्यापार मे णिच् उत्पन्न होता है और "लावयति केदारं देवदत्त" यह वाक्य सामने आता है। इस वाक्य का वही अर्थ है जो "लुनाति केदार देवदत्तः" इस वाक्य का है। "लुनाति केदारम्" इस अवस्था की अपेक्षा तीसरी अवस्था मे णिच् विशेष है। णिजर्थव्यापार, प्रकृत्यर्थ और फलसमानाधिकरण व्यापार के त्याग मे चतुर्थी अवस्था होती है। स्वयं द्विधाभवन मे प्रवृत्त केदार को क्षेम के लिए काटने वाला (लविता) प्रवृत्त करता है। यह चतुर्थी कक्षा है। इसके बाद सौकार्यातिशय की दृष्टि से जब देवदत्त के व्यापार की भी विवक्षा नही होती है, द्विधाभवन कार्य लावयति-क्रिया मे समझा जाता है। "लूयते केदार· स्वयमेव" का जो अर्थ है वही अर्थ "लावयते केदार स्वयमेव" का है। यही पंचमी अवस्था है। इसमे प्रयोक्त व्यापार की अविवक्षा होती है। प्रयोज्य प्रयोजकभाव की निवृत्ति होने पर भी णिच् की निवृत्ति नही होती। उपाय के निवृत्त होने पर भी उपेय निवृत्त नहीं होता। सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति के लिए प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना करनी पडती है और अर्थ का आदान या त्याग भी उसी दृष्टि से किया जाता है। लौकिक व्यवहार मे सौकार्य की अपेक्षा से प्राय "लावयते केदार·" इतना ही कहते है। यह पक्ष व्याकरण संप्रदाय मे "निवृत्तप्रेषण पक्ष" के नाम से प्रसिद्ध है। इससे कुछ भिन्न एक दूसरा पक्ष है जिसे "अध्यारोपितप्रेषणपक्ष" कहा जाता है।

अध्यारोपित प्रेषण पक्ष के अनुसार प्रक्रिया यो है—

(१) लुनाति केदारं देवदत्तः,

(२) लावयति केदारो देवदत्तेन,

(३) लावयते केदारः स्वयमेव।

यहां दूसरे वाक्य में केदार के व्यापार मे णिच् हुआ है। काटते हुए देवदत्त का प्रयोक्ता केदार हो रहा है सौकार्यातिशय से। प्रयोज्यप्रयोजक की अविवक्षा मे तीसरा वाक्य उपपन्न होता है।

निवृत्तप्रेषणपक्ष और अध्यारोपितप्रेषणपक्ष मे व्याकरण की दृष्टि से यह

अन्तर है कि पहले पक्ष के अनुसार 'णेरणौ यत्कर्म' १।३।६७ इस सूत्र के बिना भी "लावयते केदारः स्वयमेव" में आत्मनेपद सिद्ध हो सकता है कर्मवद्भाव के द्वारा। दूसरा पक्ष उपर्युक्त सूत्र की सत्ता रहते ही संभव है। दूसरी प्रक्रिया में कर्मवद्भाव की प्राप्ति नही है। कुछ लोग "आरुह्यते हस्ती स्वयमेव" में कर्मवद्भाव दिखाते हैं। कैयट के अनुसार यह उपयुक्त नही है। क्योंकि क्रिया का तात्पर्य विशेषदर्शन से अथवा शब्दार्थ के आधार पर निश्चित होता है। ये दोनों ही कारण आरोहण क्रिया की कर्तृस्थता प्रतिपादन करते हैं, उसकी कर्मस्थता नही व्यक्त करते हैं। क्योंकि हस्तिनम् आरोहति, वृक्षम् आरोहति, पर्वतम् आरोहति जैसे वाक्यों में कर्म के भेद होते हुये भी आरोहण में कोई रूपभेद नही जान पडता है। इन प्रयोगों में कर्म मे किसी प्रकार की विशेषता क्रियाकृत नही दिखाई देती है। धातु के द्वारा यहा कर्तृगत ही क्रिया प्रतिपादित है, कर्मगत नही। भाष्यकार ने भी रुह् को गति-विशेष अर्थ वाला मान कर इसके कर्तृस्थक्रियात्व को ही परिपुष्ट किया है।[13]

"स्मरयति एनं वनगुल्म स्वयमेव" इस वाक्य मे आत्मनेपद स्मरणार्थक मे निषेध के कारण नही होता है। आरोहन्ति हस्तिन हस्तिपका तान् आरोहन्ति हस्ती इसमे भी आत्मनेपद वृत्तिकार के अनुसार नही होना चाहिये। परन्तु भागवृत्तिकार यहा आत्मनेपद का प्रयोग चाहते हैं। माघ ने भी ऐसे स्थलो पर आत्मनेपद का प्रयोग किया है :

> **वृत्तिकृता नेष्यते। भागवृत्तिकारेण त्विष्यते। तथा माघः प्रयुंक्ते-"करेणुरारोहयते निषादिनम्"-इति।**[14]

कही-कही पचति जैसी क्रियाओ से भी सविधान अर्थ की प्रतीति होती है। यद्यपि पच् का प्रधान अर्थ तण्डुल की विक्लित्ति है परन्तु महाभाष्यकार ने 'हेतुमति च' ३।१।२६ के भाष्य मे प्रेषण और अध्येषण को भी पच् का अर्थ माना है। संविधान—अर्थ सामग्री संघटन रूप अर्थ के व्यक्त करने पर भी पचति के अर्थ मे णिच् नही होता। प्रयोज्यप्रेषण की विवक्षा मे णिच् होता है और पाचयति प्रयोग उपपन्न होता है। अस्तु, पचति से देवदत्त के अधिश्रयण, उदकासेचन (चावल को जल से धोना) आदि व्यापार व्यक्त होते है, पचते से सभी भोजन सम्भार-व्यापार व्यक्त होता है। पाचयति से प्रयोज्यत्व प्रकट होता है। सविधान ही प्रैष नही है। अपितु सविधान-पूर्वक प्रेरण को प्रैष कहते हैं, जिसे करते हुये व्यक्ति प्रयोजक कहा जाता है। सविधान के करते हुये भी जब तक वह प्रेरणा का कार्य नही करता, उसे प्रयोजक नहीं कहा जाता है।

कर्तृ-अभिप्राय-क्रियाफल से संविधान-क्रिया का निर्देश किया जाता है। जैसे "नक्षत्रं दृष्ट्वा वाच विसृजेत्" वाक्य मे नक्षत्र-दर्शन कालविशेष का उपलक्षण है

---

१३. महाभाष्यप्रदीप १।३।६७

१४. पदमंजरी १।३।६७

वैसे ही कर्तृ अभिप्राय क्रियाफल संविधान का उपलक्षण है। बिना किसी क्रिया के अनुष्ठान के कोई फल नहीं होता। याजक को स्वर्ग-फल किसी क्रिया द्वारा ही संभव है। अतः कार्यभूत फल से कारणभूत क्रिया लक्षित होती है और ऐसी क्रिया से आत्मनेपद का विधान किया जाता है।

महाभाष्यकार ने उदुम्भाम्बकार में आत्मनेपद की प्राप्ति का प्रश्न उठाया है। जिस तरह से याति आदि क्रियाओं में संविधान के अभाव में आत्मनेपद नहीं होता है वैसे ही उम्भ के साथ भी संविधान के अभाव में आत्मनेपद नही होना चाहिये। उम्भ के संविधान बोधक न होने के कारण उसके साथ की करोति-क्रिया भी सविधान के अर्थ मे गृहीत न होगी। फिर भी महाभाष्यकार के संदेह से ऐसा मानना पडता है कि शब्दशक्ति के स्वभाव के बल उम्भ आदि भी कभी-कभी सविधान-अर्थ मे व्यवहृत होते हैं। उम्भ के सविधान से सहयोग होने के कारण उसके साथ की करोति-क्रिया भी सविधान-अर्थ मे मानी जायगी। अतः आत्मनेपद की प्राप्ति सभव है। इसका परिहार 'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य, १।३।६३ सूत्र मे पूर्ववत्सन'' १।३।६२ से पूर्ववद् ग्रहण की अनुवृत्ति कर आम् प्रत्ययवत् सूत्र को विध्यर्थक और नियमार्थक बना कर किया जाता है। यहा तात्पर्य यह है कि स्वरितञित् से व्यतिरिक्त धातुओ का सविधान से सर्वथा अयोग ही नही होता, कभी-कभी योग भी होता है। फिर भी शब्दशक्ति के नियत होने के कारण वे सविधान जन्य आत्मनेपद लाने मे असफल होती है। इसी तरह णिच् योग्य अर्थ के अभिधान मे समर्थ सभी धातुओ से सविधान की प्रतीति नहीं होती। शब्दो की अर्थ-प्रत्यायन की शक्ति स्वाभाविक होती है, युक्तिगम्य नही। एक ही क्रियाशब्द से जैसे "पचत" से दो साधन की अभिव्यक्ति हो सकती है परन्तु दो लिंग की अभिव्यक्ति नही होती। आख्यात से लिंग की पुंस्त्व आदि की प्रतीति नही होती। आख्यात से सख्यायुक्त द्रव्यात्मक साधन की प्रतीति होती है। "देवदत पचति" मे इसी आधार पर द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य माना जाता है और इसी आधार पर द्रव्यवादी आचार्य आख्यातार्थ को भी द्रव्य ही मानते हैं। सर्वथा शब्दशक्ति कही-कही नियन्त्रित हो जाती है। फलतः सविधान-सबध होने पर भी कुछ धातुओ मे आत्मनेपद नही हो पाता है।[१५]

संविधानोपलक्षण क्रियाफल क्या है। इस सम्बन्ध मे भी भर्तृहरि ने महाभाष्य के आधार पर विचार किया है। जिस अर्थ की सिद्धि को मन मे रख कर कोई क्रिया आरभ की जाती है उस अर्थ की सिद्धि ही उस क्रिया का प्रधान फल है। संविधानोपलक्षण क्रिया-फल से तात्पर्य इसी प्रधान फल से है। यजन-क्रिया का फल स्वर्ग है। स्वर्ग की कामना से ही याजक यज्ञ-क्रिया आरभ करता है। उस यज्ञ में काम करने वाले पुरोहित, भृत्य आदि स्वर्ग की दृष्टि से क्रिया मे प्रवृत्त नही हुये हैं। उनके लक्ष्य दक्षिणा अथवा वेतन हैं। इसलिये दक्षिणा-द्रव्य अथवा वेतन लाभ (फल)

१५. वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश १४-१७

होते हुए भी प्रधानफल नहीं है। महाभाष्यकार ने प्रधानफल के निर्णय के लिये कहा है कि जिस क्रिया के बिना जो फल सिद्ध न हो सकता हो उस क्रिया का वही फल प्रधान फल है। यज्ञ-फल यज्ञ-क्रिया से ही सभव है। अतः वही उस क्रिया का मुख्य फल है। दक्षिणा और वेतन तो यज्ञ-क्रिया के बिना भी अन्य तरह से उपलब्ध हो सकते हैं। अतः वे यज्ञ-क्रिया के प्रधान फल नहीं हो सकते :

> **नचान्तरेण यजिं यजिफलं वर्षि वा वपिफलं लभन्ते (लभते)। याजकाः पुनरन्तरेणापि यजिं गा लभन्ते भृतकाश्च पाविकर्मिति।**[१६]

यह अभिप्राय कर्तृ-अभिप्राय-क्रियाफल से निकलता है। फलत संविधाता की दृष्टि से आत्मनेपद (यजते) और दक्षिणा-लुब्ध याजको की दृष्टि से परस्मैपद (यजन्ति) का प्रयोग उपपन्न होता है।

सविधान मे आत्मनेपद मानने पर भी जहा स्वामी और भृत्य दोनो मिल कर एक ही व्यापार कर रहे हैं वहा सविधान के आधार पर आत्मनेपद आदि का निर्णय कैसे संभव है? क्योकि स्वामीसाध्य व्यापार सामग्री संघटन (सविधान) रूप होगा और भृत्य साध्य व्यापार प्रधान क्रिया रूप होगा इसलिये एक धातु से भिन्न व्यापार का उद्‌बोध न हो सकेगा। साथ ही स्वामी (संविधाता) की दृष्टि से आत्मनेपद किया जाय अथवा भृत्य की दृष्टि से परस्मैपद यह संशय बना रहेगा। यह मान भी लिया जाय कि एक धातु के कई अर्थ सभव हैं और यह भी मान लिया जाय कि सविधान के अर्थ मे पच् से आत्मनेपद किया जाय और विक्लित्ति आदि सस्कार अर्थ मे उससे परस्मैपद किया जाय फिर भी एक ही प्रयोग मे विरुद्ध दो लकारो की उत्पत्ति ठीक से न हो सकेगी, भर्तृहरि ने इसका समाधान अध्यारोप के द्वारा किया है। स्वामीगत धर्म का भृत्य मे आरोप किया जाता है। साहचर्य के सहारे ऐसा सभव है। आरोप से दास स्वामी के तुल्य हो जाता है। फलत दो स्वामी के कर्तृत्व होने पर संविधान के अर्थ मे पच् से आत्मनेपद होगा। "स्वामिदासौ पचेते"।

इस तरह का आरोप, भर्तृहरि के अनुसार, अन्यत्र भी देखा जाता है। जैसे, प्लक्ष शब्द के साहचर्य से न्यग्रोध मे प्लक्षता मान ली जाती है। तभी एक दूसरे की अपेक्षा मे द्वन्द्व मे उनमे द्विवचन का व्यवहार (प्लक्षन्यग्रोधौ) होता है। सानिध्य के कारण अन्य मे अन्य का आरोप लोक और वेद दोनों मे देखा जाता है। "पुरोडाशाः प्रचरन्ति" इसमे यद्यपि शब्दतः पुरोडाश बहुत्व अर्थ मे व्यवहृत है परन्तु एक पुरोडाश के प्रसग मे भी उपर्युक्त वाक्य कहा जाता है और सहचरित पुरोडाश-भागों मे बहुत्व के आरोप से ऐसा सभव हो पाता है। इसी तरह लोक मे "छत्रिणो यान्ति" जैसे प्रयोग सप्रति छत्रिसयोग न होने पर भी पहले के देखे छत्रसंबध के आधार पर ठीक मान लिये जाते हैं।

कुछ लोगों के अनुसार क्रियामात्र की विवक्षा मे यहां परस्मैपद-प्रयोग भी

---

१६. महाभाष्य १।३।७२

उचित है "स्वामिदासी पचत." ।[17]

महाभाष्यकार ने एक स्थान पर कहा है कि एकान्त में निष्क्रिय रूप में चुप-चाप बैठे व्यक्ति के लिये कभी-कभी कहा जाता है—

"पंचभि· हलै. कृषति" (पांच हलों से जोतवा रहा है, शब्दतः, पांच हलों से जोत रहा है) ।

इस वाक्य में कृषति शब्द उपयुक्त नही है । चुपचाप एकान्त में बैठा व्यक्ति एक साथ पाच हल नही चला सकता । अतः यहां अभिप्रायः है कि उसके पाच हल चलते है, वह पाच हलो से खेती करवाता है । और यदि यह अभिप्राय है तो कृषति के स्थान पर "कर्षयति" कहना चाहिए और यहा सविधान-अर्थ होने के कारण आत्मनेपद भी होना चाहिए । जहा तक णिच् का (कर्षयति) का प्रश्न है, महाभाष्य-कार ने यह समाधान किया है कि कृष केवल जोतना या विलेखन ही नही है, इसका अर्थ जोतवाना, विलेखन करवाना (प्रतिविधान) भी है । धातु के अनेक अर्थ होने के कारण कृष का अर्थ प्रयोजक व्यापार भी हो सकता है । उपपद के साहचर्य से धातु से ही प्रयोजक व्यापार के व्यक्त हो जाने के कारण णिच् नही हुआ है । जहां तक आत्मनेपद का प्रश्न है वह भी, भर्तृहरि के अनुसार, जटिल नही है । **विभाषोपपदेन प्रतीयमाने,** १।३।७७—इस सूत्र मे प्राप्तविभाषा पक्ष मानने पर कृषति मे आत्मनेपद का अभाव सभव है ·

अत्र तूपपदेनायमर्थमेवः प्रतीयते ।
प्राप्ते विभाषा क्रियते तस्मान्नास्त्यात्मनेपदम् ।।[18]

पाणिनि ने जितना आत्मनेपद पर विचार किया है उतना परस्मैपद पर नही । उनका शेष मे परस्मैपद का विधान (**शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** १।३।७८) इतना व्यापक है कि विचार का अवकाश भी नही रह जाता । अत भर्तृहरि ने भी आत्मनेपद सम्बन्धी मान्यताओ का जैसे विश्लेषण किया है वैसे परस्मैपद सम्बन्धी मान्यताओ का नही किया है ।

आत्मनेपद और परस्मैपद के लिये कभी आत्मनेभाष और परस्मैभाष शब्द भी प्रचलित थे । कात्यायन ने इन दोनो शब्दो का उल्लेख किया है---**आत्मनेभाष-परस्मैभाषयोरुपसंख्यानम्** ।[19] पाणिनि को भी ये शब्द ज्ञात थे ऐसा उनके 'वैया-करणाख्यायां चतुर्थ्याः' ६।३।७ सूत्र से जान पडता है । परन्तु कैयट ने टिप्पणी दी है कि आत्मनेभाष और परस्मैभाष शब्द किसी व्याकरण मे पारिभाषिक रूप मे नही पढे गये हैं परन्तु इन शब्दों का व्यवहार होता आया है । आत्मनेपदी धातुओ को वैया-करण आत्मनेभाष शब्द से और परस्मैपदी धातुओं को परस्मैभाष शब्द से व्यवहृत

---

१७. वाक्यपदीय ३, उपग्रहसमुद्देश १९-२३.

१८. वही, उपग्रह समुद्देश २७.

१९. वार्तिक, ६।३।७.

करते हैं।[२०] कातंत्रपरिशिष्ट ६।१०७ मे भी उपर्युक्त बात की पुष्टि की गई है :—

परस्मैपदे भावा उचितरस्य इति परस्मैभावः। एवामात्मनेभावः। पदशब्दलोपो निपातनात्। धातुविशेषाणामिमौ व्यपदेशौ।[२१]

सुषेण ने पाणिनि और सर्ववर्मा मे इस संबंध में कुछ भेद दर्शाते हुए निम्नलिखित कारिकाएँ लिखी हैं :

परस्मैपद्यते यस्मात तत् परस्मैपदं स्मृतम्।
आत्मनेपद्यते यस्मात् तदेवात्रात्मनेपदम्॥
इत्थमन्वर्थसंज्ञाया विधानेनैव लभ्यते।
मतं हि पाणिनेरेव सम्मतं सर्ववर्मणः॥
नैवमन्वर्थसंज्ञायाः प्रायो वृत्तिरिहेष्यते।
अतो न पाणिनेः सूत्रं सम्मतं सर्ववर्मणः॥[२२]

अस्तु, उपग्रह शब्द आत्मनेपद और परस्मैपद के अर्थ मे रूढ सा हो गया था। अष्टाध्यायी मे उपग्रह शब्द का व्यवहार न होने के कारण उसका व्यवहार ही एक तरह से बन्द हो गया परन्तु भर्तृहरि ने आख्यातार्थ के विवेचन मे उपग्रह की मीमासा करना उचित समझा।

पुरुष विचार

उपग्रह की तरह पुरुष भी पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों का पारिभाषिक शब्द है·

य कर्तृकर्मविशेषणभूतः सः पुरुषः इति पूर्वाचार्याः प्राहु।[१]

पुरुष शब्द का पारिभाषिक अर्थ मे प्रयोग निरुक्त मे मिलता है :

तत्र परोक्षकृता. सर्वाभिः नाम विभक्तिभिः युज्यन्ते प्रथम पुरुषैश्चाख्यातस्य। अथ प्रत्यक्षकृता मध्यपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुष योगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना।[२]

काशकृत्स्न सूत्र मे भी पारिभाषिक पुरुष शब्द का व्यवहार हुआ था। जैसे—

धातुः साधने दिशि पुरुषे चेति च तदाख्यातम्।[3]

---

२०. महाभाष्यप्रदीप ६।३।७

२१. टेकनिकल टर्म्स एण्ड टेकनिक आव संस्कृत ग्रामर में उद्धृत, पृष्ठ १०३.

२२. कातंत्र व्याकरण ३।१।७६.

१. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश १

२. निरुक्त ७।२

३. इसे काशकृत्स्न के सूत्र होने में वृषभ प्रमाण हैं, द्रष्टव्य वाक्यपदीय टीका १।३६

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में पुरुष शब्द का व्यवहार पारिभाषिक अर्थ में नहीं किया है। परन्तु कात्यायन और महाभाष्यकार ने पारिभाषिक पुरुष शब्द का व्यवहार किया है, जैसे—

"परस्मैपदसंज्ञा पुरुषसंज्ञा"—वार्तिक, १।४।१
न निष्ठा परस्यानुप्रयोगेण पुरुषोपग्रहौ विशेषितौ स्याताम्"—महाभाष्य ३।१।४०

पाणिनि ने पारिभाषिक पुरुष शब्द के स्थान पर प्रथम, मध्यम और उत्तम शब्द का प्रयोग किया है। ये शब्द भी पारिभाषिक हैं, और वस्तुत. ये भी पूर्वाचार्यों के पारिभाषिक शब्द हैं :

प्रथममध्यमेत्यादि महासंज्ञाकरण तु प्राचामनुरोधेन।[४]

आख्यातगम्य पुरुषशब्द से उसके अर्थ प्रत्यक्त्व और पराक्त्व गृहीत होते हैं। प्रत्यक् स्वगत को कहते हैं और पराग्भाव सबोध्यगत को कहते हैं। त्व पचसि, अह पचामि त्व-पाठ्यसे अह पाठ्ये जैसे वाक्यो मे मध्यम और उत्तम पुरुष का प्रत्यक्त्व और पराक्त्वरूप कर्तृकर्म विशेषण के रूप मे, शब्द शक्ति के बल से, अवगत होता है। इसलिए कर्त्ता आदि साधनो का विशेषण पुरुष माना जाता है। कर्तृकर्म के विशेषण होने के कारण ही पुरुष भाव का विषय नही हो पाता और इसीलिए भाव में मध्यम और उत्तम पुरुष के प्रयोग नही होते। केवल शेष के कारण प्रथम पुरुष का ही व्यवहार होता है। स्वगतत्व और परगतत्व शब्दान्तर के प्रयोग से जाने जाते हैं, जैसे, "आस्यते मया," "शय्यते त्वया" आदि मे।

वाक्यपदीयकार ने "पुरुष" का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके मत में पुरुष-व्यवस्था सत् असत् चैतन्याश्रित है। उनके अनुसार प्रत्यङ् पद का भाव अन्तर्यामी जीवात्मा है। वह प्रतिदेह मे अवस्थित है। उसका भाव (अस्तित्व) पुरुष से बाच्य है। इसलिए प्रयोक्ता की अहकारास्पद चेतनता प्रत्यक्त्व है। आख्यात से जब क्रिया का अहकार समानाश्रय रूप (मैं-अहं की प्रतीति) अभिव्यक्त होता है, वह उत्तम पुरुष का विषय होता है। इसलिये पुरुष अहकाराश्रय कर्त्ता का और तिङन्त से वाच्य कर्म का भी उपाधिभूत है। पचे, पचामि जैसे क्रियाशब्दों से कर्त्ता का उपाधिभूत उत्तम पुरुष अवगत होता है। कर्म-उपाधिभूत आत्मनेपद से ही अभिव्यक्त होता है। जैसे पच्ये से। कर्म मे आत्मनेपद का विधान होता है। मध्यम पुरुष परत्व है। वह कर्तृकर्मविशेषणभूत है, प्रश्न आदि विषय के उपयुक्त है। पचसि, पचमे जैसे शब्दों मे वह कर्तृउपाधि है और पचसे जैसे आत्मनेपद से कार्मोपाधिरूप मे व्यक्त होता है। इस तरह उत्तम और मध्यम पुरुष शब्द विशेष से लक्षित होते हैं और अपने-अपने अर्थ को प्रकट करते है, अर्थात् चैतन्ययुक्त कर्त्ता

४. महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।४।१०१

और कर्म का बोध कराते हैं।

यदि चैतन्य के आधार पर मध्यम और उत्तम पुरुष की व्यवस्था की जाएगी तो अचेतन पदार्थों के साथ मध्यम और उत्तम पुरुष का योग कैसे संभव होगा, "शृणोत ग्रावाणः" जैसे प्रयोग कैसे उपपन्न माने जायेंगे। इस प्रश्न के उत्तर में भर्तृहरि की मान्यता है कि अचेतन पदार्थों के साथ मध्यम और उत्तम पुरुष का प्रयोग अध्यारोपित चैतन्य के आधार पर हो जाएगा। भर्तृहरि के अनुसार मध्यम और उत्तम पुरुष से सत् अथवा असत् चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। असत् चैतन्य का अभिप्राय, कुछ लोगो के अनुसार, अनभिव्यक्त चैतन्य से है। हेलाराज के अनुसार व्याकरणदर्शन शब्द से अवगम्य अर्थ का ही अन्वाख्यान करता है। शाब्द चैतन्य सर्वत्र है। किसी पदान्तर के सम्बन्ध से यदि चैतन्य की अभिव्यक्ति न हो रही हो तो वहा अध्यारोपित चैतन्य की कल्पना कर ली जानी चाहिए। फलत मध्यम और उत्तम पुरुष चैतन्य के प्रतीक हैं।

परन्तु भर्तृहरि के मत मे प्रथम पुरुष का सम्बन्ध चैतन्य से नही है। अध्यारोपित चैतन्य भी उनका विषय नही है। प्रथम पुरुष का विषय अचेतन है। प्रथम पुरुष का शेष विधान(शेषे प्रथम: १।४।१०८)होने के कारण, हेलाराज के अनुसार, उसके हिस्से अचेतन ही पडा है। इसलिए पतति कूल (तट गिरता है), शुष्यन्ति व्रीहय. (धान सूखते हैं) जैसे अचेतन पदार्थ ही प्रथम पुरुष के विषय हैं।

सदसद्वापि चैतन्यमेताभ्यामवगम्यते ।
चैतन्यभागे प्रथम. पुरुषो न तु वर्तते ।।[५]

हेलाराज के अनुसार"चैतन्यभाग" शब्द मे भाग ग्रहण से यह जान पडता है कि समानाधिकरण वाले (तुल्यकारक वाले) युष्मद् अस्मद् से अतिरिक्त भी चेतन प्रथम पुरुष का विषय हो सकता है जैसे, भवान् पचति मे। परन्तु यहां चैतन्य पदान्तर गम्य है। इसलिए यहा प्रथम पुरुष चैतन्याश के संस्पर्श से साधनसाध्य भाव मात्र जताता है। बुध्यते, जानाति जेसी क्रियाओं मे प्रथम पुरुष का चैतन्य से सबन्ध स्पष्ट जान पडता है, जानना और समझना कर्त्ता में चेतनता की सत्ता से ही सभव है। परन्तु भर्तृहरि के अनुसार ऐसे स्थलो मे भी चैतन्य का व्यापार व्यक्त नही होता। ऐसी क्रियाओ मे धात्वर्थ ही चैतन्य लक्षण वाला है। वह कर्त्ता और कर्म का अवच्छेदक है, इसलिए उसके कारण चैतन्य अवगत होता है। प्रथम पुरुष के प्रयोग के कारण यहा चैतन्य नही झलकता। क्योंकि अज्ञानार्थ धातुओं के साथ प्रथम पुरुष के प्रयोग होने से सर्वदा निश्चित रूप मे चैतन्य की प्रतीति नही होती। जैसे, "काष्ठानि पचन्ति" इस वाक्य मे प्रथम पुरुष से किसी प्रकार का चैतन्य नहीं झलकता। जिस तरह से युष्मद् और अस्मद् अर्थ के लिए मध्यम और उत्तम के विधान से चैतन्य-उपाधि वाले कर्त्ता-कर्म का बोध होता है, वैसा प्रथम पुरुष से नही होता।

---

५. वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश २.

उसका विधान "शेष" में होने के कारण उसमे चैतन्य-उपाधि-नियम का प्रभाव रहता है। युष्मद् अर्थ मे विहित मध्यम पुरुष सदा निश्चित रूप मे चैतन्य का द्योतक होता है, क्योंकि युष्मद् का चेतन के लिए ही प्रयोग होता है।

इस सम्बन्ध मे महाभाष्यकार का मत कुछ भिन्न जान पड़ता है। उन्होंने प्रवृत्ति के आधार पर कूल में भी चेतनता मानी है। कूल में दरारें पड़ती हैं। उसके लोष्ठ विशीर्ण होते हैं और वह एक देश से अन्य देश (स्थान) पर गिर कर चला जाता है। ये व्यापार, पतजलि के अनुसार, कूल में प्रवृत्तिरूप इच्छा के द्योतक हैं। उन्होने वार्तिककार के सर्व-चैतन्य मत का (**सर्वस्य वा चेतनावत्वात्**—वार्तिक ३।१।७) समर्थन किया है। इस सम्बन्ध मे उन्होने निम्नलिखित वाक्य उदाहरण के रूप मे लिखे हैं .—

कसका. सर्पन्ति,
शिरीषोऽस्य स्वपिति,
सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति,
अयस्कान्तमय. सक्रामति,
ऋषि. (वेद) पठति।[६]

इन सब उदाहरणो मे अचेतन को चेतन के रूप मे व्यक्त किया गया है। और सबके साथ प्रथम पुरुष का योग है। कैयट ने इस प्रसग मे यह विचार प्रकट किया है कि आत्मा-अद्वैतदर्शन के अनुसार सर्वत्र चैतन्य है। वेद सभी भागो मे चैतन्य का प्रतिपादन करते है। पदार्थों की उपलब्धि विचित्र होती है। इसलिए कही चैतन्य अवगत होता है और कही नही जान पडता है।[६] भर्तृहरि प्रथम पुरुष के सम्बन्ध मे आरोपित चैतन्य मानने के पक्ष मे भी नही है। परन्तु पतजलि ने अचेतन मे चेतन के उपचार का उल्लेख किया है .—

अचेतनेष्वपि चेतनावदुपचारो दृश्यते। तद् यथा स्रस्तान्यस्या बन्धनानि, स्रस्यन्ते चास्या बन्धनानीति।[७]

इन उदाहरणो मे भी प्रथम पुरुष है। लोक मे भी प्रथम पुरुष का चैतन्य के रूप मे अभिव्यक्ति देखी जाती है।

अचेतन की अपेक्षा तटस्थ के रूप में प्रथम पुरुष की अभिव्यक्ति कहना अधिक उपयुक्त जान पडता है।

कुछ लोग उत्तम पुरुष को मध्यम और प्रथम पुरुष से विशेष मानते है। क्योंकि उत्तमपुरुष, उनके मत मे सभी पुरुष का विश्रान्ति धाम है। शैवागम के अनुसार इद से बोध्य सभी वस्तु का अहम् मे पर्यवसान होता हैं। देखा भी जाता है कि स. पचति, त्व पचसि, अह पचामि इन सब की विवक्षा मे वयमेव पचाम· प्रयोग उपलब्ध

६. महाभाष्यप्रदीप ३।१।७
७. महाभारत ४।१ २७

होता है। अर्थात् सभी पुरुष का उत्तम पुरुष में पर्यवसान हो जाता है। परन्तु त्वं, उनके मत में, नि.शेष रूप में सभी पुरुषों का आश्रय है। उत्तम, मध्यम, प्रथम पुरुष कल्पित है परन्तु चिद्रूप का आश्रय त्वं अकल्पित है :

> **व्याकरणप्रक्रियया उत्तमपुरुष: अस्मदर्थे यः सः युष्मच्छेषाभ्यां मध्यमप्रथम-पुरुषाभ्यां विशेषितो सञातविशेषोऽस्ति । तस्य च तदस्यपरामृश्यात् प्रथमपुरुषाद् युष्मदर्थोन्मुखाच्च मध्यमपुरुषादयं विशेषः यदशेषपुरुषाश्रयत्वं तद् विश्रान्तिधामत्वम् । सर्वस्यैवन्ता विमृश्यमहन्तायामेव विश्रान्तेः । स पचति, त्वं पचसि, अहं पचामीति विवक्षायां वयमेव पचाम इत्यादौ प्रयोगे अयमेवाशय इत्यास्ताम् । त्वं तु विनि शेषाणां प्रथममध्यमोत्तम पुरुषाणां कल्पितानां अकल्पित चिद्रूपाश्रयः । यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—ग्राह्यग्राहकताभिन्नावर्थौ भातः प्रमातरि ।[८]**

कुछ लोगो के अनुसार मध्यम पुरुष मे सबोधन का अर्थ प्रतीत होता है, विशेषकर जहा प्रैष (प्रेरणा का भाव) विवक्षित रहता है। जैसे गच्छ भुक्ष्व आदि मे। जो लोग सबोधन को केवल आभिमुख्यकरण रूप मे समझते हैं उनके मत मे प्रैष के अभाव मे भी मध्यम पुरुष मे सबोधन का भाव रहता है। "त्व पचसि" मे, इस मत के अनुसार, संबोधन है। परन्तु कुछ लोग, जैसा कि भर्तृहरि ने उल्लेख किया है, इस मत को प्रश्रय नही देते। "त्व पचसि" में सबोधन कीप्रतीति नही होती। उनके अनुसार सिद्ध के अभिमुखीकरण को सबोधन कहते हैं। साध्य का, विधीयमान का सबोधन नही होता। क्योंकि जिसका स्वरूप अभी नियत नहीं है, जो अपने स्वरूप को प्राप्त नही हुआ है वह अभिमुखीभाव के योग्य नही माना जाता। "इन्द्रशत्रु-र्वर्धस्व", "राजा भव" जैसे वाक्यो मे इन्द्रशत्रुत्व और राजत्व विधीयमान है, इसलिये प्रैष के होते हुए भी इनमे सबोधन विभक्ति नही है।[९] युष्मद् के साथ प्रथमा सबोधन विभक्ति मानने के पक्ष में कुछ स्वर सम्बन्धी विशेषताएं हैं। प्रथमान्त युष्मद् का आदि उदात्त होना देखा जाता है जब कि वह वाक्य के आदि मे रहता है अर्थात् किसी पद से परे जब नही होता है। ऐसा उसे सबोधन मान कर ही संभव है। जैसे,

> **त्व ने इन्द्र वाजयुः (ऋग्वेद, ७।३१।३)**
> **त्वमेग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणि (ऋग्वेद २।१।१)**

परन्तु किसी पद के परे रहने पर उसे आमन्त्रित (संबोधन) मान कर अनुदात्त होता है। जैसे, "देवीराप. शुद्धा यूयम्"।

भट्टोजि दीक्षित के अनुसार आदि उदात्त और निघात वाली उक्ति सर्वत्र ठीक नही देखी जाती। अनेक ऐसे मत्र है जिनमे युष्मद् के आदि में होने पर भी वह अन्तोदात्त है और पद के उत्तर में होने पर भी अनुदात्त ही है :—

---

८. शिवस्तोत्रावली, क्षेमराजकृत विवृति, भाग १, पृष्ठ १४.

९. वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश ४,५.

दृश्यते हि पादावावपि अन्तोदात्तत्वं पदात् परत्वेऽप्यनिघातश्च । तद्यथा युवं ह गर्भं जगतीषु धत्थः । यूयं यात स्वस्तिभिः । ह ये देवा यूयमिदापयः स्थः इति ।[10]

भट्टोजि दीक्षित संबोधन को प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत मानते है (**संबोधनस्य प्रातिपदिकार्थ एवान्तर्भावात्**)। उनके मत मे अलिंग और सम्बोधन—एक विषय युष्मद् का अर्थ है और सलिंग तथा सम्बोध्य और असबोध्यसाधारण भवत् का अर्थ है। फलत. "भवान् करोति" मध्यम पुरुष का विषय नही हो पाता है।

> **अलिंगः सम्बोधनैकविषयश्च युष्मदर्थः । सलिंगः सम्बोध्यासम्बोध्यसाधारणश्च भवदर्थः—शब्द कौस्तुभ—१।४।१०५**

अत्व त्व भवति त्वद्भवति—इस वाक्य मे मध्यम प्रकृति विकृति की अभेद-विवक्षा मे च्वि प्रत्यय हुआ है। यहा प्रकृति के आश्रय से प्रथम पुरुष और विकृति के आश्रय से मध्यम की प्राप्ति है। परन्तु मध्यम विकृति कर्ता नही है। प्रकृति ही विकारारूपापत्ति मे कर्ता है। अत. प्रथम पुरुष ही होता है। गौणमुख्यन्याय के आधार पर ऐसा सभव है। "सघी भवन्ति ब्राह्मणा" इस वाक्य मे बहुवचन इस बात का प्रमाण है कि च्व्यन्त मे प्रकृति का ही कर्तृत्व माना जाता है.

> **यदेग्ने स्यामहं त्वं त्वं वो घा स्या अहम् ।**
> **स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥**[11]

पुरुष व्यत्यय

महाभाष्यकार ने पुरुष व्यत्यय के उदाहरण मे "अधा स वीरै दशभिर्वियूयाः" कहा है। यहा वियूयात् के स्थान पर वियूया. पढ़ा गया है। पुरुष व्यत्यय का एक उदाहरण मम्मट ने यो दिया है—

> **रे रे चञ्चल लोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिरप्रेमाण महिमानमेणनयनामालोक्य कि नृत्यसि । किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमामेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारांनिधौ ॥**[12]

इस श्लोक मे मन्यसे के बदले मन्ये और विहरिष्ये के स्थान पर विहरिष्यसे कहा गया है अर्थात् मध्यम के स्थान पर उत्तम पुरुष का और उत्तम के स्थान पर मध्यम पुरुष का व्यवहार कवि ने किया है और प्रहास के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए

---

१०. शब्दकौस्तुभ, १।४।१०५.

११. ऋग्वेद ८।४४।२३ । इस मंत्र में अहं त्वं स्याम्, त्वं वा अहं स्याः इस रूप में प्रकृत्याश्रय ही पुरुष है।

१२. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १६१ त्रिवेन्द्र म संस्करण.

किया है। परिहास की अभिव्यक्ति के लिये पुरुष व्यत्यय पाणिनि द्वारा समर्पित है।[१३] और भर्तृहरि ने भी पुरुष व्यत्यय का समर्थन किया है—

> गुणप्रधानतामेवः पुरुषादिविपर्ययः ।
> निर्दिष्टस्यान्यथा शास्त्रे नित्यत्वान्न विरुध्यते ।।[१४]

संख्या विचार

संख्या आख्यातार्थ का भी अर्थ है और साधन का भी अर्थ है। संख्या शब्द से एकत्व, द्वित्व, बहुत्व आदि का ग्रहण होता है। जिसके द्वारा संख्यान अथवा गणना संभव है। वह संख्या है (**संख्यायतेऽनया संख्येति**—महाभाष्य १।१।२२) वचन संख्या है। वचन और संख्या पूर्वाचार्यों के पारिभाषक शब्द हैं। एकवचन और बहुवचन शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है :

एक वचनेन बहुवचनं व्यवायाम।[१]

द्विवचन शब्द का उल्लेख निरुक्त मे है—**अपि वा भेदश्च पशोश्च सात्वं द्विवचनं स्यात्**।[२]

पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के आधार पर संख्या के अर्थ मे एकवचन और बहुवचन का व्यवहार किया है। ऐसे संख्या के भी पारिभाषिक रूप का 'बहुगणवतुडति संख्या' १।१।२३ के रूप मे उल्लेख किया है।

वाक्यपदीय मे संख्या समुद्देश मे संख्या के साधन वाले रूप का ही अधिक विवेचन है। परन्तु भर्तृहरि के अनुसार संख्या आख्यातार्थ भी है यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। यद्यपि क्रिया साध्यस्वभाव वाली होने के कारण निवृत्तभेद मानी जाती है, उसमे कोई भेद नही होता फिर भी साधन के आधारभूत द्रव्य के एकत्व, द्वित्व आदि के आधार पर क्रिया मे भी एकत्व द्वित्व आदि मान लिए जाते हैं। साधन भेद से कर्त्ता-कर्म के अभिधायक लकार में द्विवचन और बहुवचन होते हैं। फलत. पचत, पचन्ति, पच्यते, पच्यन्ते जैसे विशिष्ट क्रियारूप सिद्ध होते है। इन पदो से दो या दो से अधिक साधनो द्वारा क्रिया के साध्यत्व की प्रतीति होती है। साधन के आधारभूत द्रव्यगत संख्या से क्रिया का योग तो होता है परन्तु द्रव्यगत लिंग के साथ क्रिया का योग नही होता। क्योंकि आख्यात से लिंग-विशेष की प्रतीति नही होती। शब्दो का अपने अर्थ का प्रत्यायन अथवा उनके अर्थ की अभिव्यक्ति स्वाभाविक होती है, युक्तिगम्य नही होती है।

---

१३. प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च १।४।१०६.
१४. वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश ७.
१. शतपथ ब्राह्मण १३।५।१।१८.
२. निरुक्त ६।१६।३.

एकत्वेऽपि क्रियाख्याते साधनाश्रयसंख्यया ।
भिद्यते न तु लिङ्गाख्यो भेदस्तत्र तदाश्रितः ॥[3]

पुण्यराज ने भी आख्यातवाच्य क्रिया मे सम्बन्धभेद से भेद की प्रतीति का समर्थन किया है

यथाख्यातेषु धातूपात्तायाः क्रियाया प्रत्ययवाच्य-कर्तृभेदे सति सम्बन्धात् क्रियाया अपि भेदः प्रतीयते पचतः पचन्तीति ।[4]

इसी बात को हरदत्त ने भी यो व्यक्त किया है .

कर्तृभेदेपि नावश्यं धात्वर्थो भिद्यते यत ।
एकामेव क्रियाव्यक्तिं बहुषूत्पादयत्स्वपि ॥
दृष्टमेते पचन्तीति कर्मभेदोपि तादृशः ।
पश्यैकस्यां क्रियाव्यक्तौ पच्यन्ते तण्डुला इति ॥
न कालभेदे शब्दैक्यमास्यासिष्यत आस्यते ।
पाकौ पाका इति त्वत्र शब्दैक्यादेकशेषता ॥[5]

इसके स्वारस्य से, साधनगत सख्या का क्रिया मे आरोप होने के कारण तिङर्थ सख्या का प्रकृत्यर्थ मे अन्वय होता है । इसका एक फल यह होना है कि भाव मे एकवचन ही होता है, द्विवचन और बहुवचन नही होते। जैसे 'आस्यते भवता, आस्यते भवद्भ्याम्, आस्यते भवद्भि । अवश्य ही पाकौ पाका जैसे स्थलो मे, जहा घञ् से साधन का अभिधान नही होना, भाव मे द्विवचन और बहुवचन देखे जाते है, एकपदवाच्यसाधनसंख्याश्रय पक्ष मे ऐसे स्थलो मे भी द्विवचन और बहुवचन नही होने चाहिए । इसका उत्तर यह है कि पाकौ पाका आदि मे आश्रय भेद से द्विवचन और बहुवचन होते है । गुड, तिल, ओदन आदि आश्रयभेद से आश्रित भी पाक भिन्न-भिन्न मान लिया जाता है । घञ् आदि से सत्वरूप अर्थ का अभिधान होता है । इस लिए द्रव्यधर्मसख्याभेद के आश्रय से वचनभेद होना अस्वाभाविक नही है ।

जहाँ पर प्रकारान्तर से तिङन्त वाच्य भाव मे सख्या की प्रतीति होती है वहा भाव मे भी बहुवचन देखा जाता है, जैसे, उष्ट्रासिका आस्यन्ते, हतशायिका शय्यन्ते । यहा पर उष्ट्र आश्रय है । उनके भेद से उनके अनेक प्रकार के आसन भी भिन्न-भिन्न है । उसके सामानाधिकरण्य से आख्यात वाच्य भाव भी भिन्न भिन्न जान पडता है । भाव भेद से आस्यन्ते मे बहुवचन का प्रयोग हुआ है । इव शब्द के प्रयोग के बिना भी इस वाक्य मे इव के अर्थ की प्रतीति होती है । इसलिये "उष्ट्रासिका आस्यन्ते" इस वाक्य से "जिस तरह ऊटो के अनेक प्रकार के आसन होते है वैसे ही देवदत्त आदि के द्वारा किए जा रहे है" इस अर्थ की प्रतीति होती है । इसी तरह "हतशायिका. शय्यन्ते" इस वाक्य मे हत व्यक्तियो की शयन-क्रिया उत्तान, अवतान, विकीर्णकेश,

---

३. वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश १६.
४. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।८५ टीका.
५. पदमंजरी ३।१।६७.

इधर उधर सरके हुए वस्त्र आदि मे रूप भिन्न भिन्न है । इस कारण आख्यात वाच्य भाव मे भी स्वरूपगतभेद अवभासित होता है, फलत. बहुवचन प्रयुक्त है । आहतो की शयन क्रिया की तरह देवदत्त आदि के द्वारा भी अनेक प्रकार की शयन-क्रिया की जाती है यह अभिप्राय है । "भवद्भि आस्यते" इस वाक्य मे आश्रय भेद से आश्रित भेद तो सभव है परन्तु पूर्व वाक्य मे उष्ट्र और देवदत्त के आसन मे साम्य दिखाना जैसा प्रयोजन था उस तरह का कोई प्रयोजन इस वाक्य मे नही है । प्रयोजन के अभाव के कारण भावभेद भी नही माना जाता है । अतः इस वाक्य मे एक वचन ही क्रिया मे प्रयुक्त है । इसी आधार पर" ताम्र पलाशेषु बभूव राग " इस वाक्य मे भी पलाशरूप आश्रय के भिन्न भिन्न होते हुए भी राग शब्द मे एक वचन का ही प्रयोग कवि ने किया है । वस्तुत. सर्वत्र आश्रय के भेद से आश्रित मे भेद की प्रतीति नही होती । घटान् पचति जैसे वाक्यो मे अभिन्न पाक का ही बोध होता है ।

कुछ लोग "उष्ट्रासिका आस्यन्ते" इस वाक्य मे कर्म मे लकार मानते हैं । क्योकि उष्ट्रासिका लक्षणभाव कर्म है । जैसे गोदोह सुप्यते मे कर्म है । जिस तरह गोदोह (गाय के दुहने का काल) का स्वाप मे अन्वय होता है उसी तरह उष्ट्रासिका और हतशायिका का क्रमश आसन और शयन मे परिच्छेदक के रूप मे अन्वय होता है । केवल अन्तर यह है कि गोदोह मे परिच्छेदकत्व काल-उपाधिक है जबकि आसिका आदि मे सादृश्य रूप मे हैं । इस मत के अनुसार आसिका और शायिका शब्द उपर्युक्त वाक्यो मे प्रथमान्त बहुवचन हैं । पूर्व मत के अनुसार वे द्वितीयान्त बहुवचन है । क्योकि क्रिया-विशेषण के रूप मे उनमे कर्मत्व है । यह कथन यहा उपयुक्त न होगा कि क्रिया-विशेषण होने के कारण उन शब्दो मे नपुसक लिंग और एक वचन होना चाहिये क्योकि 'स्त्रियां क्तिन्' ३।३।९४ सूत्र के अनुसार यहा स्त्रीत्व का अवधारण है । अतः सामान्ये नपुसकम् (वार्तिक) की प्राप्ति यहा न होगी । और बहुत्व के बोध के कारण, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, एक वचन की प्राप्ति नही है ।

भट्टोजि दीक्षित ने भाव मे एक वचन की उपपत्ति एक दूसरे प्रकार से की है । उनके मत मे सूत्रकार ने तिङ् और तिङ्निष्ठ सख्या का भी सकेत कर्तृकर्मणी शब्द से किया है । कर्ता और कर्म का द्वित्व और बहुत्व द्विवचन और बहुवचन कहे जाते हैं । भाव मे लकार असत्वावस्थापन्न धात्वर्थभूत क्रिया का ही अभिधान करना है अथवा द्योतन करता है । इसलिये वहा प्रथम पुरुष—एकवचन ही होता है । मध्यम और उत्तम पुरुष नही होते । क्योकि युष्मदस्मद् का उसके साथ सामानाधिकरण्य नही है । द्वित्व और बहुत्व की प्रतीति न होने से द्विवचन और बहुवचन भी नही होते । एकवचन औत्सर्गिक होता है ।[६]

परन्तु महाभाष्यकार ने भाव मे भी ल-विधान मे बहुवचन दिखाया है जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है । इससे आख्यात वाच्य भाव असत्वावस्थापन्न होता है इस सिद्धान्त मे बाधा न पड़ेगी क्योकि असत्व-अवस्था का अभिप्राय लिग और कारक

---

६. शब्दकौस्तुभ ३।१।६७

के प्रयोग से है। अतएव पचति भवति, पच्यते भवति, पश्य मृगो धावति इत्यादि वाक्यों मे वाक्यार्थभूत क्रिया का क्रियान्तर के साथ कर्ता के रूप मे अथवा कर्म के रूप में अन्वित होने मे कोई क्षति नही मानी जाती है। तिङभिहितभाव का कृदभिहितभाव (घञादि वाच्य)से वैषम्य मे बाधा न पडेगी। क्योंकि कृद् अभिहितभाव सलिंग होता है और सकल कारकान्वित होता है जबकि तिङ् अभिहितभाव अलिंग होता है और सभी कारकों से सम्बन्ध नही रखता। इनके भेद दिखाते हुए महाभाष्यकार ने कहा है कि तिङ् अभिहित भाव का कर्ता के साथ योग होता है किन्तु कृदभिहित का कर्ता के साथ योग नही होता। (**तिङभिहितो भावः कर्त्रा सम्प्रयुज्यते, कृदभिहित पुनर्न संप्रयुज्यते — महाभाष्य** ३।१।६७)। यद्यपि कृद् अभिहित भाव का भी कर्ता के साथ योग देखा जाता है, जैसे ब्राह्मणानां प्रादुर्भाव, फिर भी एकपदवाच्य कर्ता के साथ उसका योग नही देखा जाता। पचति शब्द कहने से जिस तरह कर्ता की अभिव्यक्ति होती है ठीक उसी तरह पाक शब्द कहने से नही होती। उसमें केवल शुद्ध भाव का प्रत्यायन होता है। दूसरे शब्दों मे, तिङन्तवाच्य भाव सदा कर्तृ-आकांक्ष होता है जबकि कृत् वाच्य सदा वैसा नही होता। अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि घञादि के द्वारा भाव के सिद्ध रूप का अभिधान होता है इसलिये उस रूप से कर्ता का योग नहीं होता। धातु रूप के द्वारा भाव के साध्यरूप की अभिव्यक्ति होती है इसलिए साध्यरूप मे कर्ता के साथ उसका योग होता है। अथवा "पाचक " जैसे शब्दो मे भाव का कर्ता के साथ योग उपलक्षण (गौण) के रूप मे होता है जबकि तिङ् के क्षेत्र मे पचति जैसे शब्दो मे साध्य होने के कारण कर्ता के साथ प्रधान रूप मे योग होता है।

सर्वथा क्रिया मे संख्या का अन्वय मानना उचित है। महाभाष्यकार के कई वाक्य क्रिया मे संख्या की संभावना के पोषक है। जैसे, **भवति पुनर्वर्तमानकालं चैकत्व च।**[७] इस वाक्य का एकत्व शब्द स्पष्ट रूप मे क्रिया का संख्या के साथ संबंध जोड रहा है। इसी तरह, **करोति पचादीनां सर्वान् कालान् सर्वान् पुरुषान् सर्वाणि वचनानि अनुवर्तते**[८] —इस वाक्य का सर्वाणि वचनानि शब्द क्रिया मे संख्या के समर्थन कर रहे है। संख्या का नाम वचन है।

'तद्धितश्चासर्व विभक्तौ' १।१।३८ सूत्र के भाष्य मे महाभाष्यकार ने यह लिखा है कि कुछ अव्यय विभक्त्यर्थ प्रधान होते है। कुछ क्रिया प्रधान होते है। उच्चैः नीचैः ये विभक्त्यर्थ प्रधान हैं। हिरुक्, पृथक् ये क्रियाप्रधान हैं। इनके साथ लिंग और संख्या का योग नही होता। परन्तु यहा भाष्यकार का क्रिया के साथ संख्या के प्रयोग दिखाने का अभिप्राय यह है कि अव्यय वाच्य इनके साथ संख्या का योग नही होता।

अतः संख्या का आख्यातार्थत्व उपपन्न होता है।

---

७. महाभाष्य १।३।१

८. वही १।३।१

संख्या द्रव्याश्रित

भर्तृहरि के अनुसार सभी सत्वभावापन्न पदार्थ संख्यावान् कहे जाते है। लोक मे संख्या का आधार भेदाभेद-विभाग है। संख्या भेद के आधार पर खडी है। उसे भेद अपोद्धार लक्षण वाली कहा जा सकता है। क्योंकि एक से परार्ध तक जितनी संख्याएँ है वे सब भेद के आधार पर ही अस्तित्व पाती है, "यह वह" (इदं तत्) जैसे सर्वनाम से प्रत्यवमर्श योग्य वस्तुगत भेद होता है। फलत सभी द्रव्यात्मा (वस्तु) मे भेद होना है और उसका व्यवहार एक, दो, बहुत आदि संख्याओ मे युक्त रहता है। सुविधा की दृष्टि से एकत्व संख्या का व्यवहार अभेदाश्रय के रूप मे होता है और दो, तीन आदि संख्याओ का व्यवहार भेद का प्रतिपादक है। इस तरह सत्वभूत (द्रव्यात्मक) अर्थ का एक अथवा अनेक रूप मे भेद संख्याश्रित है।

वैशेपिक दर्शन के अनुसार संख्या एक गुण है और द्रव्याश्रित है। कुछ लोग मानते है कि पदार्थ असहाय अवस्था मे एक और ससहाय अवस्था मे दो बहुत आदि संख्याओ से व्यक्त किया जाता है। सहाय या विरह वस्तु के धर्म नही है। इसलिये द्रव्य मे अतिरिक्तसंख्या लक्षण कोई गुण नही है। परन्तु यह मान्यता ठीक नही जान पडती। क्योंकि ससहाय ज्ञान और दो तीन आदि का ज्ञान समान नही है, वह भिन्न भिन्न रूप मे जान पडता है। अत ज्ञान-भेद के कारण उनकी एकता नही सिद्ध की जा सकती है। साथ ही, ससहाय अवस्था मे भी एकत्व का भान होता है, अत सहायता-रहित होना ही एकत्व नही है। कुछ लोग संख्या को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानते है। संख्या और द्रव्य का भेद तिरोहित रहता है द्रव्य से व्यतिरिक्त रूप मे संख्या की उपलब्धि नही होती, इसलिये संख्या को द्रव्य मे अव्यतिरिक्त मानना चाहिये। व्याकरण दर्शन, जैसा कि हेलाराज ने कहा है, वैशेषिको की तरह पदार्थ विचार मे रस नही लेता (**अस्माकं तु शब्दप्रमाणकानां पदार्थविचारानादरात् यथायथ पदार्थकल्पना तीर्थिकैः कृता**)।[९] इसलिये भर्तृहरि का कहना है कि संख्या द्रव्य से अभिन्न हो अथवा व्यतिरिक्त हो, व्यवहार मे एक, दो, बहुत आदि शब्दो से भेद की प्रतीति होती है। इस प्रतीति का कोई न कोई हेतु भूत धर्म होना चाहिये। उसी भेदक धर्म को संख्या नाम से व्यक्त किया जाता है —

स धर्मो व्यतिरिक्तो वा तेषामात्मैव वा तथा।
भेदहेतुत्वमाश्रित्य सङ्ख्येति व्यपदिश्यते॥[१०]

संख्या मूर्त और अमूर्त सब का भेदक है (संख्या सर्वस्य भेदिका)।[११] जैसे-दो घट। अनेक आत्मा। दो क्रिया। एक बीता (वितस्ति)। दो हाथ। चार प्रस्थ। पाच पल। संख्या संख्या का भी भेदक है, जैसे, दो बीस, पाच पचास। द्रव्यगत संख्या का रूप, रस आदि मे आरोप कर चौबीस गुण कहे जाते है। इसी तरह अभाव यद्यपि

---

९. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, संख्यासमुद्देश १
१०. वाक्यपदीय ३, संख्यासमुद्देश २
११. वही, काल समुद्देश २

निरुपाय है फिर भी औपाधिकभेद से चार अभाव कहे जाते हैं। संख्या शब्द पदार्थों के वैलक्षण्य का प्रतिपादक है। एक घट में भी दो तीन आदि के निरास (अलग करना) के रूप में भेद की प्रतीति होती है (**यच्चेषीकान्तं यच्चापरिमाणं तस्य सर्वस्य संख्या भेदमात्र ब्रवीति-महाभाष्य ५।१।१९**)। महाभाष्यकार का इषीकान्त शब्द परिमाण का उपलक्षण है। जो महत् परिमाण वाले हैं वे भी सख्या से गिने या व्यक्त किये जा सकते हैं जैसे सात पर्वत (सप्त कुलाचला)। जो अल्प परिमाण या अपचितपरिमाण वाले हैं वे भी संख्या से भेद्य हैं जैसे तीन परिमाणु (त्रय परिमाणव)। अत सर्वत्र सख्या भेदक के रूप मे ग्राह्य है।

गुण द्रव्याश्रित है। स्वतत्र नही है। फिर भी "पटस्य रूपम्" जैसे वाक्यो मे वह द्रव्यधर्म से स्वतत्र रूप म व्यवहृत होना है वैसे ही 'पटस्येदमेक चित्र रूपम्' जैसे वाक्यो मे शब्द शक्ति के आधार पर सख्या का स्वतत्र रूप मे प्रतिपादन होता है। जहा पर ऐसा सभव नही है वहा अध्यारोप से काम चल सकता है। वस्तुत:, भर्तृहरि के अनुसार, अध्यारोप के लिए वस्तु की सत्ता अथवा असत्ता प्रयोजक नही होती। अत्यन्त अविद्यमान अर्थ मे भी काल्पनिक आरोप देखा जाता है, जैसे समुद्र कुण्डिका (कुण्डिका मे समुद्र का आरोप)। व्याकरण-दर्शन सामान्य मे भी सामान्य, विशेष मे विशेष, लिग मे लिग और सख्या मे सख्या मानता है।[१२] इसी आधार पर शत, शते, शतानि आदि व्यवहार होते हैं।

संख्या का स्वरूपगत विवेचन

सभी भावो की सहज सख्या एकत्व है। एकत्व द्वित्व आदि का मूल रूप है। क्योंकि भेद अभेद पूर्वक ~~होता है~~। द्वित्व आदि भेद मूलक है, एकत्व अभेदाश्रित है। बिना एकत्व के द्वित्व बहुत्व आदि का परिज्ञान सभव नही है।[१३] द्वित्व ज्ञान की प्रक्रिया मे मतभेद है। कुछ लोग मानते है कि बुद्धि सहित एकत्व और एकत्व (दो एकत्व) द्वित्व के ज्ञान मे निमित्त हैं। अथवा बुद्धि निरपेक्ष दो एकत्व से द्वित्व का परिज्ञान होता है। कणाद दर्शन द्वित्व के ज्ञान मे तीन कारणो का उपन्यास करता है। दो द्रव्यो मे सर्व प्रथम उनके सामान्य का ज्ञान होता है, तब उनके गुण का ज्ञान होता है, इसके बाद उसमे विशिष्ट दो द्रव्यो का ज्ञान होता है। कणाद-दर्शन की इस मान्यता का मूल आधार वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार बिना विशेषण के ज्ञान किये विशेष्य-बुद्धि नही होती है (**नागृहीतविशेषणा हि विशेष्य-बुद्धि**)।

द्वित्व के स्वरूप मे भी मतभेद है। कुछ आचार्य मानते है कि द्वित्व एकत्व का समुदाय मात्र है। वह दो एकत्व से विलक्षण नही है। एकत्व के समुदाय को द्वित्व इस एक नये शब्द से उसी तरह कहा जाता है जिस तरह वृक्ष के समुदाय को वन जैसे एक नये शब्द से व्यक्त किया जाता है। इस मत मे समुदाय --अर्थ का प्राधान्य

१२. वही, संख्यासमुद्देश ११
१३. वाक्यपदीय ३, संख्या समुद्देश १५

है। कुछ लोगो के अनुसार दो एकत्व निरपेक्ष रूप मे तो एकत्व हैं परन्तु परस्पर सापेक्ष होकर वे ही द्वित्व कहे जाते है। इस मत मे अवयवप्राधान्य की विवक्षा है। इन दोनो मतो के अनुसार द्वित्व एकत्व से अव्यतिरिक्त है। परन्तु ये मत समीचीन नही हैं। पाणिनि ने द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२) सूत्र के द्वारा द्वित्व मे द्विवचन का विधान किया है। अब अव्यतिरिक्त पक्ष मे द्वित्व के एकत्व से अव्यतिरिक्त होने से द्विवचन दो एकत्व मे होगा। फलत. 'द्व्येकयो' शब्द से तीन एकत्व (दो + एक) का ग्रहण होने लगेगा और बहुवचन की प्राप्ति होने लगेगी। अत दो एकत्व से जनित द्वित्व को उनसे व्यतिरिक्त मानना उचित है।[१४] तीन से लेकर दस तक की सख्याओ के बारे में इसी तरह के विचार व्यक्त किये जाते है।

बीस (विंशति) और बीस के आगे की सख्याओ के सम्बन्ध मे भर्तृहरि ने महाभाष्य के आधार पर अपने विचार व्यक्त किये है। इन सख्याओ के सम्बन्ध मे मूल विचार दो है। एक तो इनके व्युत्पन्न अथवा अव्युत्पन्न होने के विषय मे है। और दूसरा इनके सख्येय रूप से सम्बन्ध रखता है। व्युत्पन्न पक्ष मे विंशति शब्द दशद्वयार्थाभिधायी द्वि शब्द से शतिच् प्रत्यय निपातन कर सिद्ध किया जाता है। वस्तुतः सम्पूर्ण शब्द ही निपातन के द्वारा सिद्ध किया जाता है। केवल साधुत्व के लिये विंशति शब्द के प्रकृति-प्रत्यय का अन्वाख्यान किया जाता है। शतिच् प्रत्यय स्वार्थ मे होता है। स्वार्थ का अभिप्राय अन्तत· प्रकृति के अर्थ से है।[१५] लोक मे विंशति आदि शब्द संख्या और सख्येय दोनो अर्थ मे व्यवहृत होते है। जैसे, बीस गाय के लिये सस्कृत मे "गवा विंशति" और "विंशतिर्गाव" दोनो रूप मे कहा जाता है। अब यदि दो दस के अर्थ मे (स्वार्थ मे) विंशति शब्द का निपातन किया जायगा तो "विंशतिगव" यह समस्त रूप सभव न हो सकेगा। इसी तरह त्रिंशत् शब्द के भी उपर्युक्त विधि से निपातन करने पर "त्रिंशत्पूली" जैसे शब्द मे द्विगु समास न हो सकेगा। क्योकि इन शब्दो मे द्विगु समास के लिये आवश्यक सामानाधिकरण्य न मिल सकेगा। विंशति शब्द से दो दस का अभिधान होगा न कि दस सम्बन्धी द्रव्य का अभिधान होगा।

---

१४. कैयट ने इस पर टिप्पणी दी है कि द्व्येक शब्द द्वित्व और एकत्व के अर्थ में है और इसीलिये द्विवचन के रूप में व्यवहृत है—द्व्येकयोरित्यत्र सख्यापदेन द्विशब्देन साहचर्यादेकशब्दस्यापि सख्यावाचिनो ग्रहणम्। द्वित्वैकत्वयोश्च द्व्येकशब्दौ वर्तेते इति द्विवचनेन निर्देश.। अन्यथा बहुवचन स्यात्। प्रसिद्ध्या च सख्येयार्थत्वमेकादीनामष्टादशान्तानामुच्यते।

—महाभाष्यप्रदीप १।४।२१

एक शब्द जब सख्यावाची होता है, वह गुणवचन होता है। जब वह असहायवाची होता है, गुणवचन नहीं होता।(महाभाष्यप्रदीप ६।३।६२)। नागेश इस मत से सहमत नही है। उनके मत में सख्या शब्द गुण-वचन नही होते (सख्याशब्दाना गुणवचनत्वाभावात्—वही)। परन्तु पाणिनि ने उपर्युक्त सूत्र में एक शब्द का संख्या के अर्थ में ही व्यवहार किया है। न्यासकार का भी यही मत है (अत्र एक शब्दः सख्यायामेवप्रयुक्तः, न संख्येये द्रव्ये—न्यास।६।३।६२)।

१५. स्वार्थ इति। प्रत्ययस्य स्वात्मीया प्रकृतिस्तस्या अर्थ इत्यर्थः। अथवा यः प्रकृतेरर्थः स एव प्रत्ययाना स्वार्थः पितृधनमिव पुत्रस्य। तत्रैवार्थे प्रत्यासत्या अनिर्दिष्टार्थ प्रत्ययस्योत्पत्तेर्न्याय्यत्वात्।

महाभाष्यप्रदीप ५।१।५९

फलतः बीस गाय के अर्थ मे सदा गवा विंशतिः यह षष्ठी विभक्ति वाला रूप ही होगा क्योकि गायो के दो दस (गवा द्वौ दशतौ) के रूप मे अर्थ की उपस्थिति होने से व्यतिरेक उपस्थित हो जाने के कारण षष्ठी विभक्ति ही गो शब्द में होगी। षष्ठ्यन्त गो शब्द के साथ विंशति शब्द का समानाधिकरण न होने मे द्विगु समास सभव न हो सकेगा। साथ ही इस शब्द मे एक वचन का प्रयोग भी उपपन्न न हो सकेगा। वस्तुत केवल समास या केवल वचन की अनुपपत्ति न होकर समास-वचन की उपपत्ति न हो सकेगी। गवा विंशति से गोविंशतिः ऐसा समास होता है। यद्यपि 'पूरणगुणसुहितार्थ' २।२।११ सूत्र के अनुसार गुण के साथ षष्ठी समास नही होता फिर भी यह निषेध अनित्य माना जाता है और संख्या शब्द के साथ समास देखा जाता है। स्वय पाणिनि ने "शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्" (५।२।११९) मे सख्या शब्द के साथ समास किया है। गुणनिषेध-अनित्य द्योतक वाक्य कात्यायन और पतजलि के भी कई हे जैसे "क्रोशशतयोजनशतयोरुपसख्यानम्" (वार्तिक ५।१।७४), "खारीशतमपि न ददाति" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक) आदि। अथवा गुण के साथ निषेध वाला नियम तत्स्थ गुणो के साथ लागू होता है जैसे "काकस्य कार्ष्ण्यम्" मे। गुणात्मा रूप मे अवस्थित के साथ वह नियम नही लगता। फलत गोविंशति यह समस्त पद बनता है। परन्तु व्युत्पन्न पक्ष मे सामानाधिकरण्य के अभाव मे समस्त पद न बन सकेगा। साथ ही दो दस का भाव होने से द्विवचन की भी प्राप्ति होने लगेगी। स्वार्थिक प्रत्यय लिंग का व्यतिक्रमण कर सकते हैं परन्तु सख्या का व्यतिक्रमण नही करते। लिंग का तो प्रतिवस्तु के साथ—इय व्यक्तिः, अयम् पदार्थः, इद वस्तु—इस रूप मे तीनों लिंगों का व्यवहार देखा जाता है इसलिये लिंग भेद होने पर उतना विरोध सभव नही है, परन्तु सख्या के क्षेत्र मे सख्यान्तरयुक्त का सख्यान्तर मे विरोध है। यदि परिमाणी अर्थ मे स्वार्थ मे प्रत्यय का विधान हो तो इस दोष मे बचा जा सकता है। परिमाणी दो तरह का होता है, द्रव्य का सघात अथवा भिन्न-भिन्न द्रव्य। गो सघ के एक होने से विंशतिः शब्द मे एकवचन साधु मान लिया जायगा। द्रव्य को परिमाणी के रूप मे लेने पर विंशतिगव, त्रिंशत्पुली आदि मे समानाधिकरण समास की भी सिद्धि हो सकती है। परन्तु दूसरी कठिनाइया आ खडी होगी। जब सघ के परिमाणी अर्थ मे विंशति शब्द का निपातन होगा केवल विंशति शब्द मे भी सघ का ग्रहण होने लगेगा पर ऐसा दृष्ट नही है और न लोक मे ऐसा देखा ही जाता है। भिन्न द्रव्य परिमाणी मे प्रत्यय की उत्पत्ति मानने पर विंशति शब्द से द्रव्य का अभिधान होगा, फलत व्यतिरेक न होने के कारण गवा (गवा विंशतिः) मे षष्ठी विभक्ति न हो सकेगी। और द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य होने से बहुवचन की भी प्राप्ति होने लगेगी।

वार्तिककार ने उपर्युक्त दोषो से बचने के लिये विंशति आदि शब्दो को अव्युत्पन्न मान लिया है। जिस तरह सहस्र, अयुत, अर्बुद आदि शब्द अव्युत्पन्न हैं उसी तरह विंशति आदि शब्द भी अव्युत्पन्न है। इनकी प्रातिपदिक सज्ञा अर्थवत्० १।२।४५ सूत्र से हो जायगी। अर्थवत् सूत्र के द्वारा अव्युत्पन्न शब्दो की प्रातिपदिक संज्ञा होती

है यह बात पहले कही जा चुकी है। जिस तरह अक्ष आदि शब्द अनेकार्थ होते हैं उसी तरह विंशति आदि शब्द भी सख्या और संख्येय के अर्थ में स्वभावतः व्यबहृत होते हैं। वे रूढि शब्द है और रूढि शब्द होने के कारण उनके लिंग और उनकी सख्या नियत होती है। जैसे, आपः, दारा आदि रूढि शब्दो मे नियत लिंग—संख्या देखे जाते हैं।

परन्तु महाभाष्यकार ने व्युत्पत्ति—पक्ष का समर्थन किया है। विंशति आदि शब्द पूर्ण रूप मे रूढि शब्द नही है। अक्ष जैसे शब्द अनेक अर्थ जब करते है, उनमें कोई अन्वय नही होता, वे भिन्न-भिन्न जातियो मे रूढ होते हैं, वे यौगिक शब्द नही हैं। विंशति, सहस्र आदि शब्द जब गुणी के अर्थ मे व्यवहृत होते है यौगिक शब्द ही माने जाते हैं। ये शब्द संख्या से निरपेक्ष सख्येय विशेष की अभिव्यक्ति नही करते। इसलिए इन्हे रूढि शब्द नही कहा जा सकता।

विंशति आदि शब्दो में समास और वचन की अनुपपत्ति भी न हो सकेगी। सघ का अर्थ समुदाय भी है। सघ, समूह, समुदाय ये एकार्थक है। सघ केवल प्राणियो के समुदाय को ही नही कहते, अप्राणियो के भी समूह को कहते है। इसी से बीस वृक्ष के लिए वृक्षाणा विंशति भी प्रयुक्त होता है। ये विंशति आदि शब्द समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त होकर भाववचन माने जाते है, भाववचन होने से गुण वचन हैं, गुणवचन होने से दूसरे गुणवचन शब्दो के सदृश हो जाते है। अन्य गुणवचन शब्दों में देखा जाता है कि कभी गुण गुणी का विशेषक होना है जैसे "पट शुक्ल"। कभी गुणी गुण का विशेषक होता है जैसे "पटस्य शुक्ल"। अस्तु, पट शुक्ल में जिस तरह गुण गुणी के अव्यतिरेक की विवक्षा से अथवा मतुप्-लोप से सामानाधिकरण्य है उसी तरह विंशति आदि का भी द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य सभव है। फलत समास होने मे कोई आपत्ति नही है।

परिमाणी वाले पक्ष मे भी दोष का परिहार सभव है। परिमाण सख्या के विशेषण रूप मे यहा गृहीत होता है। क्योकि शब्द किसी शब्द का परिमाण नही होता। परिमाण शब्द भी यहा प्रसिद्ध (रूढ) परिमाण अर्थ मे नही है अपितु क्रिया शब्द है (परिमीयते येन तत्परिमाणम्)। परिच्छेदक होने के कारण सख्या भी परिमाण है। परिमाणी पक्ष मे सघ शब्द से संख्येय सघ और सख्यानसघ दोनो का ग्रहण होगा। अर्थात् एक द्रव्यसघ होगा और दूसरा दो दस वर्ग वाला सघ होगा। निपातन के बल से परिमाणी दशत सघ मे प्रत्यय होगा। । इसका फल यह होगा कि दशत सघ का विंशति शब्द मे अभिधान होगा और बीस गाय के परिमाण वाले गोसघ की विवक्षा में "विंशको गोसघ" प्रयोग हो सकेगा, 'विंशति गोसघ' न हो सकेगा और गवा विंशति के लिए समस्तपद गोविंशति उपपन्न हो सकेगा। पहले विंशति परिमाण यस्य सघस्य इस विग्रह के साथ किसी अन्य सघान्तर परिमाणी के अभाव में "विंशक सघ:" इस शब्द की सिद्धि के लिये स्वार्थ मे डवुन् प्रत्यय करने की आवश्यकता आ पडी थी। सघ शब्द से सख्यान और सख्येय दोनो संघ के ग्रहण करने के कारण दशतसघ के लिये प्रसिद्ध विंशति शब्द परिमाणी गवादिद्रव्यसंघ के लिये भी व्यवहृत होगा। यद्यपि विंशति शब्द कभी गोसघ का अर्थ नही करता परन्तु परार्था-

मिधान वृत्ति यहा विवक्षित है और इसलिये वह प्रत्यय उत्पादन करने में समर्थ हो सकेगा। यहा यह बात ध्यान देने की है कि द्रव्यो का द्रव्यसंघ से और दशतो का दशतसघ से कोई तात्त्विक भेद नही है। उनमें भेद बुद्धि-परिकल्पित है। शब्द बुद्धि-व्यवस्थापित अर्थ वाले होते है। बुद्धि को ही वे अर्थाकार के रूप मे अभिव्यक्त करते हैं। बाह्य अर्थ के अभिधान से उनका साक्षात् प्रयोजन नही होता। इसलिये वास्तविक भेद न होने पर भी भेद की प्रतीति वे कराते हैं। गुणी (गाय आदि) का भेद के रूप मे व्यवहार करने पर षष्ठी विभक्ति (गवा विंशति.) भी सिद्ध हो जायगी। यद्यपि विंशति शब्द से दसो का सघ (दाशत सघ.) वाच्य है इसलिये उसका गुणी गाय आदि नही होते, दो दस ही उसके गुणी (सख्येय) हैं फिर भी गाय और दससघ में किसी तात्त्विक भेद के न होने के कारण गाय भी विंशति शब्द के गुणी है। केवल अन्तर यह है कि दस सघ से विंशति के सम्बन्ध मे कोई व्यभिचार नही है इसलिये कभी दशत से विंशति की विशेष्यता नही व्यक्त की जाती, कोई "दशतो विंशति" नही कहता। कभी भी "कृष्णस्य कार्ष्ण्यम्", "शुक्लस्य शौक्ल्यम्" प्रयोग की आवश्यकता नही होती, इनमे व्यभिचार सम्भव नही है। परन्तु अश्व आदि की व्यावृत्ति के लिये विंशति शब्द का गो शब्द के द्वारा विशेष रूप व्यक्त किया जाता है। और कहा जाता है "गवा विंशति"। अन्यथा अश्व आदि भी बीस सख्या से गृहीत हो सकते है। गायो का विंशति से सम्बन्ध "भावानयने द्रव्यानयनम्" न्याय के आधार पर हो जाता है।

वचनवाला दोष भी दोनो पक्षो मे वस्तुतः दोष नही है। समुदाय अभिधान के पक्ष मे समुदाय के एक होने से एक वचन सिद्ध ही है। गुणी-अभिधान पक्ष मे भी दोष नही है। यह ठीक है कि गुणवचन शब्द द्रव्य के लिंग और उसकी सख्या का अनुवर्तन करते है। परन्तु सर्वत्र यह नियम नही देखा जाता। लोक मे कहा जाता है—"गावो धनम्, पुत्रा अपत्यम्, इन्द्राग्नी देवता, वेदा प्रमाणम्" आदि। इन वाक्यो मे गुण और गुणी मे लिंग और सख्या का साम्य नही है फिर भी ये प्रयोग शुद्ध है। गाव मे बहुवचन है और धनम् मे एक वचन है। धन गुण है और गाय गुणी है क्योकि धन साकाक्ष है, भेदक है और क्रिया-पारतन्त्र्य है। जिस तरह शुक्ल शब्द कहने से द्रव्य की आकाक्षा होती है उसी तरह धन शब्द कहने से कौन से धन की जिज्ञासा मे गाय आदि की आकाक्षा होती है। जिस तरह "शुक्ल वस्त्र" मे शुक्ल शब्द द्रव्य का भेदक है उसी तरह "गावो धनम्" मे धन शब्द गाय का भेदक है अर्थात् दूसरे-दूसरे प्रकार के धन से गाय-धन अधिक प्रीतिकर है इस रूप मे भेदक है। जिस तरह 'शुक्लमानय' इसमे द्रव्य के आने मे ही शुक्ल के लाने की सभावना है अत क्रिया मे द्रव्यपरतत्रता के कारण शुक्ल गुण है उसी तरह "धनमानय" जैसे वाक्य मे गाय आदि द्रव्य की आनयन क्रिया मे पारतन्त्र्य के कारण धन गुण है। अतः जिस तरह "गावो धनम्" आदि मे गुण-गुणी मे भिन्न-भिन्न वचन है—एकवचन और बहुवचन साथ-साथ है वैसे ही विंशतिर्गावः विंशतिर्बलीवर्दा विंशतिर्गोकुलानि आदि मे भी विभिन्न वचन और लिंग साथ-साथ सम्भव है। विंशति शब्द नित्य एकवचन और स्त्रीलिंग है। इस एक वचन की पीठिका मे भी एक-दर्शन है। जहा कही ऐसा होता है वहा कुछ न कुछ रहस्य

होना चाहिये । महाभाष्यकार ने कहा है कि एक गोपिण्ड धन नही है अपितु गायो का समुदाय धन है और प्रीति-हेतु होने के कारण धन गुण एक है । उसी एकत्व की प्राधान्य-विवक्षा से धनम् शब्द मे एक वचन होता है । इसी तरह पुत्रा अपत्यम् मे अपत्य शब्द से अपतन एक गुण-प्रधान रूप से विवक्षित है और उसी आधार पर इसमे एकवचन है । लिंग के लोकाश्रय होने के कारण अपत्य शब्द का व्यवहार नपुसकलिंग मे होता है । वस्तुत इसमे भी एकत्व की तरह ही रहस्य है । इसी तरह इन्द्राग्नी देवता मे देवत्व (ऐश्वर्य) एक गुण ही प्रधानत विवक्षित है इसलिये देवता मे द्विवचन न होकर एकवचन है । विंशति आदि मे भी विंशति संख्या समुदित द्रव्यसमूह मे समवाय रूप मे रहने के कारण एक है । इस एकत्व गुण के कारण विंशति शब्द का प्रयोग एकवचन मे होता है । वह शुक्लत्व की तरह प्रत्येक मे परिसमाप्त नही है । अत सदा द्रव्यगत लिंग सख्या का अनुवर्तन नही करता । पच सप्त आदि नित्य सख्येय वचन है इसलिये वे सख्येय लिंग-वचन का अनुगमन करते है । उनमे उपर्युक्त आधार पर एकवचन नही होता ।[१६] अत व्युत्पत्ति पक्ष मे भी दोष नही है । पर वैयाकरणो का झुकाव विंशति आदि शब्द को अव्युत्पन्न मानने की ओर ही अधिक रहा है । जैसाकि काशिकाकार ने कहा है —

विंशत्यादयो गुणशब्दास्ते यथाकथचिद् व्युत्पाद्याः ।
नात्रावयवार्थेऽभिनिवेष्टव्यम् । या चैषा विषयभेदेन गुणमात्रे
गुणिनि च वृत्ति. स्वलिंगसंख्यानुविधानं च, एतदपि सर्वं स्वाभाविकमेव ।[१७]

विंशति की तरह ही एकविंशति आदि सख्याओ को समझना चाहिये । उनमे भी अवयवार्थ कुछ नही है । एक सख्या और वीस सख्या के योग से एक्कीस (एकविंशति) सख्या बनी है । यह एक तरह का काल्पनिक रूप है, यथार्थ नही । नव और बारह, दस और ग्यारह के द्वारा भी एक विंशति का विवरण किया जा सकता है परन्तु ये सब विभाग, भर्तृहरि के अनुसार, काल्पनिक है। एकविंशति आदि सख्याओं मे कोई अवयव नही है । वे अन्य ही सख्या है । नरसिंह की तरह उनमे अन्य ही बुद्धि होती है । केवल समझने के लिये नर और सिंह के रूप मे जैसे अपोद्धार किया जाता है वैसे केवल अन्वाख्यान के लिए एकश्च विंशतिश्च जैसे वाक्य एक विंशति के लिये कहे जाते है :

एकविंशति संख्यायां सख्यान्तरसरूपयोः ।
एकस्या बुद्ध्यनावृत्त्या भागयोरिव कल्पना ।।[१८]

यह मान्यता कुछ व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण है। एकविंशति जैसी सख्याओ को दो सख्याओ का योग मान लेने पर और उन्हे निरस्तावयव न मानने पर व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइया पडेगी । दस आदि की तरह उन्हे अखण्ड

---

१६. महाभाष्य, तथा महाभाष्यप्रदीप ५।१।५९
१७. काशिका ५।१।५९
१८. वाक्यपदीय ३, सख्या समुद्देश २०

और एकबुद्धिग्राह्य मानकर ही सख्या से विहित कार्य उनसे किये जाते हैं। उदाहरण के लिये एकविंश शतम्, एकविंशतितमम्, एकविंशतिकृत्व आदि मे क्रमश ड, तमट और कृत्वसुच् प्रत्यय हुए हैं। एकविंशति आदि सख्याओ को समूह मानने पर ये प्रत्यय उनसे नही हो सकते। जैसे स्वागसमुदाय को स्वाग नही माना जाता और न उनमे स्वांग-कार्य ही होते हैं। फलत "कल्याणपाणिपादा" मे स्वाग मानकर ङीष् नही होता है उसी तरह सख्या-समुदाय मे सख्या कार्य नही किये जा सकते। इसलिये एकविंशति आदि को सख्या-समुदाय न मानकर उन्हे स्वतत्र सख्या ही मानना उचित है।[१६]

द्विदशा, त्रिदशा जैसे शब्दो मे द्वि, त्रि शब्द दस की आवृत्ति द्योतक है। द्विदश शब्द का विग्रह "द्वौ दश" इस रूप मे नही किया जा सकता क्योकि ऐसा करने मे विरोध जान पडता है। दस सख्या के एक होने से उसमे द्वित्व सभव नही है। सख्येय दस मे भी द्वित्व सभव नही है। अत: द्विशब्द मे दस की आवृत्ति द्योतक द्वित्व सख्या अभिप्रेत है। द्वि का अर्थ दो बार है। अवश्य ही द्विः (सुजन्त रूप) विग्रह् वाक्य मे ही देख पडता है, समास मे शब्द-शक्ति के बल मे सुजर्थ का अवबोध हो जाता है इसलिये समास मे सुच् प्रत्यय का दर्शन नही होता। अथवा समास मे सुच्-प्रत्यय के बिना भी द्वि-शब्द अभ्यावृत्ति सख्या बोधक (बार-बार का अर्थ बोधक) मान लिया जाता है और उसके साथ समास हो जाता है।

सख्या शब्द से सख्या विशेष का अभिधान नही होता। एकत्व आदि सख्यात्व जाति से युक्त की सज्ञा सख्या है। इसलिये सख्या मे अवयवावयविभाव नही होता। सख्या शब्द से प्रतिपाद्य सामान्य-विशेष अवयवी नही हो सकता, सामान्यविशेष मे अवयवावयविभाव नही होता। फलतः "बहवोऽवयवा अस्या सख्यायाः" इसमें बहु-शब्द से अवयव अर्थ मे तयप् प्रत्यय नही होता। "बहुतय चित्र रूपम्" यह वाक्य चित्र रूप के अवयवित्व की विवक्षा मे तो सभव है क्योकि चित्ररूप अवयवी है और नील-पीत आदि उसके अवयव हो सकते है। किन्तु "बहुतय रूपम्" यह प्रयोग शुक्लादि-विशेष-विषय रूप सामान्य की विवक्षा मे उपपन्न नही माना जायगा। रूप सामान्य और शुक्लादि विशेष रूप मे अवयवावयविभाव नही है। अवयवी अवयव से कार्य भेद से, रूप भेद से और आख्या भेद से भिन्न होता है। वन अवयवी है। वृक्ष अवयव है। वृक्ष के कार्य से सामूहिक (समुदित) वन कार्य भिन्न है। इसी आधार पर रूपभेद भी है। आख्या भी भिन्न है, एक की सज्ञा वृक्ष है दूसरे का नाम वन है। सख्या के क्षेत्र मे ये भेद दृष्टिगोचर नही है। सख्या परिच्छेदक अथवा भेदक है। इसके अतिरिक्त कोई कार्य नही है। एकत्व आदि से रहित उसका कोई अन्य रूप भी नही है। अवयवावयवि के रूप मे सख्या मे कोई आख्या-भेद भी नही है। इसलिये सख्या वह सज्ञा है जो विशेषविषयसामान्यगोचर है।

१६. वही, २१

एकवचन, द्विवचन और बहुवचन

यद्यपि ये शब्द अन्वर्थक हैं फिर भी पारिभाषिक रूप मे व्यवहृत होते हैं। पूर्वाचार्यो द्वारा व्यवहृत सज्ञाओ की पाणिनि ने प्राय परिभाषा नही दी हैं, परन्तु उन्होने एकवचन आदि की परिभाषा दी है। महाभाष्यकार ने इन्हे शब्द-सज्ञा कहा है—**एकवचनं द्विवचनं बहुवचनमिति शब्द संज्ञा एता**।[20] द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ सूत्र के द्वारा एकत्व के अर्थ मे एकवचन और द्वित्व के अर्थ मे द्विवचन का प्रयोग होता है। एक शब्द का कई अर्थों मे प्रयोग होता है। एक, दो, बहुत आदि शब्दो के साथ वह सख्या के अर्थ मे व्यवहृत होता है। एकाग्नय जैसे वाक्यो मे वह असहायवाची है। "सधमादो द्युम्न एकास्ताः" जैसे वाक्यो मे वह अन्य अर्थ वाला है। जब वह सख्यावाची होता है तभी उससे एकवचन होता है। पाणिनि ने उपर्युक्त सूत्र मे सख्या के अर्थ मे ही एक शब्द का व्यवहार किया है। यदि एक से सख्येय अर्थ विवक्षित होता, द्वयेकयो मे द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग उचित होता, क्योकि दो और एक मिल कर तीन का अर्थ व्यक्त करते। सख्येय के लिये एक आदि शब्दो का व्यवहार लोक-प्रसिद्धि के आधार पर किया जाता है (**प्रसिद्ध्या च संख्येयार्थत्वमेकादीनाम् अष्टादशान्तानाम् उच्यते**)।[21] जहा एक शब्द अन्यार्थक होता है वहा उसकी गणना सख्या मे नही होती। अत उससे बहुवचन भी होता है। जैसे, "एके मन्यन्ते।" अस्तु, एकवचन मे एक के सख्यार्थक होने के कारण एकवचन वस्तु की एक इकाई का द्योतक है और वस्तु मे भेद-अभेद पूर्वक होने के कारण अभेद सूचक एकत्व ही वस्तु का स्वाभाविक रूप है। फलतः सस्कृत के वैयाकरण एकवचन को औत्सर्गिक मानते हैं।

द्विवचन कभी-कभी अपनी स्वाभाविक सीमा के परे भी चला जाता है। सस्कृत मे शरीर के वे अवयव प्रायः द्विवचन द्वारा प्रकट किये जाते है जो जोडे है, जैसे—आख, कान आदि। परन्तु "अक्षीणि मे दर्शनीयानि", "पादा मे सुकुमारा" जैसे बहुवचनान्त प्रयोग भी लोक मे देखे जाते है।

बहुत्व के अर्थ मे बहुवचन का विधान पाणिनि ने "बहुषु बहुवचनम्" १।४।२१ के द्वारा किया है। बहुत्व तीन से लेकर परार्ध तक की सख्याओ मे व्याप्त धर्म है। सस्कृत मे दारा शब्द बहुवचनान्त है। एक दारा के लिये भी दारा. पद का प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग इसकी उपपत्ति बताते हुए कहते है कि अवयवगत बहुत्व का अवयवी मे यहा आरोप किया गया है। अत यहा बहुवचन आरोपजन्य है। (**अवयवबहुत्वस्यावयविनि आरोपाद् भविष्यति**)[22]। एक वृक्ष मे मूल, शाखा आदि अवयव के आरोप से बहुवचन नही होता क्योकि कोश अथवा वृद्ध-व्यवहार मे ऐसा नही देखा जाता। दारा शब्द मे, प्रति अवयव मे प्रेम के कारण, दारत्व का आरोप

२०. महाभाष्य १।४।२१

२१ महाभाष्यप्रदीप १।४।२१

२२ शब्दकौस्तुभ १।४।२१

सम्भव है । जहा कोश आदि बाधा नही देते, एकत्व या बहुत्व के प्रयोग वक्ता की इच्छा पर है । जैसे, "आचार्या आगता" भी कहते हैं और "आचार्यः आगत" भी कहा जाता है । कुछ लोगो के अनुसार दारा शब्द मे बहुवचन साधुत्व के लिये है । परन्तु बहुवचन विधान सूचक कोई उल्लेख नही है, उसका अनुशासन नही हो पाया है । आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार दारा सिकता. आदि शब्दो मे बहुवचन वक्ता के इच्छा-स्वातन्त्र्य के कारण है, वस्तु के आधार पर नही

"तस्मादय नियमो निर्वस्तुकः क्रियमाणः शब्दप्रयोगे इच्छास्वातंत्र्यं ख्यापयति ।

—प्रमाणवार्तिक, पृष्ठ १६०

महाभाष्यकार ने सिकता शब्द का प्रयोग एकवचन मे किया है । जैसे, **एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था, तत्समुदायश्च खारीशतमपि असमर्थम्"** । इस पर कैयट ने टिप्पणी दी है कि **"एका सिकतेति भाष्यप्रयोगादेव सिकता शब्दस्यैकवचनान्तमपि"** ।[23]

एकवचन आदि प्रत्ययनियम और अर्थनियम दोनो रूप मे गृहीत होते हैं अर्थात् एक अर्थ मे ही एकवचन अथवा एक मे एक वचन ही होता है । इन दोनो रूपो मे इनकी व्याख्या की जाती है । "बहु सूप" जैसे वाक्यो मे बहु शब्द वैपुल्यवाची है । बहु शब्द भिन्न वस्तुओ के आधाराश्रय के रूप मे ही सख्यावाचक होता है ।

संख्या विभक्ति से वाच्य अथवा द्योत्य

त्रिक प्रातिपदिकार्थ पक्ष मे कर्म आदि की तरह एकत्व आदि सख्या विभक्त्यर्थ मानी जाती है । पञ्च प्रातिपदिकार्थपक्ष मे विभक्तिया सख्या के द्योतक है । कुछ लोग मानते है कि सख्या का अभिधान प्रत्यय के द्वारा होता है और कर्म आदि का अभिधान प्रातिपदिक के द्वारा होता है । इस मत का आधार अन्वय-व्यतिरेक पद्धति है । वृक्षो, वृक्षान् जैसे शब्दो मे प्रत्यय के भेद से सख्या मे भेद देखा जाता है परन्तु साधन मे भेद नही देखा जाता । इसके विपरीत, कुछ लोग मानते है कि कर्म आदि का अभिधान प्रत्यय द्वारा होता है और सख्या प्रातिपदिक के द्वारा अभिव्यक्त होती है । क्योकि अग्निचित् जैसे शब्दो मे प्रत्यय के बिना भी एकत्व का परिज्ञान होता है परन्तु विभक्ति के बिना कर्म आदि का ज्ञान नही होता । कुछ लोगो के अनुसार प्रातिपदिक से ही सख्या और कर्मादि दोनो का अभिधान होता है । "चर्म पश्य" जैसे वाक्यो मे विभक्ति के बिना भी दोनो का परिज्ञान देखा जाता है । वस्तुत ये सब पक्ष भेद पुरुष-विकल्पाधीन है । और व्याकरणदर्शन मे प्रसगानुसार सभी पक्ष यथावसर ग्राह्य है । महाभाष्यकार ने 'अनभिहिते" (२।३।१) इस सूत्र की स्थापना सख्या विभक्त्यर्थ-दर्शन के आधार पर की है (**तदेव सख्याविभक्त्यर्थ इति दर्शनाश्रयेण सूत्रं स्थापितम् —महाभाष्यप्रदीप** २।३।१) । इसी तरह पाणिनि सूत्र ४।१।५० के भाष्य मे विभक्तियो के कर्मादि के द्योतक होने का सकेत है और नागेश के अनुसार यही सिद्धान्त

२३. महाभाष्य और महाभाष्यप्रदीप, हयवरट् सूत्र पर, पृ० १४०, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण ।

पक्ष है—

(**अस्माद् भाष्याद् द्योतकत्व पक्ष एव सिद्धान्त इति ज्ञायते—**

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ४।१।५०)।

संख्या प्रत्ययार्थ और प्रकृत्यर्थ दोनो का परिच्छेदक है। "पचको गोसघ" मे संख्या प्रत्ययार्थ का परिच्छेदक है। "पच गाव अस्य गो सघस्य" इस रूप मे प्रकृत्यर्थ का अवच्छेदक है।

वृत्ति में संख्या

वृत्ति मे सख्याभेद की निवृत्ति हो जाती है। विग्रह वाक्य मे सख्या-विशेष की प्रतीति होती है जैसे राज्ञ पुरुष मे राज्ञ शब्द से एकत्व का ज्ञान होता है परन्तु राजपुरुष शब्द मे उपसर्जन शब्द से किसी सख्या-विशेष का बोध नही होता। किसी सख्याशब्द के न होने से वृत्ति मे सख्याविशेष का स्थान नही है इसका अनुमान कर लिया जाता है।

वृत्ति मे अभेदैकत्वसंख्या

अथवा वृत्ति मे अभेदैकत्वसख्या होती है। भर्तृहरि ने **अभेदैकत्वसख्या को दो रूपो** मे व्यक्त किया है। विशेष सख्याओ का अविभाग रूप मे अवस्थिति का नाम अभेदैकत्व सख्या है। इस दर्शन के अनुसार वृत्ति मे उपसर्जन पदार्थों मे भी सख्यायोग होना चाहिये। अव्यय की तरह सर्वथा सख्यारहित उपसर्जन पदार्थ की सत्ता उपयुक्त नही है। इसलिये वृत्ति मे भी सख्या का एक सामान्य रूप रहता है जो सभी सख्या-विशेषो का ससर्ग रूप-सा है। उसमे सख्याओ का विभाग दृष्टिगोचर नही होता। इसके स्पष्टीकरण मे भर्तृहरि ने मधु का उदाहरण दिया है। मधु मे सभी प्रकार की औषधियो के रस अविभाग रूप मे सन्निविष्ट रहते हैं। मधु मे औषधि-रसो की अलग-अलग पहचान दुष्कर है फिर भी वे वहा है। कार्य मे रस, कारण गुण—रस से ही सभव है। इसी तरह यद्यपि वृत्ति मे उपसर्जन पदार्थ मे सख्या विशेष की प्रतिपत्ति नही होती, फिर भी उसमे सभी सख्याए अविभक्त रूप मे है। इसी को अभेदैकत्व सख्या शब्द से व्यक्त किया जाता है।[२४]

अथवा अभेदैकत्वसख्या से अभिप्राय उस सख्या सामान्य से है जिसमे विशेष परित्यक्त है (**परित्यक्तविशेष संख्यासामान्य अभेदैकत्वसख्या**)। अभेदैकत्व स्वभाव वाली सख्या मे व्यक्तिभेद सर्वथा तिरोहित रहता है और सख्या केवल जाति रूप मे अवस्थित रहती है। सख्या का जातिरूप भेदापोहलक्षण है अर्थात भेदो का व्यावर्तन अथवा हटाना ही सख्या का जातिरूप है। एकत्व द्वित्व का व्यावर्तन करता है, द्वित्व त्रित्व को हटाता है। इसी तरह अभेदैकत्व के अन्य सभी सख्याओ के व्यावर्तक होने के कारण उसमे भेदापोह लक्षण सख्यात्व है। पहले मत

---

२४. वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ९९, १००.

से इस मत मे यह भेद है कि पहले के अनुसार अभेदैकत्व समस्त भेद का संसर्ग मात्र था फलत समस्त भेदात्मक था। दूसरे मत के अनुसार अभेदैकत्व समस्त भेद मे अनुगत सामान्य रूप और अन्य व्यावर्तक स्वभाव वाला है। समास मे द्वित्व और बहुत्व सख्या का ज्ञान नही होता। केवल अभेदैकत्व का परिज्ञान होता है। अत सख्या-विशेष का परित्याग कर सख्या के सामान्य रूप को अभेदैकत्व सख्या मानना चाहिये। जिस तरह से अधेरे मे किसी वस्तु के केवल आकार का ही बोध हो पाता है उसके विशेष गुण शुक्ल, नील, पीत आदि का आभास नही होता उसी तरह राज-पुरुष आदि वृत्तिस्थलो मे आकार या रूप की तरह केवल सख्यावान् राज के अर्थ का ग्रहण होता है पर विशेष रग की तरह विशेष सख्या का ग्रहण नही होता। अत वृत्ति मे अभेदैकत्व सख्या की सत्ता स्वीकार करनी चाहिये।

कभी-कभी वृत्ति मे भी सख्या का बोध होता है। परन्तु इससे अभेदैकत्व-सख्या पक्ष की हानि नही होती। द्विपुत्रः, पचपुत्रः जैसे शब्दो मे समास मे भी सख्या-विशेष की अभिव्यक्ति अवश्य होती है परन्तु यहा प्रातिपदिकार्थ ही सख्या विशेष है। इस विग्रह वाक्य मे जिस द्वित्व सख्या की प्रतीति होती थी, समास होने पर वह तिरोहित हो जाती है और अभेदैकत्व सख्या का आविर्भाव हो जाता है। किन्तु द्विशब्द का प्रातिपदिकार्थ जो द्वित्व है वह वृत्ति होने पर भी तिरोहित नही होता। जहत् स्वार्थावृत्ति पक्ष मे भी उपसर्जन का अर्थ होता है। भाव प्रत्यय के बिना भी वृत्तिविषय मे द्वि और बहु शब्द द्वित्व और बहुत्व के अर्थ मे देखे जाते है जैसे द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ के द्व्येकयोः शब्द मे।

अन्यत्र भी वृत्ति मे सख्याविशेष की झलक मिलती है। जैसे 'तावकीन' मे एकत्व की। परन्तु यहा भी एकत्व की प्रतीति आदेश के प्रयोग से है।

मागजान, मौपिक जैसे स्थलो मे एकत्व का भान यहा प्रातिपदिक के ही विशेष अर्थ के अभिधायक होने के कारण है। विशिष्ट काल का अवबोध ही यहा मुख्य है। परिमेय—विशेष के अवधारण के लिये ही परिमाण-शब्दो का प्रयोग किया जाता है।

कुण्डश ददाति, प्रस्थश ददाति, वनश प्रविशति जैसे वाक्यो मे एकत्व का अवधारण प्रकरण के बल पर होता है।

विग्रह वाक्य मे स्तोकाभ्या मुक्तः 'स्तोकेभ्य मुक्त. ऐसा भी कहा जाता है किन्तु समास मे सदा "स्तोकान् मुक्त" ही होता है। यह अलुक् समास है और समस्त पद होने के कारण इसमे एक ही उदात्त है। स्तोकाभ्या मुक्त मे समास अन-भिधान के कारण नही होता। लोक मे समस्त शब्द के रूप मे इसका प्रयोग नही देखा जाता। स्तोकान् मुक्त मे अलुक् का एकवद्भाव माना जाता है। फलत वृत्ति मे अभेदैकत्वसख्या का व्याघात यहा भी नही है। गोषुचर, वर्षासुज जैसे आपातत बहुवचनान्त समास मे भी अभेदैकत्वसख्या है क्योकि इनमे व्यक्ति बहुत्व के अर्थमे बहुवचन नही है अपितु जाति बोध के कारण एक के अर्थ मे है। इसलिये एक व्यक्ति के लिये भी गोषुचर (कैयट के अनुसार कुक्कुट, हेलाराज के अनुसार इन्द्रगोप) शब्द का

प्रयोग होता है। इसी तरह वर्षाभुज. मे वर्षा शब्द बहुवचनान्त ही ऋतु-विशेष का वाचक है। इसलिये वृत्तिगत अभेदैकत्वसख्या की प्रतीति यहा भी है। फलत वृत्ति मे अभेदैकत्वसख्या, भर्तृहरि के अनुसार, माननी चाहिए। पर यह अभेदैकत्व पारिभाषिक रूप मे ही है। व्यवहारत वृत्ति से सख्याविशेष का भान नही होता। यदि कुछ स्थलो पर किसी विशेष कारण से वृत्ति मे सख्या का अवबोध हो भी तो भी सामान्य लक्षण के रूप मे यही कहना उचित है कि वृत्ति मे सख्याभेद का अवगमन नही होता—

> **भेद सख्याविशेषो वा व्याख्यातो वृत्तिवाक्ययो :।**
> **सर्वत्रैव विशेषस्तु नावश्यं तादृशो भवेत् ॥**
>
> —वाक्यपदीय, वृत्ति समुद्देश १३२.

जाति में संख्या

व्याकरण-दर्शन जाति मे भी सख्या मानता है। क्योकि सख्या इस दर्शन मे भेदक के रूप मे भी गृहीत है। गुण पद से सदा वैशेपिक-प्रसिद्ध ही गुण नही लिया जाता, गुण-भेदक भी होता है

> **ननु च जाते सख्या न विद्यते, तस्या द्रव्यधर्मत्वात्। यद्यपि वैशेषिकसिद्धान्त-प्रसिद्धा गुणपदार्थसंगृहीता या सख्या सा न विद्यते तथापि भेदका गुणा इत्यस्माद् दर्शने भेदमात्रा या संख्या सा विद्यत एव—**
>
> —न्यास १।२।५८

७

कारक (साधन) विचार

स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे ।
क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदु. ।।[1]

क्रिया की निष्पत्ति मे लगी हुई द्रव्य-शक्ति को साधन कहते है । इसे कारक भी कहते है । साधन शब्द की व्युत्पत्ति "साध्यते अनेन क्रिया" के रूप मे की जाती है । महाभाष्यकार ने साधन को गुण माना है । शक्ति स्वय आधार के परतंत्र है, साथ ही अन्य आश्रयो से अपने आश्रय का भेदक है । भेदक होने के कारण "भेदकाः गुणा." इस दर्शन के आधार पर उसे गुण कहते है । महाभाष्यकार ने **'यदि तावद् गुणसमुदायः साधनं, साधनमपि अनुमानगम्यम्' (महाभाष्य ३। २।११५)**—यह वाक्य व्यवहृत किया है । गुणसमुदाय से अभिप्राय शक्ति-समुदाय से है । गुणसमुदाय शब्द मे समुदाय शब्द करण आदि सभी शक्तियो का प्रतीक है । करण आदि शक्तिया क्रिया की सिद्धि मे अविशेषरूप से निमित्त हैं अत वे सभी साधन हैं । इसीलिये "सर्वाः शक्तयः साधनम्"[2] यह उक्ति प्रसिद्ध है । कभी-कभी द्रव्य के लिये भी साधन शब्द का व्यवहार मिलता है जैसे, "साधन वै द्रव्यम्" । ऐसे स्थलो मे शक्ति और शक्तिमान् के अभेद की विवक्षा से साधन शब्द से द्रव्य का अभिधान होता है **(शक्तिशक्तिमतोरभेदविवक्षया साधनशब्देन शक्तिमन्ति द्रव्याण्युच्यन्ते)** ।[3]

साधन के शक्ति रूप मे होने के कारण क्रिया की तरह वह भी अनुमेय है । शक्तियाँ सदा अनुमेय ही होती है । शक्तिमान् को शक्ति से अतिरिक्त मानने पर साधन का प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व द्रव्य के आधार पर होता है । लोक मे द्रव्य के प्रत्यक्ष होने पर क्रिया का भी प्रत्यक्ष समझा जाता है, और द्रव्य के परोक्ष होने पर क्रिया को भी परोक्ष माना जाता है वैसे ही साधन का भी समझना चाहिये ।

भर्तृहरि ने साधन पर विचार द्रव्यव्यतिरिक्तशक्तिदर्शन और द्रव्य अव्यतिरिक्तशक्तिदर्शन इन दोनो पक्षो की मान्यताओ के आधार पर किया है ।

---

१. वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश १
२. कैयट, महाभाष्यप्रदीप ३। २। ११५; पृ० २५३
३. वही, पृष्ठ २५२

द्रव्यव्यतिरिक्त शक्ति-दर्शन के अनुसार साधन

भर्तृहरि के अनुसार विश्व शक्तियो का समूह है । विश्व की प्रत्येक वस्तु एक तरह का शक्ति-पुंज है । घट जैसे भाव (पदार्थ) जल ले आना, जल रखना आदि जैसे कार्यों के साधक शक्तियों के समूह हैं। ये शक्तिया, हेलाराज के अनुसार, कई प्रकार की होती हैं । कुछ अपने हेतुओं से ही स्वाभाविक रूप मे उद्बुद्ध होती है जैसे दीप में प्रकाश की शक्ति । कुछ शक्तिया अपने आश्रय के अन्त:स्थित होती हैं जैसे, बाधा आदि शक्तियाँ । विष की मारण शक्ति और बीज की अकुर-जनन-शक्ति भी शक्ति-विशेष ही हैं । योगियो की शक्ति भी एक विशेष शक्ति है । यह उपर्युक्त भाव हेलाराज ने भर्तृहरि के "शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वास्यानेकधर्मण:" वाक्य का व्यक्त किया है । परन्तु इसका भाव भर्तृहरि के शक्ति-दर्शन के अनुरूप भी हो सकता है। भर्तृहरि शक्ति-पदार्थ के समर्थक हैं। विश्व की मूल सत्ता शक्त्यात्मक है । विश्व की सभी वस्तुएँ उसी मूल शक्ति की मात्राएँ है, उसके अवयव है । इसलिये विश्व को शक्तिमात्राओ का समूह कहना उनके दर्शन के अनुकूल है । उस शक्ति की सर्वत्र सदा सत्ता है । फिर भी वही किसी शक्ति-विशेष की विवक्षा होती है और इस तरह वस्तु-वैचित्र्य बना रहता है । घट देखो, घट द्वारा जल लाओ, घट मे जल रखो आदि वाक्यों मे कर्म, करण आदि शक्तियाँ विवक्षा-वश उद्भूत होती है । इसलिये कारक-सांकर्य भी नही होने पाता है। शक्ति को साधन मानने पर ही इस वैचित्र्य की मीमासा ठीक-ठीक हो पाती है । द्रव्य को साधन मानने पर कर्म, करण आदि की व्यवस्था समुचित रूप मे नही की जा सकती क्योंकि द्रव्य एकस्वभाव वाला है ।

शक्ति को साधन मानने मे कुछ कठिनाइयाँ है । जहाँ पर शक्तियाँ है वहाँ विवक्षा भले हो जहाँ उनकी वास्तविक सत्ता नही है वहाँ किस तरह व्यवस्था की जायगी । जैसे शक्तिम् आदधाति, शक्त्या साधयति जैसे वाक्यो मे शक्ति शब्द के रहने से किसी दूसरी शक्ति की आवश्यकता नही है । एक शक्ति का किसी अन्य शक्ति के साथ योग अनिवार्य मानने पर अनवस्था दोष आ जायगा । इसके अतिरिक्त अभावात्मक वाक्यो मे कैसे शक्ति की मीमासा होगी । धनाभावो न युक्त जैसे वाक्यों मे अभाव मे कैसे किसी शक्ति का स्थान होगा, अभाव तो निरूपाख्य है । इस तरह की आशकाओ के समाधान मे भर्तृहरि ने कहा है कि साधन-व्यवहार बुद्धि-अवस्था-निबन्धन है, बौद्धिक है । बौद्धिक सत्ता के लिये किसी वस्तु की ग्राह्य सत्ता अथवा असत्ता प्रयोजक नही । सत् अथवा असत् वस्तु के भेद बुद्धि द्वारा बाह्य हैं । बाह्य-जगत् मे वस्तु की यथार्थ सत्ता होते हुए भी जब तक बुद्धि द्वारा उसका निरूपण नहीं होता, उसके लिये किसी शब्द का व्यवहार नही किया जाता । अभाव का भी बुद्धि द्वारा आकलन होता है तभी वह शब्द द्वारा अभिहित होता है । इसी तरह स्थाली पचति, स्थाल्या पचति और स्थाल्या पचति इन वाक्यो मे एक ही स्थाली कर्ता, करण और अधिकरण कैसे हो सकेगी क्योंकि उसमे भेद करना कठिन है । इस का समाधान भी स्थाली में भी साधकतमत्व की विवक्षा मे करण, वास्तविक आधार की

विवक्षा में अधिकरण आदि मान कर हो जाता है। महाभाष्यकार ने बौद्धिक आधार लेकर पाणिनि के अपादानविधायक कई सूत्रो का प्रत्याख्यान किया है। कंसं घातयति, बलिं बन्धयति जैसे वाक्यो मे वर्तमान का निर्देश भी नटों और कुषकों द्वारा प्रतीत की घटना को बुद्धि अवस्थित रूप मे प्रत्यक्ष सा दिखाने के रूप में उपयुक्त माना गया है। इसलिये साधन-व्यवहार का बौद्धिक धरातल मान लेने पर शक्ति का नानात्व भी बौद्धिक रूप मे सिद्ध हो जाता है। बाह्य वस्तु मे जिस बौद्धिक-वस्तु का समारोप होता है उसके लिये भर्तृहरि ने "बुद्धिप्रवृत्तिरूप" शब्द का व्यवहार किया है। वक्ता बुद्धिप्रवृत्तिरूप का—बुद्धि मे आभासमान विषय का बाह्य अर्थ मे आरोप कर शक्ति के भेदो की कल्पना करता है। आरोप का आधार दृश्य और कल्पित मे अभेद का अध्यवसाय है। हेलाराज के अनुसार बाह्य-अर्थ मे भी शब्द प्रमाण है। बुद्धि-प्रतिभास अपने आप मे अवस्थित नही होता, क्रियाभेद के आधार पर विवक्षाजन्य शक्ति भेद की कल्पना कर वस्तु को ही अनेक शक्तिमयी मान-लिया जाता है। इस सम्बन्ध मे हेलाराज ने बौद्धो और वैयाकरणो के मतभेद का उल्लेख किया है। बौद्ध दर्शन के अनुसार विकल्प-प्रतिबिम्ब भेद-अध्यवसाय से शून्य होता है इसलिये बाह्य प्रवृत्ति होती है किन्तु शब्द की प्रवृत्ति अपोह रूप मे अन्य व्यावर्तनरूप मे—बाह्य होती है, अपोह के अतिरिक्त शब्द की बाह्य प्रवृत्ति मानने पर व्यभिचार दोष आ जायगा—शब्द का यथार्थ संकेत जानना दुष्कर होगा। अत प्रामाण्य वक्ता के अभिप्राय मे है। व्याकरण-दर्शन के अनुसार बाह्य अर्थ मे प्रामाण्य अध्यवसाय के बल पर होता है

> **सौगतानां तु विकल्पप्रतिबिम्बस्य भेदानध्यवसायात् बहिष्प्रवृत्तिः। प्रामाण्यं तु वक्त्रभिप्राय एव शब्दानां न बाह्ये व्यभिचारशंकनादन्यव्यावृत्तिमात्रनिष्ठता तु बहि। वैयाकरणानां तु व्यावस्तवस्तुविषयता तथाध्यवसायात् तत्रैव च प्रामाण्यं इति निदर्शनभेदः[४]।**

शक्ति मे नानात्व मानने पर भी उपाधिया नियत हैं फलतः परस्पर साकर्य नही होने पाता है और साधन मे भेद परिलक्षित होता है।

एक दर्शन के अनुसार सभी भाव निरीह हैं, चेष्टा रहित हैं। फिर भी उनमे कर्ता, कर्म, क्रिया आदि की कल्पना होती ही है। स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य लक्षण कर्तृकरण आदि कारक है। क्रिया क्रमलक्षण वाली है। ये सब क्रिया कारक भाव आदि मिथ्याअभ्यास-वासना से सर्वथा निश्चेष्ट पदार्थ मे भी बौद्धिक-कल्पना द्वारा माने जाते है। क्योकि शब्द व्यवहार विकल्प के आश्रित होता है। हेलाराज के अनुसार यह मत अद्वैतवाद के अनुसार है और महाभाष्यकार ने अद्वैतवाद का अनुगमन किया है (?) :

> **दर्शितमित्यद्वैतनयावलम्बिभिः भाष्यकारप्रभृतिभिः कूलं पिपतिषतीत्यादिप्रयोगसिद्धयर्थमाख्यातमित्यर्थं।[५]**

---

४. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश ६.

५. वाक्यपदीय ३, साधन समुद्देश ४३, तथा हेलाराज की इस पर टीका.

परन्तु "कूलं पिपतिषति" के प्रसंग में भाष्यकार ने सभी भावों को चेतन माना है, निश्चेष्ट नहीं माना है। हां, अद्वैतवाद की गंध वहां अवश्य है।

द्रव्य से व्यतिरिक्त शक्तिरूपसाधन की सिद्धि का आधार अन्वयव्यतिरेक भी है। वृक्षे, वृक्षाय जैसे शब्दो मे विभक्त्यर्थ का (साधन का) व्यतिरेक स्पष्ट है। प्रकृति तो "वृक्ष" एक ही है परन्तु प्रत्ययार्थ भिन्न-भिन्न है। इसलिये प्रत्ययार्थ की सत्ता मानने पर साधन की सिद्धि हो ही जाती है।

महाभाष्यकार ने भी कहा है—"किसे साधन मानना उचित है—द्रव्य को या गुण को। गुण को साधन मानना उपयुक्त है। देखा जाता जाता है कि कोई किसी से पूछता है "देवदत कहा है"। वह उत्तर देता है—"देवदत्त वृक्ष पर है"। किस वृक्ष पर ? जो सामने है (य तिष्ठति)। इस वार्तालाप मे वृक्ष पहले अधिकरण के रूप मे और बाद मे कर्ता (तिष्ठति क्रिया) के रूप मे व्यक्त हुआ है। द्रव्य के साधन मानने पर जो कर्म होगा। वह कर्म ही होगा, जो करण होगा वह करण ही होगा, जो अधिकरण होगा वह अधिकरण ही रहेगा।' (महाभाष्य २।३।१)। गुण को (शक्ति को) साधन मानने पर अनेक अर्थ क्रिया के कारण अनेक व्यपदेश सभव है। फलत. शक्ति नानात्व भी सिद्ध होता है :

"यदि द्रव्यं साधनं स्यात् तदा तस्यैकरूपत्वात्
न्निबन्धनाबाधितप्रत्यभिज्ञाविषयत्वात् नानार्थ—
क्रियाकारणनिबन्धनो व्यापदेशभेदो न स्यात्। दृश्यते चासाविति
नानाशक्तिसद्भावावगमः सिद्धः।

— महाभाष्यप्रदीप २।३।१

द्रव्य-अव्यतिरिक्त शक्ति-दर्शन के अनुसार साधन

कुछ लोग शक्ति को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानते है। हेलाराज के अनुसार यह मत ससर्गवादी वैशेषिको का है। ससर्गवादियो के अनुसार शक्ति और शक्तिमान् सभी भाव है। और भावों का स्वरूप स्वकार्य के उत्पन्न करने मे शक्ति है। अत: भाव ही शक्ति है। भावों का साधनत्व अपादान आदि शब्दो द्वारा व्यक्त न होकर प्रत्ययो द्वारा व्यक्त होता है। "घट पश्यति" इस वाक्य मे घट दर्शनक्रिया का विषय है, वही कर्म है, उसका द्रव्यत्व रूप अपनी शक्तियो से समवेत होकर साधन होता है और कर्म कारक के रूप मे व्यवहृत होता है। इसी तरह "रूप पश्यति" इस वाक्य मे दर्शन क्रिया मे रूपत्व साधन है। एक ही वस्तु शक्ति और शक्तिमान् दोनो कैसे है इसके समाधान मे ससर्गवादी कहते है कि एक ही वस्तु उपकारक अवस्था मे शक्ति और उपकार्य अवस्था मे शक्तिमान् हो सकती है। शक्ति अवस्था मे किसी अन्य शक्ति से योग न होने के कारण अनवस्था दोष भी न होगा और अभाव के सातवें पदार्थ के रूप मे स्वीकार करने के कारण उसमे भी शक्ति सभव हो सकेगी। शक्ति के उपकारक धर्म का नाम साधन है। क्रिया साध्य स्वभाववाली होती है। फलतः सिद्ध स्वभाव वाले भाव (कारक) साध्यस्वभाववाली क्रिया की सिद्धि मे सहायक होने के कारण उसका उपकारक मान

लिये जाते हैं। इसलिये सिद्धभाव (कारक)ही साधन है। अपने आश्रय से शक्ति कैसे व्यंजित होती है इसका निदर्शन भर्तृहरि ने रस के दृष्टान्त से किया है। रस आदि का रसनादि क्रिया साधन है और वे सदा नियत ग्रहण वाले हैं अर्थात् अपने जाति बल के आधार पर ग्राह्य हैं। द्रव्य का ग्रहण कभी द्रव्य रूप मे होता है, कभी गुण-रूप मे और कभी क्रिया रूप मे, इस तरह उसका ग्रहण नियत नही है। परन्तु रस का आधार ही उसके स्वरूप ग्रहण मे हेतु है और वह नियत है। रसत्व से रस का, रस से उसके आश्रय का आक्षेप हो जाया करता है। इस तरह भाव परस्पर शक्तिमान् होते हैं। परस्पर समर्ग ही शक्ति है। शक्ति नाम की कोई नियत अन्य वस्तु नही है। परस्पर ससर्ग कभी सयोग मे होता है। जैसे, मन और इन्द्रिय के अर्थ के साथ सन्निकर्ष किसी वस्तु की उपलब्धि (ज्ञान) मे साधन होता है। सुख की अनुभूति मे आत्मा का अन्तः करण से सयोग साधन है। इस तरह जो जिसका जिस रूप मे अनुग्रह करता है वह उसका उसी रूप मे साधन है।[६] अस्तु, सभी भावो की अतीन्द्रिय-शक्तिया है। भाव सहकारी के रूप मे स्वरूप से ही कार्यजनक है, भावो की आत्मा ही शक्ति है। विशेष सहकारी के सपर्क से विशेष कार्य जनकता-शक्ति भाव मे स्वाभाविक है। अत भाव से व्यतिरिक्त किसी अदृष्ट शक्ति की कल्पना आवश्यक नही है।

सभी द्रव्य मे सहज रूप मे शक्ति विराजमान है। समय पर उसकी अभिव्यक्ति होती है। कुड्य मे आवरण की शक्ति और शस्त्र मे छेदन की शक्ति सदा निहित है परन्तु क्रियाकाल मे, अपने कार्य-निष्पादन के समय मे ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। द्रव्य मे क्रिया-काल के पूर्व-काल मे भी शक्ति है और क्रिया-काल के उत्तर काल मे भी है। इस विषय मे आचार्यों मे विकल्प है। कुछ लोग शक्ति और भाव (द्रव्य) की साथ साथ सत्ता मानते हैं। कुछ लोग शक्ति के पूर्व मे भाव मानते हैं और कुछ लोग शक्ति के उत्तरकाल मे भाव मानते है।

व्यतिरिक्त और अव्यतिरिक्त पक्षों मे चाहे सत्य जो हो व्याकरण-दर्शन व्यतिरिक्त पक्ष को प्रश्रय देता है। वह शब्दप्रमाणवादी है। शब्द मे जो अभिव्यक्त होता है वही उसके लिए प्रमाण है। शब्द पदार्थो का साधनरूप व्यतिरिक्त रूप मे ही व्यक्त करता है। लोक मे भी शक्ति व्यतिरिक्त रूप मे ही समझी जाती है। अव्यतिरिक्त मानने पर सतत क्रिया-निष्पत्ति होने की सभावना होने लगेगी।

एवं च वैयाकरणनयानुसारिभिः अस्माभि तत्सामर्थ्यं व्यतिरिक्तमेवोच्यते। ····· लोकश्च शब्दक्रिया निमित्ताया शक्तेः व्यतिरेकमेवानुगच्छति। अव्यतिरेके हि सतत क्रियानिष्पत्तिप्रसंग।[७]

शक्ति एक अथवा अनेक

शक्ति साधन है। वह शक्ति एक है अथवा अनेक इस विषय मे भी दार्शनिक-

६. वाक्यपदीय ३, साधन समुद्देश ६—१४
७. हेलाराज, वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ३८

प्रवाद हैं। कुछ लोगो के अनुसार साधन शक्तियां छ. (षट्) हैं, नित्य हैं, भेदाभेद-समन्वित हैं। जिस तरह अर्थ मे जाति की सत्ता रहती है उसी तरह वे भी उसमे क्रिया की सिद्धि के लिए रहती हैं। यद्यपि द्रव्यभेद मे भिन्न-भिन्न अनेक शक्तिया हो सकती हैं फिर भी उन सबका समावेश छः शक्तियो मे हो जाता है। इसलिए मूल शक्तियां छ. ही है। वे ही छः शक्तियां, छः साधन अथवा छः कारक नाम से विख्यात हैं।

कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि शक्ति मूल रूप मे एक ही है। निमित्तभेद से एक ही साधन-शक्ति कई रूप मे (छ· रूप मे) व्यक्त होती है और वही निमित्त भेद साधन-भेद का हेतु है। इस मत के अनुसार मूल रूप मे वह शक्ति कर्तृत्व शक्ति है। कर्तृत्व शक्ति ही अवान्तर व्यापार की विवक्षा से करण, सम्प्रदान आदि नाम प्राप्त करती है और छ प्रकार की कही जाती है।[८] क्रिया की निष्पत्ति मे सभी कारक सहायक हैं। अत कर्तृत्व किसी-न-किसी रूप मे सभी कारको मे है। पुत्र के जन्म मे माता-पिता दोनों का कर्तृत्व है। विवक्षावश पिता मे कर्तृत्व और माता मे अधिकरणत्व, कभी माता मे कर्तृत्व और पिता मे अपादानत्व मान लिया जाता है। साध्य के रूप मे क्रिया सभी कारको के लिए साधारण है। अत उस क्रिया के प्रति सभी कारको मे कर्तृत्व है। प्रधान क्रिया की निष्पत्ति मे सभी कारण अपने-अपने व्यापार मे स्वतन्त्र है, कर्त्ता के सान्निध्य मे भी दूसरे कारको का व्यापार बन्द नही होता। अतः कर्त्ता के सान्निध्य मे, पारतंत्र्य अवस्था मे भी उनमे कारकत्व बना रहता है। जहाँ स्वतः स्वातंत्र्य है वही कर्तृ सज्ञा होती है और जहा पारतन्त्र्यसहित स्वातत्र्य है वहा कर्तृ सज्ञा न होकर करण आदि का विधान होता है। कर्ता की प्रधानता इसलिए मानी जाती है कि करण आदि की प्रवृत्ति-निवृत्ति उसी के अधीन होती है, दूसरो से पहले उसीको शक्तिलाभ होता है, उसका कोई प्रतिनिधि नही होता। आस्ते, शेते जैसे स्थलो मे जहा करण आदि का अभाव है, केवल वही दिखाई देता है और बिना कर्ता के करण आदि के दर्शन नही होते। इसलिए कर्तृत्व-शक्ति ही, इस मत के अनुसार, प्रधान शक्ति है।

क्रिया साधन रूप में

महाभाष्यकार ने क्रिया को भी साधन के रूप मे व्यक्त किया है। उनके अनुसार क्रिया भी कृत्रिम कर्म है। क्रिया किस तरह क्रिया से इप्सिततम हो सकती है इसके लिए उन्होने सदर्शन आदि क्रियाओ का उल्लेख किया है। बुद्धिशाली मनुष्य पहले किसी वस्तु को बुद्धि से देखता है। देखने पर उसे पाने की इच्छा उसके मन मे जगती है। इच्छा (प्रार्थना) होने पर वह उसके लिए अध्यवसाय करता है। अध्यवसाय से आरभ, आरंभ से निवृत्ति और निवृत्ति से फल की प्राप्ति होती है। इसमे सदर्शन क्रिया का साध्य प्रार्थना-क्रिया है और प्रार्थना-क्रिया का साधन सदर्शन क्रिया है। इसी तरह प्रार्थना-क्रिया अध्यवसाय-क्रिया का साधन है। इस तरह पहले जो क्रिया साध्य है वही आगे वाली

८. वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ३५-३७

क्रिया का साधन बन गई है। भर्तृहरि के अनुसार संदर्शन क्रिया का साधन चैतन्य है (**सदर्शने तु चैतन्यं विशिष्टं साधनं विदुः**)।[९] कैयट के अनुसार "कारके" १।४।२३ इस सूत्र में कारक पद से क्रिया विवक्षित है (**क्रियाऽत्र सूत्रे कारकशब्देनोच्यते। सा हि कर्त्रादीनि विशिष्टव्यपदेशा युक्तानिकरोति-महाभाष्यप्रदीप १।४।२३**)। पाणिनि-सूत्र ५।१।११८ के भाष्य मे भी पतञ्जलि ने "कः पुनः धातुकृतोऽर्थः। साधनम्।" कहा है। कैयट के अनुसार यहा धातु शब्द का अभिप्राय धात्वर्थ क्रिया है। वही साधन है। हेलाराज के अनुसार "क्रिया साधन है" यह मत वार्तिककार का है (**शक्तिव्यतिरेका क्रियोपकारार्थमाश्रिता साधनमिति सामान्येनोच्यत इति वार्तिककारमतम्**)।[१०]

अपूर्व, कालशक्ति प्रकृति आदि साधन के रूप में

भर्तृहरि ने साधन-दर्शन के प्रसग मे विभिन्न तत्रो के मतो का भी उल्लेख किया है जैसा कि उनकी पद्धति है। कुछ दार्शनिक (मीमासक) "अपूर्व" को ही साधन मानते हैं। (मीमांसक यागजन्य अदृष्ट शक्ति-विशेष को अपूर्व मानते हैं)। कुछ विचारक ब्रह्म की काल-शक्ति को ही साधन मानते है। काल-द्रव्यवादी केवल काल को साधन मानते हैं। साख्यदर्शन राजसी क्रिया अथवा प्रकृति को ही साधन मानता है। विज्ञानवादी बुद्धि प्रकल्पितरूप को और ससर्गवादी ससर्गिरूप को साधन मानते हैं, इनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। व्याकरण-दर्शन लोकप्रसिद्ध पदार्थ-सामर्थ्य को साधन मानता है। हेलाराज ने इन सब मतो का सग्रह निम्नलिखित पक्तियों मे कर दिया है जो महत्त्वपूर्ण है

> **तदेवं पदार्थसामर्थ्यं वैयाकरणमतेन साधनम्। अथवा बुद्धि प्रकल्पनारूपं विज्ञानवादाभिप्रायेण, संसर्गिरूप वा पदार्थान्तरभूत संसर्गवादानुसारेण, अदृष्टलक्षणम् अपूर्वशब्दवाच्य वा मीमांसकदृष्ट्या ब्रह्मसम्बन्धिनी वा कालशक्ति अद्वैतदर्शनेन, क्रिया राजसी प्रकृतिरूपा वा सांख्यदर्शनानुसारेण, नित्यमेक द्रव्यलक्षण वा कालरूप द्रव्यकालवादिनां मतेन विज्ञेयम्।"**[११]

अतः शक्ति शब्द से वाच्य साधन का व्याकरणदर्शन मे स्थान है। उसीका कारक सामान्य रूप है। कारक के सात भेद माने जाते है। छः कर्ता, कर्म आदि के रूप मे और एक शेष मे। कुल मिला कर सात होते हैं—

> **सामान्यं कारकं तस्य सप्ताद्या भेदयोनयः**
> **षट् कर्माख्यादिभेदेन शेषभेदस्तु सप्तमी॥**
>
> [वाक्यपदीय ३, साधन ४४]

---

९. महाभाष्य १।४।२३ तथा वाक्यपदीय, साधन समुद्देश १६-१७

१०. हेलाराज, वाक्यपदीय, साधन समुद्देश १७

११. हेलाराज, वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ४२

कर्ता कारक

पाणिनि ने स्वतन्त्र को कर्ता माना है। जिसका स्व (ग्रात्मा) तंत्र (प्रधान) हो वह स्वतन्त्र है। यद्यपि क्रिया की निष्पत्ति में सभी कारकों का हाथ रहता है क्रिया के द्वारा जिसका व्यापार प्रमुख रूप मे व्यक्त होता है, उसे स्वतन्त्र कहा जाता है। जिसमे प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वेच्छाधीन हो वह भी स्वतन्त्र है। कुछ-न-कुछ स्वतान्त्र्य सभी कारको मे होता है, सभी कारक अपने-अपने व्यापार मे स्वतन्त्र होते हैं फिर भी कर्ता को ही स्वतन्त्र माना जाता है। भर्तृहरि ने कर्ता मे स्वातन्त्र्य के कई हेतु दिखाए हैं। कर्ता स्वतन्त्र इसलिए माना जाता है कि वह दूसरे कारको की अपेक्षा पूर्व-शक्ति लाभ करता है। करण आदि मे स्वातन्त्र्य कर्ता के द्वारा आता है। कर्ता अन्य कारकों के उपकारक होने के कारण उन्हे अपने से नीचे करने मे समर्थ होता है। कर्ता की अधीनता मे दूसरे कारक क्रियाशील होते हैं। जब कर्ता विरत हो जाता है वे भी निवृत्त हो जाते हैं। कर्ता अन्य कारको को निवृत्त करता है पर अन्य कारक उसे नही निवृत्त करते, वह स्वयं निवृत्त होता है। दूसरे कारको के प्रतिनिधि होते हैं, आवश्यकता पडने पर उनकेस्थान पर दूसरो का उपादान किया जा सकता है। कर्त्ता का प्रतिनिधि नहीं होता। कर्ता अधिकारी होता है, अधिकारी वह होता है जो अर्थी हो, समर्थ हो, और शास्त्र से अपर्युदस्त हो। जहा दूसरे कारक नही हैं वहा भी कर्ता रह सकता है। अस्ति क्रिया के साथ कोई अन्य कारक नही है, यहा अविवेक है, किन्तु यहा कर्ता है। यद्यपि अस्ति क्रिया के साथ अधिकरण कारक आदि सभव हैं किन्तु उनकी स्थिति नान्तरीयक रूप मे है। शब्द व्यापार से उनका उन्मीलन नही होता है। कर्ता दूर से भी उपकारी होता है, दूसरे कारको मे यह शक्ति नही है। बिना कर्त्ता के क्रिया नही होती, अतः कारको के मिलित रूप से भी कर्ता की विशेषता सिद्ध होती है। इन सब कारणो से कर्ता मे स्वातन्त्र्य माना जाता है।

उपर्युक्त कर्तृधर्म शाब्दिक हैं। शब्द से जहा इनकी अभिव्यक्ति हो, वहा कर्तृत्व रहता है। इसलिए चेतन, अचेतन सब मे शब्दोपात्त रूप से कर्तृत्व सभव है। हेलाराज ने इस प्रमग मे किसी अन्य व्याकरण के दो सूत्र उद्धृत किए है

अर्थीकर्ता तथा युक्तश्च

(हेलाराज, वाक्यपदीय ३, साधन समुद्देश, १०३)

ये दोनो सूत्र पाणिनि के स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४ और तत्प्रयोजको हेतुश्च १।४।५५ के क्रमश. अनुकरण है। किन्तु हेलाराज ने इनका प्रणयन चेतन और अचेतन की दृष्टि से माना है।

कर्तृत्व के शाब्द स्वरूप मानने पर ही एक कारक मे विवक्षावशात् कभी कर्तृत्व, कभी कर्मत्व और कभी करणत्व सभव है। प्रयोज्य कर्ता मे भी स्वातन्त्र्य है। यदि कोई क्रिया मे प्रवृत्ति नही है, उसे यदि क्रिया मे प्रवृत्त किया जाता है, उसके सामर्थ्य को देख कर ही किया जाता है। अशक्त व्यक्ति किसी द्वारा किसी व्यापार में नियुक्त नही किया जाता। इसलिए क्रिया की सिद्धि मे सभावित शक्ति के रूप मे

प्रयोज्य मे भी कर्तृत्व रहता है। वह आत्मसाध्य क्रिया में अन्य कारको का प्रयोजक होता है। दूसरे द्वारा प्रयुक्त होने के कारण उसके स्वातन्त्र्य में बाधा नही पड़ती। विषयभेद मे प्रयुक्त दशा में उसमे पारतंत्र्य और स्व व्यापार मे स्वातन्त्र्य है। अपने व्यापार मे अनन्यप्रयोज्य के रूप मे वह अन्य कर्ता की तरह ही स्वतन्त्र माना जाता है।

कर्ता ही प्रयोजक के रूप मे हेतु भी कहा जाता है। प्रेक्षण, अध्येषण और प्रयोज्यक्रिया के अनुकूल चेष्टा करता हुआ कर्ता ही व्याकरणशास्त्र मे हेतु नाम से व्यक्त किया जाता है। स्वातंत्र्य को न छोडते हुए प्रयोजक व्यापार मे प्रयोज्य रूप मे कभी पराधीनता का भी अनुभव करता है।

प्रयोजक दो तरह का होता है— मुख्य और अमुख्य (गुणभूत)। 'देवदत्त कटं कारयति' वाक्य मे प्रयोजक मुख्य है। 'भिक्षा वासयति' इस वाक्य मे भिक्षा के वास हेतु होने के कारण प्रयोजकत्व उपचरित माना जाता है।

न्यासकार ने कर्त्ता का सान्निध्य शास्त्र मे तीन प्रकार से दिखाया है। निर्देश के द्वारा, प्रकरण के द्वारा और सामर्थ्य के द्वारा।

कर्म

क्रिया के माध्यम से कर्त्ता का ईप्सिततम कर्म माना जाता है। जहा पर कर्म के लिए क्रिया होती है, निष्पत्ति, सस्कार अथवा प्रतिपत्ति होती है, वहा कर्म ईप्सित होता है। अन्यत्र क्रिया ही प्रतीयमान सदर्शन आदि क्रिया की अपेक्षा ईप्सित होती है। ईसित के साथ अनीप्सित भी कर्म होता है। अनीप्सित शब्द से जो ईप्सित से अन्य है उन सबका ग्रहण होता है। अकथित भी कर्म है। कुछ कर्म विशेष नियम द्वारा निबद्ध हैं।

भर्तृहरि ने ईप्सित कर्म के तीन भेद दिए है, निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। तथा अन्य प्रकार के कर्मों को चार प्रकार का दिखाया है—औदासीन्य रूप से प्राप्य, अनीप्सित, सज्ञान्तर से अनाख्यात और अन्यपूर्वक। इस तरह कर्म सात प्रकार के होते है।

ईप्सित के तीन भेदो मे से दो के, निर्वर्त्य और विकार्य के उल्लेख कात्यायन ने किए हैं। जिसकी प्रकृति, चाहे वह सत् हो अथवा असत्, अभेद रूप से आश्रित नही होती है वह निर्वर्त्य कर्म माना जाता है।

अथवा जो असत् से उत्पन्न होता है, अथवा सत् होते हुए भी जन्म द्वारा व्यक्त होता है वह निर्वर्त्य कर्म है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। सत्कार्यवाद के अनुसार सत् से सत् की उत्पत्ति होती है। दोनो रूप मे, जन्म के द्वारा जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह निर्वर्त्य है —

> **यस्योपादान कारण नास्ति तत् निर्वर्त्यम्। यथा सयोग करोतीति। सदप्युपादान कारणं न विवक्ष्यते तत् निर्वर्त्यम्।**
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ३।२।१

यदि प्रकृति, सत् अथवा असत्, परिणामी रूप में विवक्षित रहती है, विकार्य कर्म होता है। विट्ठल ने निर्वर्त्य का सम्बन्ध असत् से और विकार्य का सम्बन्ध सत् से जोडा है :

> **तत्र निर्वर्त्यं यदसदेव जायते। यथा घट करोतीति। विकार्यं लब्धसत्ताकमेवा-वस्थान्तरमापद्यते।**
>
> —प्रक्रियाकौमुदी, भाग १, पृ० ३८३

विकार्य कर्म दो प्रकार का माना जाता है। प्रकृति के उच्छेद से सभूत और गुणान्तर उत्पत्ति से सभूत। प्रकृति के उच्छेद से अभिप्राय अपनी प्रकृति के नाश मे, सर्वात्मना विनाश से है। जैसे काष्ठं भस्म करोति। हेलाराज के अनुसार यह वाक्य निर्वर्त्य का भी उदाहरण है यदि प्रकृति की अविवक्षा हो। प्रकृति की विवक्षा में यह विकार्य का उदाहरण है :

> **काष्ठानि भस्म करोति। पूर्ववत् प्रकृति-विकारयो क्रियासम्बन्धो योज्य: पूर्वेण तु लक्षणेन निर्वर्त्यमेतत् कर्म प्रकृतेरविवक्षायाम्। विवक्षायाम् तु विकार्यम्।**
>
> —हेलाराज, साधन समुद्देश ५०

'काष्ठानि दहति' इस वाक्य मे विकार्य सामर्थ्य गम्य है। जब प्रकृति अपने स्वरूप को न छोडती हुई किसी गुणान्तर के सन्निधान से विकृत जान पडती है, उससे उपलक्षित भी विकार्य कर्म होता है। जैसे सुवर्ण कुण्डलं करोति। यद्यपि साख्यमत के अनुसार इस वाक्य मे भी विकार्य अपूर्व है किन्तु प्रत्यभिज्ञान के बल पर। लोक मे उन्हें एक मानकर केवल गुणान्तर का भेद माना जाता है। अतः गुणान्तर के आधान से जहा दूसरा व्यपदेश हो, वह भी विकार्य कर्म है।

निर्वर्त्य और विकार्य सम्बन्धी विशेष जहा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नही लक्षित होते हैं, वह प्राप्य कर्म कहलाता है। जैसे आदित्य पश्यति। इस वाक्य से आदित्य में दर्शन क्रिया द्वारा कोई विशेष या विकार प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नही जान पडता है।

कुछ लोगो के अनुसार प्राप्य कर्म नही है। क्योंकि क्रियाकृत विशेष सर्वत्र उपलब्ध होता है। कही वह दृश्य होता है और कही सूक्ष्मता के कारण अदृश्य होता है। इसके विपरीत, कैयट की मान्यता है कि प्राप्यत्व सभी कर्म मे है। सभी कर्म क्रिया से प्राप्यमाण होते हैं। केवल अवान्तर की विवक्षा से कर्म तीन प्रकार के कहे जाते हैं :

> **तत्र प्राप्यत्वं सर्वस्य कर्मणोऽस्ति क्रियया प्राप्यमाणत्वात्। अवान्तरविवक्षायां तु त्रैविध्यमुच्यते।**
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ३।२।१

प्राप्यमाण कर्म की क्रियासिद्धि मे निम्नलिखित साधनभाव माने जाते हैं :

> **आभासोपगमो व्यक्ति सोढत्वमिति कर्मणः।**
> **विशेषाः प्राप्यमाणस्य क्रियासिद्धौ व्यवस्थिताः॥**—वाक्यपदीय ३, साधन, ५३

आभास का उपगम, योग्यदेश मे प्रकाश की उपलब्धि प्राप्य कर्म के दर्शन में साधन होती है। अथवा प्रदीप आदि के द्वारा व्यक्ति (अभिव्यक्ति) उसका अंग बनती है। अथवा सोढत्व बोधक्षमता आदि प्राप्य कर्म के साधन होते हैं। ये सब दर्शन क्रिया के हेतु हैं। आदित्य पश्यति इस वाक्य से आदित्य आभास प्राप्त होता है क्योंकि देखा जाता है, अभिव्यक्ति भी प्राप्त करता है क्योंकि प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, दर्शन क्रिया की सहनशक्ति भी प्राप्त करता है क्योकि सहता है।

निर्वर्त्य में विकार्य और प्राप्य के धर्म और स्वधर्म होते हैं, विकार्य में प्राप्यधर्म और स्वधर्म होता है, प्राप्य मे केवल स्वधर्म होता है (शृंगारप्रकाश, पृ० १४७)।

शेष श्रीकृष्ण ने ईप्सित, अनीप्सित और औदासीन्य रूप से प्राप्य इन तीनो के निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य रूप से तीन-तीन भेद किए है। इस तरह से नव भेद होते हैं। इनमे अकथित और अन्यपूर्वक ये दो भेद मिलाकर कुल ग्यारह भेद हो जाते हैं :

एवञ्चेप्सितादीनां त्रयाणां निर्वर्त्यादिभेदात् त्रित्वे नवविधत्वम्। अकथितान्यपूर्वकभेदाभ्यां सहैकादशत्वं प्रतिभाति।

—पदचन्द्रिका विवरण, पृ० १६१ हस्तलेख।

अभिनवगुप्त ने विकार्य आदि को क्रमश कार्यपरिणाम, धर्मपरिणाम और वृत्तिपरिणाम कहा है :

पूर्वं रूपं हि तिरोदधत् कश्चित् परिणामः काष्ठभस्मवत् स कार्यपरिणाम उच्यते। यस्तु अतिरोदधत् स धर्मपरिणाम· य सिद्धाकारतया भाति सुवर्णस्येव कुण्डलता। यस्तु अतिरोदधत् साध्याकारत्वेन गच्छति बुध्यते इति यथा स वृत्तिपरिणाम·।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १, पृ० १४५

कर्म के इस विवेचन मे सत् असत् और परिणाम की चर्चा आ जाने से उन दिनों दर्शन के क्षेत्र मे इसकी पर्याप्त चर्चा थी और भर्तृहरि की मान्यता के विरोध मे कुछ लोगो ने कई तर्क उपस्थित किए थे। एक आक्षेप नीचे लिखी कारिकाओं मे है :

निर्वर्त्यं कारकं नैव क्रिया तस्य हि साधिका।
विकार्यमपि भावेन विरोधान्नैव कारकम्॥
प्राप्यत्वात् पूर्विकावस्था न सा कर्मबुधैर्मता।
प्राप्यावस्था क्रियासाध्या साध्यत्वात् साधनं नहि॥'

—पुरुषोत्तमदेव द्वारा कारक चक्र मे उद्धृत, पृ० १०६

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त कर्म भेद कारक कहलाने के अधिकारी नही है। निर्वर्त्य असत् से उत्पन्न है, वह स्वयं क्रियाकृत। क्रिया के पूर्व उसकी सत्ता नही थी। विकार्य और प्राप्य क्रिया के साध्य हैं, अत. वे साधन (कारक) नही हो सकते। पुरुषोत्तम देव के अनुसार इस आक्षेप का उत्तर है कि निर्वर्त्य आदि मे स्वगत भी व्यापार होता है। उस व्यापार के आधार पर कर्म को कारक माना जाता है (कारक चक्र पृ० १०६)।

विकार्य में धातु से उपात्त फलाश्रयता के न होने का प्रश्न भी उठाया गया था। भट्टोजि दीक्षित ने इसका समाधान प्रकृति और विकृति मे अभेद विवक्षा के आधार पर फल की आश्रयता मानकर किया है। अथवा 'काष्ठानि विकुर्वन् भस्म उत्पादयति' इस रूप मे अर्थ कर आश्रयता सिद्ध होती है (शब्द कौस्तुभ, १।४।४६)।

ईप्सित कर्म का उदाहरण पयः पिबति। अनीप्सित का विष भक्षयति। औदासीन्य अथवा तटस्थता से प्राप्य का उदाहरण, हेलाराज के अनुसार, ग्राम गच्छन् वृक्षमूलं स्पृशति' होना चाहिए (**औदासीन्येन ताटस्थ्येन यत् प्राप्यम्, यथा ग्रामं गन्तुः वृक्षमूलादि—हेलाराज, साधन समुद्देश ४६**) किन्तु महाभाष्य, काशिका आदि के आधार पर यह उदाहरण अनीप्सित का होना चाहिए। वस्तुत. इसका उदाहरण है 'पन्थानं गच्छति नदी तरति। यह आस्थित कर्म है इसका ईप्सित अनीप्सित से भेद इस रूप मे किया है कि आस्थित मे क्रिया के दो रूप होते हैं। सज्ञान्तर से अनाख्यात कर्म से अभिप्राय अकथित से है। अकथित संस्कृत-व्याकरण मे परिगणित है। अन्यपूर्वक का उदाहरण 'अक्षान् दीव्यति' है।

करण

साधकतम का नाम करण है। जिस व्यापार के अनन्तर क्रिया की निष्पत्ति विवक्षित होती है वह करण माना जाता है। भर्तृहरि के अनुसार करण अनिर्देश्य है, उसका कोई नियत रूप नही है। अधिकरण भी विशेष अर्थ की दृष्टि से करण रूप मे विवक्षित हो सकता है। क्रिया की सिद्धि मे प्रकृष्ट उपकारक होने के कारण पाणिनि ने इसे साधकतम माना था। प्रकृष्ट उपकारकता अन्य कारको की दृष्टि से है। कर्ता क्रिया की सिद्धि के लिए करण का आश्रय लेता है फिर भी स्वातन्त्र्य के कारण वह प्रधान होता है। परायत्तवृत्ति के कारण करण अप्रधान होता है। बिना कर्ता के करण व्यापार-शील नही होता। कर्त्ता निरपेक्ष है। करण सापेक्ष है। इसके अतिरिक्त धातु से कर्त्ता का व्यापार उक्त होता है, करण क्रिया धातु से अभिहित नही होती। 'साधु असिः छिनत्ति' जैसे प्रयोग विवक्षा के आधार पर होते हैं। वक्ता विवक्षा मे स्वतंत्र है

> **"न हि शब्दाः दाण्डपाशिका इव वक्तारमस्वतंत्रयन्ति। किं तर्हि। सत्यां शक्तौ वक्तु विवक्षामनुविधीयते।"**
>
> चन्द्रकीर्ति, प्रसन्नपदा माध्यमिकवृत्ति, पृ० २४

मण्डन मिश्र ने भी विशेष स्थल पर अभिधान के आधार पर करण की प्रधानता स्वीकार की है

> **करण नाम सर्वत्र कर्तृव्यापारगोचर.।**
> **तिरोदधाति कर्तार प्राधान्य तन्निबन्धनम्॥**[1]

जो निमित्त व्यापाराश्रित नही होता और द्रव्य गुण क्रिया विषयक होता है

१. भावनाविवेक, पृ० ७६,।

उसे हेतु कहा जाता है।

संप्रदान

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्, १।४।३२

करणरूप कर्म के द्वारा जिससे अभिसम्बन्ध चाहा जाता है वह सम्प्रदान है। यह तीन प्रकार का माना जाता है ·
प्रेरक, अनुमन्तृक, अनिराकर्तृक। प्रेरक, जैसे ब्राह्मणाय गा ददाति। इस वाक्य का अर्थ यह है कि ब्राह्मण यजमान को गाय दान देने के लिए प्रेरित करता है। और तब यजमान उसे गाय देता है। अनुमन्तृक जैसे उपाध्यायाय गा ददाति। उपाध्याय गाय के लिए उसे प्रेरित तो नही करता किन्तु गाय के मिलने पर उसे साधुवाद देता है, देने वाले के व्यापार का अनुमोदन करता है। अनिराकर्तृक, जैसे आदित्याय पुष्प ददाति। आदित्य न तो फूल के लिए प्रार्थना करता है और न अनुमोदन करता है।

भोज ने सम्प्रदान के तीन भेद को दूसरे रूप से भी दिखाया है .—

ददाति कर्माप्य, कर्ममात्राप्य और क्रियाप्य।

—शृंगार प्रकाश, पृ० १५१

अपादान

कायससर्ग अथवा बौद्धिकससर्ग पूर्वक अपाय की विवक्षा होने पर अवधिभूत ध्रुव अपादान कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है—निर्दिष्ट विषय, उपात्तविषय और अपेक्षितक्रिय। जहा धातु के द्वारा अपायलक्षण विषय निर्दिष्ट रहता है उसे निर्दिष्टविषय कहते है जैसे, ग्रामात् आगच्छति। यहाँ क्रिया के द्वारा अपाय ग्राम शब्द निर्दिष्ट है। उपात्त विषय वहाँ माना जाता है जहाँ क्रिया अन्य क्रिया के अर्थ के अग रूप मे स्वार्थ को व्यक्त करती है जैसे 'बलाहकात् विद्योतते, यहाँ द्योतन क्रिया का अर्थ निःसरण है। हेलाराज ने गुणभाव और प्रधानभाव दोनो रूप मे यहाँ क्रियार्थ को लिया है। उनके अनुसार बलाहकात् विद्योतते को दो रूप मे कहा जा सकता है—**बलाहकात्, नि सृत्य ज्योति विद्योतते। अथवा, बलाहकात् विद्योतमानं निःसरति**। जहा क्रियापद की प्रतीति होती है किन्तु प्रयोग नही हुआ रहता वह अपेक्षितक्रिय है।

जैसे, **साङ्काशकेभ्य पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः।**

अश्वात् त्रस्तात् पतितः—इस वाक्य मे वार्तिककार ने ध्रौव्य अविवक्षित माना है। ध्रुव एकरूपता का नाम है। अपायविषयक ध्रौव्य आश्रित होता है, निरपेक्ष (अनवच्छिन्न) नही। इसलिए अपाय मे जो अनाविष्ट है वह अपाय मे ध्रुव होता है। दौडते हुए घोडे से गिरने मे देवदत्त कर्तृक पतन मे त्रस्त अश्व ध्रुव है क्योकि वह अपाय से अनाविष्ट है। किन्तु देवदत्त अध्रुव है। उसमे अपाय का आवेश है। अथवा त्रस्त अश्व का ध्रौव्य अविवक्षित है। क्योकि कारक का पहले क्रिया मे अन्वय होता है। वह श्रुतिप्रापित कहलाता है। बाद मे विशेषण से वाक्यीय सम्बन्ध होता है। अतः 'अश्वात् पतितः' इस सम्बन्ध मे अश्व का अध्रुवत्व नही है। बाद मे त्रस्त के

साथ सम्बन्ध होने पर भी अध्रौव्य मे अन्तरग संज्ञा का निवर्तन नही होता । विशेषण के अपादान न होने पर भी सामयिकी विभक्ति होती है । वह विशेष्य के अनुरोध पर होती है न कि अनियम से । अथवा त्रस्त शब्द भी अपादान है । क्योकि वह त्रास की अपेक्षा मे तो अध्रौव्य है किन्तु पतन की अपेक्षा मे उसमें ध्रौव्य है—(कैयट, महाभाष्य-प्रदीप १।४।२५) ।

भोज ने अपादान के तीन भेदो को पाणिनि के सूत्रो मे दिखाया है । उनके अनुसार ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४ निर्दिष्ट विषय है । भीत्रार्थाना भय हेतु. १।४।२५, पराजेरसोढ. १।४।२६ आदि उपात्तविषय है । पञ्चमीविभक्ते. २।३।४२ आदि अपेक्षित-क्रिय हैं । (शृ गार प्रकाश, पृ० १५३)।

'उपाध्यायात् अधीते' इस वाक्य के विश्लेषण मे महाभाष्यकार ने सन्ततत्व और ज्योतिर्वद् ज्ञान का उल्लेख किया है । जैसे फल वृक्ष से च्युत होकर पुन वृक्ष पर नही होता, इसी तरह शब्द भी उपाध्याय के मुख से नि.सृत होकर पुन वहा नही होता । वे ही शब्द पुनः जान पडते हैं सन्ततत्व के कारण । शब्दो का पुन.पुन. उत्पादन सततत्व है । कैयट के अनुसार उपाध्याय के द्वारा व्यक्त की जाती हुई ध्वनिया भिन्न-भिन्न होती है किन्तु सादृश्य के कारण वे ही जान पड़ती हैं । वे ध्वनियाँ सुनने वाले के श्रोत्रदेश मे पहुँच कर व्यक्तिस्फोट के रूप मे अथवा जातिस्फोट के रूप मे शब्द की अभिव्यक्ति करती हैं । अथवा ज्वालामयी ज्योति लगातार प्रवाहित होती हुई सादृश्य के कारण वही समझी जाती है यद्यपि वह भिन्न-भिन्न है । उसका अनवरत प्रवाह सन्तत कहा जाता है । उसी तरह उपाध्याय के ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं । वे विभिन्न शब्द के रूप मे ढलकर सन्तत जान पडते है । महाभाष्यकार का अभिप्राय ज्ञान-शब्दत्वापत्तिवाद से है—(महाभाष्य-प्रदीप १।४।२६) ।

पाणिनि ने 'जनि कर्तु. प्रकृतिः' १।४।३० को भी अपादान माना था । पतजलि ने इसका प्रत्याख्यान किया है । 'गोमयात् वृश्चिको जायते' जैसे वाक्यो मे अपक्रमण रूप मे, अपाय रूप मे अपादान है । कैयट के अनुसार पतंजलि का मत लोक-आधार पर है । लोक की मान्यता मे जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह उससे निकलती है । दर्शन के क्षेत्र मे भिन्न विचार है । वैशेषिक दर्शन मे परमाणु समवेत कार्य कारण से अपृथक् देश मे उत्पन्न होता है । इसलिए कार्य का अपक्रमण नही होता । साख्यदर्शन के अनुसार भी अपक्रमण नही है । जन्म और नाश आविर्भाव और तिरोभाव के रूप मे परिणामविशेष हैं । क्षणिक दर्शन, द्रव्यान्तर आरम्भ दर्शन अथवा परिणामदर्शन के आधार पर पतजलि ने उपर्युक्त वाक्य मे सन्ततत्व माना है । जो सत् है उसका जन्ययोग सभव नही है, जो असत् है, उसका कर्तृत्व असभव है । कोई तीसरा पक्ष भी नही है ऐसी दशा मे अकुर जायते जैसे प्रयोग कैसे उपपन्न होते हैं । इसका समाधान बौद्धिक स्वरूप मानकर किया जाता है । अर्थ बुद्धि व्यवस्थापित है । उसका क्रिया मे कारकत्व उपपन्न हो जाता है—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।४।३०। 'ग्रामात् नागच्छति' जैसे निषेध वाक्यो मे अपादान सज्ञा प्राप्ति पूर्वक प्रतिषेधदर्शन के आधार पर की जाती है । इन्दु का भी यही मत है :

तथाह इन्दुमिश्रः, अथ कटं न करोति, परशुना न छिनत्ति, ब्राह्मणाय गां न ददाति, ग्रामात् नागच्छति, राज्ञ नायं पुरुषः, गृहे नास्तीत्यादौ द्वितीयादिभिः न भवितव्यम् । भक्त्या निषेधात् । उच्यते, प्राप्तिपूर्वका हि प्रतिषेधाः भवन्ति ।[1]

—कारकचक्र, पृ० ११७ में उद्धृत ।[1]

अधिकरण

पाणिनि के अनुसार आधार अधिकरण है । कारक क्रिया-सापेक्ष है। अत क्रिया के आधार का नाम अधिकरण है । क्रिया प्रायः कर्त्ता मे अथवा कर्म मे अवस्थित रहती है इसलिए अधिकरण को भी कर्मस्थक्रियाविषयक अथवा कर्तृस्थक्रियाविषयक ही माना जाय तो स्थाली आदि मे अधिकरण की उपपत्ति ठीक से नही हो पाती है । इसलिए कर्त्ता और कर्म से व्यवहित क्रिया के आधार को भी अधिकरण माना जाता है । अधिकरण तीन प्रकार का होता है, औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक । आधार और आधेय का जहा उपश्लेष होता है उसे औपश्लेषिक अधिकरण माना जाता है । जैसे कटे आस्ते । वैषयिक का उदाहरण गुरौ वसति । जिस तरह चक्षु आदि का रूप आदि विषय माने जाते हैं वैसे ही शिष्य का गुरु मे अनन्य भाव रहता है । उस अनन्यभाव का विषय गुरु है । बिना सयोग के भी एक दूसरे पर निर्भरता देखी जाती है, जैसे राज्ञः पुरुष. मे । अत गुरु भाव का आश्रय हो सकता है । अथवा यहा बौद्धिक उपश्लेष है । तिलेषु तैल मे अभिव्यापक आधार है । तिल और तैल का सयोग तो सभव है किन्तु देशविभाग न होने से संश्लेष नही माना जा सकता । अत अभिव्यापक माना जाता है । रामचन्द्र ने चार प्रकार के आधार माने हैं—

औपश्लेषिक सामीपिक विषयो व्याप्त इति ।

—प्रक्रिया कौमुदी, पृ० ४५५

भर्तृहरि दर्शन मे संपूर्ण विश्व मूर्तविवर्त और क्रियाविवर्त के रूप मे अवस्थित है । मूर्तविवर्त का आधार आकाश है । क्रियाविवर्त का आधार काल है·

कालात् क्रिया विभज्यन्ते आकाशात् सर्वमूर्तयः ।
एतावांश्चैव भेदोऽयमभेदोपनिबन्धनः ।

—वाक्यपदीय, साधन, १५३

सम्बन्ध

सम्बन्ध कारक से भिन्न किन्तु कारक के शेष रूप मे स्वीकृत है । जैसे अन्य साधनो का क्रिया से सीधा सम्बन्ध होता है वैसा सम्बन्ध कारक का नही होता । इसलिए इसे

---

१. सार्थान् हीयते में अपादान के प्रसंग में इन्दु के एक मत का उल्लेख भट्टोजि दीक्षित ने भी किया है—जहातेः कर्तृस्थक्रियत्वात् कर्मण्येवायं लकार इति इन्दुनोक्तत्वात्—शब्द-कौस्तुभ १।४।२४, पृ० ११७

शेष रूप में माना जाता है। कारकों की अविवक्षा का नाम शेष है। कर्म, करण आदि षट् कारकों से अन्य सम्बन्ध शेष है।

राज्ञ. पुरुषः जैसे सम्बन्ध विशेष मे, स्वस्वामिभाव मे ददाति क्रिया का अर्थ देना है। राजा पुरुष को देता है। पूर्व अवस्था की दान क्रिया शेष अवस्था मे भी अव्यक्त रूप से काम करती है। ऐसे स्थलो मे क्रिया-कारक सम्बन्ध कारणभूत होता है, शेष सम्बन्ध फलभूत होता है। इसलिए शेष मे भी क्रियाकारक सम्बन्ध अश्रूयमाण क्रिया के आधार पर हो जाता है। कही-कही क्रिया श्रूयमाण भी रहती है जैसे नटस्य शृणोति। यहाँ श्रवण केवल नटो का विवक्षित है। किसी निमित्त न होने से करण आदि कारक की यहाँ प्रवृत्ति नही है। अत शेष कारक है। क्रिया के श्रुत और अश्रुत रूप के आधार पर सग्रहकार ने संबध दो प्रकार के माने थे—तिरोभूत क्रियापद और सन्निहित क्रियापद। तिरोभूतक्रियापद का उदाहरण राज्ञ पुरुष है। सन्निहित क्रियापद का उदाहरण मातु स्मरति है। मातु स्मरति पर कुछ विवाद था। इसका उल्लेख कर्मप्रवचनीय के प्रसग मे भी किया जा चुका है। कैयट ने साराश इस रूप मे दिया है

मातुः स्मरणयोः अवस्थानादि क्रियानिमित्तः सम्बन्ध इति केचिदाहु। अन्ये तु स्मरणस्य क्रियारूपत्वात् क्रियान्तरमन्तरेणैव द्रव्येण सम्बन्धोपपत्तिमाहुः। यथा द्वयोः काष्ठयो जतुकृत संश्लेषः, जतुनस्तु काष्ठेन स्वतः एव, न जत्वन्तर कृतः।

—महाभाष्य प्रदीप २।३। ५२[1]

क्रिया के श्रवण अथवा अश्रवण के रूप मे भी, कर्म आदि की अविवक्षा मे शेष सम्बन्ध उपपन्न होता है। सम्बन्ध सम्बन्धी के भेद से अनेक प्रकार का होता है, स्वस्वामिसम्बन्ध, जन्यजनकसम्बन्ध, अवयवावयविसम्बन्ध, स्थान्यादेशसम्बन्ध, आगमागमिसम्बन्ध, क्रियाकारकसम्बन्ध आदि। सम्बन्ध की इयत्ता नही है। एकं शत षष्ठ्यर्था. कहा जाता है। परमार्थ रूप मे सम्बन्ध एक है

यद्यपि भिन्नोभयाश्रितैकः सम्बन्ध इति कज्जटीय (कैयटीय) सम्बन्धलक्षणात् संयोगसमवायौ एव सम्बन्धौ तथापि विशेषणविशेष्यादीनामुपचरितः स्वीकृत· भाष्ये। अतः सोऽपि स्वीकर्तव्य एवास्माभिः। सर्वत्र सम्बन्धिभेद एव सम्बन्धस्यभेदको द्रष्टव्यः। परमार्थस्तु सम्बन्ध एक एव।

—पुरुषोत्तमदेव, कारक चक्र, पृ० ११३

सम्बन्ध द्विष्ठ होता है। पाणिनि ने शेष मे षष्ठी का विधान किया है (शेषे षष्ठी २।३।५०)। इस पर विवाद था कि षष्ठी विभक्ति राजा के पुरुष अर्थ मे राजन् शब्द से होती है, पुरुष शब्द से भी होनी चाहिए। सम्बन्ध दोनों मे है, वह द्विष्ठ है। किसी प्राचीन व्याकरण मे 'गुणे षष्ठी' सूत्र था। इस नियम के अनुसार आपत्ति नही है (**व्याकरणान्तरे तु गुणे षष्ठी—इति वचनात् नास्ति दोषः—महाभाष्यप्रदीप २।३।५०**)। पाणिनि सप्रदाय मे इस आपत्ति का परिहार अर्थप्राधान्य

---

१. द्रष्टव्य हरिवृत्ति, वाक्यदीय २।१६६

मानकर किया जाता है (**न हि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम्, अर्थकृतेन नाम शब्देन भवितव्यम्**—महाभाष्य २।३।५०)। लोक मे परोपकारी रूप मे राजा विवक्षित है। वह परार्थ है। पुरुष उपकार्य है। वह स्वनिष्ठ है। प्रधान है। षष्ठी एक से होती है और गुणभूत से होती है—

न हि शब्दस्य भावाभावाभ्यामर्थस्य भावाभावौ क्रियते। किं तर्हि। अर्थस्य प्रतिपादयिषया विषयीकरणाकरणाभ्यां शब्दस्योच्चारणानुच्चारणलक्षणौ भावाभावावित्यर्थः। तत्र परोपकारित्वेन राज्ञो विवक्षितत्वात् षष्ठी भवति। पुरुषस्य तूपकार्यतया स्वनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वात् प्रथमा।

—महाभाष्यप्रदीप २।३।५०

विशेषण-विशेष्यभाव के स्वेच्छा पर निर्भर होने से पुरुष के राजा की विवक्षा मे पुरुषस्य राजा प्रयोग होता है। इसलिए इस सम्बन्ध मे भर्तृहरि की यह कारिका प्रसिद्ध है—

द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद्गुणेषु व्यतिरिच्यते।
तत्राभिधीयमानः सन् प्रधानेऽप्युपभुज्यते॥

—वाक्यपदीय ३, साधन १५७

सम्बोधन

अभिमुखीकरण को सम्बोधन कहा जाता है। सिद्ध पदार्थ का क्रिया के प्रति विनियोग के लिए सबोधन का आश्रय लिया जाता है। व्याकरणागम परपरा मे इसे वाक्यार्थ नही माना जाता। सबोधन के लिए प्रयुक्त विभक्ति आमन्त्रित विभक्ति भी कही जाती है—

योऽर्थः स्वेन धर्मेण प्रसिद्धो धर्मान्तर-सम्बन्धं प्रत्यभिमुखी क्रियते तत्रामन्त्रित—विभक्तिः। यथा देवदत्त क्रियान्तरसम्बन्ध प्रत्यभिमुखी करोति, देवदत्त अधीष्व भुङ्क्ष्वेति।

—महाभाष्यदीपिका, पृ० १०

पाणिनि ने प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पचमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्ति का व्यवहार किया है। इनके अर्थ विभक्त्यर्थ कहलाते हैं। पाणिनि ने सूत्र रूप मे इन सबके अर्थ बतला दिए हैं। जैसे, प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६ आदि। विभक्त्यर्थ प्रातिपदिकार्थ से भिन्न माना जाता है। पाणिनि ने 'अव्ययं विभक्ति' २।१।६ सूत्र मे विभक्ति शब्द का प्रयोग किया है इससे अनुमान किया जाता है कि उन्हे विभक्त्यर्थ द्रव्य से अतिरिक्त रूप मे अभिप्रेत है। भोज ने स्वार्थ, द्रव्य और लिंग को प्रातिपदिकार्थ और संख्या, कारक तथा शेष को विभक्त्यर्थ माना है (शृगारप्रकाश, पृ० १८३, १६०)। विभक्त्यर्थ पर विचार नव्य नैयायिको ने अधिक किया है। कौण्डभट्ट, नागेश आदि ने सुबर्थ विचार न्याय और व्याकरण परम्परा के मिश्रित रूप मे किया है।

८

लिङ्ग-विचार

लिङ्ग के विषय मे श्लोकवार्तिककार और कात्यायन के वक्तव्य महत्त्वपूर्ण हैं। शायद ही विश्व के किसी वाङ्मय मे लिंग पर इतने प्राचीन काल में इतने सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किये गये हो।

स्त्रियाम् ४।१।३ सूत्र पर निम्नलिखित श्लोकवार्तिक है—

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥
लिंगात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने भ्रूकुंसे टाप् प्रसज्यते।
नत्वं खरकुटीःपश्य खट्वावृक्षौ न सिध्यतः॥
नापुंसकं भवेत्तस्मिन् तदभावे नपुंसकम्॥
असत्तु मृगतृष्णावत् गन्धर्वनगरं यथा॥
आदित्यगतिवत्सन्न वस्त्रान्तर्हितवच्च तत्।
तयोस्तुतत्कृतं दृष्ट्वा यथाकाशेन ज्योतिषः॥
अन्योन्यसंश्रयं त्वेतत् प्रत्यक्षेण विरुध्यते।
तटे च सर्वलिंगानि दृष्ट्वा कोऽध्यवसास्यति॥
संस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।
संस्त्यानेस्त्यायतेर्ड्ट् स्त्री सूतेः सम्प्रसवे पुमान्॥
तस्योक्तौ लोकतो नाम गुणो वा लुपि युक्तवत्।

आरम्भ में भाषा मे लिंग-विकास लौकिक लिंग के आधार पर हुआ होगा। यौन चिन्ह स्त्री-पुरुष के भेदक हैं। कुछ शारीरिक विशेषताओ के कारण किसी व्यक्ति को स्त्री और किसी व्यक्ति को पुरुष कहते है। ये विशेषताएँ भाषा मे लिंग भेद के कारण मानी जा सकती हैं। स्तन, केश आदि स्त्रीत्व के प्रतीक हैं।[1] रोम आदि पुंस्त्व के प्रतीक हैं। इन दोनो के सादृश्य का अभाव नपुसकत्व का लक्षण माना जा सकता है। श्लोकवार्तिक मे 'उभयोरन्तरं' शब्द साभिप्राय है। इसके कारण अव्यय और

१. कुछ लोग, जिनमें नागेश भी हैं, केश का अर्थ भग करते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इस अर्थ में वह प्रयुक्त भी है, जैसे— अट्टशूला जनपदाः शिवशूला द्विजातयः। केशशूलाश्च कामिन्यः

तिङन्तपदों में लिंगयोग संभव नहीं है। क्योंकि लिंग सत्वधर्म है। अव्यय और आख्यातार्थ असत्वभूत हैं। 'तदभावे' शब्द भी सार्थक है। इसके कारण मयूरी, कुक्कुट आदि के समुदाय में नपुंसक लिंग नहीं हो सकता। समुदाय समुदायी के सदृश होता है मान कर ऐसे स्थलों में नपुंसक लिंग की प्राप्ति हो जाती।

किन्तु स्त्री और पुरुष के विशेष शारीरिक चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था का भाषा में सर्वथा निर्वाह कठिन है। भ्रूकुस (स्त्री वेषधारी नट) में स्तन आदि देखे जाते हैं। इस आधार पर उसमें स्त्रीत्व मानकर स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय टाप् आदि होने चाहिये। यद्यपि भ्रूकुस के साथ स्त्रीत्व चिह्नों का नित्य सम्बन्ध नहीं है फिर भी दर्शक को तो वे सदा भासित होते ही हैं। अत इस प्रतिभास के आधार पर उसमें स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय होना चाहिये। इसी तरह खरकुटी (नापित गृह) में लोम सम्बन्ध के कारण पुंस्त्व द्योतक प्रत्यय होने चाहिये।

इसके अतिरिक्त लौकिक स्त्री-पुरुषगत विशेष चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था मानने पर अचेतन पदार्थों में लिंग-व्यवहार का कोई रास्ता नहीं रह जाता है। खट्वा में स्त्रीगत कौन-सी विशेषता है कि इसमें स्त्रीत्व माना जाय। उपर्युक्त लौकिक आधार पर तो अचेतन पदार्थों में स्त्रीत्व-पुंस्त्व की अनभिव्यक्ति के कारण नपुंसकत्व मानना ही उचित होगा। कुछ लोग मानते हैं कि असत् वस्तु में भी कभी-कभी प्रतीतिभावना होती है। मृगतृष्णा में जल नहीं है, फिर भी जल का आभास होता है। इसी तरह खट्वा आदि में लिंग नहीं है फिर भी लिंग का आभास होता है। तारका, पुष्य, नक्षत्र जैसे विभिन्न लिंगी शब्द एक ही वस्तु के लिये प्रयुक्त होते हैं। उनमें बाह्य लिंग नहीं है, किन्तु जिस तरह मृगमरीचिका में जल की सत्ता न रहते हुए भी जल का अध्यास हो जाता है उसी तरह अचेतन पदार्थों में लिंग-चिह्न न रहते हुए भी चेतनगत लिंग का अध्यास हो जाता है। अवश्य ही मृगमरीचिका में सादृश्य के आधार पर जल का आरोप होता है। खट्वा वृक्ष आदि में स्त्री-पुरुष गत लिंग का कोई सादृश्य नहीं है। अत किस आधार पर आरोप संभव है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि विषय सादृश्य की उपेक्षा करके भी अनादि मिथ्याभ्यास-वासनावश भ्रांतियां देखी जाती हैं। गन्धर्वनगर की सत्ता नहीं है फिर भी उसकी चर्चा होती है। वह दूर से दिखाई देता है, पास पहुँचने पर नहीं दीखता। शब्द में यथार्थ अथवा मिथ्या ज्ञान की अभिव्यक्ति की क्षमता समान है।

अथवा खट्वा, वृक्ष आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंग है किन्तु उसका ज्ञान उसी तरह नहीं होता जिस तरह सूर्य की गति की सत्ता होने पर भी सूर्य की गति का भान नहीं होता। अथवा जिस तरह से वस्त्र से ढकी वस्तु का ज्ञान नहीं होता उसी

प्राप्ते कलियुगे नृणाम् ॥ अट्टमन्नमिति प्रोक्तं शूलो विक्रयमुच्यते। शिवस्तु वेदो विज्ञेयः केशो भग इति स्मृतः॥ (पुराण वाक्य)—डा० भगवानदास द्वारा 'साइन्स आफ इमोशन्स' पृ० ४३७ पर उद्धृत।

तरह खट्वा आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंग का प्रत्यक्ष नही होता। पतंजलि ने यहाँ प्रश्न उठाया है कि वस्त्र के हटा देने पर वस्त्र से आवृत वस्तु का भान होता है किन्तु खट्वा आदि मे इस तरह का कोई ज्ञान नही होता। बढ़ई हाथ में वसूला और रूखानी लेकर खट्वा के खण्ड-खण्ड भी कर डाले तो भी उसमे कोई लिंग नही मिलेगा। इसके उत्तर मे स्वयं पतंजलि का निवेदन है कि वस्तु की सत्ता होते हुए भी उसकी अनुपलब्धि सभव है। प्राय छः कारणो से वस्तुविशेष की सत्ता रहते हुए भी उसकी उपलब्धि नही होती।

(१) अति सन्निकर्ष से, जैसे, अपनी आंखो का अंजन अपनी आंखों से नही दीखता।

(२) अति विप्रकर्ष से, जैसे, बहुत ऊचाई पर उड़ते हुए पक्षी आदि नही दिखाई देने।

(३) मूर्त्यन्तर व्यवधान से, जैसे, बीच मे दिवाल आदि के कारण पार की वस्तु नही दीखती।

(४) तमसावृत से, जैसे, अन्धकार के कारण गड्ढे आदि का भान नही होता।

(५) इन्द्रिय दौर्बल्य से—आख की शक्ति क्षीण होने पर उपस्थित वस्तु भी नही दिखाई देती।

(६) अति प्रमाद से—किसी विषयान्तर मे आसक्त चित्त वाले व्यक्ति को सामने स्थित का भान नही होता।[१]

अति समीप, अति दूर आदि अनुपलब्धि के कारण माने जा सकते हैं, किन्तु अनुपलब्धि के कारण प्रमाणसिद्ध वस्तु के ही होते है। किन्तु खट्वा आदि मे लिंग प्रमाणसिद्ध सत्यभूत वस्तुधर्म नही है। इसके अतिरिक्त इस पक्ष मे प्रत्यक्ष विरोध भी होता है। क्योंकि दृश्य स्वभाव वस्तु का कभी भी प्रत्यक्ष से ग्रहण न होना फिर भी उसकी सत्ता स्वीकार करना अवश्य ही प्रत्यक्ष विरोध है।

कुछ लोग अनुमान के आधार पर खट्वा, वृक्ष आदि मे लिंग की सत्ता मानते है। जैसे प्रकाश देखकर आकाश मे मेघ से आच्छादित ज्योति की सत्ता का अनुमान किया जाता है उसी तरह खट्वा वृक्ष आदि मे स्त्रीत्व पुस्त्व बोधक प्रत्यय देखकर उनमे स्त्रीत्व पुंस्त्व की कल्पना कर ली जाती है। परन्तु इस पक्ष मे अन्योन्याश्रय दोष है। लिंग ज्ञान के बाद शब्द प्रयोग और शब्द प्रयोग के बाद लिंग का अवगम यह अन्योन्याश्रय है। ज्योति और प्रकाश मे प्रत्यक्षत कार्यकारण ज्ञान के आधार पर कार्य से कारण का अनुमान सभव है, खट्वा आदि मे तो कभी भी प्रत्यक्षत. लिंग ज्ञान न होने से कार्यकारण भाव सभव नही है, फलत अनुमान भी सभव नही है। पुन तट., तटी, तटम् जैसे एक ही वस्तु मे सब लिंग विरोध के कारण नही हो सकते। यदि तट मे स्त्री-पुस्त्व हो तो नपुसकत्व नही हो सकता। वह उनके अभाव मे ही होता है।

---

१. तुलना कीजिए सांख्यकारिका—७

लौकिक लिंगव्यंजक चिह्नों के आधार पर 'दारा', 'कलत्र' जैसे शब्दों को पुंल्लिंग और नपुंसकलिंग में नहीं रखा जा सकता।

अतः वैयाकरण लौकिक स्त्री-पुरुषगत लिंग बोधक व्यंजनों के आधार पर शास्त्रीय लिंग की व्यवस्था नहीं स्वीकार करते, यद्यपि कुछ दूर तक उसे अपरिहार्य मानते हैं। फलतः लिंग की उनकी अपनी शास्त्रीय परिभाषा है और वह है ·

संस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।

संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्ट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान्॥

एक तरह से इस कारिका मे स्त्री और पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है। संस्त्यान के अर्थ में स्त्यै धातु से ड्ट् प्रत्यय से स्त्री शब्द निष्पन्न होता है। प्रसव अर्थ में षूङ् धातु के सकार के स्थान मे पकार कर पुमान् शब्द बनता है। प्रसूति अर्थ मे पा धातु से डुमसुन् प्रत्यय द्वारा पुमान् शब्द की निष्पत्ति भी प्रसिद्ध है। कुछ आचार्य पूञ् से पुमान् की सिद्धि बतलाते है। भट्टोजि दीक्षित इस मत के विरुद्ध हैं ("**पूञो डुमसुन्निति माधवः। यच्च उज्ज्वलदत्तेन पातेर्डुमसुन्नित्युक्तम्, यच्च पुंसोऽसुङ् (७।१।८९) इति सूत्रे न्यासरक्षिताभ्यां 'पुनातेर्मकसुन् ह्रस्वश्च' इति सूत्रं पठितं तदुभयमपि भाष्याननुगुणम्**" —**शब्दकौस्तुभ** १।२।६४) परन्तु भाष्यकार ने और उनके अनुयायी भर्तृहरि आदि ने इस कारिका के आधार पर एक दार्शनिक वाद खड़ा कर दिया है। महाभाष्यकार के अनुसार लौकिक स्त्री का सम्बन्ध स्त्यायति से है और शास्त्रीय स्त्री का सम्बन्ध भी उसी से है। लौकिक पुरुष का सम्बन्ध सूते से है और शास्त्रीय पुरुष का भी उसी से सम्बन्ध है। परन्तु लोक मे स्त्री अधिकरण है उसमे गर्भ का सस्त्यान होता है। और पुरुष कर्ता है वह उत्पन्न करता है। जबकि शास्त्रीय अर्थ मे दोनो भावसाधन है— सस्त्यान स्त्री है और प्रवृत्ति पुरुष है। गुणो का संस्त्यान स्त्री है। गुणो की प्रवृत्ति पुमान् है। गुण से अभिप्राय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से है। कैयट ने भर्तृहरि के आधार पर भाष्यकार के मन्तव्य की व्याख्या साख्य-दर्शन के सहारे की है। उनके अनुसार गुण से अभिप्राय सत्त्व, रजस् और तमोगुण से है। संस्त्यान का अर्थ तिरोभाव है। प्रवृत्ति का अर्थ आविर्भाव है। गुणो का तिरोभाव स्त्री है। गुणो का आविर्भाव पुरुष है। गुणो की साम्यावस्था नपुसक है। गुणो की ये अवस्थाए केवल शब्द गोचर है। साख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। गुण सदा सक्रिय रहते है। उनके सयोग से और उनमे किसी एक की कमी या आधिक्य के आधार पर विचित्र विश्व की सृष्टि होती है। चेतन और अचेतन सब पदार्थों मे गुणो की सत्ता है। अत गुणो के आधार पर सर्वत्र लिंग व्यवहार सम्भव है। गुणो की प्रवृत्ति अथवा उपचय पुंस्त्व का प्रतीक है। गुणो का सस्त्यान अथवा अपचय स्त्रीत्व का प्रतीक है। गुणो की स्थिति अथवा साम्यावस्था नपुसकत्व का द्योतक है। उपचय और अपचय सापेक्ष है। प्रकाश, प्रसव, आविर्भाव सत्त्व के धर्म है। प्रवृत्ति, क्रिया रजस के धर्म हैं। आवरण, तिरोभाव, स्थिति तमस के धर्म है। ये ही धर्म लिंग हैं। रजोधर्म लक्षण प्रवृत्ति-क्रिया का विशेष अथवा आधिक्य पुंस्त्व है पर इनमे प्रकाशनियम रूप सत्त्व का धर्म और आवरण रूप तम का धर्म भी अनुगत रहता है। दूसरे शब्दों

में, सत्त्व और तमधर्मानुगत रजोगुण का आविर्भाव पुंस्त्व है। तिरोभाव स्त्रीत्व है। प्रवृत्ति का सामान्य रूप नपुंसकत्व है। कोई कोई आचार्य सत्त्व के आधिक्य में पुंस्त्व, रजस् के आधिक्य में स्त्रीत्व और तमोगुण के आधिक्य मे नपुसकत्व मानते हैं।[3] रूप, रस आदि के समुदाय से युक्त पदार्थ मे तीनों गुणो का योग तो ठीक है किन्तु केवल रूप, केवल रस, केवल शब्द मे गुणत्रय किस तरह हैं ? इसके उत्तर मे भर्तृहरि की मान्यता है कि रूप भी अवस्था विशेष के क्रम रूप मे परिणमित होता है। वह भी सत्त्वादि गुणात्मक है। क्षण-क्षण नव-नव अवस्था ग्रहण के कारण रूप मे भी किसी अवस्था का आविर्भाव, किसी का अपचय होता है। परन्तु सूक्ष्म होने के कारण उनका आकलन स्थूल दृष्टि से नही हो पाता है। फल आदि मे रूपो के परिवर्तन देखे भी जाते हैं। महाभाष्यकार ने स्वय माना है कि कोई वस्तु अपने आप मे क्षण भर स्थित नही है। या तो वह बढती है या घटती है, स्थिर नहीं रहती।[4] अत गुणो के आविर्भाव और तिरोभाव के आधार पर लिंग व्यवस्था सभव है। हेलाराज ने सग्रहकार का एक वक्तव्य उद्धृत किया है। उसमे भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है —

> **तथाहि संग्रहकारः पठति—संस्त्यानं सहननं तमोनिवृत्तिरशक्तिरुपरतिः प्रवृत्तिः प्रतिबन्धस्तिरोभावः स्त्रीत्व, प्रसवो विष्वग्भावो वृद्धिशक्तिर्वृत्तिलाभोऽभ्युद्रेक प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुंस्त्वम्, अविवक्षात साम्यं स्थितिरौत्सुक्यनिर्वृत्तिरपरार्थत्वमङ्गाङ्गिभावनिवृत्ति कैवल्यमिति नपुंसकत्वमिति।—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २।**

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष गुणातीत है, इसलिए गुणदर्शन के आधार पर पुरुष शब्द मे लिंग योग कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि बुद्धि मे प्रतिविम्बित भोग्यभाव-शबलित चैतन्य का ही व्यवहार मे बोध होता है। अत प्रतिबिम्बित रूप में सत्त्व धर्म की स्वच्छता आदि से उसका योग सम्भव है। फलत उसमे पुम्त्व आदि की अभिव्यक्ति भी सम्भव है। पुरुष, चिति, चैतन्य — इन तीनो रूपो मे तीनों लिंगो का अध्यारोप सम्भव है।[5]

सर्वत्र सभी शब्दो मे तीनो लिंगो की सत्ता होते हुए भी किसी विशेष शब्द से किसी विशेष लिंग की अभिव्यक्ति शिष्ट समाचारवश है। इसे लोकव्यवहारानुवादिनी विवक्षा कह सकते है जो लौकिक स्वेच्छारूपा विवक्षा से भिन्न है। गुणो के आधार पर लिंग व्यवस्था मानने मे स्थिति का प्रश्न कुछ जटिल हो जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि गुणो की स्थिति का सम्बन्ध नपुसक लिंग से है। किन्तु गुणो की स्थिति कब सम्भव है ? गुण सदा परिणमित होते रहते है। क्षणभर के लिये भी वे स्थिर नही रह सकते। पुनः गुणो की साम्यावस्था केवल मूल प्रकृति मे ही सम्भव है। विश्व की किसी भी वस्तु मे गुणो का साम्य, सांख्यदर्शन के अनुसार, असम्भव

---

३. सगीतरत्नाकर कल्लिनाथ की टीका पृष्ठ २६३ (आनन्दाश्रम)
४. महाभाष्य ४।१।३ और १।२।६४
५. वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३२३—३२५

है। अतः कोई भी वस्तु नपुंसकलिंग के द्वारा कैसे अभिव्यक्त की जा सकती है ? इस समस्या का समाधान भर्तृहरि ने कई ढंग से करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार प्रवृत्ति की एकरूपता स्थिति है। प्रत्येक पदार्थ की दो अवस्थाएं हैं। या तो वह बढता है अथवा घटता है। उसके बढने की क्रिया अथवा उपचय प्रवाह में एक प्रवृत्ति है जिसे हम वृद्ध्याख्याप्रवृत्ति कह सकते हैं। इसी तरह उसके अपचय प्रवाह मे भी एक प्रवृत्ति है जिसे अपायलक्षणा प्रवृत्ति कह सकते हैं। इन दोनों की प्रवृत्ति मे अभेद है और इस अभेद के आधार पर प्रवृति की एकरूपता को स्थिति कहते हैं। अथवा प्रवृत्ति का साम्य स्थिति है। उपचय और अपचय इन दोनों प्रवाहो मे भेद मानकर भी उनमे प्रवृत्तिरूप साम्य है। बढने और घटने की क्रिया में प्रवृत्ति समान है और यही साम्य स्थिति है। अथवा आविर्भाव और तिरोभाव के बीच किसी प्रवृत्ति की कल्पना करनी पडती है जिसके कारण किसी वस्तु की किसी कला का तिरोभाव होते-होते किसी दूसरी कला का आविर्भाव होने लगता है और उस हेतुभूत प्रवृत्ति को स्थिति मान सकते है। अथवा गुणो का सामान्य रूप स्थिति है। जिस कारण से ये गुण है, ऐसी बुद्धि होती है वही गुण सामान्य है। सत्त्व आदि गुण विचित्र विश्व मे बदलते हुए अपनी जाति को नही छोडते हैं। गुणरूपता ही उनकी जाति है। सामान्य मे सभी विशेषताओ के आविर्भाव होने के कारण आविर्भाव और तिरोभाव भी उसके भीतर आ जाते है। इसलिये गुण सामान्य ही स्थिति है। इस दृष्टि से स्त्रीत्वादिलिंगभेद का स्थिति नपुसक लिग हुआ। जिस तरह से इद तत् सर्वनाम वस्तु मात्र का स्पर्श कर सकता है उसी तरह नपुसक लिंग भी विशेष की अविवक्षा मे सर्वलिंग का परामर्श करता है और अव्यक्त लिंग के स्थान मे व्यवहृत भी होता है। इस दृष्टि से स्थिति सस्त्यान और प्रसव इन दोनो अवस्थाओ मे व्याप्त है और इस तरह सर्वनाम की तरह नपुसक लिग व्यापक महत्त्व पा लेता है (वाक्यपदीय ३, लिंग-समुद्देश १७, १८)। कैयट के अनुसार आविर्भाव और तिरोभाव के बीच की अवस्था स्थिति है। (**आविर्भावतिरोभावान्तरालावस्था स्थितिरुच्यते—प्रदीप, महाभाष्य ४।१।३**)।

कुछ लोग प्रवृत्ति (गुणो के नित्य परिणाम) को लिंग का सामान्य लक्षण मानते है। वह प्रवृत्ति ही आविर्भाव, तिरोभाव और स्थितिरूप मे अलग जान पडती है। इन तीनो प्रवृत्तियो से सभी पदार्थ प्रवृत्ति वाले है। प्रवृत्तियुक्त पदार्थ ही शब्द के अभिधेय है। आकार युक्त पदार्थ ही शब्द द्वारा सकेतित होते है। शुद्ध वस्तुतत्त्व शब्द के अभिधान का विषय नही होता। शशविषाण आदि अत्यन्त असत् पदार्थ मे लिंग-योग उनकी बौद्धिक सत्ता के आधार पर हो जाता है। अपरिणामी पुरुष मे भोक्तृत्वधर्म के आरोप से लिंग योग सभव है। स्त्रीत्व, स्त्रीता जैसे सस्त्यान आदि मे भी प्रवृत्तिलक्षणलिंगयोग है। सांख्यदर्शन के आधार पर लिंग का उपर्युक्त विवेचन चिन्त्य है। गुण शब्द से भाष्यकार का अभिप्राय सांख्य दर्शन के गुणो से नही जान पड़ता। भाष्यकार ने सस्त्यान और प्रवृत्ति का विवेचन यो किया है—"किस का सस्त्यान स्त्री है और किसकी प्रवृत्ति पुमान् है ? गुणो की। किनकी ? शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

गन्ध की। सभी मूर्तियाँ ऐसी होती हैं, उनमें संस्यान और प्रसवगुण होते हैं और वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध वाली होती हैं। जहां अल्प गुण होते हैं उनमे शब्द, स्पर्श, और रूप होते हैं। रस और गन्ध सर्वत्र नहीं होते। प्रवृत्ति भी नित्य है। कोई भी इस संसार में क्षण भर भी अपने आप में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बढता है जितना कि उसे बढ़ना चाहिये अथवा विनाश की ओर अग्रसर होता है। ये दोनो (संस्त्यान और प्रवृत्ति) सर्वत्र हैं। यदि सर्वत्र हैं तो (लिंग की) व्यवस्था कैसे सम्भव है? विवक्षा से। संस्त्यान की विवक्षा मे स्त्री। प्रसव की विवक्षा मे पुमान्। दोनो की अविवक्षा में नपुसक"—महाभाष्य ४।१।३

गुणो के संस्त्यान या गुणों की प्रवृत्ति मे गुण शब्द साख्यप्रसिद्ध गुण के अर्थ में महाभाष्यकार द्वारा प्रयुक्त नही जान पडता। साख्य दर्शन मे प्रसिद्ध गुण के अर्थ मे गुण शब्द का व्यवहार महाभाष्य मे कही नही है। दार्शनिक विचार रूप मे जब कभी गुण शब्द का व्यवहार महाभाष्य मे हुआ है सदा शब्द, स्पर्श रूप आदि अर्थों मे ही हुआ है, सत्त्व, रज या तमोगुण के अर्थ मे नही। 'तस्य भावस्त्वतलौ' ५।१।११९ सूत्र के भाष्य का कुछ अंश निम्नलिखित है—

किं पुनर्द्रव्यं के गुणा। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणाः। ततोऽन्यद् द्रव्यम्। गुण शब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव समेष्ववयवेषु वर्तते। तद्यथा द्विगुणा रज्जु त्रिगुणा रज्जुरिति। अस्ति द्रव्यपदार्थक। तद् यथा गुणवानयं देश इत्युच्यते यस्मिन् गाव: सस्यानि च वर्तन्ते। अस्त्यप्राधान्ये वर्तते। तद् यथा यो यत्राप्रधानं भवति स आह गुणभूता वयमत्रेति। अस्त्याचारे वर्तते। तद्यथा गुणवानयं ब्राह्मण इत्युच्यते य· सम्यगाचारं करोति। अस्ति संस्कारे वर्तते। तद् यथा सस्कृतमन्नं गुणवदित्युच्यते।

गुण शब्द के जितने अर्थ यहाँ पतजलि ने दिये हैं उनमे सत्त्व, रजस् आदि अर्थों का उल्लेख नही है। सत्त्व, रजस् और तमस् शब्दो का भी गुण के अर्थ मे महाभाष्य मे प्रयोग नहीं है। सत्त्व शब्द का प्रयोग महाभाष्य मे केवल दो बार है और वह द्रव्य और क्रियापदार्थ के अर्थ मे प्रयुक्त है[६] (कैयट का तर्क है कि सत्त्व रजस् और तमस् ये गुण है, शब्द आदि पाँच गुण उन्ही के परिणाम होने से तदात्मक हैं· **सत्त्वरजस्तमांसि गुणास्तत्परिणामरूपाश्च तदात्मका एव शब्दादयः पंचगुणा** — (**महाभाष्य प्रदीप** ४।१।३)। किन्तु यह तर्क लचर है। इस आधार पर तो किसी भी वस्तु को गुण कहा जा सकता है क्योंकि, साख्य के अनुसार, प्रत्येक वस्तु गुणो का परिणाम है। हेलाराज ने शब्द आदि का सम्बन्ध सत्त्व आदि से दूसरे रूप मे किया है। उनके अनुसार सूक्ष्मतम गुण व्यवहारयोग्य नही हो पाते इसलिये उनके परिणामभूत शब्द, स्पर्श आदि का ग्रहण लिंग की व्याख्या मे किया गया है (**सूक्ष्मतमा गुणा व्यवहारं न साक्षादवतरन्तीति तत् परिणाम रूपाणां रूपादीनामाविर्भावाद्यवस्थारूपं लिङ्गमाख्यातं भाष्ये**—

---

६. अथ सत्त्व शब्दः अस्त्येव द्रव्य पदार्थकः। तद यथा सत्त्वमयं ब्राह्मणः। सत्त्वमियं ब्राह्मणी। अस्ति क्रियापदार्थकः सद्भावः सत्त्वमिति।

—महाभाष्य १।४।५७

हेलाराज, वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २४)। परन्तु यह तर्क भी आपाततरमणीय है। गुणों की जो आविर्भाव आदि अवस्था है वह भी विवक्षाधीन है, कल्पित है। व्यवहार-योग्य नहीं है। पुनः विचार के क्षेत्र मे रूप आदि भी सत्त्व आदि की तरह सूक्ष्म ही माने जायेंगे। वस्तुत यदि शब्द आदि से पतंजलि का अभिप्राय सत्त्व आदि गुणो से होता है तो वे सत्त्व आदि शब्दों से ही उल्लेख करते है। उनकी शैली अस्पष्ट और दूरारूढ कल्पनामयी नहीं है। अतः भाष्यकार के शब्द, स्पर्श आदि गुण साख्य के गुण न होकर वैशेषिकादि दर्शन मे गृहीत गुण हैं।

सस्त्यान शब्द का अर्थ कैयट आदि ने तिरोधान अथवा अपचय किया है। यह अर्थ भी चिन्त्य है। कोश या व्यवहार मे संस्त्यान शब्द का यह अर्थ नहीं मिलता। पाणिनिधातुपाठ मे स्त्यै धातु के दो अर्थ दिए हैं—शब्द और संघात (**स्त्यै शब्द-संघातयो —पाणिनि-धातुपाठ १।६१५**)। यास्क ने स्त्यै का अर्थ लजाना भी दिया है (**स्त्यायतेरपत्रपकर्मण —निरुक्त ३।२१**)। स्वय महाभाष्यकार ने स्त्यै धातु का प्रयोग संघात अर्थ मे किया है (**स्त्यायतेऽस्यां गर्भ इति स्त्री—महाभाष्य ४।१।३**)।

प्रवृत्ति शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। पतजलि ने प्रवृत्ति शब्द का व्यवहार अनवरत गतिशील अथवा क्रियाशील के अर्थ मे किया है और प्रवृत्ति को नित्य माना है (**प्रवृत्तिःखल्वपि नित्या। नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यवतिष्ठते—महाभाष्य ४।१।३**)। किन्तु कैयट आदि ने प्रवृत्ति का अर्थ आविर्भाव माना है। भर्तृहरि प्रवृत्ति को लिंग का सामान्य लक्षण मानते हैं और आविर्भाव, तिरोभाव तथा स्थिति के आधार पर प्रवृत्ति के तीन भेद मानते हैं। भाष्यकार प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल पुलिङ्ग से जोडते है जबकि भर्तृहरि उसका सम्बन्ध तीनो लिंगों से जोडते हैं[७]। यही भेद है। एक भेद और है। पतजलि ने स्थिति की चर्चा नहीं की है जबकि भर्तृहरि ने स्थिति पर विचार किया है।

कैयट ने भर्तृहरि के आधार पर प्रवृत्ति के एक भेद तिरोधान का सम्बन्ध संस्त्यान से जोड दिया है और गुणो के तिरोधान अथवा अपचय से स्त्रीत्व की, आविर्भाव अथवा उपचय से पुस्त्व की तथा स्थिति अथवा अन्तरालावस्था से नपुसक की अभिव्यक्ति मानी है किन्तु कैयट ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि गुणो के उपचय या अपचय मापने का स्थिर बिन्दु क्या है? उपचय और अपचय निरपेक्ष नहीं हो सकते। पुन तीनो गुणो का एक साथ आविर्भाव या तिरोभाव कैसे सम्भव है? गुणो की साम्यावस्था भी व्यक्त प्रकृति मे असम्भव है।

इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि पतजलि और श्लोक-वार्तिककार के पूर्व भी शब्द आदि गुणो का स्त्री से सम्बन्ध विचार के क्षेत्र मे आ चुका था जैसा कि यास्क के निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है—**स्त्रिय एव एताः शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धहारिण्य —निरुक्त १४।२०**। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि

७. प्रवृत्तिरिति सामान्यं लक्षणं तस्य कथ्यते।
आविर्भावस्तिरोभावः स्थितिश्चेत्यथ भिद्यते॥—वाक्यपदीय ३ वृत्तिसमुद्देश ३२१।

शब्द आदि गुणो के संस्त्यान का अभिप्राय इन गुणों के अधिष्ठान, एकत्र संग्रह से है न कि उनके तिरोधान अथवा अपचय से।

अतः संस्त्यान का अर्थ संघात और प्रवृत्ति का अर्थ गतिशीलता समझना उपयुक्त जान पडता है। इस दृष्टि से शब्द आदि गुणो के संघात से स्त्रीत्व की, उनकी प्रसवधर्मिता से पुस्त्व की और दोनो की अविवक्षा मे नपुसकत्व की व्यंजना माननी चाहिए।

प्राचीन काल मे ही साख्य के गुणदर्शन वाली लिंग व्याख्या सबको मान्य नही थी। अत भर्तृहरि ने दूसरी व्याख्याए भी प्रस्तुत की है। कुछ लोगो ने वैशेषिक दर्शन के आधार पर संस्त्यान का अर्थ नाश और प्रसव का अर्थ उत्पत्ति माना था। भावो का अनौपाधिक स्वरूप ही, उनके अनुसार स्थिति है। इस वाद के अनुसार पुरुषः चिति. आदि नित्य पदार्थों में उत्पत्ति-विनाश शरीर आदि उपाधिससर्ग के सहारे कल्पित हैं

उत्पत्ति प्रसवोऽन्येषां नाश संस्त्यानमित्यपि।
आत्मरूपं तु भावानां स्थितिरित्यपदिश्यते॥

—वाक्यपदीय ३, लिंग समुद्देश २७

स्वय वैशेषिको ने लिंग को जातिरूप माना है। स्तनादि व्यजनविशेष से अभिव्यक्त स्त्रीत्व, पुस्त्व और नपुसकत्व के रूप मे लिंगजाति की सत्ता है। सर्वत्र अभिन्नप्रत्यय जाति के सद्भाव मे प्रमाण है। स्त्रीत्व आदि गोत्व आदि के सदृश ही है। खट्वा आदि अचेतन पदार्थों मे भी लिंगजाति है जिसके कारण खट्वा आदि मे स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय करने की इच्छा होती है। अर्थ शब्द पुलिङ्ग है। व्यक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। वस्तु शब्द नपुसकलिंग है। इन तीनो विभिन्न लिंग वाले शब्दो मे से प्रत्येक से संसार की किसी भी वस्तु का निर्देश किया जा सकता है। अय अर्थ, इय व्यक्ति, इद वस्तु इस रूप मे। अब यदि प्रत्येक वस्तु मे तीनो लिंगो की सत्ता नही होती तो वे उपर्युक्त तीनो लिंगो वाले शब्दों से गृहीत न होते। एक ही मे उनके परस्पर विरोध को दूर करने के लिए जातिपक्ष का आश्रय लेना पडता है। जाति सर्वगत होती हैं। बहुत जातिया भी एक मे समवाय सम्बन्ध से रह सकती हैं। हस्तिनी और बडवा दोनो मे स्त्रीत्व बुद्धि होती है। स्त्रीत्व और गोत्व साथ-साथ रह सकते हैं। स्त्रीत्व और स्तनादि व्यंजन मे गोत्व की तरह सामान्यविशेष भाव है। वैयाकरण शब्दार्थ को अर्थ मानते है। इसलिए द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य आदि मे भी लिंगजाति का योग सम्भव है। इसी दृष्टि से भाव शब्द से पुस्त्वोपाधिक सत्ता का बोध होता है। सत्ता शब्द से स्त्रीत्वोपाधिक सत्ता का परिज्ञान होता है और सामान्य शब्द से नपुमकोपाधिक सत्ता लक्षित होती है। तट, तटी, तटम् आदि मे भी इसी तरह लिंगजाति की सत्ता है। लिंग मे भी दूसरा लिंग योग, इस दृष्टि से, सम्भव है। शब्द जब कभी वस्तुरूप मे अपने आपको व्यक्त करेगे, उसके लिंगोपाधिसहित ही व्यक्त करेंगे। इसीलिए स्त्री से स्त्रीत्व, स्त्रीता और स्त्रीभाव तीनो लिंग सम्भव हैं। कात्यायन का 'भावस्य च भाव युक्तत्वात्' (वार्तिक ४।१।३-७) भी इस मत का पोषक है। स्त्री शब्द से अभिहित

स्त्रीत्वविशिष्ट द्रव्य मे भाव प्रत्यय के द्वारा नपुसकलिंग आदि की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है[८]। किन्तु कैयट लिंगसामान्य के पक्षपाती नही हैं (**लिंगादिसामान्य-सद्भावे प्रमाणाभावात्—कैयट १।१।३२**)।

कुछ आचार्य मानते हैं कि लिंग स्वभावत शब्दाभिधेय है। बाह्य लिंग की सत्ता नहीं है। शब्द के द्वारा असत् लिंग की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए एक ही वस्तु को अर्थ, व्यक्ति अथवा वस्तु रूप मे विभिन्न लिंगों से व्यक्त करते हैं। इस पक्ष को भर्तृहरि ने शब्दोपजनितोऽर्थात्मा कहा है।

कुछ लोग लिंग को केवल शब्दसस्कार के रूप मे मानते हैं। लिंग शब्द का धर्म न होकर शब्द का संस्कारक है। उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर शब्द के धर्म हैं परन्तु लिंग शब्द का संस्कारक मात्र है। क्योकि शब्द के अन्वाख्यान के लिए उसका ग्रहण प्रक्रिया वाक्य मे नान्तरीयक रूप मे होना है। पाणिनि के पुवन् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६।३।४२ सूत्र पर वार्तिककार ने एक वार्तिक पुंवत् भाव के पक्ष मे लिखा—कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु पुंवद्वचनम्। कुक्कुटी आदि का अण्ड आदि के साथ वृत्ति मे पुंवद्भाव हो जाना चाहिये जैसे कुक्कुट्या अण्डं कुक्कुटाण्डम्। मृग्याः पदं मृगपदम्। काक्या शाव काकशावः। पुन वार्तिककार ने इसका प्रत्याख्यान किया —न वास्त्रीपूर्वपद विवक्षितत्वात्। कुक्कुटाण्डम् जैसे पदो मे पूर्व पद मे स्त्रीत्व विवक्षित नही है। अण्ड आदि के विशेषण के रूप मे जो कुक्कुट आदि पद हैं उनमे जातिमात्र की विवक्षा है इसलिए स्त्रीत्व अविवक्षित है। पुंवद्भाव करने पर भी पूर्वपद से वाच्य जब स्त्रीत्व की विवक्षा नही है तो पुंवद्भाव करना भी निष्प्रयोजन है। मृग्या. क्षीर मृगक्षीर जैसे स्थलो मे भी पूर्वपद मे स्त्रीत्व अविवक्षित है। सत् वस्तु की भी अविवक्षा देखी जाती है और असत् वस्तु की भी विवक्षा की जाती है जैसे अनुदरा कन्या, विन्ध्यो वर्द्धितकम् मे क्रमश सत् की अविवक्षा और असत् की विवक्षा है। कुछ लोग प्रक्रिया वाक्य मे

---

८ प्रक्रियाप्रसाद के लेखक ने इस मत का समर्थन किया है और पाणिनीयमतदर्पणकार की भी इस पक्ष में अभिमति व्यक्त की है—

यद्वशेन इयं स्त्रीति लोके सम्प्रत्ययः स धर्मः स्त्रीत्वम्। स च गोत्वादिवत् सामान्यविशेषः। तथा च पाणिनीयमतदर्पणे उक्तम्—

इयमयमिदमिति येषु व्यपदेशो दृश्यते लोके।
स्त्रीपु नपुंसकानि प्रोच्यन्ते तानि लोकेन॥
गोत्वादि स्वाश्रयैर्यद्वत् सामान्यमुपलक्ष्यते।
व्यञ्जकैरनुवृत्तत्वात् स्त्रीत्वपुंस्त्वादिकं तथा॥
भावानां शक्तीनां लोके प्रतिनियतविषयत्वात्।
किञ्चित् केनचिदेवाश्रयेण सामान्यमुन्मिषति॥
ततो व्यञ्जकवैचित्र्यार्थं नात्र स्त्रीत्वमेव हि।
व्यज्यते न तु पुंस्त्वादिः सोऽर्थः स्त्रीत्यभिधीयते॥
पुमान् नपुंसकं चैव द्वित्रिलिंग तथैव च।
यथा गौरी गिरिर्गेहमर्धर्चस्तत्समत्र दिक्॥

—बोपदेव, पाणिनीयमतदर्पण, प्रक्रियाप्रसाद में उद्धृत पृ० ३१८-१९ भाग १

भी कुक्कुटस्य अण्डं, मृगस्य क्षीरं इस रूप मे पुंल्लिगरूप मे ही निर्देश करते हैं क्योंकि सत्त्वभूत अर्थ का लिंग नान्तरीयक है। इसी तरह इदं वस्तु, इयं व्यक्तिः, अयमर्थः इस रूप मे सभी पदार्थों का निर्देश उनके बाह्य लिंग से निरपेक्ष रूप में हो जाता है। अतः लिंग केवल शब्द अन्वाख्यान के लिए है। शब्दान्वाख्यान का निमित्त प्रायः कल्पित होता है। यदि शब्द-अन्वाख्यान का निमित्त वास्तविक ले लिया जाय तो राहोः शिरः, स्वस्य स्वभाव. जैसे स्थलों में व्यतिरेक विभक्ति कैसे हो जाती है? टावृत्ति ४।१।६ सूत्र मे वृत्तिकार ने ऋक् को अभिधेय के रूप मे निर्देश किया है जो शब्दान्वाख्यान के कल्पितरूप के आधार पर ही उपयुक्त है। शब्दोपजनित अर्थात्मा और शब्द-संस्कार इन दोनो पक्षो में भेद यह है कि शब्दोपजनित पक्ष मे अन्यत्र दृष्ट लिंग का अन्यत्र अध्यास किया जाता है जबकि शब्द-संस्कारपक्ष मे लिंग शब्द के साधुत्व का निमित्तमात्र होता है।

भोज ने शब्दसंस्कार के हेतु रूप मे लिंग के छ. भेद माने है—शुद्ध, मिश्र, संकीर्ण, उपसर्जन, आविष्ट और अव्यक्त। जिसमे एक संस्कार अपेक्षित हो वह शुद्ध है जैसे—खट्वा, वृक्षः, कुण्डम्, स्त्री, पुमान्, नपुंसकम्। जिसमे दो संस्कार हो वह मिश्र है जैसे—मरीचिः, ऊर्मिः, अर्चिः, छर्दि, कषायः। जिसमे तीन संस्कार होते है वह संकीर्ण होते हैं जैसे तटी, तट, तटम्, शृंखला, शृंखल., शृंखलम्। विशेष्यगत लिंग से प्रभावित विशेषणस्वरूप उपसर्जन है जैसे, शुक्ला, शुक्ल, शुक्लम्। विशेषण होने पर भी नियतशब्दसंस्कारार्ह आविष्ट है जैसे, प्रकृति, विषयः, प्रधानम्, भार्या, दारा, कलत्रम्। जिसमे लिंग निमित्त शब्दसंस्कार न हो वह अव्यक्त है जैसे पञ्च, षट्, कति, उच्चैः। (शृंगारप्रकाश पृष्ठ १८३, १८४)। ये सभी मत उपर्युक्त श्लोकवार्तिको मे ध्वनित हैं और इन्हे भी भर्तृहरि ने लिंग के सात विकल्प माने हैं.

> स्तनकेशादिसम्बन्धो विशिष्टा वा स्तनादयः।
> तदुपव्यंजना जातिः गुणावस्था गुणास्तथा॥
> शब्दोपजनितोऽर्थात्मा शब्दसंस्कार इत्यपि।
> लिंगानां लिंगतत्त्वज्ञैर्विकल्पाः सप्त दर्शिताः॥
>
> —वाक्यपदीय ३, लिंग समुद्देश १-२

उपर्युक्त मतो मे गुणवाद के आधार पर लिंग का विवेचन बाद के वैयाकरणों ने अधिकतर अपनाया है। हेलाराज ने इसे ही सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार किया है :

> सिद्धान्तस्तु यथाम्नाय्य गुणावस्थारूपं लिंगमित्यस्माभिर्वार्तिकोन्मेषे यथागमं व्याख्यात तत एवावधार्यम्। गुणधर्मरूपे हि लिंगे धर्मशून्यस्य सर्वथैवाव्यवहार्यत्वादवस्तुष्वपि वस्तुत्वाभिमानाल्लौकिकानां लोकसम्प्रत्ययसमारूढस्यैवशब्दार्थत्वादात्मादीनां रूपादीनां तमश्छायाप्रभृतीनां च सर्वेषां लिंगयोग उपपन्नः। अभावशशविषाणादीनामपि वस्तुभूतोत्तरपदाश्रयं लिंगं, न चान्यथा भावोपाश्रयत्वादभावो व्यवह्रियत इति व्यापकमिदं सत्स्यानप्रसवौ स्थितिश्चेति लिंगत्रयं सिद्धान्तितमवगन्तव्यम्।
>
> —वाक्यपदीय ३, लिंग समुद्देश ३१।

लिंग के सम्बन्ध मे वैयाकरणों के उपचयापचयवाद पर आक्षेप करते हुए पक्षधर मिश्र ने लिखा है—पुलिंग आदि शब्द से उपचय अपचय आदि की प्रतीति नही होती। क्योंकि उपचय अपचय आदि का स्वरूप निर्धारित नहीं है। वृक्ष शब्द से वृक्षगत किसी प्रकार के उपचय का ज्ञान नहीं होता। इसी तरह गगा शब्द से गंगागत किसी तरह के अपचय का आभास नही होता। यदि ऐसा माना जायगा तो वृक्ष या गंगा की अवधि का ज्ञान आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त, यदि पुंस्त्व का सम्बन्ध उपचय से, स्त्रीत्व का अपचय से और नपुंसकत्व का सम्बन्ध दोनो से माना जायगा तो नपुंसक शब्द की स्थिति पहेली बन जायगी। क्योकि एक ही वस्तु मे उपचय-अपचय जैसे दो विरोधी धर्म कैसे झलकेंगे। साथ ही, पृथिवी, सुमेरु, कुल जैसे निश्चित लिंग वाले शब्द सदा एक सा अर्थ व्यक्त करते है, विशेष (उपचयादि सहित) नहीं। (प्रशस्तपाद-भाष्य-सेतुटीका, पृ० ८४, ८५)। वैयाकरण इस आक्षेप का समाधान उपचय-अपचय को विवक्षाधीन मानकर देते हैं। उपचय-अपचय दोनों से रहित दशा का सम्बन्ध नपुंसक से मानने पर पक्षधर मिश्र का नपुंसक शब्द के विषय में उपर्युक्त आरोप निराधार हो जाता है (**उपचयापचयरहिता यावस्था तदात्मिका स्थिति नपुंसकत्वम्** —न्यास, ४।१।३, पृष्ठ ८०६)। भर्तृहरि के अनुसार ऐसी कोई अवस्था नही है जिससे लिंग का योग न हो सके। जो गुणातीत पदार्थ है उनमे भी लिंग व्यवहार होता है जैसे आत्मा (पुल्लिग), चिति (स्त्रीलिंग), चैतन्यम् (नपुसंकलिग)। भर्तृहरि ने सभवतः पंचशिख आचार्य के आधार पर चितिः जैसे शब्दों मे लिंगयोग के लिए प्रतिबिम्बवाद का आश्रय लिया है। चिति शक्ति बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होती है। बुद्धिसक्रान्त होने से चिति मे बुद्धिगत (भोग्यगत) धर्म आभासित होते हैं। ये ही धर्म शब्दगोचर है। सक्रान्त दशा मे भोक्तृशक्ति और भोग्य शक्ति मे भेद जान पडता है। चितिशक्ति स्वय अपरिणामिनी है किन्तु सक्रान्त दशा मे अचेतन मे भी चैतन्य की छाया ला देती है

यश्चाप्रवृत्तिधर्मार्थश्चितिरूपेण गृह्यते।
अनुयातीव सोऽन्येषां प्रवृत्तीर्विश्वगाश्रयाः॥
तेनास्य चितिरूपं च चितिकालश्च भिद्यते।
तस्य स्वरूपभेदस्तु न कश्चिदपि विद्यते॥
अचेतनेषु संक्रान्तं चैतन्यमिव दृश्यते।
प्रतिबिम्बकधर्मेण यत्तच्छब्दनिबन्धनम्॥

—वाक्यपदीय ३ वृत्तिसमुद्देश ३२३, ३२५

गोत्व आदि सामान्य (जाति) भी प्रवृत्तिधर्म के चपेट मे आ जाता है। क्योकि वह व्यक्ति से सर्वथा भिन्न नही है·

सामान्यमपि गोत्वादिकं व्यक्तेरव्यतिरिक्तत्वात् प्रवृत्तिधर्म —

—कैयट, महाभाष्य प्रदीप ४।१।३

नागेश के अनुसार यहां व्यक्ति को जाति से अव्यतिरिक्त मानना व्यक्ति-अनुगत ब्रह्म की सत्ता वाले वाद के आधार पर है। नागेश के अनुसार सामान्य भी प्रकृति का

परिणामविशेष ही है, केवल चिरस्थायिता के आधार पर उसे नित्य माना जाता है :—

> **तद् व्यक्त्यनुगता ब्रह्मसत्तैव गोत्वादिजातिरिति पक्षे इदम् । जातिव्यक्त्योस्तादात्म्यबोधकसमवायस्यैव सम्बन्धत्वात् तद्धर्मारोपस्तत्रेत्यर्थ. । वस्तुतः तदपि प्रकृतेः परिणामविशेष एव । चिरस्थायितामात्रेण तु परेषां नित्यत्वव्यवहारः ।**
>
> —नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत, ४।१।३

जिन वस्तुओ की सत्ता नही है, जैसे शशविषाण, उनमे लिंग योग, कैयट के मत से उत्तरपदार्थ की सत्ता होने के आधार पर, अथवा नागेश के मत मे बौद्ध सत्ता मानकर सभव है—

> **शशविषाणादावपि उत्तरपदार्थ सद्भावात् । तद्द्वारको लिंगयोगः**
>
> —कैयट, प्रदीप ४।१।३

कुछ लोगों के अनुसार ऐसे स्थलो मे जिस आधार पर प्रातिपदिकत्व होता है उसी आधार पर लिंग योग भी होता है। अर्थात् यद्यपि शशविषाण की सत्ता नही है किन्तु शश की सत्ता है, विषाण की सत्ता है, इसलिए शशविषाण की भी एक काल्पनिक सत्ता है और इस आधार पर उसमे लिंग सभव है। वस्तुतः, जैसा कि भर्तृहरि आदि मानते हैं, शब्द मे असत् पदार्थ को भी द्योतित करने की क्षमता है—

> **केचित् तु यथा बुद्धिविषयार्थत्वेन प्रातिपदिकत्व तथा लिंगयोगोऽपीत्याहुः**
>
> —नागेश, महाभाष्य प्रदीपोद्योत ४।१।३

हरदत्त ने भी प्रवृत्ति की व्यापकता के आधार पर सर्वत्र लिंगयोग का समर्थन किया है—

> **सामान्यमपि गोत्वादि व्यक्तेरव्यतिरेकतः ।**
> **प्रवृत्तिधर्मं तद्द्वारा शशशृंगादिकासु तु ।**
> **तस्मादुक्तपदार्थस्य सम्भवाल्लिङ्ग योगिता ।**
> **प्रवृत्तेरपि विद्यन्ते तिस्रो ह्येताः प्रवृत्तयः ।**
> **पुंनपुंसकतास्त्रीत्वं तेन स्यादन्यलिंगता ॥**
>
> —पदमजरी ४।१।३ पृष्ठ १५

इस तरह उपचय-अपचय के आधार पर लिंग-दर्शन सर्वपदार्थ व्यापी है। इस वाद की कुछ विप्रतिपत्तियो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस सिद्धान्त के मानने पर प्रत्येक शब्द मे तीनो लिंग देखे जाने चाहिए। किन्तु ऐसा होता नही है। इस आक्षेप का समाधान हरदत्त ने किया है। उनके अनुसार यह नियम नही है कि शब्द किसी वस्तु के सभी आकार (पूर्ण स्वरूप अथवा पहलुओ) को सदा व्यक्त करे। किन्तु नियम यह है कि शब्द जिस आकार को व्यक्त करना चाहता है उस आकार की अभिव्यक्ति हो। जैसे तक्षा, युवा, कृष्ण, कामुक आदि शब्द एकार्थक होने पर भी व्यवस्थित आकार वाले हैं। भाव यह है कि बढ़ई तक्षण, छेदन आदि अनेक क्रियाएँ करता है किन्तु तक्षण क्रिया के आधार पर उसे तक्षा कहते हैं। पदार्थों की अभिव्यक्ति

में किसी पदार्थ का कोई स्वरूप प्रवर्तक हो जाता है। यही बात लिंग के सम्बन्ध में भी है—

> **नह्यस्ति नियमो य शब्द यत्रार्थे पर्यवस्यति तत्र विद्यमानः सर्व एव आकारस्तेन शब्देनाभिधातव्य इति । किन्तु य आकारोऽभिधीयते तेन सता भवितव्यमित्येतावत् । तद् यथा तक्षा युवा कृष्णः कामुक इति तक्षादिशब्दानामेकार्थपर्यवसितानामपि व्यवस्थित एवाकारो वाच्य. । तथा लिंगेस्वपि द्रष्टव्यम् ।**
>
> —पदमजरी ४।१।३ पृ० १५

प्रत्येक शब्द से सर्वलिंग प्राप्ति का परिहार विवक्षा के आधार पर भी किया जाता है जिसका उल्लेख पतजलि आदि ने किया है। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु मे तीनो लिंग की सत्ता है किन्तु उनकी अभिव्यक्ति विवक्षाधीन है। उपचय की विवक्षा मे पुंस्त्व, अपचय की विवक्षा मे स्त्रीत्व आदि की अभिव्यक्ति होती है। न्यासकार इस से सहमत नही हैं। विवक्षा के आधार पर लिंग-व्यवस्था मानने पर निम्नलिखित वाक्यो मे लिग द्वारा अभिव्यक्त अर्थ की संगति नही बैठेगी—

उपचीयते कुमारी (कन्या मे उभार आ रहा है)
अपचीयते वृक्ष (वृक्ष सूख रहा है)
उपचीयते कुण्डम् (कुण्ड खाली हो रहा है)

न्यासकार के अनुसार उपचय के साथ भी कुमारी स्त्री ही है। ह्रास की दशा मे भी वृक्ष पुंस्त्व विशिष्ट ही है। इसलिए उपचय का सम्बन्ध केवल पुरुषत्व से और अपचय का स्त्रीभाव से दिखाना असगत है—

> **अयुक्तमेतत् । तथा ह्युपचीयते कुमारीत्यपि कुमारी स्त्री भवति । न पुमान् । अपचीयते वृक्ष इति संस्त्यानविवक्षायामपि वृक्षः पुमानेव भवति । न स्त्री ।**
>
> —काशिकाविवरणपजिका ४।१।३ पृ० ८०६

न्यासकार के इस आक्षेप के समाधान की चेष्टा हरदत्त ने की है। उनके अनुसार उपचीयते कुमारी जैसे स्थलो मे भी कुमारी शब्द किसी धर्म के ह्रास का ही द्योतक है, वृद्धि की प्रतीति किसी अन्य शब्द के साहचर्य से होती है—

> **उपचीयते कुमारीत्यत्रापि कुमारी शब्दः स्वमहिम्ना कस्यचिद्धर्मस्यापचयमेवाह शब्दान्तरप्रयोगात्तु धर्मान्तरस्योपचयः प्रतीयते । एवं क्षीयते वृक्ष इत्यत्रापचयः । तदेवं सर्वमनाकुलमिदं दर्शनम् ॥**
>
> —पदमंजरी ४।१।३ पृ० १५-१६

भर्तृहरि ने एक दूसरे तरह का भी समाधान प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार विवक्षा शिष्टाधीन है। भावतत्वविद् शिष्ट जन ही लिंग-व्यवस्था मे प्रमाण हैं। शिष्टों ने जिस शब्द को जिस लिंग मे देखा है, वह शब्द उसी लिंग मे साधु है।

> **भावतत्वविदः शिष्टाः शब्दार्थेषु व्यवस्थिताः ।**
> **यद् यद् धर्मेऽङ्गतामेति लिंगं तत्तत् प्रचक्षते ॥**
>
> —वाक्यपदीय ३ लिंगसमुद्देश २१

भर्तृहरि के इस मतव्य के कैयट और हेलाराज ने अलग-अलग परस्पर

विरोधी निष्कर्ष निकाले हैं। कैयट के अनुसार विवक्षा लोकव्यवहारानुवादिनी माननी चाहिये, प्रायोक्त्री नही । हेलाराज के अनुसार विवक्षा से अभिप्राय प्रायोक्त्री से है, स्वेच्छामयी लौकिकी नही—

लोकव्यवहारानुवादिनी विवक्षा आश्रीयते न तु प्रायोक्त्री ।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप ४। १। ३

तथा च प्रायोक्त्री विवक्षात्र न लौकिकी स्वेच्छाचाररूपेत्युक्तं भवति ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २१.

दोनो ही आचार्य अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। कैयट ने प्राचीन आचार्यों की परम्परा के अनुकूल लिंग-व्यवस्था के विषय मे लोक को ही प्रमाण माना है (**लिंगव्यवस्थायां लोक प्रमाणमित्यर्थ , कैयट, प्रदीप** ४। १। ३)। अत उनकी दृष्टि मे शिष्ट भी लिंग के विषय मे लोक का ही अनुगमन करते हैं। हेलाराज का अभिप्राय यह है कि लिंग व्यवस्था स्वेच्छा-व्यवहार पर आश्रित नही है। अपितु परम्परा से शिष्टो के व्यवहार के आधार पर उसका निर्णय किया जाता है। कैयट की मान्यता है कि लिंग के स्वरूप का ज्ञान लोक से ही सभव है, अन्यत्र उसका ज्ञान संभव नहीं है (**अनेन लिङ्गस्वरूपमपि लोकादेव ज्ञायत इत्युक्त भवति—कैयट, प्रदीप** ४।१।३)। हेलाराज के अनुसार लोक मे भी लिंग-व्यवस्था शिष्ट जनो के व्यवहार पर ही अवलम्बित है। लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य जैसे वाक्यो मे हेलाराज के अनुसार, लोक शब्द का अर्थ शिष्ट है (इह लोक शब्देन शिष्टा विवक्षिता:—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, लिंग समुद्देश २१)। नागेश का झुकाव भी लोक की अपेक्षा शिष्ट की ओर है। उनके अनुसार जिस शब्द का जिस लिंग के साथ साधुत्व और धर्मबुद्धि से शिष्टो ने व्यवहार किया है उस शब्द का वही लिंग है :

एवञ्च येषां शब्दानां यल्लिंगमुपादाय शिष्टा साधुत्वावगमनपूर्वकं धर्मजनकत्व-बुद्ध्या प्रयोगं कुर्वन्ति तेषां तदेव लिंगमिति नियम सिद्ध इति भाव ।

—नागेश, महाभाष्य प्रदीपोद्योत, ४।१।३

लिंग के विषय मे वार्तिककार के कुछ महत्त्वपूर्ण वक्तव्य हैं। उनमे एक है—लिंगमशिष्य लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य। यद्यपि यह वार्तिक वर्तमान वार्तिक पाठ मे नही मिलता फिर भी यह कात्यायन का वचन है। महाभाष्यकार ने स्वय कहा है—**पठिष्यतिह्याचार्य 'लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य' इति। पुन: पठिष्यति—एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टि लिंगान्यत्वम् अवयवान्यत्वाच्चेति (महाभाष्य** ४।१।३)। इनमें '**एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिंगान्यत्वम्**' और '**अवयवान्यत्वाच्च**' ये दो वार्तिक ४।१।९२ सूत्र पर पठित है। इन वार्तिको का और लिंगमशिष्यं इस वार्तिक का कर्ता एक ही है जो भाष्यकार के पठिष्यति और पुन. पठिष्यति शब्द से स्पष्ट है। अत इस वार्तिक की सत्ता किसी सूत्र पर अवश्य रही होगी। अस्तु, वार्तिककार के लिंग के विषय मे जितने मौलिक विचार हैं उनमे लिंग अशिष्य वाला वक्तव्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। वार्तिककार ने यह अनुभव किया होगा कि किसी शास्त्रीय नियम से लिंग-व्यवस्था

का निर्वाह कठिन है। शास्त्रीय नियम एक बार बनाए जा सकते हैं किन्तु भाषा के विकास में लिंग व्यत्यय बराबर देखे जाते है। पुनः व्याकरण लोक का अनुयायी है। अत लिंग व्यवस्था में भी लोक ही प्रमाण है। शास्त्रीय उपदेश के बिना भी लोक-व्यवहार से लिंग परिचय सुलभ है। लोक में लिंग-व्यवहार स्तन आदि चिह्नों पर निर्भर नहीं है। लिंग के स्वरूप पर भी लोक ही प्रमाण है। अत. वार्तिककार के मत से लिंग अशिष्य है। भाष्यकार ने भी अनेक बार कात्यायन के इस मत को दुहराया है और इसी आधार पर पाणिनि के सनपुंसकम् २।४।१७ सूत्र का प्रत्याख्यान किया है (**इदं तर्हि प्रयोजनं स नपुंसकमिति वक्ष्यामीति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य-महाभाष्य** २।१।१२)। भाष्यकार ने वार्तिककार के भी कई वार्तिको का प्रत्याख्यान उपर्युक्त वार्तिक के आधार पर किया है जैसे सर्वलिंगताच २।१।३६ वा० ५ का प्रत्याख्यान लिंग अशिष्य के सिद्धान्त पर किया है। आचार्य पाणिनि भी अशिष्य सिद्धान्त के ही समर्थक है। उन्होंने स्वयं पूर्वाचार्यों के सूत्र लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने १।२।५१ विशेषणानां चाजाते १।२।५२ आदि का तदशिष्य सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३ के द्वारा प्रत्याख्यान किया है। उनका लिंगप्रकरण परम्परा पालनमात्र है(**एवं च लिंगप्रकरण जात्याख्यायामित्यादि संख्याप्रकरणं च पूर्वाचार्यानुरोधेन कृतम् इति ध्वनितं सूत्रकृता-नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत** १।२।५३)। श्लोकवार्तिककार का तस्योक्तौ लोकतो नाम (४।१।३) वक्तव्य भी लोक पक्ष का ही समर्थक है। इसलिए जो लोग सस्त्यान आदि लक्षणों को अलौकिक कहते हैं वे भ्रम में है—

> **यद्यपि अविचारितरमणीयं लिंगमाश्रित्य वक्तारः शब्दानुच्चारयन्ति, श्रोतारश्च प्रतिपद्यन्ते, तथापि वस्तुतत्त्वनिर्णयो भाष्यकारेण कृत इति यदन्यैरभ्यध्यायि सस्त्यानादिलक्षणमलौकिकं लिंगम् इति तदपाकृतं भवति।**
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ४।१।३

हेलाराज ने वार्तिककार को भी गुणवादी माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थ वार्तिकोन्मेष में इसका विवरण दिया है पर यह ग्रन्थ अब तक उपलब्ध न हो सका है। अत. हेलाराज के कथन की ठीक समीक्षा सम्भव नहीं है परन्तु प्रकीर्णकप्रकाश में इस पक्ष में उनके तर्क लचर है। उनके अनुसार लिंगमशिष्य वाला मत प्रत्याख्यात है और इसलिए गुणावस्था वाला मत ही वार्तिककार का होगा—

> **तदित्यमनेनैकार्थे शब्दान्यत्वादिना लिंगमशिष्यमिति च प्रत्याख्यानेन शब्दशक्तिभेदोपवर्णनतात्पर्यरूपेण गुणावस्था सर्वत्र सम्भविनी लिंगमिति सूचित भवति। वाक्यकारस्यापीदमेव दर्शनमिति वार्तिकोन्मेषे कथितमस्माभि.।**
>
> —वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २६ टीका

किन्तु हेलाराज न स्पष्ट नहीं किया है कि लिंगमशिष्य वाला मत कहां किस रूप में प्रत्याख्यात है। महाभाष्य में इसका प्रत्याख्यान नहीं मिलता।

लिंग के विषय में वार्तिककार का वार्तिक 'एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिंगान्यत्वम्' ४।१।६२-६ भी महत्त्वपूर्ण है। लोक में एक ही वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न शब्द प्रयुक्त होते हैं। यह शब्द-भिन्नता लिंग-भिन्नता का एक आधार मानी जा सकती है। एक वस्तु के लिये पुष्य, तारका तथा नक्षत्र शब्द का व्यवहार होता है।

पुष्य शब्द पुल्लिग, तारका स्त्रीलिंग और नक्षत्र नपुसक लिंग है। मठ, कुटी, गेह आदि भी एक ही वस्तु के लिये विभिन्न लिंगी शब्द हैं। कैयट इस वार्तिक की व्याख्या यों करते हैं—प्रत्येक पदार्थ सर्वलिंग वाला है। उसका जब किसी शब्द से ज्ञान कराया जाता है किसी विशेष लिंग के साथ ही उसका भान होता है।

अवयवान्यत्वाच्च ४।१।६२-७ वार्तिक भी लिंगभेद का निर्देशक है। केवल शब्द के भेद से ही लिंगभेद नही होता, अवयव के उपजन आदि से भी लिंगभेद देखा जाता है। कुटी और कुटीर, शमी और शमीर, शुण्डा और शुण्डार जैसे शब्दो मे स्वार्थिक प्रत्यय के होने पर भी अवयव मे भेद हो जाने के कारण लिंगभेद एक ही शब्द मे देखा जाता है।

अर्थभेद से भी एक ही शब्द मे लिंगभेद अवगत होता है। जिस तरह स्वरभेद से एक ही शब्द विषयान्तर मे साधु माना जाता है वैसे ही लिंगभेद से भी एक ही शब्द विभिन्न अर्थ मे प्रयुक्त हो सकता है। अक्ष शब्द देवनाक्ष और शकटाक्ष दोनो का बोधक है किन्तु जब अन्तोदात्त होता है तब देवनाक्ष का बोधक होता है, आदि उदात्त की अवस्था मे शकटाक्ष का प्रत्यायक होता है। अर्ध शब्द समप्रविभाग अर्थ मे नपुसकलिंग है, एकदेशमात्र के अर्थ मे पुलिंग है। सार शब्द न्याय से युक्त अर्थ मे नपुंसक है (नैतत्सारम्), उत्कर्ष अर्थ मे पुलिंग है (चन्दसार.)।

कुछ लोग मानते है कि एकार्थ शब्द के भेद से लिंगभेद मे भी कोई न कोई विशेष बात रहती है। कुटी और कुटीर मे केवल लिंगभेद ही नही है, कुछ अर्थभेद भी है। कुटीर छोटी कुटी को कहते है। अरण्य और अरण्यानी मे भी यही भेद है। इसलिये अरण्यानी मे स्त्रीत्व अरण्य के एक विशेष अर्थ, एक विशेष गुण का बोधक हो जाता है। इस तरह सर्वत्र ही कुछ न कुछ गुणवैशिष्ट्य के कारण एकार्थक शब्दो मे लिंगभेद की व्यवस्था करनी चाहिये। शब्द की नियतलिंगता भी किसी विशेष कारण से ही लोक मे देखी जाती है। तक्षक (बढई) तक्षण, छेदन आदि अनेक क्रियायें करता है। उनमे से एक तक्षण क्रिया के आधार पर उसे तक्षक कहते है। कुम्भकार कुम्भ के अतिरिक्त शराव आदि भी बनाता है किन्तु कुम्भ-क्रिया के कारण उसे कुम्भकार कहते हैं। इसी तरह शब्द भी स्वभावत. अथवा अभिधानवैचित्र्य के कारण किसी विशेष लिंग से अभिहित किये जाते है। इस अभिधानवैचित्र्य को भर्तृहरि ने उपादान कहा है और उसके आधार पर भी लिंग के निम्नलिखित सात भेद किये हैं.

१—कुछ शब्द केवल पुलिंग है जैसे वृक्ष आदि।

२—कुछ शब्द केवल स्त्रीलिंग हैं जैसे खट्वा आदि।

३—कुछ शब्द नपुसकलिंग मे ही नियत है जैसे दधि आदि।

४—कुछ शब्द पुलिंग और नपुसक लिंग वाले है जैसे, शख, शंखम्, पद्म', पद्मम्।

५—कतिपय शब्द स्त्रीलिंग और नपुसकलिंग मे नियत है जैसे, भागधेयी, भागधेयम्।

६—कुछ शब्द स्त्रीलिंग और पुलिंग मे साधारण है जैसे, वत्सा, वत्स' आदि।

७—अनेक शब्द तीनों लिंगों मे व्यवहृत होते हैं,जैसे, तटः, तटी, तटम् आदि।

उपादानविकल्पाश्च लिंगानां सप्त वर्णिताः।
विकल्पसन्नियोगाभ्यां ये शब्देषु व्यवस्थिताः॥

—वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश ३

सब लिंग सब वस्तु मे हैं। किसी शब्द से संकेतित वस्तु किसी विशेषलिंग का व्यंजक है और इस तरह नियत लिंग की व्यवस्था संस्कृत के वैयाकरणो ने की है: **तत्र सर्वेषां लिंगानां सर्वत्र भावात् केनचिच्छब्देन प्रत्याय्यमानं वस्तु कस्यचिल्लिंगस्य व्यंजकमिति दारादिषु नियतलिंगता सिद्धा।—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।२।५३**

काशिकाकार ने लिंग की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से की है। उनके अनुसार लिंग एक तरह से सामान्यविशेष है। सामान्यविशेष शब्द का ठीक अर्थ आज ज्ञात नहीं है। काशिकाकार ने केवल इतना कहा है कि स्त्रीत्व आदि सामान्यविशेष हैं, गोत्व आदि की तरह बहुप्रकार व्यक्ति हैं:

केयं स्त्री नाम। सामान्यविशेषा स्त्रीत्वादयो गोत्वादय इव बहुप्रकाराः व्यक्तयः। क्वचिदा अर्थविशेषाभावाद् उपदेशव्यङ्ग्या एव भवन्ति, यथा ब्राह्मणत्वादय।

—काशिकावृत्ति ४।१।३

जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार सामान्यविशेष का अर्थ है जो समान्य भी हो और विशेष भी हो। तुल्यजातीय पदार्थों मे साधारण होने के कारण सामान्य है। परस्पर तथा विजातीय से भी भेदक होने के कारण विशेष है। यदि इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाय तो गोत्व इसके समीप है। गोत्व सामान्य भी है। क्योंकि विभिन्न गोव्यक्ति मे अनुगताकारबुद्धि के आधार पर अभिन्न व्यवहार का हेतु होता है। गोत्व विशेष भी है। क्योंकि अश्वत्व आदि से विशेष की अभिव्यक्ति करता है। इसी तरह से स्त्रीत्व आदि भी सामान्यविशेष हैं। वे तुल्यजातीय सब मे रहते हैं और विजातीय से व्यावर्तक है। हरदत्त ने सामान्यविशेष शब्द के दो अभिप्राय दिये है। एक तो यह अर्थ सभव है कि कुछ सामान्य हो और कुछ विशेष। दूसरा यह कि सत्ता के अतिरिक्त अन्य जितने अर्थों मे सामान्य शब्द का व्यवहार किया जाता है उन सब के लिये सामान्यविशेष शब्द रूढ है:

सामान्यविशेषा इति। कानिचित् सामान्यानीत्यर्थ। यद्वा सत्ताव्यतिरिक्तेषु सामान्यविशेष शब्दो रूढः, तिस्रोऽवान्तरजातय इत्यर्थ.।

—पदमञ्जरी ४।१।३ पृष्ठ १६

और इस तरह से वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिका से इसका सम्बन्ध जोड़ दिया है —

तिस्रो जातय एवैता केषांचित् समवस्थिताः।
अविरुद्धा विरुद्धाभिः गोमहिष्यादिजातिभि.॥

—वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश ४

इस सामान्यविशेष के आश्रय के वैचित्र्य से लिंग मे भी वैचित्र्य आ जाता है।

कोई सामान्यविशेष किसी व्यंजक के आश्रय से अभिव्यक्त होता है। सब सब से अभिव्यक्त नही होते। क्योकि पदार्थों की शक्ति नियतविषय वाली होती है। इसलिये जिस अर्थ (वस्तु) से स्त्रीत्व व्यक्त होता है, पुंस्त्व अथवा नपुंसकत्व व्यक्त नही होता, वह स्त्री है। इस तरह से जिससे पुंस्त्व की अभिव्यक्ति हो वह पुरुष और नपुंसकत्व की अभिव्यक्ति हो वह नपुंसक है। चेतन पदार्थों मे उनके व्यंजक यौन चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था हो जायगी। अचेतन पदार्थों मे लिंग-व्यवस्था उपदेश के आधार पर उपदेश व्यंग्य के रूप मे मान ली जायगी। इसी तरह आशा, आकाश जैसे निराश्रय शब्दो मे भी लिंग उपदेशव्यंग्य है। जैसे ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि उपदेश व्यंग्य है, प्रत्यक्ष नही है, उसी तरह स्त्रीत्व आदि भी विशेष स्थानो मे उपदेश व्यंग्य हैं।[1] कोई शब्द एक ही लिंग मे शक्त है, कोई दो मे और कोई तीन में। दो या तीन के व्यंजकत्व के आधार पर द्विलिंग या त्रिलिंग शब्दो की व्यवस्था सम्भव है।

भट्टोजि दीक्षित ने लौकिक लिंग और पारिभाषिक लिंग को जोडकर लौकिक-लिंगविशिष्ट शास्त्रीयलिंग की भी कल्पना की है—

> **कुमारब्राह्मणादिशब्दास्तु लौकिकपुंस्त्वविशिष्टे शास्त्रीयेपुंस्त्वे शक्ताः लौकिकस्त्रीत्वविशिष्टे च शास्त्रीयस्त्रीत्वे। कथमन्यथा कुमारी कुमारः इत्यादयः प्रयोगा व्यवतिष्ठेरन्।**
>
> **—शब्दकौस्तुभ १।२।६४, पृ० ४५**

लिंग शब्दनिष्ठ है अथवा अर्थनिष्ठ है ? इस प्रश्न पर वैयाकरणो मे मतभेद रहा है। दोनो तरह के विचार मिलते है। कुछ लोग मानते है कि लिंग शब्दनिष्ठ है, पुंलिग शब्द जैसे वक्तव्य शब्दनिष्ठ लिंग के पोषक है। **स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३** मे पाणिनि ने शब्द को ही नपुंसक कहा है। इसके विरुद्ध कुछ आचार्य लिंग को अर्थनिष्ठ मानते हैं।

उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ७।३।४६ सूत्र मे पाणिनि ने अर्थधर्म स्त्रीत्व का शब्द मे आरोप माना है—**स्त्रीलिंगनिर्देशस्तु तस्य समुदायस्यार्थधर्मेण स्त्रीत्वेन वेदितव्यः, न्यास ७।३।४६, पृ० ७६८।** कैयट के अनुसार भी इस सूत्र मे पाणिनि ने अर्थगत स्त्रीत्व का शब्द मे आरोप किया है—**अर्थगतं स्त्रीत्वं शब्दे समारोप्य निर्देशः कृत। कैयट, प्रदीप ७।३।४६।**

महाभाष्यकार ने कहा है—**न हि नपुंसकं नाम शब्दोऽस्ति (महाभाष्य ७।१।२३)।** कैयट ने **अर्थधर्मत्वाल्लिंगस्य (७।१।२३)** कह कर अर्थनिष्ठ-पक्ष का समर्थन किया है। नागेश ने भी, **अर्थधर्मस्य स्त्रीत्वस्य शब्दे आरोपः'** कह कर तथा **'शब्दनिष्ठमेव लिंग-**

---

१. इसे बोपदेव ने पाणिनीयमतदर्पण मे यों श्लोकबद्ध किया है—

अत्यन्तमाश्रयणां सादृश्यात् व्यञ्जकाभावात्
उपदेशैकव्यङ्ग्य क्वचिद् यथा ब्राह्मणत्वादि।
आश्रयग्यातीन्द्रियत्वात्तथा स्त्रीत्वादिक क्वचित्
उपदेशव्यङ्ग्यमेव यान् दिशा मा गगनं यथा॥

—प्रक्रियाप्रसाद मे उद्धृत प्रथम भाग पृ० ३१६

मिति नव्योक्तं परास्तम् (महाभाष्य प्रदीपोद्योत ४।१।३) कहकर स्पष्टरूप से लिंग की अर्थनिष्ठता का समर्थन किया है।

नागेश का यहाँ नव्य से सकेत कौण्डभट्ट की ओर है। कौण्डभट्ट ने शब्दनिष्ठ-पक्ष का समर्थन किया था। उनके अनुसार भाष्यकार के मत मे भी लिंग शब्दनिष्ठ है। क्योंकि वे पुल्लिग. शब्द जैसे व्यवहार करते हैं। पुल्लिग का अर्थ पुल्लिगवाचक करना भी उपयुक्त नहीं है। अन्यथा घट' शब्दे जैसे प्रयोग हो सकते है। उपचार अथवा आरोप के आधार पर पुल्लिग शब्द जैसे प्रयोग को सिद्ध करने मे निमित्त आदि की कल्पना करनी होगी। लिंग को अर्थनिष्ठ मानने मे तट., तटी, तटम्, 'आत्मा ब्रह्म' जैसे प्रयोगो की उपपत्ति नही बैठ पाती है। छागी का भी यज्ञ मे प्रयोग होने लगेगा—

> **वस्तुतस्तु भाष्यमते लिंगंशब्दनिष्ठमेव। पुंल्लिग. शब्द इति व्यवहारात् पुंल्लिग-वाचकत्वात्तथेति चेत्तर्हि घट शब्दे इत्यपि स्यात् आरोपे निमित्तानुसरणमि-त्यादेरतिगौरवात्। अर्थनिष्ठत्वे तटस्तटी तटमित्यादेरात्मा ब्रह्मेत्यादेरनुप-पत्तेरुक्तत्वाच्च। छाग्या यागप्रसंगाच्च।**
>
> —**कौण्डभट्ट, वैयाकरणभूषण, पृ० १२३**

नागेश ने मजूषा मे कौण्डभट्ट के उपर्युक्त मत की समीक्षा विस्तार से की है और अर्थनिष्ठपक्ष का समर्थन किया है—

> **एतदवस्थात्रयस्य पदार्थमात्रे सत्त्वाद् इद केवलान्वयि। इय व्यक्ति इदं वस्तु, अयं पदार्थ इत्यादिव्यवहाराणां सर्वत्राप्रतिबद्धप्रसरत्वात्। अर्थनिष्ठ च तत्। तथा च भाष्यम्—एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्ट लिंगान्यत्वम्, अवयवान्यत्वाच्चेति। पुष्य तारका नक्षत्रमिति शब्दनानात्वदर्शनात् स्तनकेशाद्यतिरिक्तमेव लिंगम् अर्थनिष्ठम्। कुटी कुटीर इत्यादौ रेफस्यावयवस्योपजने लिंगभेददर्शनाच्चेत्यर्थ इति कैयट। अत एवोपक्रमभाष्ये रूपरसस्पर्शशब्दानां स्त्यानप्रसवौ लिंग-मित्युक्तम्। न हि रूपादय शब्दगता। पुंल्लिग शब्द इति तु वाच्यवाचकयोर-भेदोपचाराद् बोध्यम्। अर्श आद्यजन्त वा तन्। आत्मनि सर्वस्याध्यस्तत्वेन परम्परया तत्रापि स्त्यानादिसत्त्वाद् आत्मा ब्रह्मेति व्यवहारोपपत्ति। पशुना यजेतेत्यादौ पुस्त्वस्य विवक्षितत्वात् न स्त्रिया याग इति मीमांसका।"**
>
> —नागेश, मजूषा पृ०११४२-४५

किन्तु भाषा की दृष्टि से हेलाराज का शब्दार्थ से लिंग योग अधिक उपयुक्त जान पडता है(**वैयाकरणै हि न वस्तुधर्मो लिंगमिष्यते, अपितु शब्दार्थस्य लिंगयोग**,
हेलाराज, वाक्यपदीय ३, वत्तिसमुद्देश ३२८)।

जयादित्य के अनुसार लिंग शब्दाश्रित होने पर भी अर्थभेद के आधार पर निर्भर देखा जाता है—

शब्दरूपाश्रया चेय द्विलिंगता क्वचिदर्थभेदेनापि व्यवतिष्ठते—काशिका २।४।३१। उनके अनुसार पद्म और शख शब्द निधि के अर्थ मे पुल्लिग है, जलज के अर्थ मे उभयलिंग है। भूत शब्द पिशाच के अर्थ मे उभयलिंग है किन्तु क्रिया शब्द के रूप

में इसका लिंग अभिधेय के अनुसार होता है जैसे भूतं काण्डम्, भूता शाला, भूतः घट. । सैन्धवशब्द लवण के अर्थ में उभयलिंग है, यौगिक शब्द के रूप में इसका लिंग अभिधेय के आधार पर होता है जैसे सैन्धव , मत्स्यः, सैन्धवं जलम्, सैन्धवी शफरी । सार शब्द उत्कर्ष के अर्थ मे पुल्लिग है, चन्दनसार । किन्तु अनुपयुक्त अर्थ मे नपुसक लिंग है, नैतत्सारम् ।

सारशब्द उत्कर्षे पुल्लिंगः न्यायादनपेते नपुंसकम् नैतत् सारमिति—

काशिका २।४।३१।[1]

अभयनन्दी ने शब्दनिष्ठपक्ष का समर्थन किया है—

शब्दजनितप्रत्ययवर्गा स्त्रीत्वादय इहाभिप्रेता , न वस्तुवर्गा । अव्याप्ते । शब्दो हि श्रोत्रपथं गत लिंगसंख्यावन्तं स्वप्रत्यय जनयति । स प्रत्यय खट्वादिषु रसादिषु अभावादिषु च शब्देषु सभवति ।--जैनेन्द्रमहावृत्ति ३।१।३, पृ० १५०

ज्ञानपीठ सस्करण

पाणिनि के स्त्रियाम ४।१।३ सूत्र पर विचार करते हुए कात्यायन ने लिंग के प्रत्ययार्थपक्ष, प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष और समानाधिकरणपक्ष पर भी विचार किया है । जिस तरह शुक्ल आदि गुणशब्द गुण और गुणी दोनों के लिए व्यवहृत होते है, जैसे शुक्ल पट पटस्य शुक्ल ,उसी तरह स्त्रीशब्द भी गुण और गुण के आश्रय दोनो के लिए प्रयुक्त होता है । जब स्त्री शब्द मे गुणमात्र स्त्रीत्व व्यक्त किया जाता है, द्रव्यवाची प्रातिपदिक से स्त्रीत्व वाच्य अर्थ मे टाप् आदि प्रत्यय होते है । इस रूप मे यह प्रत्ययार्थ पक्ष है । जब स्त्रीत्वयुक्त द्रव्य स्त्री शब्द से कहा जाता है, स्त्रीत्वयुक्त द्रव्यवाची अंगीकृतस्त्रीत्व वाले प्रातिपदिक से टाप् आदि प्रत्यय होते है—यह प्रकृत्यर्थविशेषण पक्ष है । स्त्रीत्व युक्त द्रव्य स्त्री शब्द से व्यक्त किया जाता है, स्त्रीत्व उपलक्षितद्रव्यवाची प्रातिपदिक से टाप् आदि होते है—यह स्त्रीसमानाधिकरणपक्ष है । अन्वयव्यतिरेक के आधार पर भी प्रत्ययार्थ पक्ष की कल्पना की जाती है । दृषद्, वाक् आदि शब्दों मे प्रत्यय के प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना भी स्त्री अर्थ की अभिव्यक्ति होती है इस आधार पर भी प्रकृत्यर्थपक्ष की सभावना की जाती है ।

स्त्री समानाधिकरण पक्ष को लक्ष्य कर वार्तिककार ने लिखा—

स्त्रीसमानाधिकरणादिति चेद् भूतादिष्वतिप्रसगः ।—४।१।३-२

षट् संज्ञकेभ्यश्च प्रतिषेध ।—४।१।३-४

इसका अभिप्राय यह है कि जिस तरह से 'कुमार स्त्री' मे स्त्री शब्द से प्रत्यायित अर्थ मे कुमार शब्द वृत है और इस दृष्टि से स्त्रीप्रत्यय का विधान इस पक्ष मे होता है उसी तरह भूतमिय ब्राह्मणी आदि मे ब्राह्मणी शब्द से उपलक्षित स्त्रीत्व अर्थ मे वर्तमान भूत आदि शब्द से टाप् प्रत्यय होने लगेगा । इसी तरह पञ्च षट् सप्त नव दश ब्राह्मण्य. मे पच आदिशब्द से स्त्रीप्रत्यय के प्रसग मे न षट्स्वस्रादिभ्य (४।१। ०)

---

१ वर्धमान ने इसकी समीक्षा की है—यत्तु जयादित्येनोक्तं, उत्कर्षे सारशब्दः पुल्लिंग एवेति तन्न समीचीनम्—गणरत्नमहोदधि, पृ० ६१

से प्रतिषेध कहना पड़ेगा। प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष मे ये दोष नही हो सकते। क्योंकि भूतमिय ब्राह्मणी में स्त्रीत्व विवक्षित नही है, अपितु पौतन्य विवक्षित है। स्त्रीत्व के विवक्षित होने पर प्रत्यय होता ही है जैसे—'भूता ब्राह्मणी'। यहाँ सत्यवादिनी अर्थ है अथवा चलवसी (अतीता) अर्थ है पौतन्य नही। पच पट् आदि से भी भेद बोधक गणनात्मक सख्या विवक्षित है, स्त्रीत्व नही। इसलिए स्त्रीप्रत्यय की अप्राप्ति से प्रतिषेध प्रत्याख्यात है। इस रूप मे प्रकृत्यर्थविशेषण पक्ष निर्दोष है। इसको सूचित करने के लिए वार्तिककार ने कहा

सिद्धतु स्त्रियाः प्रातिपदिकविशेषणत्वात् स्वार्थे टाबादयः (४।१।३-५)

प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष की भी मीमासा वार्तिककार ने की है—

स्त्रियामिति स्त्र्यर्थाभिधाने चेट्टाबादयो द्विवचनबहुवचनानेकप्रत्ययानुपपत्तिः (४।१।३-१)

स्त्र्यर्थस्य च प्रातिपदिकार्थत्वात् स्त्रियामिति लिंगानुपपत्ति (४।१।३-२)

वार्तिककार का अभिप्राय यह है कि प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष मे प्रकृत्यर्थोपसर्जन स्त्रीत्व का प्रत्यय से ही अभिधान हो जायगा। स्त्रीत्व प्रधान हो जायगा। स्त्रीत्व के एक होने से कुमारी शब्द से एक वचन तो होगा परन्तु द्विवचन और बहुवचन न हो सकेंगे। यद्यपि शब्द रूप आदि गुणो के अवस्थाविशेष लिंग है। अवस्था अवस्यात् से अभिन्न है। घट मे शब्द, रूप आदि अनेक का सन्निवेश है फिर भी शब्द आदि के बहुत्व होने पर भी सन्निवेश के अभेद की विवक्षा होने पर घट एक वचन मे प्रयुक्त होता है। इसी तरह से अवस्थाविशेष लिंग भी सस्त्यान आदि के रूप मे एक है। संस्त्यान की विवक्षा मे एक-वचन ही होगा, द्विवचन और बहुवचन नही। स्त्रीत्व के एक होने से अनेक प्रत्यय भी प्राप्त न हो सकेंगे। गार्ग्यायणी, कारीषगन्ध्या आदि मे दो-दो स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय है। गार्ग्यायणी मे ष्फ और ङीप् दो स्त्री प्रत्यय है। अब ष्फ मे स्त्रीत्व के उक्त हो जाने पर ङीप् अनुपयुक्त हो जायगा। इसी तरह सस्त्यानवाची ड्रट् प्रत्ययान्त स्त्री शब्द से ङीष् नही होगा क्योंकि स्त्रीत्व स्त्री से ही उक्त हो जाता है।

वार्तिककार ने इन आक्षेपो का स्वय समाधान भी किया है—

गुणवचनस्य चाश्रयतो लिंगवचनभावात् (४।१।३-६)

भावस्य च भावयुक्तत्वात् (४।१।३-७)

तात्पर्य यह है कि गुणवचन शब्दो से आश्रय के आधार पर लिंग और वचन होते है। कुमारी शब्द से द्रव्य का ही अभिधान होता है इसीलिए द्रव्यगत सख्या के आधार पर द्विवचन और बहुवचन हो जायेंगे। यद्यपि प्रक्रियादशा मे स्त्रीत्व को प्रत्ययार्थ मानते है फिर भी शब्दशक्ति के स्वभाव से गुणप्रधानभाव मे विपर्यय भी देखा जाता है। इसलिए स्त्रीत्व अप्रधान हो जाता है, और द्रव्य प्रधान। सर्वत्र प्रत्ययार्थ प्रधान नही होता। शब्दशक्ति के आधार पर अप्रधान भी प्रधान होता रहता है। अत आश्रय की प्रधानता मानकर वचन-व्यवस्था सम्भव है। अथवा गुण और गुणी मे अभेद की विवक्षा मे कुमारी शब्द से द्रव्य का ही अभिधान होता है। अथवा सस्त्यान आदि धर्म द्रव्य से अव्यतिरिक्त रूप में ही प्रतिभासित होते है। स्वभावत. प्रत्यय

के द्वारा द्रव्य से व्यतिरिक्त स्त्रीत्व का बोध नही होता । इस तरह सामानाधिकरण्यता पक्ष के तीन प्रकार यहां प्रदर्शित हैं—

१ स्त्रीत्व का अप्राधान्य द्रव्य का प्राधान्य ।

२. अभेदोपचार ।

३. द्रव्य से अनतिरिक्त स्त्रीत्व का प्रत्यायन ।

गार्ग्यायणी आदि मे दोनो स्त्रीप्रत्ययो से स्त्रीत्व की अभिव्यक्ति मान ली जायगी । पाणिनि ने ष्फ मे षित्व ङीषर्थ ही किया है । अनेक से भी एक की अभिव्यक्ति होती है, जैसे घने अधकार मे अनेक दीप से एक घट की अभिव्यक्ति । अवश्य ही दीपक वाले दृष्टान्त के साथ साम्य लाने के लिए इस पक्ष मे प्रत्यय को द्योतक मानना पडेगा । वार्तिककार ने दूसरे ढग से समाधान किया है जो सूक्ष्म है और दार्शनिक महत्त्व रखता है । उनके अनुसार स्त्रीत्व का स्त्रीत्व के साथ योग स्वाभाविक है । (**भावस्य च भावयुक्तत्वात्** । ४।१।३-७) भाव का भाव से, वस्तु का वस्तु से, क्रिया का क्रिया से योग स्वाभाविक है । स्त्रीत्व भी द्रव्य रूप है । अत अपर स्त्रीत्व के साथ उसका योग अविरुद्ध है ।

कुछ लोग मानते हैं कि प्रातिपदिक से द्रव्यरूप का अभिधान होता है और प्रत्यय से धर्मरूप का । जैसे कर्म आदि विभक्ति शक्तिरूप का प्रत्यायक है और प्रातिपदिक वस्तुभूत का । और इस तरह अभिधानभेद से स्त्रीत्व का स्त्रीत्व से योग कहा जाता है । काशिकाकार ने स्त्रीत्व को प्रत्ययार्थ और प्रकृत्यर्थविशेषण दोनों रूप मे स्वीकार किया है **स्त्रीत्व च प्रत्ययार्थ प्रकृत्यर्थविशेषण चेत्युभयत्रापि प्रयुज्यते ।**

—काशिकावृत्ति ४।१।३

भाष्यकार ने लिंग को सत्त्व (द्रव्य) का गुण माना है **स्त्रीपुंनपुंसकानि सत्त्वगुणा**—**महाभाष्य** १।१।३८,१।२।६४) । यह एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है । कैयट, नागेश आदि इस वक्तव्य पर मौन हैं । सभवत उनके साख्य आधारित गुण-लिंग दर्शन की पुष्टि इस उक्ति से नही होती । भाष्यकार के अनुसार गुणवचन शब्द अपने आधार के अनुसार लिंग और वचन ग्रहण करते हे । फलत शुक्ल वस्त्र, शुक्ला शाटी, शुक्लः कम्बल आदि प्रयोग उपपन्न होते है । इसी तरह स्त्रीत्व आदि भी अपने आश्रित द्रव्य के लिंग को ग्रहण कर सकते है । इस आधार पर लिंग मे भी लिंगयोग सभव है । स्त्रीत्व तीनो लिंगो द्वारा व्यक्त किया जा सकता है । जैसे स्त्रीभाव (पुल्लिंग) स्त्रीता (स्त्रीलिंग) और स्त्रीत्व (नपुंसकलिंग) ।

एक ही वस्तु के लिये विभिन्न लिंगों के व्यवहार पर वार्तिककार के मत का उल्लेख ऊपर हो चुका है । पतजलि ने एक दूसरा मौलिक सुझाव दिया है । पाणिनि के पुयोगादाख्यायाम् ४।१।४८ सूत्र के विवेचन के प्रसग मे भाष्यकार ने कहा है कि पुरुष के लिंग के लिये स्त्रीलिंग का और स्त्री के लिये पुल्लिंग का प्रयोग सभव है । और इसका कारण यह है कि पुरुष मे स्त्रीत्व के कुछ लक्षण मिल सकते है । और स्त्री मे भी पुरुष के कुछ लक्षण मिल सकते हैं । लक्षण न भी मिलें तब भी एक के धर्म का दूसरे पर आरोप या अध्यास अथवा परस्पर तादात्म्य सभव है । तात्स्थ्य,

तादृधर्म्य, सामीप्य और साहचर्य के आधार पर जिसमे जो धर्म नही है उसमे भी उस धर्म का आरोप देखा जाता है। इस दृष्टि मे दारा (पुल्लिग), स्त्री (स्त्रीलिंग) और कलत्रम् (नपुसकलिंग) शब्द स्त्री के क्रमश. पुस्त्व, स्त्रीत्व और नपुंसकत्व स्वरूप के द्योतक हैं। दारा शब्द विनाशक पुरुष अर्थ को व्यक्त करता है जो पुरुष के लक्षण से मेल खाता है। (दारयन्तीति दारा। अथवा दीर्यते तैर्दारा:, महाभाष्य भाग २ पृ० १४७ किलहार्न सस्करण)। कलत्र शब्द स्त्री के अनिर्ज्ञात अथवा रहस्य स्वरूप का द्योतक है और इसलिये नपुसकलिंग से व्यक्त किया जाता है। वे वस्तुए जिनके गुण पूर्णतया ज्ञात न हो अथवा सदिग्ध हो, नपुसकलिंग द्वारा व्यक्त की जाती है। (**अनिर्ज्ञातेऽर्थे गुणसंदेहे च नपुसकलिंगं प्रयुज्यते—महाभाष्य १।२।६७ भाग १ पृष्ठ** २५०) तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु के विभिन्न पहलू है, लिग उनके विभिन्न स्वरूपो के प्रत्यायक है। इस बात को हेलाराज ने यो स्पष्ट किया है—

> **शब्देभ्यो वस्त्वर्था एकस्वभावा अपि विस्तारं भजन्ते, तेभ्यो नानारूपाणां प्रकाशनात्। तथा च दारशब्द.स्त्रियं पुस्त्वविशेषणामाचष्टे, भार्याशब्द· स्त्रित्वविशिष्टाम्।**
>
> —वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश १६७।

जातिपदार्थदर्शन और द्रव्यपदार्थदर्शन के आधार पर भी लिंग पर विचार किया जाता है। जातिपदार्थपक्ष मे शब्द से आकृति का अभिधान होता है। आकृति सदा आविष्टलिंगा होती है। जाति के आविष्टलिंग मानने का तात्पर्य यह है कि जाति नियतलिंगवाली होती है। जाति की आविष्टलिंगता शब्दविशेष सापेक्ष है। सर्वत्र तीनो लिंगों की सत्ता होने पर भी किसी विशेष शब्द से किसी विशेष लिंग की अभिव्यक्ति होती है। पाणिनि ने जाति पदार्थ को सामने रखते हुए 'ग्राम्यपशुसघेष्वतरुणेषु स्त्री' १।२।७३ सूत्र का निर्माण किया था। लोक मे 'गाव इमा.', 'अजा इमा' जैसे प्रयोग देखे जाते थे। ऐसे प्रयोगो की साधुता के लिए पाणिनि ने उपर्युक्त सूत्र लिखा था। 'गाव इमा:' इस वाक्य मे गौ शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग मे किया गया है। यद्यपि सस्कृत मे गौ शब्द पुल्लिग है किन्तु प्राचीनकाल से ही इसका प्रयोग स्त्रीलिंग मे भी होता आया है। अति प्राचीन काल मे स्त्रीगवी और पुगव जैसे शब्द गौ शब्द के असदिग्ध अर्थ जनाने के लिए चल पडे थे। केवल गौ शब्द मे भ्रम की सम्भावना रहती थी। इसलिए गौ शब्द से यदि गाय अर्थ अपेक्षित रहता था तो उसमे स्त्री शब्द जोड-कर स्त्रीगवी शब्द का व्यवहार किया जाता था जैसे आज अगरेजी मे बकरी के लिए शी-गोट शब्द का व्यवहार किया जाता है। अथवा अयम् या इयम् सर्वनाम शब्द के साथ जोडकर बैल या गाय का बोध कराया जाता था जैसे गौ अय य शकट वहति, गौ इय या समा समा विजायते (महाभाष्य ५।३।५५)।

किन्तु कालान्तर मे गौ शब्द गाय के लिए अधिक प्रयुक्त होने लगा। जैसा कि गाव इमा (महाभाष्य १।२।७३) के प्रयोग से जान पडता है। नागेश ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गौ शब्द का स्त्रीलिंग मे व्यवहार भाष्यप्रयोग के आधार पर और लोक व्यवहार के आधार पर समझना चाहिए—

माख्यात् लोकाच्च गोशब्द व्यवहारः प्रायेण स्त्रीगवीष्वेवेति द्रष्टव्यम्

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।७३

गावः इमा. इस वाक्य का अभिप्राय है गाय-बैलो का झुण्ड । यद्यपि उस झुण्ड मे बैल भी रहते थे किन्तु उन दिनों उस पूरे झुण्ड को गाव इमा गायों का झुण्ड कहा जाता था । पाणिनि का तात्पर्य यह है कि ऐसे ग्राम्य पशुसंघ मे स्त्रीशेष होता है और पुंस्त्व की अविवक्षा होती है । इसलिये गाव. इमा वाक्य से गाय-बैल दोनो के झुण्ड अभिप्रेत है किन्तु 'गावः' में केवल स्त्रीत्व निर्देश है । इसी तरह अजा और अज दोनो के झुण्ड मे होने पर भी 'अजा. इमाः' ये अजा हैं ऐसा ही प्रयोग होता था । किन्तु जगली पशुओ के झुण्ड के लिए या बछडो के झुण्ड के लिए स्त्रीशेष का नियम लोक मे प्रचलित नही था । जगली सूअर और सूअरि दोनो के लिए 'सूकरा इमे' कहा जाता था । इसी तरह जिस झुण्ड मे बाछा और बछिया दोनो होते थे उनके लिये 'वत्सा इमे' इस वाक्य का प्रयोग होना था । तात्पर्य यह है कि प्रयोग के नियत होने पर जाति कभी आश्रयलिङ्ग द्वारा स्त्रीत्व से और कभी पुंस्त्व से व्यक्त होती है—

अनेन प्रकरणेन प्रयोगस्य नित्यत्वात् जाति क्वचिदाश्रयगतलिङ्गेन स्त्रीत्वेन व्यपदिश्यते क्वचित् पुंस्त्वेनेत्युक्त भवति ।

—कैयट—प्रदीपोद्योत १।२।७३

महाभाष्यकार ने पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र का प्रत्याख्यान किया है । उनका कथन है कि जब 'गाव इमा चरन्ति' कहा जाता है तब प्राय गायो के चरने का ही निर्देश किया जाता है । बैल रहते ही कहाँ हैं । उन्हे वधिया बनाकर उनसे भार ढोने का काम लिया जाता है अथवा उन्हे बेच देते हैं । केवल गायें ही बच रहती है—

गाव उत्कलितपुस्का वाहाय च विक्रयाय च स्त्रिय एवावशिष्यन्ते ।

—महाभाष्य १।२।७३

यद्यपि गायो के साथ एक दो वृषभ (बैल) भी सम्भव है फिर भी आधिक्य के आधार पर स्त्रीत्वमय निर्देश वैसे ही सभव है जैसे किसी गाँव मे अधिक पहलवानो के होने के कारण उसे मल्लग्राम कहा जाता है । जाति-पदार्थ दर्शन के मानने पर सूत्र के प्रत्याख्यान करने पर, गाव इमा जैसे स्थलो मे लिङ्गनियम शब्दशक्तिभेद के आश्रय पर व्यवस्थित माना जाता है । जाति सदा आश्रयगत लिङ्ग से सपृक्त रहती है । वृक्ष, पादप., तरु इनमे आविष्ट वृक्षत्व जाति सदा पुंस्त्व विशिष्ट ही होती है, कभी भी स्त्रीत्व अथवा नपुंसकत्व विशिष्ट नही । इसी तरह शिशपागत जाति स्त्रीत्व विशिष्ट ही होती है । पनसम् मे नपुंसकत्व विशिष्ट ही होती है । इषु, अशनि अथवा पद्म, शम्ब जैसे शब्द द्विलिङ्गी हैं तट आदि त्रिलिङ्गी हैं । इन सबमे लिङ्ग नियत है, कभी भी उसमे परिवर्तन नही होता । इसी आधार पर जाति को आविष्ट-लिङ्ग रूप मे स्वीकार किया जाता है । किन्तु लोक में स्तन, केश आदि लिङ्ग व्यंजक धर्मों के होते हुए भी आविष्टलिङ्ग वाला नियम सर्वत्र सफल नही होता । दाराः (पुंल्लिग), कलत्रम् (नपुंसकलिङ्ग) मे लिङ्गभेद है यद्यपि व्यंजन समान हैं । इसके परिहार के लिए भर्तृहरि ने प्रवृत्ति को ही लिङ्ग का सामान्य लक्षण माना है ।

(वाक्यप्रदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३२१)

द्रव्यपदार्थवाद की दृष्टि से विचार करने पर भी आविष्टलिङ्गता का नियम ज्यों का त्यों रहता है। अवश्य ही जाति आविष्टलिङ्गवाली होती है जबकि द्रव्य अनियतलिङ्ग वाला होता है। फिर भी दोनों पक्षों मे इस रूप मे साम्य है कि जाति की आविष्टलिङ्गता नियतजातिशब्दो द्वारा लिङ्गग्रहण प्रमाकर्षरूप मे होता है। केवल एकलिङ्ग का परिग्रह आविष्टलिङ्गता नही है। व्याकरण मे लिङ्ग का ग्रहण वस्तुधर्म के रूप मे न होकर शब्दार्थ के लिङ्ग के रूप मे होता है। द्रव्यपदार्थपक्ष मे गुणावस्था लिङ्ग है। उपादानविकल्प के रूप मे लिङ्ग के जो सात भेद पहले कहे जा चुके है वे ही, इस पक्ष मे आविष्टलिङ्गता है —

> **लिङ्गं प्रति न भेदोऽस्ति द्रव्यपक्षेऽपि कश्चन।**
> **तस्मात् सप्तविकल्पा ये सैवाऽऽविष्टलिङ्गता ॥**

—वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३२८

जातिपदार्थपक्ष मे शब्द का, प्रधान रूप मे, वाच्य जाति है। द्रव्य उसके उपकारक होने के कारण गुणभूत रूप मे अवगत माना जाता है। द्रव्यपदार्थपक्ष मे शब्द का अभिधेय द्रव्य है, आकृति उसके अवच्छेदक होने के कारण गुणभूत होती है। जो शब्द जातिविशिष्ट द्रव्य के अभिधायक है उनमे लिङ्गयोग आश्रय के आधार पर होता है। जो शब्द केवल जातिबोधक है उनमे लिङ्गयोग अभेदोपचार के आधार पर, स्वयम् इस नियम के आधार पर, हो जाता है। जाति निराश्रित नही रह सकती। अन साहचर्य के कारण आश्रयगतलिङ्ग से वह सपृक्त हो जाती है। कुछ लोग केवल जाति अभिधायक शब्द को अन्य और केवल द्रव्य अभिधायक शब्द को अन्य मानते हैं। जातिपदार्थपक्ष मे केवल शुद्ध जाति शब्द से वाच्य है, द्रव्यपदार्थदर्शनपक्ष मे केवल शुद्ध द्रव्य शब्द से वाच्य है। दोनो पक्षों मे अनभिधीयमान द्रव्य अथवा जाति मे लिङ्गयोग आधार भेद की कल्पना से अथवा स्वगतलिङ्ग कल्पना से सिद्ध किया जाता है। हेलाराज के अनुसार पाणिनि का यही मत है—

> **केवलजात्यभिधायी शब्दोऽन्य एव। अन्यश्च केवलद्रव्याभिधायी। उभयत्रापि चानभिधीयमाना जातिः द्रव्य वा यथायोगमाधारभेदप्रकल्पनेन स्वगत-लिङ्गसंख्यादिधर्मप्रकल्पनेन चोपकरोतीति भगवत पाणिनेराचार्यस्यायं पक्ष।**

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, वृत्ति समुद्देश ३५७

लिङ्ग के आधार पर शब्दो को दो वर्गों मे विभक्त किया जाता है। आविष्टलिङ्ग और अनाविष्टलिंग। जाति, द्रव्य और परिमाणबोधक शब्द आविष्टलिंग हैं। जाति शब्द जिस लिंग के आश्रय से व्यक्त होते हैं, कभी उसे नही छोडते—

> **आविष्टलिङ्गा जाति यल्लिङ्गमुपादाय, प्रवर्तते, उत्पत्तिप्रभृत्याविनाशान्न तल्लिङ्गं जहाति।**

—महाभाष्य १।२।५२

आकृतिव्यंग्य और उपदेशव्यंग्य के रूप मे जाति दो तरह की है। इनमे आकृति

व्यग्य ग्राविष्टलिङ्ग शब्द—गौ., मृग·, पक्षी, सर्प, सिंहः, वृक्ष·, कुमारी, कुण्डम्, स्त्री, पुमान्, नपुंसकम् आदि हैं।

उपदेशव्यंग्यजाति वाले ग्राविष्टलिङ्ग शब्द—ब्राह्मण·, गार्ग्य·, कठ·, क्षत्रियः, वैश्य·, शूद्रः, सूतः, पारशवः आदि है। द्रव्य भी सापेक्ष और निरपेक्ष रूप से दो तरह का है। इनमें सापेक्ष द्रव्य ग्राविष्टलिङ्ग शब्द—गुरु, पिता, पुत्र., भ्राता, जामाता, मित्रम्, माता, स्वसा, दुहिता, भार्या ग्रादि हैं। ग्रनपेक्ष द्रव्य ग्राविष्टलिङ्ग शब्द—चैत्र·, मैत्र, इन्द्र, चन्द्र·, सूर्य, काल, आकाश, प्राची, प्रतीची, शची, लक्ष्मी ग्रादि हैं। नियत ग्रौर ग्रनियत भेद से परिमाण भी दो तरह का होता है। इनमे नियत परिमाण ग्राविष्टलिङ्ग शब्द--द्रोण, खारी, पलम्, भार·, क्रोश, योजनम्, ग्रक्षौहिणी, ग्रादि है। ग्रनियत परिमाण ग्राविष्टलिंग शब्द—सघ, पूगः, सार्थ, समाज, वर्गः, श्रेणि, कुटुम्बम्, परिषद्, पक्ति, यूथम्, वनम्, सेना ग्रादि हैं।

गुणवाचक, सख्यावाचक, वचन और सर्वनाम—ये सब ग्रनाविष्टलिंग है। इनमे श्वेत, स्वादु, शीघ्र, मन्द, दीर्घ, ह्रस्व, युवा, वृद्ध जैसे शब्द ग्रनुरजक ग्रनाविष्टलिंग हैं। दक्ष, जिह्म, जड, प्राज्ञ, खल, साधु, शूर, भीरु, लघु, गुरु जैसे शब्द ग्रनुरजक ग्रनाविष्टलिंग हैं। संख्या दो रूप मे गृहीत होती है। लिंगवती और ग्रलिंगा। इनमें लिंगवती—एक·, एका, एकम्, द्वौ, द्वे, द्वे, ग्रादि है। पञ्च, षड्. ग्रष्टौ ग्रादि ग्रलिंगा हैं। सर्वनाम के भीतर सर्वादिगण ग्रौर ग्रसर्वादि दोनो लिए जाते है।

—भोज, शृगार प्रकाश, पृ० ७

सर्वनामो मे युष्मद् (त्वम्), ग्रस्मद् (ग्रहम्) के लिंग के विषय मे सस्कृत वैयाकरणो मे कुछ विवाद था। इसका उल्लेख कैयट ने किया है। वार्तिककार ग्रौर महाभाष्यकार ने युष्मद् ग्रौर ग्रस्मद् शब्द को ग्रलिंग माना है। ग्रलिंगे युष्मदस्मदी—महाभाष्य ७।१।३३। ग्रभिधेय के ग्रलिंग होने से ये शब्द ग्रलिंग माने जाते है। शब्दशक्ति-स्वभाव के ग्राधार पर ऐसा माना जाता है। इन शब्दों में लिंग रहित रूप मे ही ग्रर्थ का भान होता है। शब्द-शक्ति के सहारे ही शब्द ग्रपने ग्रर्थ का प्रत्यायक है। शब्द के सामर्थ्य का ग्रवधारण लौकिक प्रयोग से होता है। लोक मे युष्मद् ग्रस्मद् शब्द से लिंग का ग्रवगमन नही होता। कुछ लोग मानते हैं कि युष्मद ग्रस्मद् शब्द का ग्रभिधेय ग्रर्थ रूप शब्द है वस्तु रूप नही। ब्राह्मण ग्रादि शब्दो से उसी का लिंगयुक्त रूप मे प्रतिपादन होता है। यह नियम नही है कि सत्त्वभूत ग्रर्थ ग्रवश्य लिंग युक्त होता है। क्योकि पञ्च, सप्त ग्रादि कहने से लिंग का भान नही होता। इसीलिए कुछ वृत्तिकारो ने षट्सज्ञक से स्त्रीप्रत्ययप्रतिषेध का प्रत्याख्यान किया है। ग्रन्य ग्राचार्य मानते है कि युष्मद ग्रस्मद् शब्द से भी लिंग सर्वनाम नपुसक योग होता है। इसी ग्राधार पर शि शी लुड्, नुम् का तथा युष्मद् ग्रस्मद् विभक्त्यादेशा का विप्रतिषेध कहा गया है। कुछ ग्रन्य ग्राचार्य विप्रतिषेध का समाधान दर्शनभेद के ग्राधार पर मानकर युष्मद् ग्रस्मद् मे लिंग योग मानते है। उनके मत मे सत्त्वभूत ग्रर्थ का लिंगयोग ग्रवश्य होता है। कैयट, भाष्यप्रदीप—७।१।३३। नागेश ने लिंग वाले पक्ष का समर्थन किया है ग्रौर इसके विरोध मे कहे गये भाष्यकार के वाक्यों को एकदेशीय माना है. ग्रत्र

लिंगवस्त्वपक्ष एव युक्तः सूत्रवार्तिकोभयसंमतत्वात् ।

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत ७।१।३३

अव्यय में लिंगयोग के विषय में भी मतभेद है। जो अव्यय असत्त्वभूत अर्थ के अभिधायक हैं उनसे लिंगयोग नहीं होता। जो सत्त्वभूत अर्थ के प्रतिपादक हैं उनसे भी शब्दशक्तिस्वभाव के आधार पर लिंगयोग नहीं होता। कुछ लोग मानते है कि अव्ययो का लिंगविशेष से तो योग नहीं होता, किन्तु लिंगसामान्य से योग होता है। कैयट इस पक्ष के समर्थक नहीं जान पड़ते। उनके मत मे लिंगसामान्य की सत्ता मे कोई प्रमाण नहीं है—

> **केचित् लिंगादिविशेषैरयोगात्, तत्सामान्येन तु योगमव्ययानामाहुः । तद-युक्तम् । लिंगादिसामान्यसद्भावे प्रमाणाभावात्—**

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।१।३८

लिंगसामान्यदर्शन न्यासकार का है **लिंगसंख्याकारकविशेषस्यानुपदानात् सामान्यरूपोपादानाच्च**—न्यास १।१।३७, पृ० ८२। उनके मत मे, 'तत्र शालायाम्' वाक्य मे तत्र शब्द अव्यय है फिर भी इसमे स्त्रीत्व द्योतक टाप् प्रत्यय होता है और अव्यय के कारण टाप् प्रत्यय का लोप हो जाता है। यद्यपि 'तत्र शालायाम्' मे वाक्यार्थ मे स्त्रीत्व है फिर भी वाक्यार्थ के द्वारा तत्र में भी स्त्रीत्व है (न्यास २।४।८१)।

क्रियाविशेषण नपुंसकलिंग माने जाते हैं। क्रिया-विशेषणानां च क्लीबतेष्यते। मृदु पचति। शोभनं पचति—काशिका २।४।१८। न्यासकार के अनुसार क्रिया स्वयं द्रव्य नहीं होती, अतः उसके विशेषण भी द्रव्य नहीं माने जाते। द्रव्य न होने से उनमें लिंगयोग भी नहीं होता—

> **क्रियाया साध्यत्वात् कर्मत्वम् । तद् विशेषणमपि कर्म भवति । तच्चासत्त्वं भवति । क्रियैव हि तावद् द्रव्यं न भवति । कुतः पुनस्तद्विशेषणं द्रव्यं भविष्यति ।**

—न्यास २।३।३३

यद्यपि संस्कृत के वैयाकरणों ने यह अनुभव कर लिया था कि लिंग के नियम व्याकरण द्वारा सर्वथा नियन्त्रित नहीं किए जा सकते और इसलिए यह घोषणा की थी कि इस सम्बन्ध में शास्त्रोपदेश अनिवार्य नहीं है। (**शास्त्रोपदेशेन विनापि सिद्धिः लिंगस्य लोकव्यवहारगम्या**—कैयट, भाष्यप्रदीप ५।३।६६।) फिर भी पाणिनि आदि ने लिंग के विषय में अनेक नियमों के उल्लेख किये हैं। विशेष नियम लिंगानु-शासनों में वर्णित है। यहाँ कुछ प्रत्ययों आदि के सम्बन्ध में सकेत दिए जा रहे हैं।

एक ही वस्तु शब्दभेद से—प्रत्ययभेद से अर्थवैचित्र्य उत्पन्न करती है। जैसे—कार्श्यं, कृशिमा, कृशता। इन शब्दों मे प्रकृति समान है किन्तु प्रत्ययभेद से लिंग भेद है और उपर्युक्त गुणदर्शन के आधार पर—गुणों की स्थिति, प्रसव और संस्त्यान भेद से अर्थभेद की कल्पना की जा सकती है।

जलम् और आप

दारा और भार्या

जैसे शब्दो मे शक्तिभेद के आधार पर लिंग-भेद है। इंधम् शब्द अलिंग है किन्तु अतिइंधानि शब्द लिंगयुक्त है।

संस्कृत में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके प्रातिपदिक रूप से भी लिंग का भान होता है जैसे—समित् (स्त्रीलिंग), दृषद् (स्त्रीलिंग)। कुछ शब्दो मे लिंगभान प्रत्यय के आधार पर होता है जैसे गौरी, किशोरी। पाणिनि ने स्त्रीत्व के भान के लिए अनेक प्रत्ययो का विधान किया है। और कई शब्दो के एक से अधिक रूपो का निर्देश किया है जैसे—

चन्द्रमुखी	—	चन्द्रमुखा
अतिकेशी	—	अतिकेशा
स्निग्धकण्ठी	—	स्निग्धकण्ठा
बिम्बोष्ठी	—	बिम्बोष्ठा
तिलोदरी	—	तिलोदरा।

किन्तु सुभगा, पृथुजघना जैसे शब्दो मे दो रूप नही चलते थे। कहीं-कही दो रूपो मे अर्थभेद होते थे, जैसे निम्न जोड़ों में—

कुण्डी	—	कुण्डा
गोणी	—	गोणा
स्थली	—	स्थला
भाजी	—	भाजा
काली	—	काला
नीली	—	नीला
कुशी	—	कुशा
कामुकी	—	कामुका
पाणिगृहीती	—	पाणिगृहीता।

किन्तु व्यवहार मे ये भेद तिरोहित होने लगे थे। जैसे—

कुवलयदलनीलाकोकिलाबालचूते।

—वामन, काव्यालंकार १२। ४६

यहाँ नीली के स्थान पर कवि ने नीला का प्रयोग किया है। संस्कृत मे कुछ शब्दो से प्रत्यय के कारण अर्थभेद न होते हुए भी लिंगभेद होता है। जिन शब्दो मे तद्धित प्रत्ययो के कारण मूल लिंग बना रहता है वे तल्लिंगी है। जैसे—मन एव मानसम्। मन और मानस शब्द दोनो नपुसक लिंग हैं। बन्धुरेव बान्धवः। बन्धु और बान्धव शब्द दोनो पुल्लिंग है। इसी तरह यव, यावक। जिन शब्दो मे प्रत्यय के कारण लिंगभेद दिखाई देता है वे अन्य लिंगी है जैसे उपाय एव औपयिकम्। यहाँ उपाय पुलिंग और औपयिक शब्द नपुसकलिंग है। देव एव देवता। देव शब्द पुल्लिग और देवता शब्द स्त्रीलिंग है। इसी तरह देवता एव दैवतम्।

स्वार्थिक प्रत्यय स्वभावत: प्रकृतिगत लिंग का अनुवर्तन करते हैं। किन्तु कभी-कभी इस नियम मे व्यतिक्रम भी देखा जाता है। जैसे कुटी (स्त्रीलिंग) कुटीरः

(पुंल्लिंग), इसी तरह शमी—शमीर., शुण्डा, शुण्डार. ।

अनेक शब्दों मे विवक्षा-अविवक्षा के सहारे लिंग विचार किया जाता है। ईहा, लज्जा जैसे शब्दो मे लिंग विवक्षित है। आतक जैसे शब्द मे अविवक्षित है। बाधा, बाध, ऊहा, ऊह, व्रीडा, व्रीड:, जैसे शब्दो मे विवक्षा और अविवक्षा दोनो होते हैं।

पाणिनि ने द्वन्द्व और तत्पुरुष समास मे परवत् लिंग का विधान किया है। भर्तृहरि ने भाष्यकार के आधार पर द्वन्द्व समास मे लिंगयोग स्वाभाविक और वाचनिक दोनो रूप मे दिखाया है। च के अर्थ मे द्वन्द्व समास होता है। च का अर्थ समुच्चय भी है। समुच्चय के साथ दो तरह के विचार है। एक पक्ष समुच्चित को प्रधान मानता है। दूसरा पक्ष समुच्चय को प्रधान मानता है। समुच्चितप्रधान पक्ष मे लिंग योग स्वभावत: होता है। समुच्चयप्रधानपक्ष मे लिंगयोग वाचनिक माना जाता है। कुछ लोगो के अनुसार समुच्चितप्राधान्यपक्ष मे भी लिंगयोग स्वाभाविक न होकर वाचनिक होता है क्योकि समुच्चय निमित्त है, समुच्चित नैमित्तिक है। निमित्त से नैमित्तिक का स्वरूप आच्छादित रहता है। इसलिए समुच्चित मे स्वधर्म की प्रतिपत्ति न होने से शास्त्र द्वारा लिंग का अतिदेश किया जाता है। किन्तु भर्तृहरि के अनुसार यह मत उपयुक्त नही है। उनके अनुसार समुच्चय का समुच्चित के निमित्त के रूप मे ग्रहण भ्रान्तिमूलक है (वाक्यपदीप ३, वृत्तिसमुद्देश २०१)।

बहुव्रीहि समास मे लिंग के विषय मे विप्रतिपत्ति वार्तिककार ने उठाई थी। बहुव्रीहि समास मे पदार्थाभिधानपक्ष और विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष के रूप मे विवाद प्रचलित थे। दोनो पक्षो का उल्लेख कात्यायन ने किया है। इनमे विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष मे बहुव्रीहि समास मे लिंग योग की उपपत्ति नही हो पाती है। क्योकि लिंगयोग सत्त्वभूत द्रव्य से होता है। विभक्त्यर्थ अद्रव्य है। उसमें लिंगातिदेश सभव नही है।

विभक्त्यर्थाभिधानेऽद्रव्यस्य लिंगसंख्योपचारानुपपत्ति

पा० सूत्र २।२।२४ पर वार्तिक[1]

भाष्यकार ने इसका समाधान किया है कि जैसे गुणवचन शब्दो मे आश्रयगत-धर्म के आधार पर लिंगयोग होता है उसी तरह बहुव्रीहि समास मे भी हो जाया करेगा। व्याकरणदर्शन मे पदावधिक अन्वाख्यान और वाक्यावधिक अन्वाख्यान दोनो गृहीत है। पदावधिक-अन्वाख्यान पक्ष मे सामान्यमात्र को सामने रखकर पद-सस्कार किया जाता है अत बहुव्रीहि समास मे भी सामान्य मे नपुसकलिंग और एक वचन नियम के अनुसार नपुसकलिंग और एकवचन की ही प्राप्ति होनी चाहिए किन्तु विशेषणाना चाजातेः १।२।५२ सूत्र के अनुसार गुण वचनो के आश्रय के आधार पर लिंग और वचन प्रतिपादन किया जाता है। अर्थात् पदसस्कार पक्ष मे लिंगविधान

१. महाभाष्यकार ने अपर आह के रूप में इस वार्तिक का एक दूसरा पाठ भी दिया है—अपर आह —विभक्त्यर्थाभिधाने द्रव्यस्यलिंगसंख्योपचारानुपपत्तिः—महाभाष्य २।२।२४ उपर्युक्त वार्तिक में और इस वार्तिक में यह अन्तर है कि उसमें 'अद्रव्यस्य' पाठ है, इसमें, 'द्रव्यस्य' ऐसा अकार प्रश्लेषरहित पाठ है।

शास्त्रीय है। वाक्यसंस्कार पक्ष मे बहुव्रीहि समास मे लिंगविधान न्यायसिद्ध है। क्योंकि इस पक्ष मे पद के संस्कार आश्रयविशेष के आश्रय से ही होते है। अर्थात् वाक्यसंस्कार पक्ष मे लिंगविधान वाचनिक न होकर स्वाभाविक है। चित्रगु शब्द मे बहुव्रीहि समास है। यद्यपि चित्रगु शब्द से सम्बन्ध का अभिधान होता है फिर भी अभेदोपचार से सम्बन्धी का ग्रहण हो जाता है। यद्यपि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है फिर भी प्रधानता के आधार पर स्वामी की अभिधेयता मान ली जाती है और उसी के आश्रय से लिंगयोग होता है, गाय के आश्रय से नही। जिस तरह शुक्ल शब्द कही गुण का बोधक होता है और कभी गुणी का, उसी तरह चित्रगु शब्द भी कभी सम्बन्ध का बोधक होने लगेगा और कभी सम्बन्धी का। उसे केवल सम्बन्धी का ही वाचक होना चाहिए। इसके उत्तर मे भाष्यकार की मान्यता है कि कृत्स्न पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है। पाणिनि ने अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४ सूत्र मे अर्थ ग्रहण के द्वारा यह संकेत किया है कि कृत्स्नपदार्थ का अभिधान हो—

यदर्थग्रहण करोति तस्यैतत् प्रयोजन कृत्स्न पदार्थो यथाभिधीयते सद्रव्यः सलिंगः ससंख्यश्चेति। महाभाष्य २।२।२४

बहुव्रीहि समास मे यदि कृत्स्न पदार्थ का—सबका अभिधान मान लिया जायगा तो लिंग के भी अभिधान हो जाने के कारण लिंग विधिवाले नियम नही हो पायेंगे। इसका परिहार भाष्यकार ने वार्तिककार के आधार पर दिया है कि समास द्वारा लिंग के अभिहित होने पर भी स्त्रीत्व द्योतक टाप् आदि प्रत्यय होने मे कोई बाधा नही है।

नञ् समास मे भी लिंग योग स्वाभाविक माना जाता है। नञ् समास मे तीन तरह के विकल्प भाष्य मे वर्णित है। अन्यपदार्थप्रधान पूर्वपदार्थप्रधान और उत्तर-पदार्थ प्रधान। अन्य पदार्थपक्ष मे नञ् समास मे, लिंग का प्रश्न सामने आता है। अवर्षा कहने से हेमन्त का बोध होता है। अब यदि अन्यपदार्थ प्रधान माना जाय तो हेमन्त शब्द मे जो लिंग है उसे ही अवर्षा शब्द मे भी होना चाहिए। पूर्वपदार्थपक्ष मे भी नञ् के अर्थ के प्रधान होने के कारण लिंगयोग की प्राप्ति नही हो पाएगी। इसका परिहार इस रूप मे किया जाता है कि विग्रह वाक्य मे नञ् असत्त्वभूत अर्थ को व्यक्त करता है किन्तु समास मे सत्त्वरूप अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। और ऐसा स्वभावतः होता है। महाभाष्य मे स्वाभाविकदर्शन के अतिरिक्त आश्रयदर्शन के अनुसार भी नञ् समास मे लिंगयोग की कल्पना मिलती है शुक्लं वस्त्रं, शुक्ला शाटी, आदि के सदृश नञ् समास मे भी जिस द्रव्य के आश्रित समास होगा, उसमे जो लिंग होगा, समास मे भी वही लिंग माना जायगा। इस पक्ष मे अवर्षा हेमन्तः, अनर्थं स्त्री, अतेज. सिकता जैसे प्रयोगो मे लिंगयोग की उपपत्ति ठीक नही हो पाती है। इसलिए भाष्य मे नञ् समास मे उत्तरपदार्थपक्ष का आश्रय लिया गया है। हेलाराज ने स्वाभाविक दर्शन के आधार पर पूर्वप्रधानपक्ष को भी निर्दोष माना है—

यद्येवं शब्दशक्तिप्रतिनियमादप्रयोगेऽपि विशेषस्य विशिष्टे लिङ्गसंख्ये सिध्यत एवेति पूर्वपदार्थप्रधानपक्षोऽपि न त्याज्य।

हेलाराज, वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३१५

उत्तरपदार्थ प्रधानपक्ष मे भी अमित्र: जैसे शब्द मे लिगयोग जटिल हो जाता है। किन्तु हरदत्त ने अमित्र शब्द को न-मित्र अमित्र रूप में न लेकर अभिधातु से अच् प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न शब्द माना है—

अमेर्द्विषतीति अच् प्रत्ययः। न पुनरयं नञ् समासः। परवल्लिंगप्रसंगात्। लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य। स्वरे दोषः चित् स्वरो ह्रीष्यते बहुव्रीहौ वास्तु मध्योदात्तममित्रशब्दमधीयते।

—पदमंजरी ३।२।१३१, पृ० ६५०

लिंग की दृष्टि से समस्त पदों में सहजीकरण के नियम सुदूर प्राचीनकाल में संस्कृत भाषा में दिखाई देने लगते हैं। इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण महाभाष्यकार का निम्नलिखित प्रयोग है—

द्रुतमध्यमविलम्बितासु वृत्तिषु।

—महाभाष्य १।४।१०९—पृ० ३५४, कीलहार्न संस्करण

इस पर कैयट ने यो टिप्पणी दी है. **द्रुता च मध्यमा च विलम्बिता चेति द्वन्द्वे कृते भाष्यकारवचनप्रामाण्यात् ह्रस्वः।**

—कैयट, भाष्यप्रदीप १।४।१०९

स्पष्ट है कि प्रयत्नलाघव के आधार पर समस्त पदो मे आन्तरिक लिंग तिरोहित होने लगे थे। कालिदास के 'दृढभक्ति' (रघुवंश १२।१९) जैसे प्रयोग भी इसी दिशा के संकेतक है।

९

वाक्य विचार

संस्कृत व्याकरण मे वाक्य शब्द का प्रयोग तीन अर्थों मे देखा जाता है .

१ विग्रह वाक्य के लिए । जैसे राजपुरुष के लिए राज्ञः पुरुष. । राज्ञ. पुरुष· वाक्य है ।

२ लौकिक वाक्य के लिए । जैसे 'देवदत्तः ओदन पचति' ।

३ पारिभाषिक अर्थ मे । निघात आदि की व्यवस्था के लिए शास्त्रीय वाक्य-लक्षण वाक्य शब्द से व्यवहृत किया जाता है ।

इस अध्याय मे केवल लौकिक और पारिभाषिक वाक्य लक्षण पर विचार किया जा रहा है ।

पारिभाषिक वाक्य का लक्षण सर्वप्रथम सभवत कात्यायन ने किया । क्योकि पतजलि ने इनके वाक्य लक्षण को अपूर्व कहा है—

इदमद्यापूर्वं क्रियते वाक्यसंज्ञासमानवाक्याधिकारश्च ।

—महाभाष्य २।१।१ पृ० ३३८ निर्णय सागर संस्करण

अपूर्व शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि इसके पूर्व वाक्य का लक्षण उस रूप मे नही ज्ञात था जैसा कि कात्यायन ने बतलाया । कात्यायन का एक नाम वाक्यकार भी है । बहुत संभव है कात्यायन का यह नाम उनके वाक्यलक्षण निर्माण के कारण पड़ा हो । अवश्य ही व्याकरण संप्रदाय मे वार्तिक और वाक्य पर्याय माने जाते है और वार्तिककार के अर्थ मे वाक्यकार का प्रयोग बराबर मिलता है ।[1]

प्राचीन विचार क्षेत्र मे जैमिनि का वाक्य-लक्षण भी प्रसिद्ध था । जैमिनि के वाक्य-लक्षण और कात्यायन के वाक्य-लक्षण मे पूर्वापर का विचार कठिन है । भाष्यकार के अपूर्व शब्द से जान पड़ता है कि कात्यायन ने ही सर्वप्रथम, शास्त्रीय दृष्टि से, वाक्य पर विचार प्रस्तुत किया । लौकिक वाक्य के स्वरूप पर कात्यायन के पूर्ववर्ती व्याडि ने अपने संग्रह मे विचार किया था और पाणिनि की दृष्टि भी उस पर गई थी ।

---

१. वाक्यं विवरणं वार्तिकं च । यत् करणात् कात्यायनो वार्तिककार उच्यते ।—शंकर, हर्षचरित टीका, पृ० १३३ बम्बई संस्करण

जैमिनि और कात्यायन दोनो के वाक्यलक्षण के विषय में दो तरह के विवाद प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। मीमांसा सूत्र के प्राचीनतर टीकाकार जैमिनि के वाक्यलक्षण को लौकिक वाक्य का लक्षण मानते थे। कुमारिल और उनके अनुयायियों ने उसे शास्त्रीय वाक्यलक्षण माना है। व्याकरण सप्रदाय मे भर्तृहरि,[1] कैयट[2], भोज,[3] विट्ठल[4] आदि ने कात्यायन के वाक्यलक्षण को शास्त्रीय वाक्यलक्षण माना है। नागेश ने उसे लौकिक वाक्यलक्षण माना है अथवा उसे लोक-शास्त्र-साधारण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[5]

कात्यायन के वाक्यलक्षण का रूप निम्नलिखित है—

आख्यात साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। एकतिङ्।

—वार्तिक, महाभाष्य २।१।१

महाभाष्य में इसके विश्लेषण में कहा गया है कि साव्यय, सकारक, सकारक-विशेषण और सक्रियाविशेषण-आख्यात वाक्य है। एकतिङ् वाक्य है। जैसे—

साव्यय—उच्चै पठति।

सकारक—ओदन पचति।

सकारकविशेषण—मृदु विशदम् ओदन पचति।

सक्रियाविशेषण—सुष्ठु पचति।

एकतिङ्—ब्रूहि, ब्रूहि।

कात्यायन के इस शास्त्रीय वाक्यलक्षण पर इस ग्रथ मे क्रिया-विचार के अवसर पर भी प्रसगत चर्चा की गई है।

इस वाक्यलक्षण के अव्यय, कारक और विशेषण मे से प्रत्येक अलग-अलग और समुदित रूप मे भी गृहीत होते हैं। अव्यय यद्यपि कारक और विशेषण भी हो सकता है फिर भी स्पष्टतार्थ उसका पृथक् उल्लेख किया गया है। सविशेषण शब्द मे प्रत्यासत्ति के आधार पर जो कारक का विशेषण होता है उसी का ग्रहण किया जाता है न

---

१. निघातादिव्यवस्थार्थं शास्त्रे यत् परिभाषितम्। वाक्यपदीय २।३

२. नानाकारकात् निघातादिनिवृत्तये, क्वचित् प्रवृत्तये च समानवाक्ये निघातयुष्मदादेशा वक्ष्यन्ते। तत्र लौकिकवाक्यग्रहणनिषेधार्थं वाक्यं परिभाष्यते।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१

३. वार्तिककारस्तु "अन्यदेव लौकिकात् पारिभाषिकं वाक्यलक्षणमारभते। न च तेन लौकिको व्यवहारः सिध्यतीति उपेक्ष्यते।।

—भोज, शृंगारप्रकाश, पृ० ११६ मैसूर संस्करण

४. वाक्यसंज्ञा पारिभाषिकी महाभाष्ये उक्ता।

—विट्ठल, प्रक्रियाप्रसाद, भाग प्रथम, पृ० ७१

५. परे तु आख्यात सविशेषणं वाक्यमिति लक्षणं लौकिकमेव पचतिभवतीत्येतत् साधारणम्। यत्तु कैयटेनास्य पारिभाषिकत्वमुक्तं तत् प्रमादात्।

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१

तस्माद् आद्यलक्षणं वाक्यस्य टेरित्येतत् शास्त्रलोकसाधारणम्।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१ पृ० ४५ गुरु प्रसाद संस्करण

कि क्रिया के विशेषण का। 'आख्यातम्' इस शब्द में, लक्षणविधानसामर्थ्य के आधार पर, एकवचन विवक्षित है। आख्यात से क्रियाप्रधानता लक्षित है। फलतः 'देवदत्तेन शयितव्यम्' जैसे अतिङन्त स्थलों में भी वाक्यत्व माना जाता है। आख्यात मे एकत्व विवक्षा के कारण 'पचति भवति' मे साध्यसाधन होने पर भी दो आख्यात के कारण और समानवाक्यता के अभाव के कारण निघात नहीं हो पाता है। एकतिङ् में एक शब्द, कैयट के अनुसार, संख्यावाची न होकर समानवचन है और इसमें बहुव्रीहि समास है।

वार्तिककार के उक्त शास्त्रीय वाक्यलक्षण में दो विप्रतिपत्तियां उठाई गई थी और उनका परिहार किया गया था। उक्तलक्षण के अनुसार 'व्रजानि देवदत्त' इस वाक्य में देवदत्त शब्द से पाणिनि सूत्र ८।१।१९ के अनुसार निघात प्राप्त नही हो सकेगा। क्योंकि देवदत्त पद यहा न तो अव्यय है, न कारक है और न उसका विशेषण है। इसका परिहार यो किया जाता है कि उक्त लक्षण मे साव्ययं, सकारकं आदि का सामान्य रूप मे अभिधान किया गया है। फलत वार्तिककार की वाक्यपरिभाषा के अनुसार भी निघात हो जायेगा। क्योंकि उक्त परिभाषा के आधार पर सक्रिया-विशेषण भी आख्यात वाक्य कहलायगा। 'व्रजानि देवदत्त' इस वाक्य की व्रजति क्रिया 'व्रजति देवदत्त·' इस वाक्य की व्रजति क्रिया से भिन्न है। क्योंकि एक का सबंध सबोध्य देवदत्त से है और दूसरे का असंबोध्य देवदत्त से है। क्रिया का विशेषण कभी सामानाधिकरण्य रूप मे होता है जैसे 'शोभन करोति'। यहा करोति क्रिया का अर्थ शोभन के अर्थ से सपृक्त रूप मे ही उपस्थित होता है। क्रिया का विशेषण कभी वैयधिकरण्य रूप मे होता है। जैसे 'व्रजानि देवदत्त'। इस वाक्य मे गमनक्रिया और देवदत्त का सामानाधिकरण्य नही है। जाने वाला अन्य व्यक्ति है और देवदत्त अन्य है। किन्तु देवदत्त को सम्बोधन कर गमन होने के कारण यहा व्रजति क्रिया विशिष्ट हो जाती है और उसे क्रियाविशेषण मानकर निघात हो जाता है।

दूसरी आपत्ति इस वाक्य मे है—

'पूर्वं स्नाति, पचति ततो व्रजति।'

इस वाक्य मे तत. के बाद व्रजति क्रिया के होने से, वाक्यभेद के कारण निघात नही हो सकेगा। किन्तु होना चाहिए। इसके उत्तर मे कहा जाता है कि जिस तरह अनेक क्त्वान्त शब्द तिङन्त के विशेषक होते हैं वैसे ही तिङन्त भी तिङन्त का विशेषक होता है। 'स्नात्वा भुक्त्वा, पीत्वा, व्रजति' इस वाक्य मे स्नान, भोजन और पान से गमन क्रिया ही विशिष्ट मानी जाती है। उसी तरह उपर्युक्त वाक्य मे स्नान क्रिया आदि से व्रजति क्रिया ही विशिष्ट रूप मे सामने आती है। उपर्युक्त वाक्य मे व्रजति क्रिया प्रधान है और दूसरी क्रियाए इसके विशेषण रूप में हैं। इसलिए सविशेषण क्रिया एक मानकर वाक्य भेद न होने से निघात सिद्ध हो जायगा।

भर्तृहरि ने कात्यायन और जैमिनि के वाक्यलक्षणों मे असमानता का संकेत किया है। जैमिनि ने यजुस् के अवसाननिश्चय करने के लिए वाक्य की परिभाषा बताई थी जो यों है—

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात् —मीमांसा सूत्र २।१।४६

इसका तात्पर्य है कि पदसमूह वाक्य है यदि वह एकार्थक हो और विभक्त दशा में साकांक्ष हो। विभाग मे साकांक्षता और अविभाग में एकार्थता के रूप मे वाक्य को स्वीकार करने के कारण निम्नलिखित वाक्य एक वाक्य के रूप मे मीमांसा दर्शन में गृहीत होता है—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे, अश्विनोः बाहूभ्याम्, पूष्णो हस्ताभ्याम्, अग्नये जुष्टं निर्वपामि।

इसमे अग्नये जुष्टं आदि पद को पृथक् करने पर देवस्य त्वा आदि पदसमूह साकांक्ष है। सबको एक साथ लेने पर संपूर्ण पदसमूह का एक ही निर्वाप अर्थ है। अत उपर्युक्त समूह एक वाक्य है।

मीमासा के इस वाक्यलक्षण को व्याकरण दर्शन में स्वीकार करने पर सब तरह से काम नही चल पाता है। उदाहरण के लिए, जैसा कि पुण्यराज ने उल्लेख किया है, 'अय दण्डो हरानेन', 'ओदनं पच तव भविष्यति' जैसे स्थलो मे, जैमिनि के वाक्यलक्षण के अनुसार निघात हो जायगा क्योकि प्रयोजन मे ऐक्य है। किन्तु व्याकरण की दृष्टि से इन स्थलों मे निघात नही होता। कात्यायन के वाक्यलक्षण के अनुसार भी इनमे निघात नही होता। अत जैमिनि के वाक्यलक्षण की अपेक्षा कात्यायन का वाक्यलक्षण इस सीमित दृष्टि से बढकर है।[1] कैयट ने जैमिनि के वाक्यलक्षण को लौकिक वाक्य का लक्षण माना है और कात्यायन के वाक्यलक्षण को शास्त्रीय मानकर उनमे भेद किया है—

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यादिति लौकिक वाक्यलक्षणम्। इह तु वाक्यं पारिभाषितम् आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यमिति।

—महाभाष्यप्रदीप ८। १। १८

लौकिक वाक्य लक्षण

लोक व्यवहार मे अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति वाक्य से होती है। इस तत्त्व का उन्मीलन प्राचीन काल मे हो चुका था। फलत वाक्य के स्वरूप पर भी ऊहापोह सुदूर भूत मे ही आरम्भ हो गये थे। भर्तृहरि ने अपने समय तक प्रसिद्ध प्राय उन सभी वाक्यवादों का निर्देश निम्नलिखित कारिकाओ मे किया है—

आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयव शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः॥
पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥

वाक्यपदीय २।१,२

पुण्यराज के अनुसार इन कारिकाओ मे निम्नलिखित आठ वाक्य विकल्पो का

---

१. तस्मात् वार्तिककारीयमेव वाक्यलक्षणं ज्याय'—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

उल्लेख किया गया है—

१. आख्यात शब्द
२. संघात
३ जाति (सघातवर्तिनी)
४. एक अनवयव शब्द
५. क्रम
६ बुद्ध्यनुसहृति
७ आद्य पद
८. पृथक् साकाक्ष सर्वपद

पुण्यराज के अनुसार सघातवर्तिनीजाति, एक अनवयव शब्द और बुद्ध् यनुसहृति ये तीन वाक्य विकल्प अखण्डपक्ष मे है।

आख्यातशब्द, क्रम, संघात, आद्यपद, और पृथक् साकाक्ष सर्वपद—ये पांच वाक्य विकल्प खण्डपक्ष मे है।

इनमे भी संघात और क्रम ये दो वाक्य विकल्प अभिहितान्वयवाद के अनुसार हैं। और आख्यातशब्द, आद्यपद और पृथक् साकाक्ष सर्वपद अन्विताविधानवाद के आधार पर हैं।

यद्यपि इन आठ वाक्य विकल्पो मे कुछ का सम्बन्ध पुण्यराज ने मीमासा दर्शन से दिखलाया है किन्तु प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल, शालिकनाथ, सुचरितमिश्र, पार्थ-सारथि आदि ने इन आठ वाक्य विकल्पो को वैयाकरण मत के रूप मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे उल्लेख किया है और इन सबका खण्डन किया है। वस्तुत ये वाक्य के आठ विकल्प एकत्र वाक्यपदीय मे ही पाये जाते है। अत वाक्यपदीयकार के बाद के लेखको ने बिना विशेष विचार के इन आठो वाक्यलक्षणो का सम्बन्ध व्याकरणदर्शन से जोड दिया है।

ऐसा जान पडता है इनमे से कुछ वाक्य विकल्पो का सम्बन्ध किसी प्राचीन मीमासा दर्शन से अवश्य था। उपर्युक्त कारिका के न्यायवादिनाम् (न्यायदर्शिनाम्) शब्द से भी यही ध्वनित होता है। प्राचीन तन्त्रो मे न्याय शब्द मीमासा दर्शन के लिए व्यवहृत किया जाता था। इतना निश्चित है कि इन आठ विकल्पो का मूल केवल व्याकरणदर्शन नही है और न महाभाष्य आदि आकर ग्रन्थो मे इन सबका स्रोत दिखाई देता है।

उपर्युक्त वाक्य विकल्पो के अतिरिक्त वाक्य के अखण्ड और सखण्ड पर भी विचार प्रातिशाख्यों के युग मे आरभ हो गया था। वेद के सहिता रूप को मूल मानने वाले अखण्डवादी थे, पद पाठ को अधिक महत्त्व देने वाले सखण्डवादी थे।

ऋक् प्रातिशाख्य मे सहिता को पद-प्रकृति कहा गया है। पद-प्रकृति शब्द के दो तरह से विग्रह सभव हैं—पदाना प्रकृति पदप्रकृति (तत्पुरुष समास) अथवा पदानि प्रकृति यस्याःसा पदप्रकृति. (बहुव्रीहि समास)। पहले पक्ष के अनुसार पदो का मूल (प्रकृति) सहिता है अर्थात् सहिता पहले है। पदों की सत्ता बाद मे। दूसरे

शब्दो में, संहिता नित्य है, अपौरुषेयी है, पद अनित्य हैं, पौरुषेय हैं। दूसरे पक्ष के अनुसार संहिता का मूल (प्रकृति) पद हैं। पदो की सत्ता पहले और संहिता की सत्ता बाद में है। पद नित्य हैं, अपौरुषेय है। सहिता अनित्य है, पौरुषेयी है।

इनके अतिरिक्त भर्तृहरि ने इस सम्बन्ध में दो अन्य मतों का भी उल्लेख किया है। किसी के अनुसार पद और सहिता दोनों ही नित्य हैं। पद समाम्नाय प्रतिपादक रूप मे नित्य हैं और सहिता समाम्नाय प्रतिपाद्य रूप मे नित्य है। पुनः कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि आम्नाय नित्य है और वह एक है। उस एक ही आम्नाय की दो शक्तिया हैं—विभाग शक्ति और अविभाग शक्ति। विभागशक्ति (पद) प्रतिपादक है और अविभाग शक्ति (सहिता) प्रतिपाद्य है—

> **केषांचित्तु नित्यावुभावप्येतौ समाम्नायौ। पदसमाम्नायस्तु प्रतिपादकत्वेन नित्य, इतरस्तु प्रतिपाद्यत्वेन नित्यः। केषांचिन्नित्यस्यैकस्याम्नायस्य द्वे एते विभागाविभागशक्ती प्रतिपादकप्रतिपत्तव्यरूपेण वर्तेते।**
>
> —हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।५८ लाहौर सं०

महाभाष्यकार ने एक स्थल पर कहा है कि पदकारो को लक्षण के अनुसार पद करना चाहिए। लक्षणो को पदकारो का अनुवर्तन नहीं करना चाहिए।[1] इसका तात्पर्य है कि लक्ष्य नित्य है। शास्त्र केवल उसका अनुविधान करता है। शास्त्र स्वयं अनुविधेय नही है। इस दृष्टि से भाष्यकार को भी अखण्ड पक्ष ही अभिप्रेत जान पड़ता है।[2]

आख्यात शब्दवाद

वाक्य के उपर्युक्त आठ विकल्पो मे पहला आख्यात शब्द है। आख्यात शब्द ही वाक्य है। आख्यात शब्द से क्रिया शब्द अभिप्रेत है। वाक्य मे क्रियापद की प्रमुखता के आधार पर क्रियापद को ही वाक्य कहा गया है। भर्तृहरि के अनुसार अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए वाक्य का आश्रय लिया जाता है। वस्तु के अस्तित्व और अनस्तित्व दोनो का स्पष्ट भान वाक्य के प्रयोग से होता है और वाक्य से स्पष्ट प्रतीति तभी होती है जब उसमे क्रिया पद हो। क्रिया पद श्रूयमाण भी हो सकता है और अनुमेय भी। दोनो रूप मे वाक्यार्थ के स्पष्ट आभास के लिए क्रिया की सत्ता अनिवार्य है।[3]

भर्तृहरि के अनुसार एकत्व और नित्यत्व के पक्षपाती आचार्य विशिष्ट क्रिया को ही वाक्य का प्रतिपाद्य मानते हैं। एक शब्द है, वह क्रिया है। एक ही अर्थ है,

---

१. न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैः नाम लक्षणमनुवर्त्यम्—

—महाभाष्य ३।१।१०९, भाग २ पृ० ९५ कीलहार्न सं०

२. यतश्च पदान्यसत्यानि तत्र प्रतिभासन्ते ततः एवमभिहितमिति भाष्यकारस्याप्यखण्डपक्षोऽभिप्रेत इति दर्शितम्—

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।५९

३. तस्मात् श्रूयमाणक्रियापदम् अनुमीयमानक्रियापदं वा वाक्यमेव सर्वव्यवहारेषूपपद्यत इति।

—वाक्यपदीय २।४३० हरिवृत्ति, हस्तलेख

वह क्रिया है। अपोद्धार पद्धति से, व्यवहार के लिए, एक का ही अनेक में विभाग किया जाता है। क्रियापद काल, कारक, पुरुष, उपग्रह आदि से यथावसर अनुगत रहता है और उसका अर्थ एक होता है, उसमे विशेषणविशेष्यभाव परिकल्पित होते हैं—

> एकत्वमित्यत्वचाविनस्तु मन्यन्ते विशिष्टा हि क्रिया यथासंभव कालसाधनद्रव्यपुरुषोपग्रहादिभिः अनुगता वाक्येनाभिधीयते। स चैकः शब्दो व्यवहाराय प्रविभक्तोद्देश सर्वविशेषणविशिष्टः परिकल्पितविशेषणविशेष्यमेवैकस्मिन्नर्थे वर्तते। तस्य शक्तिरपोद्धृत्य व्यावहारिको विभागोऽनुगम्यते।
>
> —वाक्यपदीय, २।४४७-४८, हरिवृत्ति, हस्तलेख

कुछ क्रियाएँ नियत साधन वाली होती है। उनके प्रयोग से उनके अनुकूल कर्ता कर्म आदि का भान आप से आप हो जाता है। जैसे—"वर्षति" क्रिया है। वर्षति क्रिया के प्रयोग से "देवः जल वर्षति" इस रूप मे कर्ता और कर्म का अध्याहार स्वत हो जाता है। यहा केवल आख्यात पद वाक्य का काम कर रहा है। आख्यातपद—वाक्यवाद का यह भी एक पक्ष है।

जिस तरह से एक क्रियापद सपूर्ण वाक्य है उसी तरह से कुछ विशेष पद भी अकेले वाक्य माने जाते है किन्तु ऐसे स्थलों में क्रिया चरित (गर्भीभूत, छिपी) मानी जाती है।[1]

क्रिया के अनुषंग के बिना पदार्थ के भी अस्तित्व का ज्ञान नही होता। व्यवहार मे क्रियापद के उपसंहार से ही यथार्थ का बोध होता है।[2]

यद्यपि जैसे नाम पद साकाक्ष होते हैं वैसे क्रिया पद भी साकाक्ष होते है। बिना कारक के क्रिया की आकाक्षा नही मिटती। फिर भी क्रिया साध्य के रूप मे प्रधान मानी जाती है। वाक्य से उपसगृहीत अर्थ के लिए पहले क्रिया का विभाग किया जाता है, पश्चात् कारको का किया जाता है। इसलिए क्रिया प्रधान और कारक अंगभूत माने जाते हैं।[3]

आख्यात शब्द के मुख्य होने से वह वाक्य है। साथ ही वह विशिष्ट शब्द है, वह अन्य कारक पदो से भिन्न होता हुआ भी उनकी शक्तियो से युक्त है। वह उन पदो के अर्थों का स्वत आक्षेप कर सकता है। फलतः सपूर्ण वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति

---

१. वाक्य तदपि मन्यते यत्पद चरितक्रियम्।
अन्तरेण क्रियाशब्दं वाक्यादेव हि दर्शनात्॥

वाक्यपदीय २।३२६

इस श्लोक का द्वितीय चरण प्रकाशित वाक्यपदीय में नही है किन्तु हस्तलेख में मिलता है और कुछ असमंजस है।

२. क्रियापदोपसहारे तु सत्यासत्यभावेन प्रतिपत्तृणु व्यवहारोऽवतिष्ठते।

—वाक्यदीय २।४३१ हरिवृत्ति हस्तलेख

३. विभागेन सर्वेषां साकांक्षत्वमुपलभ्यते। साध्यस्त्वर्थात्मा स्वफलप्रयुक्तः प्रधानात् सर्वस्य वाक्योपसंग्रहस्यार्थस्य पूर्वं प्रविभज्यते। तेन तु प्रविभक्ते साधनप्रलन्य.वाद्दात्मलाभस्य सामर्थ्याक्षिप्तानि साधनानि प्रतीयन्ते।

—वाक्यपदीय २।४३४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

में समर्थ है। इसलिए वही वाक्य है। इस मत में वाक्य में आख्यात शब्द के अतिरिक्त अन्य कारक पदों की सत्ता केवल नियम अथवा अनुवाद के लिए होती है। सामान्य के आक्षेप मे विशेष पद का उपादान नियम कहलाता है। जैसे 'पातु वः परमज्योति' इस वाक्य में सामान्य के आक्षेप में विशेष का प्रयोग किया गया है। विशेष के आक्षेप मे सामान्य का उपादान अनुवाद कहलाता है। 'वर्षति' क्रिया से देव का जलवर्षण अर्थ स्वतः आभासित हो जाता है। यदि 'देवः जल वर्षति' कहा जाय तो देव और जल शब्द केवल अनुवाद का काम कर रहे हैं।

आख्यातवाद के विश्लेषण मे भर्तृहरि ने संभवतः 'नियमाय अनुवादाय वा''' इस वाक्यांश का प्रयोग किया था। इसमे प्रयुक्त वा शब्द के दो अर्थ किए जाते है— समुच्चय और विकल्प। समुच्चय अर्थ मानने वालो के मत मे, आख्यातवाद पक्ष में कारक पद नियम और अनुवाद दोनों का काम करते हैं। नाम पद मे अन्वयव्यतिरेक के आधार पर प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना की जाती है। इनमे प्रकृति अंश प्रातिपदिक रूप है। प्रातिपदिक शक्ति कारक का प्रतिरूप है। आख्यातशब्दवाक्यवाद के अनुसार क्रिया से ही कारक पदो का अर्थ झलक आता है किन्तु यह सामान्य रूप में होता है विशेष रूप मे नही। प्रयुक्त कारक पदों का प्रकृति अंश सामान्य मे व्यवस्थित का विशेष मे विधान करता है। इस तरह पद का प्रकृति अंश नियामक हो जाता है। कारक पद मे प्रकृति अंश के अतिरिक्त विभक्ति अंश है। विभक्तियां उपात्त शक्ति का ही, जो अर्थ दूसरे उपाय से व्यक्त हो गया है, उसी का ही प्रतिपादन करती हैं। इस रूप मे कारक पद प्रकृत्यंश द्वारा नियामक और प्रत्ययांश द्वारा अनुवादक भी हैं। फलतः नियम और अनुवाद दोनो साथ साथ काम कर रहे हैं।

जो लोग 'वा' का अर्थ यहाँ विकल्प मानते हैं उनके मत मे कारक पद या तो नियामक होते है या अनुवादक। आख्यात पद से व्यवहार योग्य शक्ति का अभिधान होता है, शक्ति के आधार विशेष का नही। इसलिए उसके नियम के लिए नामपदो का वाक्य मे व्यवहार किया जाता है। जैसे 'आश्रयति' क्रिया पद से किसी के आश्रय रूप मे कर्म शक्ति का अवबोध हो जाता है किन्तु आश्रयविशेष मे उसे नियत करने लिए 'माणवकम्' जैसे पद जोड़ दिए जाते है। केवल आश्रय क्रिया से आश्रय सामान्य का अधिकरणत्व अथवा कर्मत्व झलकता है. 'माणवकं आश्रयति' इस वाक्य से माणवक विशेष सामने आ जाता है और सामान्य अर्थ छूट जाता है। अतः पूरा नाम पद नियामक का काम कर रहा है। अथवा 'वर्षति' क्रिया पद से जल बरसने का बोध होता है, 'देव जल वर्षति' इस वाक्य का भी वही अर्थ है। अतः देव और जल शब्द व्यक्त अर्थ का ही पुनः विधान करते हैं, अतः अनुवादक है। इस तरह कारक पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादक।

आख्यात पक्ष का आधार कात्यायन का 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्' यह वार्तिक ही जान पड़ता है। यद्यपि संस्कृतव्याकरणसम्प्रदाय मे ऐसा प्रसिद्ध नही है। कात्यायन ने आख्यात को ही वाक्य माना था परन्तु आख्यात के विशेषण के रूप मे अव्यय और कारक को भी स्वीकार किया था। व्याख्याकारो ने सका-

रक विशेषण और सक्रियाविशेषण को भी बीच में ले लिया था। बाद में 'आख्यातं सविशेषणं' यही वाक्य का रूप निष्कर्ष रूप मे सामने लाया गया था। जिस आचार्य ने 'आख्यातं' अथवा 'आख्यातशब्द.' को वाक्य के रूप मे स्वीकार किया उसने सविशेषण पद को भी उडा दिया। क्योंकि 'सविशेषण' पद के बिना भी आख्यात के सम्बन्ध से अव्यय कारक आदि विशेषको का अध्याहार स्वभावत· ही हो जायगा। और जहा विशेषण नही है, वहाँ उसकी आवश्यकता भी नही है, केवल आख्यात पद भी वाक्य माना जायगा।

संघातवाद

संघातपक्ष वाले आचार्यों के अनुसार एक अर्थपरक पद समुदाय वाक्य है।

पदसंघातजं वाक्यम्

वर्णसंघातजं पदम्

यह एक प्राचीन उक्ति है। भर्तृहरि ने इसे उद्धृत किया है। वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभ के अनुसार यह उक्ति सग्रहकार की है।[1] शौनक के बृहद्देवता मे भी मिलती है।[2] पदसघातवाला पक्ष शबरस्वामी की मान्यता के भी अनुरूप है। इस मत के अनुसार सभी पद एक मे मिलकर एकत्र अर्थ की अभिव्यक्ति करते है। एकार्थपरक पदसमूह ही वाक्य है। जिस तरह तीनों ग्रावा मिलकर उखा को धारण करते हैं, जैसे चारो कहार मिलकर पालकी ढोते हैं, जैसे सभी साधन एक साथ पाक क्रिया मे सहायक होते हैं, उसी तरह सभी पद मिलकर वाक्यार्थ व्यक्त करते है—**तत्र यथा त्रयोऽपि ग्रावाण उखां धारयन्ति, चत्वारोऽप्युद्धन्तारः शिबिकाम् उद्वच्छन्ति, सर्वाण्यपि कारकाणि पाकं साधयन्ति तथा पदान्यपि सर्वाणि वाक्यार्थमन्ववगमयन्ति।**

—शृंगारप्रकाश, पृ० २७७

सघातवाले मत मे पद की स्वतन्त्रता और अस्वतन्त्रता के रूप मे दो तरह के विवाद थे जो आगे चलकर मीमासा दर्शन मे अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद से प्रसिद्ध हुए। किन्तु ये विचार कुमारिल और प्रभाकर से बहुत पहले भर्तृहरि के समय मे भी सामने आ चुके थे। सघार्थ परार्थ होता है, इस न्याय के अनुसार पद वाक्य के लिए ही हैं, उनका पृथक् कोई व्यक्तित्व नही है। 'समुदाय समुदायी से भिन्न होता है' इस आधार पर पद पदसघात (वाक्य) से भिन्न है। समुदाय और समुदायी मे अभिन्नता के आधार पर पद वाक्य से अभिन्न भी है।

सघातवाद के अनुसार केवल वृक्ष शब्द वृक्षत्व जाति का सकेतक है। वृक्षः अस्ति, वृक्ष नास्ति, वृक्ष छिन्न जैसे वाक्यो मे भी वृक्ष शब्द केवल जाति का प्रत्यायक है। भाव (वृक्ष की सत्ता), अभाव, छेदन आदि को वह नही व्यक्त करता है और न

१. वाक्यपदीय २।२३, सग्रहोक्तिमाह (लाहौर संस्करण)

२. बृहद्देवता २।११७

भाव, अभाव, छेदन आदि का जाति के साथ सम्बन्ध है। किसी अन्य आधार पर प्रतिष्ठित वस्तु किसी अन्य का प्रत्यायक नहीं होती। वीरः पुरुषः जैसे वाक्यों में एक पद का दूसरे पद के साथ सामानाधिकरण्य होने से विशेषण विशेष्यभाव रूप मे अर्थ का आधिक्य प्रतीत होता है। यह आधिक्य वाक्यार्थ है। भाव यह है कि वीर शब्द से प्रथमा विभक्ति जब होती है स्वार्थमात्र से होती है, उस समय दूसरे शब्द के ससर्ग की या विशेषण-विशेष्य भाव की अपेक्षा नही होती। इसी तरह पुरुष शब्द से भी प्रथमा विभक्ति निरपेक्ष रूप मे होती है। बाद मे आकांक्षा आदि के आधार पर विशेषण-विशेष्य भाव सामने आता है। बाद मे भासित होने के कारण यह बहिरग माना जाता है। बहिरंग अन्तरंगशब्दसस्कार मे बाधक नही हो सकता। भाष्यकार ने इसे स्पष्ट किया है कि वाक्य मे पदार्थ सम्बन्ध की उपलब्धि होती है। 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य मे यदि केवल देवदत्त मात्र कहा जाय तो कर्ता का निर्देश होगा, कर्म, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रह जाएगे। यदि गाम् मात्र का उच्चारण किया जाय, कर्म निर्दिष्ट होगा किन्तु कर्ता, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रह जाएँगे। अभ्याज मात्र कहने से क्रिया का बोध होगा शेष अनिर्दिष्ट रह जाएँगे। किन्तु यदि 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इस पूरे वाक्य का उच्चारण किया जाय तो इसका अभिप्राय होगा कि देवदत्त ही कर्ता है, दूसरा नही। गौ ही कर्म है, अन्य नही। अभ्याज ही क्रिया है, दूसरा नही। शुक्ल रगवाली को ही, काली को नही। ये पद पहले सामान्य अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, बाद मे जिस विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वह वाक्यार्थ है—

एषां पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थः ।

—महाभाष्य १।२।४५, भाग १, पृ० २१८ कीलहार्न सस्करण

कैयट के अनुसार इसका अभिप्राय है कि पदार्थ ही आकाक्षा आदि के सहारे ससृष्ट रूप मे वाक्यार्थ है। कैयट यह भी मानते हैं कि ध्वनि-व्यग्य नित्य वाक्य पदार्थससर्गरूप विशिष्ट अर्थ का वाचक है। यदि ऐसा नही माना जाय तो वाक्यार्थ अशाब्द होगा—

पदार्था एव त्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् परस्परसंसृष्टा वाक्यार्थ इत्यर्थः। ···ध्वनिव्यंग्यं नित्यं वाक्यं विशिष्टस्यार्थस्य पदार्थससर्गरूपस्य वाचकम्। अन्यथा ह्यशाब्दो वाक्यार्थः स्यात् ॥[1]

—कैयट, प्रदीप १।२।४५

१. नागेश ने अशाब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि शब्द प्रयोज्यत्व के रूप में शाब्दत्व नहीं माना जा सकता। अन्यथा प्रत्यक्ष देखे हुए धूम के आधार पर बोध्य वह्निका भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। साथ ही सुने हुए धूम शब्द से उपस्थित धूमार्थबोध्य वह्नि को भी शाब्दत्वापत्ति होने लगेगी। यदि शब्दत्व से अभिप्राय पदसमभिव्याहाररूप आकांक्षा और उसके कारणत्व ज्ञानं शाब्दबोध में कारण है इससे है, पदों की पदार्थों में भी शक्ति सिद्ध नहीं होगी। अतएव 'अशाब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्'(वाक्यपदीय २।१६) ऐसा (भर्तृहरि ने)कहा है। यदि एसा माना जाय कि असम्बन्ध में बोधजनकता नही मानी जा सकती इसलिए पदार्थों के

महाभाष्य के उपर्युक्त आधार पर संघातवादियों ने पद का पहले सामान्य में पश्चात् विशेष मे वृत्ति माना है। अकेले पद जिस अर्थ का बोधक है, वाक्य में भी उसी अर्थ को जताता है। पुन. समुदाय में पदो के परस्पर अन्वय होने पर जो आधिक्य (ससर्ग रूप) भासित होता है वह वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ की अनेकपदसंश्रयता संघात का प्रतीक है। संघात पक्ष मे भी तीन विकल्प भर्तृहरि ने दिखाए हैं। एक मत में वाक्यार्थ की जाति की तरह प्रत्येक में परिसमाप्ति है। जाति अनेकाश्रित होते हुए भी प्रति आश्रय मे पूर्ण रूप से रहती है। ब्राह्मणत्व जाति जैसे अनेक में वैसे ब्राह्मण समुदाय के एक अग एक ब्राह्मण मे भी अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ रहती है। उसी तरह वाक्यार्थ भी अनेक पदाश्रित होते हुए भी एक पदाश्रित भी है। उसमे एक पदाश्रित होने के कारण आवृत्ति न्यूनता नहीं आती और न वह खण्डित होता है। दूसरे मत के अनुसार, सघात पक्ष मे, वाक्यार्थ की समुदाय परिसमाप्ति मानी जाती है। जैसे बीस सख्या की पूर्णता बीस समुदाय मे है, प्रत्येक अंक मे नही। किन्तु संख्या के प्रत्यायन मे प्रत्येक अंक निमित है। उसी तरह वाक्य का समुदाय परिसमाप्ति होती है किन्तु वाक्यार्थ प्रत्येक पद से प्रत्याय्य है। तीसरे मत के अनुसार शब्दव्यापार सामान्य अभिधानपूर्वक विशेषाभिधान करता है। स्वार्थ मात्र व्यक्त करने वाले सभी भेदों मे सामानाधिकारण्यमयी योग्यता होती है, वही सामान्य है तथा, अन्यथा अथवा सर्वथा रूप मे सामान्य की कोई नियत अवस्था नही है। जो कुछ है वह विशेष ही है। उस सामान्यावस्था मे किसी भेद के अनिरूपण से और अत्याग से अर्थ की, सर्वभेद को सग्रहीत करने वाली योग्यता के द्वारा सर्वस्पर्शमयी कल्पना की जाती है, उस अर्थकल्पना को सम्बन्ध विषयान्तर से हटाकर विशेष विषय मे नियमित करता है। इस तरह से अर्थ की योग्यता मात्र के अवच्छेद करने से अध्यारोपनियम नही होता, अर्थरूप मे अनुपादान योग्यता भी नही होती और न वह अर्थरूप से भिन्न ही होती है।[1] पुण्यराज के अनुसार तीसरा मत अन्विताभिधानवाद के समीप है जो पदार्थ को ही वाक्यार्थ मानता है। उनके अनुसार यहाँ पहले दो मतो से तीसरे मत का भेद इस रूप मे है कि पूर्व मत मे पदो का वाक्य मे भी वही अर्थ होता है जो उनका अकेले (केवल) मे होता है और ससर्ग संघात वाच्य होता है। तीसरे मत के अनुसार पद का अर्थ सामान्य रूप है जो विशेष के सम्पर्क से विशेष रूप मे जान पडता है—

साथ पदों के शक्तिरूपसम्बन्ध की कल्पना कर ली जाती है, समभिव्याहार में संसर्गबोध-कारणता का भी इसम्बन्ध में कहना संभव नहीं है। अतः वाक्य में तादात्म्य सम्बन्ध मानना चाहिए।

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।४५

• नागेश ने भाष्यकार के वाक्यार्थ शब्द को भी शब्द के अर्थ में लिया है—वाक्यार्थः वाक्यशक्तयः। विषयतानामपि शक्यत्वं मजूषायामुपादिताम्—महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।४६ द्रष्टव्य मंजूषा पृ० ४१८

१. वाक्यपदीय २।४३-४५ हरिवृत्ति पृ० ३०

पूर्वत्र पदानां वाक्ये तावानेवार्थो यावानेव केवलानाम् संसर्गस्तु संघातवाच्यः। इह तु तथाभूत एव सामान्यरूपः पदस्यार्थः यस्तत् तत् विशेषसन्निधौ तत् तद् विशेषविश्रान्तः।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४५

संघातपक्ष मे, सम्बन्ध रूप मे जो वाक्यार्थ अवगत होता है उस सम्बन्ध का कोई नियत रूप नही है। वह अनुमेय है। असत्त्वभूत है। उसे 'यह ऐसा है' आदि शब्दों द्वारा नही व्यक्त किया जा सकता। वह विशेष शब्द के संनिधि से विशेष हो जाता है और सभी ज्ञानों मे विशिष्ट रूप से आभासित होता है। साधन और साध्य भी परस्पर नियत हैं। केवल आकाक्षा आदि के सहारे अन्य पदार्थ के सन्निधान से नियम के रूप मे व्यक्त होता है। भाव यह है कि वाक्यार्थ क्रियाकारकससर्ग रूप है। क्रिया सम्बन्ध के बिना कारक की उपपत्ति नही होती। केवल विशेष मे सम्बन्ध मानने से आनन्त्य आदि दोष आ जाते हैं। इसलिए क्रिया सामान्य-अन्वित ही होती है। कारक पदो का सम्बन्धग्रहण कारक मे होता है और सम्बन्धग्रहण के अनुमार अभिधान होता है। सामान्य मे अन्विताभिधान घटित होता है क्योकि व्यवहार काल मे क्रिया-विशेष से अन्वित रूप मे ही कारको की उपलब्धि होती है। क्रिया की भी प्रतीति विशेष-कारक से अन्वित रूप मे होती है।

संघातवाद की समीक्षा

यद्यपि पुण्यराज ने सघात पक्ष को अभिहितान्वयवाद के अनुकूल माना है किन्तु कुमारिल भट्ट ने स्वयं संघातवाद की समीक्षा की है और उनके अनुयायी सुचरित मिश्र और पार्थसारथि मिश्र आदि ने उनका अनुमोदन किया है। कुमारिल के अनुसार पदसंघात को वाक्य इसलिए नही माना जा सकता कि पदो मे परस्पर अनुग्रह नही है—

एवमाद्यन्त सर्वेषां पृथक् संघातकल्पने।
अन्योन्यानुग्रहाभावात् पदानां नास्ति वाक्यता॥[1]

—श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण, ४९

भर्तृहरि ने भी सघातवाद की आलोचना की है। 'यदि पद पहले सामान्य अर्थ व्यक्त करते हैं, बाद मे विशेष की अभिव्यक्ति करते है' इस नियम को माना जाय तो सामान्य के तिरोहित हो जाने पर विशेष की प्रतिष्ठा नही हो सकती। 'देवदत्त गाम् अभ्याज' इस वाक्य मे देवदत्त शब्द के उच्चारण करते ही सामान्य अर्थ सम्बद्ध देवदत्त की अभिव्यक्ति होगी और उसके विलीन हो जाते ही विशेष अर्थ की उपलब्धि न हो सकेगी। जो शब्द अपने आविर्भाव काल मे विशिष्ट अर्थ न व्यक्त

१. इस पर सुचरित मिश्र की टिप्पणी है—पदानां पृथक्भूताना संघातवर्तिनां वा न वाक्यत्वम्। पृथक् भूतेषु हि तावद् वाक्यबुद्धिरेव नोत्पद्यते। संघातकल्पनेऽपि न पृथक् संघो विशेषः तदानीमप्यन्यन्योन्यानुग्रहस्य तेष्वनवगमात्। असति चाग्रहे वाक्यत्वे कल्पनामात्रम्। एकैकस्यापि तत् प्रसगात्। श्लोकवार्तिक काशिका ७।४९ हस्तलेख

कर सका, केवल सामान्य अर्थ बता सका, वह तिरोहित होकर पुनः विशेष अर्थ नहीं बता सकेगा। सामान्य और विशेष अर्थ की विवक्षा एक साथ ही संभव नहीं है। विशेष की विवक्षा में सामान्य से उसका पृथक्करण होता है। किन्तु यदि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है, उपात्त का त्याग नहीं किया जा सकता। सकलपदार्थसाधारण सामान्य अर्थ की पूर्व कल्पना कर शब्दान्तर-सन्निधान में उसका परित्याग कहा तक उचित है। यदि उपात्त का परित्याग स्वीकार किया जाय, शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध खटाई में पड जाय, जो अभिप्रेत नहीं है। अभिधानक्रियायोग के अभाव में शब्द अर्थ से निवृत्त होकर अपना स्वरूप ही खो बैठेगा, फलतः अविषय हो जायगा। उसके लिए कोई स्थान न रह जायगा। तात्पर्य यह है कि स्वार्थ से निवृत्त शब्द का, शब्दान्तर के सपर्क में भी शब्दान्तरबोध्य अर्थ से उसका वाचकत्व सम्बन्ध न होने के कारण, कोई अवकाश नहीं रह जाता है।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वाक्यार्थ अशब्द है, शब्द अपने स्वरूप की प्रतिपत्ति मात्र कराकर तिरोहित हो जाता है, किन्तु बुद्धि में एक सस्कार बना जाता है जब वाक्यस्थ सभी पद पदार्थमात्र द्योतित कर निवृत्त हो जाते है, एक प्रकार का असत्वभूत सम्बन्ध उदित होता है जो सामान्य रूपों का भेदक है साथ ही सस्कारसपन्न बुद्धि का बुद्ध्यन्तर से योग करा देता है। वह प्रक्रिया कुछ वैसे ही है जैसे एक व्यक्ति का शोक या हर्ष दूसरे व्यक्ति में सक्रमण कर जाता है।

इसके प्रत्युत्तर में भर्तृहरि की मान्यता है कि यदि वाक्यार्थ को अशब्द माना जायगा, पदार्थ को भी अशब्द मानना पड़ेगा। फलत शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी बिगड जायगा। क्योंकि अनर्थक वर्ण भी उच्चरित प्रध्वस होते-होते बुद्धि में सस्कार बना जायगे और हर्ष, शोक की तरह बुद्ध्यन्तर में सक्रमित होकर अर्थ की अभिव्यक्ति कर सकेंगे। इस तरह शब्द और अर्थ में सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं रह जायगी। वस्तुतः शब्द अर्थ का सम्बन्ध ज्ञान-ज्ञेय सबध सदृश है। ज्ञान का स्वरूप ज्ञेय में विनिविष्ट है फिर भी ज्ञान का ज्ञेय अर्थ के साथ सबध किसी अपर सबध के आधार पर मान लिया जाता है। द्रव्य गुण कर्म भी अपने प्रयोजक निमित्त से सम्बद्ध माने जाते है। इसी तरह शब्द भी एक योग्यता नामक सबध के द्वारा अर्थ से सबद्ध है। शब्द में अभिधेय तत्त्व सन्निहित है। शब्द और अर्थ में भेद मानने पर भी सबध द्वारा दोनो में सबध है। 'शब्द' ही अर्थ रूप में परिणत हो जाता है इस दर्शन के आधार पर तो उनका सबध और समीप हो जाता है। यदि अशब्द पदार्थ माना जायगा तो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध विचार का कोई प्रयोजन नहीं रह जायगा (जो उचित नहीं है)।[1]

---

१. सामान्यार्थं तिरोभूतो न विशेषेऽवतिष्ठते।
उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्तः क्वावतिष्ठताम्॥
अशब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्।
एवं सति च सम्बन्धः शब्दस्यार्थेन हीयते॥

—वाक्यपदीय २।१५, १६

पद पहले सामान्य मे व्यवस्थित होकर पश्चात् विशेष का अभिधान करते हैं इस मत मे पहले घटित पदार्थ का उत्तर पदार्थ के प्रादुर्भाव होने पर परस्पर विरोध हो सकता है अथवा सहभाव हो सकता है। सहभाव पक्ष मे भेद और संसर्ग, विशिष्ट और अविशिष्ट का विरोध उपस्थित हो जाता है। सामान्य रूप के हट जाने पर ही विशेष रूप अपना स्वरूप ग्रहण करता है। वह कैसे एक साथ रह सकता है और कैसे अपने अर्थ को व्यक्त कर सकता है। अर्थ की अनभिव्यक्त दशा मे वह विशेष ही नही कहला पाएगा। यदि पूर्व उपात्त अर्थ को बाद मे छोड देना स्वीकार किया जाय तो सम्बन्ध की नित्यता खण्डित होती है।[1] फलत प्रत्येक परिसमाप्ति पक्ष मे सत्यभूत पद-पदार्थ सभव नही है।

समुदायपरिसमाप्तिपक्ष के समर्थक कह सकते हैं कि जैसे संयोग सज्ञा दो-दो मे होती है और समुदाय मे भी रहती है वैसे ही अर्थ एक मे, दो मे, समुदाय मे भी व्यवस्थित रहता है। वह सन्निधान से व्यक्त होता है।[2]

मल्लवादि ने भर्तृहरि की समीक्षा की उपेक्षा की है। उनके मत मे 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य मे सामान्य या विशेष रूप अर्थ, एकत्व, अन्यत्व, उभयत्व आदि रूप मे रहने के कारण अनिर्वचनीय है। इसलिए वाक्यपदीयकार का यह कथन उपयुक्त नही है कि सामान्य के तिरोहित हो जाने पर विशेष उद्बुद्ध नही होगा।[3]

जो पद पृथक् अस्तित्व रखते है वे ही वाक्य मे भी दिखाई देते है, जो वर्ण अलग-अलग हैं वे ही समुदित रूप मे पद है। वर्ण से अतिरिक्त पद या वाक्य की कोई स्वतन्त्र आत्मा नही है। इस तरह के तर्क करने वालो के पक्ष मे भर्तृहरि नही जान पडते। इस तरह के तर्क के आधार पर वर्ण के भागो मे भी परमाणु सदृश भेद होने लगेगे। इस तरह क्रम वाले और अयुगपत् उच्चरित होने वाले वर्णभागो से न तो किसी वर्ण की सत्ता सिद्ध हो सकेगी और न किसी पद की। शब्द सर्वथा

---

१. केचित् मन्यन्ते, सामान्येन व्यवस्थितानि पदानि सन्निधीयमानानि यतो विशेषं जनयन्ति सतेषु प्रत्येकं परिसमाप्यते। तस्मात् पदार्थकल्पनया नवो वाक्यार्थो व्यवतिष्ठत इत्यस्मिन् दर्शने इदमुच्यते—योऽसौ पूर्वं निमित्तभूतः पदार्थः, उत्तरपदार्थप्रादुर्भावे विरोधिन्युपजन्यमाने सति निवर्तेत वा सह वा तेन व्यवतिष्ठेत।

सामान्यरूपनिवृत्त्यैव हि विशेष आत्मान प्रतिलभते। स कथं तेन सहावतिष्ठमानं स्वमर्थक्रिया प्रतिपद्येत। तदप्रतिपत्तौ च विशेष एव न स्यात्। अथ तु पूर्वमुपात्तार्थः पश्चात्यजति, नित्यत्वं सम्बन्धस्य हीयते॥

—वाक्यपदीय २।३९९,४०० हरिवृत्ति, हस्तलेख

२. एकः साधारणो वाच्यः प्रतिशब्द उपस्थितः
सर्वे संविधु चार्थात्मा सन्निधाननिदर्शकः॥

—वाक्यपदीय २।४०१

३. पदसंघातो वाक्यम्। 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इति प्रत्येकवृत्तिसामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकार्थत्वादवक्तव्यः तदर्थ इति दिक्। एवं च कृत्वा यदुक्तं सामान्यार्थस्तिरोभूतो (वाक्यपदीय २।१५) इति तदपि अयुक्तमेव। द्वादशारनयचक्र पृ० १०३६

अव्यपदेश्य हो जायगा ।[1]

किन्तु भर्तृहरि ने संघात पक्ष के समर्थन में भी कहा है कि जिस तरह सावयव वर्ण स्वयं निरर्थक होते हुए भी समुदित रूप में सार्थक हो जाते हैं वैसे ही पद भी समुदित रूप में वाक्य बन जाते हैं, सार्थक हो जाते हैं—

यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित् ।
अर्थवन्तः समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते ।।

—वाक्यपदीय २।५४

संघातवर्तिनी जाति

कुछ आचार्य शब्दजाति को ही वाक्य मानते हैं। शब्दाकृतिवाद के पक्ष मे जो तर्क दिए जाते हैं वे ही जाति वाक्यवाद मे भी उपस्थित किए जाते है। इस मत में सम्पूर्ण वाक्य एक शब्द है और वह शब्द जातिनिबन्धन है। शब्दाकृति वाक्यवाद की उपपत्ति भ्रमणत्व जाति के आधार पर की जाती है। भ्रमण आक्षेपविशेषजनित होता है। उसमें कम्पन, रेचन, उत्क्षेपण आदि भेद हो सकते है किन्तु भ्रमणत्व जाति एक ही है। भ्रमणत्व में उन भेदो का ग्रहण नहीं होता। यदि भ्रमण की आवृत्ति की जाय तो प्रत्येक आवृत्ति मे भ्रमणादि क्रिया द्वारा भ्रमणत्व जाति अभिव्यक्त होती है। वर्ण, पद, वाक्य भी ध्वनियों से व्यंजित होते हैं। इनमे भेद तुल्य और अतुल्य ध्वनि उपव्यंजन है। वर्ण अपचित ध्वनिव्यंग्य है। उसके सदृश दूसरी ध्वनियो से निरवयव पद व्यजित होता है। उसी तरह तुल्य अतुल्य प्रचिततम ध्वनियो से वाक्य व्यजित होता है।[2]

पुण्यराज ने शब्दाकृति वाक्यवाद को जातिस्फोट माना है।[3]

'देवदत्त गाम् अभ्याज' इस वाक्य में देवदत्त आदि वर्ण से भिन्न अनेक आधारवाली किन्तु एक जाति है। वह विभिन्न वर्णध्वनियों से अभिव्यक्त होती है। नित्य है। निरवयव है। वही वाक्य है।

निरवयव वाक्यवाद

वाक्य एक है, निरवयव है। वाक्य मे अवयव की कल्पना बाद मे की जाती है। मूल

---

१. वाक्यपदीय २।२८, २९। पुण्यराज के अनुसार इन श्लोकों में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों की आलोचना की गई है।—'द्वयोरपिपक्षयो. दूषणं' पदानि वाक्ये तान्येव इत्यादि श्लोकद्वयेनाभिधास्यति।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१८

२. शब्दजातेरेव वाक्य वे भ्रमणत्वादयो दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ताः। "अपचितध्वनिव्यंग्यस्तावदेको वर्णः। तस्याभिव्यक्तिनिमित्तैः सदृशैरन्यैश्च श्रुतिभिन्नैरेकं निरवयवं च पदं व्यज्यते। तथैव तुल्यातुल्यैः प्रचिततमैः वाक्यमिति।

—वाक्यपदीय २।२१ हरिवृत्ति

३. येन भिन्नप्रयत्नोदीरितध्वन्यभिव्यक्तोऽयं जातिस्फोटो विलक्षण एवेति बोद्धव्यम्। वाक्यपदीय २।२१

रूप में वाक्य एक अविच्छिन्न, अपने आप में पूर्ण वस्तु है। वाक्य के निरवयव रूप को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणो ने चित्रबुद्धि, पानकरस, मयूराण्डरस आदि का सहारा लिया है। चित्र एक है। अनश है। चित्र को हम सर्वप्रथम उसकी समग्रता में ही देखते हैं, वह अपने पूर्णरूप मे हमारे सामने रहता है। बाद में चित्र के भिन्न-भिन्न भाग मे दृष्टि जाती है और उसे समझने अथवा समझाने के लिए उसके भिन्न-भिन्न अवयवो और रंगो आदि पर हम विचार करने लगते हैं। इसी तरह से वाक्य भी अपने आप मे पूर्ण है। निराकाक्ष है। अवयवरहित है। उसे समझने के लिए हम उसे शब्दो मे बाँटते हैं, तोडते हैं, शब्दो का एक-दूसरे से सम्बन्ध जोडकर हम वाक्य का विश्लेषण करते हैं और इस तरह उसके भाग प्रस्तुत करते हैं। किन्तु मूलरूप मे वाक्य मे भाग नही है। वह निर्भाग है।[1]

पानकरस-षाडव-शर्बत मे अपने आप मे विलक्षण रस है। निरंश है। किन्तु उसके विश्लेषण करते समय मधुर, तिक्त, अम्ल, कटु, कषाय आदि रसो अथवा औषधियो को सामने लाया जा सकता है। इसी तरह वाक्य अभिन्न है। किन्तु वर्ण, पद आदि के रूप मे उसे विभक्त दिखाया जा सकता है।[2]

जिस तरह मयूर के अण्डे मे—उसके रस मे भावी मयूर के अंग, प्रत्यंग, चन्द्रक आदि अविभक्त रूप मे पडे रहते हैं, बाद मे विभक्त होकर अलग-अलग अवयव के रूप मे प्रत्यक्ष होते हैं, उसी तरह वाक्य मे पद आदि अविभक्त रूप मे होते हैं। उनकी अलग-अलग सत्ता अन्वाख्यान के सहारे सामने आती है।

अथवा जिस तरह पद के सम्यक् ज्ञान के लिए हम उसे प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त करते हैं। किन्तु प्रकृति-प्रत्यय काल्पनिक हैं, वास्तविक नही। उसी तरह वाक्य को समझाने के लिए हम अपोद्धार पद्धति से उसे पदो मे विभक्त करते हैं, किन्तु पद भी प्रकृति-प्रत्यय की तरह कल्पित अथवा असत्य हैं। वास्तविक नही। वास्तविक केवल वाक्य है। ऋषभ, वृषभ, उदक, यावक शब्दो मे कुछ ध्वनिया समान हैं किन्तु अर्थ की दृष्टि से निरर्थक है। केवल दूसरो को समझाने के लिए अन्वय-व्यतिरेक दिखाने के लिए उनकी सत्ता मान ली जाती है। सब तरह के विभाग, प्रक्रियाभेद न जानने वालो को जनाने के लिए कल्पित रूप मे मान लिए जाते हैं। वस्तुत. वाक्य का विभाग नही होता। विभाग का आश्रय यथासभव शीघ्र बोध कराने के लिए लिया जाता है। अविभक्त का विभक्त के आश्रय से ज्ञान करना लघुप्रक्रमा पद्धति है। गुरुप्रक्रमा पद्धति प्रतिपद पाठ की तरह देर मे बोध कराने वाली है। कुशल व्यक्ति वह है जो भेद को अभेद के

---

१. चित्रस्यैक रूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः।
नीलादिभिः समाख्यान क्रियते भिन्नलक्षणैः॥
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सर्वतः।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते॥ वाक्यपदीय २।८, ९

२. पानक रस का उदाहरण पुण्यराज ने रखा है जो उपयुक्त नहीं है। इससे तो यह भी कहा जा सकता है कि जिस तरह मधुर तिक्त, अम्ल, लवण आदि रसों के योग से विलक्षण पानक-रस की निष्पत्ति होती है उसी तरह पदों के योग से विलक्षण वाक्य की सिद्धि होती है।

आश्रय से देखता है :

> पदप्रतिपत्तिपूर्विका हि सामान्यविशेषावग्रहोपाया लघुप्रक्रमा विभागेना-विभक्तस्य प्रतिपत्तिः प्रकृतिप्रत्ययादि प्रतिपत्तिवत् । गुरुप्रक्रमा त्वत्र संसृष्ट-रूपस्य प्रतिपत्तिरविभागेन प्रतिपदपाठवत् । कुशलस्तु प्रतिपत्ता सर्वमेव भेदम-भेदानतिक्रमेण पश्यति । प्रक्रियाभेदस्तु शास्त्रे विभागनिबन्धनम् ।
>
> —वाक्यपदीय २।१३ हरिवृत्ति

ब्राह्मणकम्बल शब्द में यदि ब्राह्मण शब्द का अलग उच्चारण किया जाय, श्रोता को ब्राह्मण शब्द के सुनने पर भी और एक तरह से अर्थ के प्रतीयमान होने पर भी उसके अभिप्राय की प्रतीति नहीं होगी और इसीलिए उसके लिए ब्राह्मण शब्द अनर्थक ही होगा। इसी तरह "देवदत्त गाम् अभ्याज" जैसे वाक्य मे भी देवदत्त आदि शब्दों का अलग-अलग ग्रहण होने पर भी, उनका अलग-अलग अर्थ नही है, और इसलिए वे पृथक् रूप मे अनर्थक हैं।

भर्तृहरि के अनुसार अक्रम क्रम रूप मे जान पडता है, जो अविभक्त है वह विभागापन्न-सा हो जाता है। वाक्य का मूल स्वरूप अविभक्त है, एक है, इसलिए पूर्ण वाक्य एक शब्द है। अखण्ड है। अविभक्त का विभक्त-अवभास द्रुता मध्यमा और विलम्बिता वृत्तियो के आधार पर शनैः, उच्च, उपांशु, परमोपांशु और संहृतक्रम के रूप में हो सकता है। इनमे वाक्यात्मक शब्द के शनैः और उच्च रूप तो परसवेद्य है किन्तु उपांशु, परमोपांशु और संहृतक्रम दूसरो द्वारा नही जाने जा सकते। उपांशु में प्राणवृत्ति का योग तो रहता है किन्तु शब्दध्वनि को अन्य कोई सुन नही सकता। परमोपांशु दशा में शब्द बुद्धिसमाविष्ट रहता है, उसमे प्राणशक्ति का समावेश अभी नही होता। संहृतक्रम दशा में बुद्धि मे शब्द अक्रम रूप मे समाविष्ट माने जाते है। शब्द भी अव्यक्त रूप मे रहते हैं, यदि क्रम सभावित हैं तो अध्यारोप के रूप मे ही। भर्तृहरि के अनुसार वक्ता जब कुछ कहना चाहता है, अक्रम रूप मे अथवा ससृष्ट रूप मे अवस्थित शब्द पहले उसकी बुद्धि मे, पुन प्रयत्न, प्राण करण आदि के सहारे क्रम रूप में परिणत हो जाते हैं, और श्रोता को भी क्रमरूप में जान पड़ते हैं। किन्तु क्रम रूप मे शब्द के उपलब्ध होने से और उसी के व्यावहारिक होने पर भी शब्द के मूल अक्रमस्वरूप का विघात नही होता। जैसे आकाश के अलग-अलग विभाग आश्रयभेद से संभव हैं किन्तु मूल आकाश एक है, वैसे ही, बुद्धिगत मूल वाक्य एक है एक शब्द रूप में है, निरवयव है :

> संसृष्टशक्तयश्च क्रमसंहारेण समाविष्टवाचां प्रयोक्तॄणां शब्दा बुद्धौ प्रयत्ने करणेषु च क्रमवृत्तितामनुभूय प्रतिपत्तॄष्वपि क्रमप्रत्यस्तमयेनैव समावेशं प्रतिपद्यन्ते । तत्रोपलब्ध्युपायानुपाती क्रमवृत्तिलक्षितो भेदो व्यावहारिकमपि शब्दतत्त्व नानुपतति । क्रमसंहारानाश्रयणे (?) हि व्यवहार एव विच्छिद्यते । तस्माच्च नभागादिवत् (?) प्राप्तदेशविभागैका यत्र बुद्धिः स एतावन्तयोरेको वाक्याख्यः शब्द इति ।
>
> —वाक्यपदीय २।१९ हरिवृत्ति

पुण्यराज ने इस अक्रम रूप का स्फोट नाम दिया है और अनवयव पक्ष को व्यक्ति स्फोट का रूप माना है :

परमार्थतस्त्वसावक्रम एव स्फोटात्मा प्रतिभासः। उपाधिवशात्तु तत्र बुद्धि: वितितेवानुगम्यत इति बोद्धव्यम्। अनेन एकोऽनवयवः शब्दः इत्युद्दिष्टस्य व्यक्तिस्फोटस्य स्वरूपमुक्तम्॥

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१३

मल्लवादि ने वाक्य के अनवयव स्वरूप का आधार भवन (द्रव्य) का अनवयव होना माना है। भवन अर्थात् भाव एक और अखण्ड होता है। वाक्य भी भाव है अतः वह भी अनवयव होगा :

एकोऽनवयवशब्दो वाक्यार्थं। भवनस्यानवयवत्वात्। इह तु द्रवति भवतीति द्रव्यं भवनं भावः।

—द्वादशारनयचक्र, पृ० ३०३

वादिदेव सूरि ने, किसी मत के आधार पर, ओकार के आश्रय से अखण्ड-वाक्यवाद को उद्धृत किया है। इस मत मे वर्ण, पद कल्पित हैं। वाक्य निर्विभाग है :

अन्ये तु ओङ्कारोऽनवयवः शब्द. परिकल्पितवर्णपदविभागो वाक्यमित्याहुः।

—स्याद्वादरत्नाकर पृ० ६४५

वाचस्पति मिश्र ने निरवयव वाक्य का उल्लेख माया द्वारा वर्ण और पद की मिथ्या प्रतीति के रूप मे किया है :

अनवयवमेव वाक्यम्। अनाद्यविद्योपदर्शितालीकवर्णपदविभागमस्याः निमित्त-मिति केचित्। तत्त्वविन्दु पृ० ६ मद्रास सस्करण

अनवयव वाक्य की समीक्षा मे धर्मकीर्ति ने कहा है :

एकत्वेऽपि ह्यभिन्नस्य क्रमशो गत्यसंभवात्—१।२५० (२५३)

कालभेद एव न युज्यते। नह्येकस्य क्रमेण प्रतिपत्ति युक्ता। गृहीतागृहीतयोरभेदात्। गृहीतागृहीताभावात्। क्रमेण च वाक्यप्रतिपत्ति दृष्टा। सर्ववाक्य व्याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्तेः। वर्णरूपासंस्पर्शिन्यैकबुद्धिप्रतिभासिनः शब्दात्मनोऽप्रतिभासनात्। वर्णानुक्रमप्रतीते। तदविशेषेऽप्यनुक्रमकृतत्वाद् वाक्यभेदस्यानुक्रमवती वाक्यप्रतीति। वर्णानुक्रमोपकारानपेक्षणे तैः यथाकथंचित् प्रयुक्तैरपि यत् किंचिद वाक्यं प्रतीयेत। विना वा वर्णैः। तैः अनुक्रमवद्‌भि अक्रमस्योपकारायोगात्। अक्रमेण च व्याहर्तुं अशक्यत्वात्। गत्यन्तराभावाच्च। नैव वाक्ये वर्णा सन्ति। तदक्रमेव शब्दरूपं व्यञ्जकानुक्रमवशादनुक्रमवद् वर्णविभागवच्च प्रतिभातीति चेत् अनुक्रमवता व्यंजकेनाक्रमस्य व्यक्तिः प्रत्युक्ता। व्यक्ताव्यक्तविरोधात्। अवर्णभागे च वाक्येऽसकलश्राविणोऽसकलवाक्यगति र्न स्यात्। एकस्य शकलाभावात्। सकलश्रुतिर्नैवा कस्यचित्।

—प्रमाणवार्तिक—पृ० १२८।१२९ रोम संस्करण।

धर्मकीर्ति का अभिप्राय है कि यदि वाक्य को निरवयव माना जाय, उसमें

क्रम का आभास संभव नहीं होगा। काल भेद ही नही सिद्ध होगा। एक ही वस्तु का क्रम से ज्ञान संभव नही है क्योकि गृहीत और अगृहीत के अभाव होने से यहां गृहीत और अगृहीत मे अभेद है। वाक्य के ज्ञान मे क्रम देखा जाता है। पूर्णवाक्य के उच्चारण, श्रवण, स्मरण मे काल अनेकक्षण व्याप्त हो सकता है। ऐसा शब्द नहीं होता जिसमे वर्ण सस्पर्श का आभास न होता हो। (शब्द मे) वर्ण के अनुक्रम की प्रतीति होती है। यदि वर्ण के स्पर्श-अस्पर्श प्रश्न छोड़ भी दें तो भी अनुक्रम के आधार पर वाक्यभेद होता है और इसलिए वाक्य की प्रतीति मे अनुक्रम रहता है। यदि वर्ण के अनुक्रम के आधार पर वाक्य प्रतीति न मानी जाय, तो वर्णों के प्रयुक्त होने पर भी वाक्यप्रतीति नही के बराबर होगी। अथवा अन्यथा प्रतीत होने लगेगी। अथवा विना वर्णों के भी होने लगेगी। अनुक्रम वाले वर्णों का अक्रमवस्तु के साथ कोई सहयोग सभव नही है। अक्रम रूप मे तो वाक्य का उच्चारण भी संभव नहीं है कोई दूसरा उपाय भी नही है।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि वाक्य मे वर्ण नही है, वाक्य अविच्छिन्न है, एक शब्द रूप है, केवल व्यजक ध्वनियो के अनुक्रम के कारण वाक्य भी अनुक्रमवाला और वर्ण विभागवाला-सा जान पडता है, तो यह भी उपयुक्त नही है क्योकि अनुक्रम वाले व्यजक से क्रम रहित वाले अक्रम की अभिव्यक्ति नही मानी जा सकती। क्योकि व्यक्त और अव्यक्त मे परस्पर विरोध है। यदि वाक्य मे वर्ण विभाग न माना जाय, उसे अखण्ड माना जाय तो वाक्य के केवल एक भाग के सुनने वाले को केवल उसी भाग के अर्थ का ज्ञान न हो सकेगा (जो कि होता है) अथवा अपूर्ण वाक्य के श्रवण मे पूर्ण वाक्य का ज्ञान होने लगेगा (जो कि किसी को नही होता)।

निरवयव वाक्यवाद पर किए गए धर्मकीर्ति के उपर्युक्त आक्षेपो के समाधान की चेष्टा मण्डन मिश्र ने की है। मण्डन मिश्र ने पहले धर्मकीर्ति के आक्षेपो का उल्लेख विस्तार से किया है और इसके बाद उनका उत्तर अति संक्षेप मे दिया है। उनके शब्द निम्नलिखित हैं :

> **एकत्वेऽपि क्रमशो गतिरनुपाख्येयोपाख्येयाकारप्रत्ययभेदेन पुरस्तात् प्रपंचिता। व्यंजकसादृश्यात्तु शब्दान्तरग्रहणाभिमानः, तेन नाश्रवणं सकलश्रवणं वेति।**
>
> —स्फोटसिद्धि पृ० २३८।२३९

मण्डन मिश्र का अभिप्राय यह है कि वाक्य को अखण्ड मानकर भी क्रम प्रतीति का निवारण अनुपाख्येय आकार और उपाख्येय आकार वाले ज्ञान भेद के आधार पर हो जायगी। वह ज्ञान अनुपाख्येय माना जाता है जिसे बुद्धि निश्चित रूप से (इदं तत् रूप मे) ग्रहण नही कर पाई होती है। ध्वनियो से पहले अनुपाख्येय आकार वाले प्रत्यय (ज्ञान) उत्पन्न होते हैं और वे पुनः स्वयं अनुपाख्येयाकार वाले प्रत्यय बार-बार घटित होने से, अभ्यास आदि से, उपाख्येयाकार प्रत्यय हो जाते हैं। वर्ण या पद के क्रम-रूप स्वीकार करने पर ध्वनियो के समुदित रूप मे एक साथ न होने के कारण अन्त्य बुद्धि से उनका ग्रहण भी ठीक से नही हो पाएगा। सपूर्ण भी शब्द स्वरूप अभिव्यक्त होकर भी जब तक बुद्धि मे आविष्ट न हो पाया

हो, तब तक वह अनुपलब्ध-सा रहेगा और उससे व्यवहार न हो सकेगा। इसलिए वर्णक्रम को मानकर अनुपाख्येयाकार और उपाख्येयाकार प्रत्यय भेद के आधार पर अखण्ड वाक्य की प्रतिपत्ति संभव है।

धर्मकीर्ति के दूसरे आक्षेप—अवर्णपक्ष मे वाक्य के केवल एक भाग के सुनने पर उस भाग का अर्थ न भासित होना अथवा अपूर्ण वाक्य के श्रवण से पूर्ण वाक्य का ज्ञान हो जाना—के उत्तर मे मण्डन मिश्र का कहना है कि व्यजक ध्वनियो के सादृश्य से वर्ण पद, आदि का आभास होता है, वस्तुत वाक्य एक, अखण्ड है। इसलिए अश्रवण अथवा सकलश्रवण का प्रश्न नही उठता। स्फोटसिद्धि के टीकाकार ऋषिपुत्र परमेश्वर (द्वितीय) के अनुसार वाक्य के निर्भागपक्ष मे भी भ्रान्ति से भाग की प्रतीति होती है अतः अश्रवण या सकलश्रवण का आरोप असगत है :

> **तेन कारणेन परमार्थाभागपक्षेऽपि भागशो ग्रहणमुपपद्यत एव, न पुन अश्रवणं वा सकलश्रवणं वापद्यतेति।**

—स्फोटसिद्धि टीका पृ० २३९

कर्णकगोमी ने मण्डन मिश्र के उपर्युक्त तर्क को महत्व नही दिया है। उनके मत मे सकल-असकल वर्ण भाग के ज्ञान के समय अखण्ड वाक्य का श्रवण ही नही होता। दूसरी बात यह है कि वाक्य के ग्रहण के अवसर पर वर्ण ग्रहण की बात भी अयुक्त है। वर्णात्मक और अवर्णात्मक सदृश नही माने जा सकते, इसलिए व्यग्य और व्यजक मे भी सादृश्य नही हो सकता :

> **तेनयदुच्यते मण्डनेन व्यंजकसादृश्याच्च वाक्ये तदात्मग्रहणाभिमानः तेन नाश्रवण सकलश्रवण वेति तदपास्तम्। सकलासकलवर्णभागप्रतिपत्तिकाले निष्कलस्य वाक्यस्याश्रवणात्। न हि व्यंग्यव्यंजकयो सादृश्य वर्णावर्णात्मकत्वेन विसदृशत्वात्। तत कथं वाक्ये वर्णात्मग्रहणाभिमान इति यत् किंचिदेतत्।**

—कर्णकगोमी, प्रमाणवार्तिक टीका, पृ० ४६८, ४६९

जयन्त भट्ट ने वाक्य के निरवयववाद के विरोध मे निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए हैं. "वाक्य निरवयव नही है। सावयव है। प्रति-वाक्य मे पद और उसके अर्थ का अलग-अलग आभास स्पप्ट रूप से होता है। और जब अवयव विभाग का ग्रहण नही होता, वाक्य और वाक्यार्थ का भी आभास नही होता। इसलिए मान लेना चाहिए कि अवयव प्रतीति होती है। उस प्रतीति को भ्रान्त नही कहा जा सकता, क्योकि भ्रान्ति का कोई आधार होना चाहिए। सादृश्य को भ्रान्ति का आधार नही माना जा सकता, क्योकि किसका किसके साथ सादृश्य है, यह स्पप्ट नही है। यदि कोई मुख्य अवयव प्रसिद्ध हो, उनके सादृश्य से अन्यत्र सादृश्य के न रहते हुए भी सादृश्य ज्ञान भ्रम हो सकता है, किन्तु ऐसी बात नही है। पूर्ववाक्य भी, आपके मत मे, भाग रहित हैं। नरसिंह में भी नर के अवयव और सिंह के अवयव अलग-अलग दिखाई देते हैं, ऐसा ही यहा भी माना जाय तो किसी वाक्य मे अवयवो की सत्ता माननी पड़ेगी। चित्र आदि के जो उदाहरण निरवयव पक्ष के समर्थन में दिए गए हैं वे भी

उपयुक्त नहीं हैं। चित्र में भी हरताल सिन्दूर आदि के रूप मे अवयव का आभास होता है। पानकरस में भी त्वक्, इलायची आदि द्रव्यों का भान होता है। सगीत मे भी षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वर पृथक् सत्ता रखते हैं इसलिए ये सब भी निर्भाग नही माने जा सकते। इसलिए वाक्य या वाक्यार्थ निर्भाग रूप मे नही स्वीकार किए जा सकते।"

—न्यायमजरी, पृ० ३५२-३५३

किसी दर्शन के अनुसार वर्ण-पद से अतिरिक्त बाह्य किसी वाक्य के न होने से वाक्याकार बुद्धि ही वाक्य है। तदनन्तर द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया आदि के ससर्ग के आभास से उत्पन्न होने वाली बुद्धि ही वाक्यार्थ है। बाह्य कोई वाक्यार्थ नही है। क्योकि पदार्थ से अधिक या अनधिक के रूप मे उसका निरूपण सभव नहीं है:

केचिद् वर्णपदातिरिक्तबहिर्भूतवाक्याभावात् वाक्याकाराबुद्धिरेव वाक्यम्, तदनन्तरं चानेकजातिगुणद्रव्यक्रियासंसर्गाभासात् जायमाना बुद्धिरेव वाक्यार्थो न बाह्य:। पदार्थातिरेकेणानतिरेकेण वा निरूपणासंभवात्।

—पार्थसारथि, श्लोकवार्तिक व्याख्या पृ० ८७१

इस मत और वैयाकरणो के निरवयव वाक्य मत मे केवल इतना ही भेद है कि पहले मत के अनुसार वाक्य की बाह्य सत्ता नही है जबकि निरवयववादी वाक्य की बाह्य सत्ता मानते हैं।

कुमारिल भट्ट ने दोनो मतो की समीक्षा मे लिखा है कि थोडे से ही पदो से अनन्त वाक्य बनाए जा सकते हैं। निर्भाग वाक्यवादी को अनन्त अर्थ के लिए अनन्त वाक्यो की और अनन्त कल्पित शक्तियों की कल्पना करनी पडेगी। यह गौरव है। स्वभाववादी (बुद्धिवादी) को भी अदृष्ट अनन्त शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी।[1]

वैयाकरणो ने वाक्य के निरवयव स्वरूप को सिद्धान्तत: मानते हुए भी वाक्य मे अवयव का आभास माना है। और अवयव की प्रत्यभिज्ञा भी स्वीकार की है। किन्तु इसका कारण, उनके मत मे, सादृश्य है। वाक्य नानाजातीय अनेक ध्वनियो से व्यंग्य है। एक वाक्य की ध्वनियाँ भी किसी दूसरे वाक्य की व्यजक ध्वनियो के सदृश हैं। इसलिए निर्भाग वाक्य दूसरे वाक्यो के सदृश जान पड सकता है। नरसिंह मे कुछ भाग नर सदृश है, कुछ भाग सिंह सदृश है, इस तरह अवयव के सादृश्य के आधार पर सादृश्य का आभास होता है। वाक्य में भी सादृश्य उपाधि के भेद से अवयव भेद झलकता है। ध्वनि के सादृश्य से ही अवयव के भी सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा होती है।[2]

१. स्तोकशक्त्युपपन्नेऽर्थे बहुशक्त्यप्रमाणता। श्लोकवार्तिक ७।१२२ पृ० ८८०

२. वैयाकरणैः निरवयवत्वेऽपि वाक्यानामवयवप्रतिभासे अवयवप्रत्यभिज्ञायां च सादृश्यं कारणमुक्तम्-ध्वनयः सदृशात्मानो विपर्यासस्य कारणमिति। नानाजातीयानेकध्वनिव्यङ्ग्यं हि वाक्यम्। ते च ध्वनयः प्रत्येकं वाक्यान्तरव्यंजकध्वनिसदृशा निर्भागस्यापि वाक्यस्य तत्तद्वाक्यसादृश्यम्, नरसिंहस्येव केनचिद् भागेन नरसादृश्यं केनचिच्च सिंहसादृश्यं भागशः सम्पादयन्तः सादृश्योपाधिभेदादवयवभेदमिव वाक्ये दर्शयन्ति। ध्वनिसादृश्यादेव अवयवानामपि सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञापि भवतीति।

—पार्थसारथि, श्लोकवार्तिक व्याख्या पृ० ८८०

कुमारिल भट्ट के अनुसार निरवयव वाक्यवादी को महावाक्य और अवान्तर वाक्य में भेद नही मानना पड़ेगा। यदि भेद माना जायगा तो दो वाक्यों से दो अर्थ स्वतन्त्र रूप से सामने आयेंगे।[1]

किन्तु इसका उत्तर वैयाकरण यह देते हैं कि जिस तरह से अपोद्धार पद्धति पर पद की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है उसी तरह उसी पद्धति से अवान्तर वाक्य की भी सत्ता मान ली जायगी। यथार्थ दृष्टि से वाक्य में जैसे पद की सत्ता नहीं है, महावाक्य मे अवान्तरवाक्य की भी सत्ता नही है।

क्रम-सिद्धान्त

क्रम को वाक्य माननेवाले आचार्य का अभिप्राय यह है कि क्रम के अतिरिक्त वाक्य की सत्ता नही है। वस्तुत. इस मत में वाक्य की सत्ता ही नही स्वीकृत है। ध्वनि समूह से अथवा पद समूह से जो कुछ अर्थ भासित होता है वह क्रम के कारण होता है। अतः क्रम ही मुख्य है। उससे भिन्न वाक्य नाम का किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। क्रम क्या है? क्रम शब्द से भिन्न वस्तु है। क्रम का सम्बन्ध काल से है। काल में प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा ये दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। शब्द की बाह्य अभिव्यक्ति इन दोनो शक्तियो की सक्रियता से होती है। इसलिए श्रोता को शब्द का श्रवण और अर्थ का अनुगमन कालवृत्ति के अधीन है। शब्दों में जो क्रम है उसे काल शक्ति का उनमें सन्निवेश समझना चाहिए। अत क्रम कालशक्ति से भिन्न वस्तु नही है· **क्रमो हि शब्देषु कालशक्तिरूपविशेषस्य निवेश इव। स कालात्मनो न व्यतिरिच्यते।**

—वाक्यपदीय २।५० हरिवृत्ति

पदो के नियत संन्निवेश से एक विशेषता आ जाती है। यदि विशेष ही वाक्य है तो यह विशेष क्रमजन्य है। अत· क्रम ही वाक्य है। इस मत मे पद में अर्थ सत्ता मानी जा सकती है, किन्तु वाक्य एक प्रलाप मात्र है :

तेन वाक्यमित्यवस्तुकमेवेदं अभिलापमात्रं पदमेवार्थवदिति।

—वाक्यपदीय २।५० हरिवृत्ति

क्रमशक्ति का आविर्भाव पदों के सन्निवेश मे होता है केवल वर्णों के सन्निवेश में नहीं होता। यद्यपि क्रम की सत्ता वर्णों में भी है, किन्तु अर्थबोध केवल वर्ण से नहीं होता, पद से होता है। वर्णक्रम को पद और पदक्रम को वाक्य कहा जा सकता है किन्तु वे वाचक नहीं हैं। वाचकता केवल क्रम मे है।

सन्तानवृत्ति का नाम क्रम है। पद चाहे वे अनर्थक रूप मे माने जाएं अथवा स्वार्थ के कारण सार्थक रूप में स्वीकार किये जायं, सब तरह से क्रम से उच्चरित होकर ही अपने से कुछ भिन्न वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए क्रम वाक्य है।[2]

---

१. श्लोकवार्तिक ७।१४२ पृ० ८८६ चौखम्बा संस्करण
२. वाक्यपदीय २।५५

क्रमवाद की समीक्षा

पदक्रमवाक्य वाद मे, कुमारिल के मत मे, मुख्य दोष यह है कि पदक्रम को वाक्य मानने पर पदक्रम के भेद से वाक्य मे भी भेद होने लगेगा। गौ शुक्ल. का जो क्रम है वही शुक्लो गौः का नही है। यदि पदक्रम को वाक्य माना जाय तो यहा दो वाक्य मानने पडेंगे और वाक्य भेद से अर्थ भेद भी होने लगेगा।[1] पार्थसारथि ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि वर्णक्रम को पद मान लेना तो ठीक भी हो सकता है क्योकि वह अर्थ के ज्ञान मे साधन है, यदि वर्ण के क्रम बदल दिए जाय तो वही अर्थ नही झलकेगा। किन्तु पदक्रम साधन नही है। संस्कृत मे पदक्रम के बदल देने पर भी अर्थ वही होगा। वाक्यार्थ ज्ञान मे पदक्रम उपायभूत नही है। उपायभूत मानने पर क्रमभेद से वाक्यार्थ भेद होगा।[2]

किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, क्रमसिद्धान्त के समर्थक आचार्य पदक्रम को वाक्य न मानकर वाक्य की सत्ता ही नही मानते हैं। "तेन वाक्य न विद्यते।[3]" 'पदाख्या वाक्यसज्ञा च शब्दत्व नेष्यते तयो"[4] आदि वक्तव्यो द्वारा भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है कि क्रम का नाम वाक्य नही है किन्तु क्रम वही काम करता है जो, अन्य दर्शन मे, वाक्य करता है। और इसी दृष्टि से क्रम को वाक्य कहा जाता है। अन्यथा क्रम और वाक्य भिन्न-भिन्न वस्तु है। वाक्य का सम्बन्ध शब्द से है। क्रम का सम्बन्ध काल से है। दूसरे शब्दो मे, वाक्य शब्द धर्म है, क्रम कालधर्म है। क्रम अपने आप मे अशब्द है।

बुद्ध्यनुसंहारवाद

शब्द का मुख्य स्वरूप वाह्य नही है, आन्तरिक है। लिपि शब्द नही है। किन्तु शब्द का प्रतीक अथवा सकेतक है। और इसलिए अक्षर चिह्नो को शब्द कह दिया जाता है, किन्तु अक्षर चिह्न स्वय शब्द नही है। वे वास्तविक भी नही है। इसी तरह बाह्य ध्वनि शब्द का सकेतक है। शब्द का वास्तविक रूप आन्तरिक है। बाह्य ध्वनि अक्षर चिह्न की तरह अनात्त्विक है। अन्त शब्दतत्त्व अक्रम है। यद्यपि वह क्रम वाले भागो (वर्ण अथवा नाद) से व्यक्त किया जाता है किन्तु अपने आप मे वह अक्रम है, क्रम-रहित है। क्रम वाले वर्ण या नाद या भाग अक्षर चिह्नों जैसे है और उन्ही की तरह अयथार्थ है। ये आन्तरिक शब्द को अभिव्यक्त करते हैं। उस अक्रम रूपवाले आनरिक शब्द का दूसरा नाम बुद्ध्यनुसहार है। उसमें पदरूप विभक्त नही है। वह एक शब्द है। और एक शब्द शब्द को एक वाक्य कहते हैं :

---

१. श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण ५५
२. श्लोकवार्तिक व्याख्या, न्यायरत्नाकर ७।५५
३. वाक्यपदीय २।५०
४. ,, २।५२

स चैष बुद्ध्यनुसंहारलक्षण आन्तरः शब्दात्मा तत्र समाम्नातः ।
तस्यचेत्थंभावे विच्छिन्नपदरूपप्रविभागदर्शन एक एवायं वाक्याख्यः ।

—वाक्यपदीय, २।३० हरिवृत्ति

भर्तृहरि के मत में आन्तर शब्द दो शक्तियो से सपन्न है—अनपायिनी शक्ति और अपायिनी शक्ति। उस शब्दात्मा में प्रकाशक और प्रकाश्य दोनो संपृक्त हैं। शब्द प्रकाशक है। अर्थ प्रकाश्य है। यद्यपि प्रकाशक और प्रकाश्य आन्तर शब्द में परस्पर संपृक्त हैं, अविभक्त हैं, फिर भी प्रकाशक से प्रकाश्य विभक्त जैसा जान पड़ता है। इसी तरह से कार्य और कारण दोनो आन्तर शब्द में सश्लिष्ट हैं। कारण और कार्य एक दूसरे के आश्रित हैं। और अपने मूल रूप में उस शब्दात्मा में अभिन्न रूप से अवस्थित हैं। किंतु व्यवहार दशा में एक दूसरे से विभक्त जान पडते हैं। मिथ्याभ्यास भावना के कारण अभेद मे कल्पित भेद की सृष्टि होती रहती है और इस तरह जो अविशेष है वह विशेष जान पडता है। आन्तर शब्द की अनपायिनी शक्ति का सबध उसके अविभक्त स्वरूप से है और अपायिनी शक्ति का सबध उसके प्रतिभासिक विभक्त स्वरूप से है। वस्तुतः अन्त शब्द तत्व मे भाव-अभाव का विभाग नही है। शक्ति भेद से भेद का आभास होता है।

उस आन्तर शब्द में अस्तित्व और व्यस्तित्व भाव और अभाव उसके एकत्व का अतिक्रमण नही करते। दोनो एक ही की दो शक्तिया हैं। अक्रम मे क्रम का सवेदन अभाव से भाव दशा का उन्मीलन है। बुद्ध्यनुसहार पक्ष में शब्दार्थतत्त्व अन्तर्मात्राभिनिवेशी है। पुण्यराज ने बुद्ध्यनुसहार को ही आतरस्फोट माना है.

आभ्यन्तरस्य स्फोटस्य तु बुद्ध्यनुसंहृतिरित्यनेनोद्देशः।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय टीका २।१

शब्द का मुख्य रूप, शब्द की आत्मा, वाक्तत्त्व एक है, अभिन्न है, अन्तर्निवेशी है, अव्यपदेश्य है। जिस तरह से शब्द, मुख्य रूप में, बुद्धिगत है उसी तरह अर्थ भी बुद्धिगत है। बुद्धिगत अर्थ भी अव्यपदेश्य है किन्तु क्रम से उपचित होकर प्रत्यर्थनियत रूप में उत्पन्न होकर बाह्य वस्तु रूप में व्यवहार का विषय बनता रहता है। शब्द-नित्यत्व पक्ष में, बुद्धिगत अर्थ क्रमशक्ति के सहारे विवर्त रूप मे प्रकट होता है। जब तक बुद्धि में अर्थ का स्वरूप स्थान न प्राप्त कर लिया हो, वह बाह्य वस्तु के रूप मे व्यावहारिक अर्थ क्रिया मे समर्थ नही हो सकता। इसलिए सभी बाह्य व्यवहार का आधार अन्तर्निविष्ट अर्थ है। शब्द और अर्थ एक ही वाक्यात्मा के दो स्वरूप है। अर्थ भाग के द्वारा आन्तरिक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। पुण्यराज ने इस आन्तरिक अर्थ को प्रतिभात्मक अखण्ड वाक्यार्थ माना है। (वाक्यपदीय २।३१)

जैन दर्शन में बुद्ध्यनुसहृति को विज्ञान के सहारे स्थापित किया गया है। विज्ञान शब्द है। विज्ञान ही शब्दार्थ है। रूप, रस, घट, पट आदि बाह्य वस्तु विज्ञान से उद्बुद्ध होते हैं। विज्ञान कल्पना है, अभिजल्प है, बुद्ध्यनुसहृति है। वही वाक्य है।

वही वाक्यार्थ है ।[1]

प्रभाचंद्र ने बुद्धयनुसंहृति को दो वर्ग मे विभक्त कर बुद्धिवाक्यपक्ष और अनुसंहृतिवाक्यपक्ष की कल्पना की है ।[2] किन्तु यह विभाग भर्तृहरि द्वारा अभिप्रेत नहीं है ।

पुण्यराज ने बुद्धयनुसंहारवाद को बौद्ध दर्शन के वाक्यस्वरूप के सदृश माना है । उनके अनुसार, शाक्य सिद्धान्त में, वाक्य आन्तरिक आकार विशेष का बाह्य अध्यास मात्र है । बौद्ध आकार अनादि वाक्यवासना के प्रबोध से उद्बुद्ध होता है और क्रम रूप में भासमान किन्तु अक्रम रूप में अवस्थित पदो से विशिष्ट रूप में उभरता है । उसका बाह्य अध्यास वाक्य है । और इस तरह बुद्धयनुसहृति का सहोदर-सा है ।[3]

किन्तु धर्मकीर्ति ने वाक्य की बुद्धिग्राहिता को नहीं माना है । समस्त वर्ण संस्कारवाली अन्त्य बुद्धि से वाक्य का अवधारण कपोलकल्पना मात्र है । अक्रम, एक बुद्धिग्राह्य वाक्य सभव नही है । वर्णों का क्रम से ही भान होता है और बिना वर्ण के सस्पर्श किए किसी को प्रतिपत्ति नही होती । जब कभी पद वाक्य का स्मरण होता है, वर्ण सदा क्रम रूप मे ही भासित होते हैं । अक्रमा बुद्धि मे पूर्वापर का भान सभव नही है । अन्यथा पद वाक्य भेदो मे कोई भेद न रह जाय ।[4]

किन्तु बुद्धयनुसहार पक्ष का आधार अन्त्य बुद्धि-ग्राह्यता वाला सिद्धान्त नही है । अत धर्मकीर्ति की आलोचना युक्तिसंगत नही है ।

आदिपदवाद

आद्य पद वाक्य है । जिस पद का वाक्य मे सर्वप्रथम प्रयोग किया जाता है वह पद ही वाक्य है । उसी पद से अन्य पदो का आक्षेप हो जाया करता है । जो पद आरंभ मे प्रयुक्त होते हैं वे या तो क्रिया पद होते हैं या कारक पद । क्रिया और कारक परस्पर अविनाभूत होते हैं, उनमे साहचर्य होता है । उनमे जो भी पहले प्रयुक्त होता है, अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य पद के अर्थ का आक्षेप कर लिया करता है । जैसे धूम से वह्नि का आक्षेप हो जाता है । और इस आधार पर प्रथम पद को, कुछ आचार्य, वाक्य मानते है । प्रथम पद को ही वाक्य मान लेने पर अन्य पद, इस मत मे, व्यर्थ नही होते । वे नियम अथवा अनुवाद के लिए होते हैं जैसा कि आख्यात-वाक्य वाद वाले भी मानते हैं ।

भर्तृहरि ने एक अन्य प्रकार से भी इस मत का सकेत किया है । इस मत मे

---

१. विज्ञानं शब्दार्थः । विज्ञानमेव हि शब्दः'''तच्च विज्ञानं कल्पना'''बुद्ध्यनुसंहृति वाक्यार्थः । द्वादशारनयचक्र, पृ० ११५१

२. बुद्धिःवाक्यम् ।'''अनुसंहृतिः वाक्यम् । प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४६०

३. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

४. प्रमाणवार्तिक, स्वार्थानुमानपरिच्छेद पृ० ८६ काशी संस्करण

विशेष शब्द सामान्य के प्रतिरूपक माने जाते हैं और वे शब्दान्तर के संबंध से किसी आगन्तुक अर्थ से जुटकर केवल अनुवाद के रूप मे शब्दान्तर के अर्थ को व्यक्त करते हैं।[1]

पुण्यराज ने इस मत का सम्बन्ध अन्विताभिधानवाद से जोड़ा है। उनके अनुसार "देवदत्त गाम् अभ्याज" इस वाक्य का देवदत्त शब्द "देवदत्त गाम् बधान" इस वाक्य के देवदत्त शब्द से विशिष्ट अर्थ मे ही वक्ता द्वारा प्रयुक्त होता है किन्तु भ्रम से सकल साधारण जान पड़ता है। बाद मे (उत्तरकाल में) गो आदि पद के सबध से विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। आरम्भ में ही सपूर्ण विवक्षित अर्थ को मन मे रखते हुए वक्ता विशिष्ट पद का व्यवहार करता है। अत. आद्य पद मे ही सकल वाक्य और सकल वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है:

तेषामेवोपगृहीतसर्वविशेषे एकस्मिन् अर्थे
बहुशब्दानभ्युपगच्छतामविकल्प कृत्स्न:
वाक्यार्थ. प्रतिपद प्रतिवर्णं वा समाप्यते ॥

—वाक्यपदीय २।१८ हरिवृत्ति

इस मत की समीक्षा में प्रायः सभी आलोचको ने यही कहा है कि एक ही पद से यदि समस्त वाक्यार्थ की अवगति हो जाय, अन्य पद व्यर्थ माने जायेगे। भर्तृहरि ने इस आक्षेप के दो उत्तर दिए है। एक तो यह कि एक पद से सकल अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर भी दूसरे पदो के सान्निध्य से उन अर्थों का जो पुन ज्ञान होगा, वह ज्ञान, वह आवृत्ति, नियम के लिए होगी। अथवा आदि पद से उक्त अर्थ को अन्य पद और अधिक स्पष्ट कर देते हैं। यही अनुवाद है। अतः दूसरे पदों की अव्यर्थता नियम और अनुवाद रूप मे मान लेनी चाहिए। दूसरा यह कि आदि पद मे संपूर्ण अर्थ व्यक्त करने की क्षमता होने पर भी अन्य पद अभिव्यंजक है। उनके साहचर्य से ही सपूर्ण अर्थ व्यंजित हो पाता है (**व्यक्तोपव्यञ्जना सिद्धि:—वाक्यपदीय २।१८**)[2]

पुण्यराज ने नियम और अनुवाद वाले पक्ष से सतोष नही व्यक्त किया है। व्यक्तोपव्यजन वाले पक्ष के विषय मे एक स्थान पर उन्होने निराशा व्यक्त की है किन्तु दूसरे स्थान पर उसका समर्थन किया है।[3]

आद्यपदवाक्यवाद के आधार पर अन्त्य पद वाक्यवाद की भी कल्पना की गई थी। यद्यपि अन्त्यवाद का उल्लेख या सकेत भर्तृहरि ने नही किया है किन्तु इस वाद की

---

१. वाक्यपदीय २।१७
२. वाक्यपदीय २।११६
३. पदानां नियमायानुवादाय वोच्चारणं भवेत्। न चैतत् युक्तमिति वक्ष्यामः। 'व्यक्तोपव्यंजना इत्यसमाधानमेव।
—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१८
"यदा पुनः सहभूतेष्वेवासौ प्रत्येकं समाप्तोर्थं इत्युक्ते। यथोक्तं "व्यक्तोपव्यजना सिद्धिरर्थस्य प्रतिपत्तिषु" (वा० प० २।१८) इति। तदा नास्त्येव सहभूतानामुपादाने कश्चिद वैफल्यम् —पुण्यराज, वाक्यपदीय २।११६

आलोचना कुमारिल भट्ट ने की है। सुचरित मिश्र और पार्थसारथि ने स्पष्ट कहा है कि किसी (वैयाकरण) ने अन्त्यवाक्यवाद का उल्लेख नही किया है फिर भी उसकी संभावना कर कुमारिल ने समीक्षा की है।

. जो हेतु आद्यपदवाक्य पक्ष मे दिए जाते हैं वे ही अन्त्यपद वाक्य पक्ष मे भी दिए जाते हैं। मुख्य होने के कारण आद्यपद वाक्य है। इसी आधार पर अन्त्य पद भी वाक्य है :

अन्त्यपदवाक्यता परैरपठिताऽपि यावत् संभवमुपन्यासाबुपदर्शिता। एवं हि ते मन्यन्ते, मुख्यत्वाद् आद्यमेव पद वाक्यमिति। अन्त्यञ्च। तदनन्तरमर्थावगतेः।

—सुचरितमिश्र, श्लोकवार्तिककाशिका ७।४६ हस्तलेख

मल्लवादि क्षमाश्रमण ने अन्त्यपदवाक्यवाद का उल्लेख पूर्वपदज्ञान-हितसस्कार के आधार पर किया है। भर्तृहरि के अन्त्य ध्वनि से बुद्धि परिपाक वाला सिद्धान्त इस विचार का मूल हो सकता है।[1]

भोजराज एक पद में, चाहे वह आदि का हो या अन्त का, वाक्य शक्ति मानने के पक्ष मे नही हैं। उनके मत मे, यदि एक शब्द मे सभी पदो के अभिधेय द्योतित करने की शक्ति मान ली जायगी, उसीसे व्यवहार होने लगेगा। किन्तु ऐसा देखा नही जाता। यदि गौ शब्द के उच्चारण से सकल गोगत गुण और उसकी सभी क्रियाओ की अभिव्यक्ति हो तो श्रोता को किसी एक गुण या क्रिया को अवगत करने मे कठिनाई होगी। ऐसा कोई हेतु नही है जिससे नियत गुण अथवा क्रिया का ग्रहण हो सके। पदान्तर सन्निधान को नियामक नही माना जा सकता। वह भी जप, मत्र आदि के सदृश केवल स्वरूप मात्र से सन्निहित होता है अतः उसमे कोई वैशिष्ट्य नही है।[2] किन्तु जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है, कुछ आचार्यों के अनुसार साध्य (क्रिया) नियत साधनवाला है। और साधन (कारक) नियतसाध्यवाला है। क्रिया-कारक का यह नियत स्वरूप प्रति पद मे अभिधेय की भाति स्थित रहता है। यह नित्य नियतत्व नियम का हेतु हो जाता है। इसलिए दूसरे शब्दो के प्रयोग के सान्निध्य मात्र से बोधकर्ता को आदि पद से (अथवा केवल अन्त्य पद से) समग्र वाक्यार्थ झलक उठता है। अत आद्य पद वाक्य है :

नियत साधन साध्ये क्रिया नियतसाधना।
स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते ॥

—वाक्यपदीय २।४७

पृथक् सर्वपद वाक्यवाद

पृथक् सर्वपद वाक्य हैं। कुछ आचार्यों के मत मे सभी पद अलग-अलग वाक्य हैं यद्यपि

---

१ अन्त्य च पदं वाक्यार्थः। स च पूर्वपदज्ञानाहितसंस्कारापेक्षोऽन्त्यपदप्रत्ययः।

—द्वादशारनयचक्र, पृ० ६११

२. शृंगार प्रकाश, पृ० २७७ मैसूर संस्करण

वे परस्पर साकांक्ष होते हैं। इस पक्ष मे प्रायः वे ही हेतु उपस्थित किए जाते हैं जो संघात पक्ष में कहे जाते है। जिस तरह से तीनो ग्रावा उखा को धारण करते है, जैसे चारों वाहक शिविका को वहन करते हैं वैसे ही सभी पद वाक्य हैं और सभी पद अपने-अपने अर्थ से युक्त रहते हैं।[1] 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य मे, इस मत मे, प्रत्येक पद वाक्य है। क्योकि सभी पद सर्वात्मक हैं। देवदत्त भी गवात्मक है, अभ्याजात्मक है, क्योकि वह प्रवर्तक है और इसलिए उन-उन रूप वाला हो जाता है। इसी तरह गो भी देवदत्त आदि के रूप मे ढल जाता है, अभ्याज भी तदात्मक हो जाता है।[2] भर्तृहरि की शब्दावली मे, देवदत्त आदि पद की प्रत्येक परिसमाप्ति है। पृथक् सर्वपद वाक्य पक्ष मे प्रत्येक शब्द सपूर्ण व्यापार वाला (कृत्स्नव्यापारकारि) है। एक-एक के रहने से सपूर्ण व्यापार सपन्न होता है, एक के भी न रहने से व्यापार सपन्न नही हो पाता है। अतः पृथक् सर्व पद को वाक्य मानना चाहिए।

सघातवाद और पृथक् सर्वपदवाद मे यह भेद है कि सघात पक्ष मे पद सघात-परतत्र है जबकि पृथक् सर्वपद पक्ष मे पद स्वतन्त्र हैं। सघातपक्ष मे पद की स्थिति शकट के अवयव के रूप मे है। शकट (गाडी) के सभी अंग, मिलकर काम करते हैं किन्तु प्रत्येक अग शकट से अलग अपना कार्य नही कर पाता है। पृथक् सर्वपदवाद मे पद की स्थिति शिविकावाहकों जैसी है। वाहक मिलकर पालकी ढोते हैं, पर स्वतन्त्र भी अपना काम कर सकते है। वादि देव सूरि के अनुसार 'पृथक् सर्वपदं साकाक्षम्' मे पृथक् विशेषण इसे सघातपक्ष से अलग करता है और सर्व विशेषण इसे आख्यातवाद से और आद्यपदवाद से अलग करता है :

पृथगिति सघातादवच्छिनत्ति। सर्वमिति आद्य पदात् आख्यातात्त्वावच्छिनत्ति। तेन सर्वाण्येव पदानि अन्योन्यसापेक्षाणि प्रत्येकं वाक्यमित्यर्थः।

—स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ६४५

पुण्यराज ने पृथक् सर्वपदवाक्यवाद का भी सम्बन्ध अन्विताभिधानवाद से जोडा है। वाक्य मे कारक सदा क्रिया का मुख देखते हैं क्रिया भी कारको का विरह नही सह पाती है। इस परस्पर सम्बन्ध के आधार पर पद स्वतः वाक्य का अर्थ अवगत करा देते है। क्रिया और कारक की परस्पर उन्मुखता सन्निधान मात्र से व्यक्त हो जाती है। इनमे परस्पर मुख्य या गौण भाव आकाक्षा पर निर्भर करता है। आकाक्षा व्यपेक्षाश्रित है। भर्तृहरि के अनुसार व्यपेक्षा अर्थ मे हो या न हो, शब्द में सदा सनिविष्ट सी रहती है।[3] उसे शब्द व्यक्त करता है। कारक पद क्रिया मे

---

१. पृथक् स्वेन स्वेनार्थेन युक्तानि पदानि वाक्यम्। —द्वादशारनयचक्र पृ० १०७८

२. वाक्यं च पृथक् सर्वपदम्। यथा देवदत्त गाम अभ्याज शुक्लाम् इत्यत्रैकैकं पदं वाक्यम्। तस्मादेव देवदत्तोऽपि हि गवात्मकोऽभ्याजात्मकश्च। तथा प्रवर्तनात् तत्तदापत्तेः। तान्यपि तथापत्तेरिति। —द्वादशारनयचक्र पृ० ४२६

३. अर्थेषु सतीमसतीं वा शब्दवृत्त्यनुकारेण पुरुषो व्यपेक्षा समीहते। तां शब्द एव प्रकाशयति। सा हि नित्यनिविष्टरूपेव शब्दात्मनि।

—वाक्यपदीय २।४८ हरिवृत्ति

गुणभूत होकर अन्य पद की आकांक्षा करता है। क्रिया प्रधान रूप मे रहकर कारक पदो की अपेक्षा रखती है।[1]

मल्लवादि क्षमाश्रमण ने सर्वपदवाद की एक दूसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की है। वाक्यपदीय २।१२१ के आधार पर उनका कहना है कि सभी शब्दों का सत्तामात्र अर्थ है। शब्द का अर्थ केवल प्रत्याय्य होता है। उसे निश्चित रूप से नहीं व्यक्त किया जा सकता। अपूर्व, देवता, स्वर्ग जैसे शब्दो के जो अर्थ भासित होते हैं वे प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनका निरूपण संभव नही है। इसी तरह गो आदि शब्दों को भी समझना चाहिए। गमन, आगमन, गर्जन जैसे शब्दो का अर्थ है इतना ही सत्य है, उस अर्थ व्यवस्था का निरूपण विशेष रूप मे सभव नही है। इस सिद्धान्त के आधार पर सभी पद वाक्य हैं।[2] इस दृष्टि से 'पृथक् सर्वपद साकाक्षम्' के दो भाग हो जाते हैं—'पृथक् सर्वपदवाद और साकाक्ष सर्वपदवाद।' सुचरित मिश्र भी इसे दो भागो मे विभक्त करते जान पड़ते है।[3]

बौद्ध सम्प्रदाय में भी कहीं-कही पद की वाक्य सज्ञा दी गई है। पद ही वाक्य है। किन्तु उनकी पद की परिभाषा एक तरह से वही है जो एकार्थपरक पद समुदाय-वाक्यवादियो की है ·

पदपर्यायो वाक्यम्। यावद्भिः अर्थवद्भिः पदैः विवक्षितार्थपरिपूरिः (पूर्तिः) भवति तावतां समूहः पदम् इत्यभिधार्मिकाः। —अभिधर्मदीप पृ० १०६

कर्णकगोमी ने भर्तृहरि के नाम से एक उद्धरण दिया है जिसके अनुसार सभी पद अलग-अलग अर्थवान् है और उनमे प्रत्येक मे संपूर्ण अर्थ की परिसमाप्ति होती है। सभी पदो मे से जिस किसी का भी प्रथम ग्रहण हो, उसमे दूसरे पदो के अर्थ समाविष्ट रहते हैं, वे दूसरे पद केवल नियम या अनुवाद के लिए होते हैं.

यदाह भर्तृहरिः—सर्वेषां पृथक् अर्थवत्ता सर्वेषु प्रतिशब्दं कृत्स्नार्थपरिसमाप्तेः। तथा यदेव प्रथमं पदमुपादीयते तस्मिन् सर्वरूपार्थोपग्राहिणि नियमानुवाद-निबन्धनानि पदान्तराणि विज्ञायन्ते।[4]

—प्रमाणवार्तिक टीका, पृ० ४६४

इम उद्धरण से भी ऐसा जान पड़ता है कि पृथक् सर्वपद और साकाक्ष ये अलग-अलग भेद हैं।

योगदर्शन भी सर्वपदवाक्य सिद्धान्त का पोषक है। उसके अनुसार सभी पद मे वाक्य की शक्ति है। पद वाक्य है। 'वृक्ष.' इतना कहने पर भी 'वृक्ष है' ऐसा बोध देखा जाता है। पदार्थ सत्ता-निरपेक्ष नही होता। **सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः।**

---

१. वाक्यपदीय २।४७, ४८

२. द्वादशारनयचक्र पृ० १३३

३. एकैकापायेऽपि वाक्यार्थादर्शनात् सर्वाणि वाक्यम्। परस्परोपहितानि पृथक् कल्पनाद् वेति।
श्लोकवार्तिक काशिका ७।४६ हस्तलेख

४. इस उद्धरण से भी स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय पर स्वयं वृत्ति लिखी थी। यह अंश वाक्यपदीय २।१ पर होगा जो आज अनुपलब्ध है।

वृक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते। न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति। तथा न ह्यसाधना क्रिया अस्ति इति।

—योगसूत्र, व्यासभाष्य ३।१७

उपर्युक्त वाक्य विकल्पो के अतिरिक्त पुण्यराज ने मीमांसक, नैयायिक और शाक्य मत मे भी वाक्य के स्वरूप का निर्देश किया है और उनका उपर्युक्त वादो में अन्तर्भाव दिखाया है। उनके मत मे जैमिनि का वाक्यलक्षण लौकिक वाक्यलक्षण है और उसका अन्तर्भाव संघात पक्ष मे हो जायगा। वार्तिककार के वाक्यलक्षण का भी अन्तर्भाव, पुण्यराज के अनुसार, संघात पक्ष में हो जायगा।[1]

न्यायदर्शन में, पुण्यराज के अनुसार, पूर्व पूर्व पदस्मृति सचित अन्त्यपद नष्ट होता हुआ भी अनुभव का विषय बनकर वाक्य का स्वरूप लेता है। इसका भी अन्तर्भाव प्राय: संघातपक्ष में हो जाता है। शाक्य दर्शन मे गृहीत वाक्य का लक्षण बुद्ध्यनुसंहृति पक्ष के समकक्ष है।[2]

ऊपर जितने वाक्य विकल्पो का उल्लेख किया गया है, इनमे किसी की विशेष प्रतिष्ठा नही हुई। लोक व्यवहार मे एकार्थक पदसमुदाय को वाक्य माना जाता रहा और अनेक विचारको ने और वैयाकरणो ने भी उसे स्वीकार किया। इस दृष्टि से कुछ प्रसिद्ध वाक्यलक्षण यहा दिए जा रहे हैं।

१. पदसंघातज वाक्यम्।—व्याडि।

२ पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ।—कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० १७९

त्रिवेन्द्रम संस्करण

३ एकार्थ. पदसमूहोवाक्यम्।[3]—काशिका ८।१।८

४. सुप्तिडन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।

—अमरकोश, प्रथमकाण्ड, शब्दादिवर्ग

५. पदसमूहो वाक्यम्।—न्यास ४।४।१

६. विशिष्टैकार्थप्रतिपादकनिराकाक्षपदसमूहो वाक्यम्।

—वैद्यनाथ पायगुण्ड, चन्द्रालोकटीका पृ० ८

पुण्यराज के अनुसार इन सभी वाक्य विकल्पो मे भर्तृहरि का झुकाव एक निरवयव शब्द वाक्यवाद की ओर था। पुण्यराज ने इसकी दूसरी सज्ञा स्फोट दी है। स्फोट, बाह्य रूप मे और आन्तरिक रूप मे वाक्य है:

टीकाकारश्चामुमेव पक्षं सूत्रकारस्याभिप्रायसमाश्रयेण युक्तियुक्तं मन्यमानः बाह्यरूप आन्तरो वा निर्विभागः शब्दार्थमयो बोधस्वभावः शब्दः स्फोटलक्षण

---

१. अन्योः संघातपक्षेऽन्तर्भावः। वाक्यपदीयटीका २।१

२. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१,२

३. हरदत्त के अनुसार यहां काशिका में पाठ भेद था—क्वचित् एकतिङ् पदसमूहो वाक्यमिति पठ्यते "क्वचित् न किंचिदपि वाक्यलक्षणं पठ्यते।

—पदमंजरी ८।१।८

एव वाक्यमिति ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।६

किन्तु भर्तृहरि ने स्वयं वाक्य विचार के प्रसंग मे स्फोट शब्द का प्रत्यक्ष प्रयोग नही किया है।

हेलाराज भी निरवयव वाक्यवाद के समर्थक हैं : **वाक्यस्यैव निरंशस्य वाचकत्वादन्तरापदप्रतिपत्तिः विभ्रम इति ।**

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३।१

वाक्य के भेद

व्यावहारिक वाक्य लक्षण को सामने रखकर वाक्य भेद पर भी विचार मिलते हैं। वाक्य भेद के मुख्य आधार क्रिया पद हैं। एक क्रिया हो तो एक वाक्य, अनेक क्रिया हो तो अनेक वाक्य मानने चाहिए। किन्तु राजशेखर आदि इससे सहमत नही हैं :

> **आख्यातपरतंत्रा वाक्यवृत्तिः। अतः यावदाख्यातमिह वाक्यानि—इत्याचार्याः। एकाकारतया कारकग्रामस्यैकार्थतया च वचोवृत्तेः एकमेवेदं वाक्यम् इति यायावरीयः।**

—काव्य मीमासा, पृ० २३ बड़ौदा स०

फिर भी आख्यात के आधार पर दस तरह के वाक्यो का उल्लेख काव्य मीमासा मे मिलता है .

> **एकाख्यात। अनेकाख्यात। आवृताख्यात। एकाभिधेयाख्यात। परिणताख्यात। अनुवृताख्यात। समुच्चिताख्यात। अध्याहृताख्यात। कृदभिहिताख्यात और अनपेक्षिताख्यात।**

भोज ने इसमे 'एकान्तराख्यात' नामक एक और भेद जोड़ कर वाक्य के ग्यारह भेद माने हैं।[1] इनमे व्याकरण के विचार क्षेत्र मे एकाख्यात और अनेकाख्यात इन दो रूपो पर अधिक विचार है। क्रिया विचार के प्रसंग मे कहा जा चुका है कि इस विषय मे पाणिनि और वार्तिककार मे मतभेद दिखाई देता है। पाणिनि के अनुसार अनेकाख्यात के योग मे भी, यदि पद साकाक्ष हो, एक वाक्यत्व रहता है।

> **तत्रभवन्त मन्यन्ते बहुष्वपि तिङन्तेषु येषु अर्थलक्षणा काचिद् आकांक्षा विद्यते तेषाम् एकवाक्यत्वं न व्यावर्त्यते।**

—वाक्यपदीय २।४५० हरिवृत्ति, हस्तलेख

कात्यायन एक तिङ् वाले मत के प्रवर्तक हैं। फलतः

'पश्य मृगो धावति।'

'अयं दण्डः हरानेन'

जैसे वाक्य एक भी हैं और नाना वाक्य भी हैं।

---

१. शृंगार प्रकाश, पृ० १०३—१०४ मैसूर संस्करण

अस्ति स मे रोचते ।
नास्ति रमे ।
भवेदपि भवेत् ।
स्यादपि स्यात् ।
अपि भवेदेतत् भवेत् देवदत्तः ।
अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्याम तत्रौदनं भोक्ष्यामहे ।'
'स' स्वपिवति, एष बुद्धयते'

जैसे वाक्य विचार-भेद से एक वाक्य भी हैं और नाना वाक्य भी हैं। अनेक-क्रिया पद होने से नाना वाक्य है । परस्पर साकाक्ष होने से, क्रिया मे परस्पर लक्ष्य लक्षण भाव होने से अथवा काल विशेष के लक्षण होने से एक वाक्य हैं । जो लोग वाक्य भेद का आधार बुद्धि मे अन्य का उल्लेख मानते हैं, उनके मत मे भी उपर्युक्त वाक्यों मे एकवाक्यता है ।[1]

महाभाष्यकार का एक वाक्य है ·

भवति वै किंचिद् आचार्याः क्रियमाणमपि चोदयन्ति

—महाभाष्य २।४।६२, ६।१।६७

कैयट ने इसे एक वाक्य भी माना है और दो वाक्य भी माना है .

भवति वै किंचिदित्येकं वाक्यम् । अथवा चोदनक्रिया भवति क्रियायाः कर्त्री भवतीति एकमेव वाक्यम् ।—कैयट, प्रदीप ६।१।६७

विशेष उदाहरणो को छोड दें तो संस्कृत में वाक्य के प्रकृत स्वरूप पर विशेष विवाद नही है । वाक्य के विषय मे दो तत्त्व संकृत मे सदा से परिगृहीत हैं । पहला यह है कि वाक्य मे पदक्रम का कोई नियम नही है । केवल निपातो के प्रयोग पर कुछ नियम हैं । दूसरा यह कि वाक्य की कोई सीमा नहीं है, वाक्य लम्बे-से-लम्बे हो सकते हैं :

न च वाक्यरूपावधिपरिग्रहे नियमोऽस्ति ।

—वाक्यपदीय २।७६ हरिवृत्ति

प्रधान वाक्य और अप्रधान वाक्य के रूप मे भी वाक्य पर विचार है । प्रधान वाक्य को केवल वाक्य, अथवा महावाक्य कहते हैं । अप्रधान वाक्य को अवयव वाक्य अथवा अवान्तर वाक्य कहा जाता है ।

संस्कृत मे द्विष्ठ अथवा द्विगत वाक्य को भी वाक्य के एक रूप मे माना गया है :

वाक्यान्यपि द्विगतानि दृश्यन्ते
श्वेतो धावति । अलम्बुसानां यातेति ।।

—महाभाष्य ८।२।३ पृ० ३८८ कीलहार्न सं०

---

१. तत्र हि खलु वाक्यभेद उपेयते यत्रासौ परामृश्यमानः अन्या बुद्धिरुल्लिखति ।
शृंगार प्रकाश पृ०११६

दो अर्थ अथवा दो प्रयोजन व्यक्त करने वाले वाक्य द्विष्ठ वाक्य कहे जाते हैं। "श्वेत: धावति" को दो वाक्यो मे बदला जा सकता है—

१—श्वेत: धावति।

२—श्वा इत: धावति।

संस्कृत मे कतिपय ऐसे भी पद हैं जो वाक्य के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। उन्हें पदवचन वाक्य कहा जाता है।

श्रोत्रिय = जो वेद पढ़ता है।

क्षेत्रिय = जिसका रोग किसी अन्य के माध्यम से चिकित्स्य होता है।

इस तरह के शब्द पद होकर भी वाक्य का काम करते हैं।

वाक्यार्थ विचार

वाक्य के साथ-साथ वाक्यार्थ पर भी विचार सुदूर प्राचीन काल मे आरम्भ हो गया था। एक तरह से वाक्यार्थ को सामने रखकर ही वाक्य पर विचार प्राचीन आचार्यों ने किया था। संग्रहकार व्याडि ने वाक्यार्थ की प्रतिष्ठा की थी और स्पष्ट सिद्धांत स्थिर किया था कि पद के स्वरूप और उसके अर्थ का ज्ञान वाक्यार्थ पर ही निर्भर करता है :

पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते।[1]

महाभाष्य मे वाक्यार्थ सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण वक्तव्य मिलते है। एक तो यह कि पद पहले सामान्य अर्थ व्यक्त करते हैं, बाद मे विशेष अर्थ व्यक्त करते है। पद का सामान्य से विशेष मे अवस्थित होना ही वाक्यार्थ है :

पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थ:।

—महाभाष्य १।२।४५, भाग १ पृ० २१८, कीलहार्न सस्करण

कैयट ने इसका अभिप्राय निकाला है कि वाक्यार्थ पदार्थसंसर्ग रूप है। वाक्य ही मुख्य शब्द है और वाक्यार्थ ही मुख्य शब्दार्थ है। किन्तु भाष्यकार का यह वक्तव्य अभिहितान्वयवाद का बीज माना जा सकता है।

महाभाष्यकार का वाक्यार्थ के विषय मे दूसरा वक्तव्य यह है कि जो कुछ आधिक्य रूप में सामने आता है वह वाक्यार्थ है। प्रातिपदिकार्थों मे क्रिया के योग मे क्रियाकृत विशेष उत्पन्न हो जाते हैं। वही आधिक्य है। वही वाक्यार्थ है।[2]

शबर स्वामी का वाक्यार्थ-निरूपण महाभाष्यकार के वक्तव्य के सदृश है। पद सामान्य वृत्ति वाला है। वाक्य विशेष वृत्ति वाला है। सामान्य मे प्रवृत्त पदार्थों

---

१. वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति में संग्रहकार के नाम से उद्धृत पृ० ४२ लाहौर संस्करण

२. यदत्राधिक्यं वाक्यार्थ: स:

—महाभाष्य २।३।४५, पृ० ४६२ कीलहार्न संस्करण

प्रातिपदिकार्थानां क्रियाकृतविशेषा उपजायन्ते।

—महाभाष्य २।३।५० पृ० ४६४

का विशेष में अवस्थान वाक्यार्थ है ।[1]

हेलाराज ने भी ऐसे सम्बन्ध को वाक्यार्थ माना है :

वाक्यार्थश्च सामान्ये वर्तमानानां विशेषेऽवस्थापकः सम्बन्धः ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय, गुणसमुद्देश १

वाक्यार्थ सत्यभूत है । उसकी आत्मा किसी विशेष मे स्थित नहीं है । पुण्यराज के अनुसार पानकरस की भांति अर्थ विभागरहित है । पदार्थ लोहे की छड (अयः शलाका) की तरह है । वाक्यार्थ के संपर्क से उनमे प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है ।[2]

पदार्थ मे अथवा समुदाय मे वाक्यार्थ की कही भी परिसमाप्ति नही होती । भृगग्राहिक ढंग से उसके स्वरूप का विवेचन नही हो सकता । केवल अन्वाख्यान के लिए वाक्य के पदो में साकाक्षत्व की कल्पना कर वाक्यार्थ का निरूपण किया जाता है । वाक्यार्थ अपने आप मे एक है, अखण्ड है ।[3]

अभिनवगुप्त ने भी नियत एकघनाकार वाक्यार्थ का अवबोध एकाकार रूप में ही सहज माना है । इसी दृष्टि से अनुपदकार आदि ने 'हन्नेर्भूते क्विप्' मे चार तरह के अवधारण का आश्रय लिया है । व्याख्यान के लिए एक वाक्य के भीतर अवान्तर वाक्य के उत्थान से वाक्य भेद नही होता ।[4]

जैसे वाक्य एक है, अखण्ड है । वैसे अर्थ भी एक है, अखण्ड है । वाक्यार्थ का अनुगम चित्र परिज्ञान के सदृश है । जैसे शब्द का कोई विभाग नही होता अर्थ का भी कोई विभाग नही होता ।[5] केवल समझने समझाने के लिए अर्थ के स्वरूप पर विचार किया जाता है ।

वाक्यार्थ ससर्ग रूप मे अथवा भेद रूप मे, अथवा भेद संसर्ग उभय रूप में गृहीत होता है । संसर्ग सम्बन्ध को कहा जाता है । भेद से तात्पर्य व्यावृत्ति से, अन्य से अलग करने से है । राज्ञः पुरुष कहने से पुरुष-विशेष का स्वामी-विशेष से, स्वामी-विशेष का पुरुष-विशेष से जो सम्बन्ध है, वही ससर्ग है । अपने से अन्य से और स्वामी से अन्य से जो व्यावृत्ति भासित होती है वह अर्थसिद्ध है । दो वस्तुओ का सम्बन्ध जब तक अन्य सम्बन्धियो से अलग रूप मे न दिखाया जाय, संसर्ग नही कहलाता । यह संसर्गवादियो का मत है ।

जो लोग भेद को वाक्यार्थ मानते हैं उनके मत में व्यावृत्ति ही वाक्यार्थ है । जब तक अर्थ रूप में गृहीत ससर्ग का सम्बन्धान्तर से व्यावर्तन न हो, वह स्वरूप ही नही ग्रहण कर सकता । अत अन्य से व्यावर्तन की प्रमुखता होने के कारण, भेदवादियो

---

१. शाबर भाष्य ३।१।१२, पृ० १५१ काशी संस्करण
२. वाक्यार्थे योऽभिसम्बन्धो न तस्यात्मा पृथक् स्थितः । व्यवहारे पदार्थानां तमात्मानं प्रचक्षते ॥

वाक्यपदीय २।४४५

३. एकार्थत्वं हि वाक्यस्य मात्रयापि प्रतीयते । वाक्यपदीय २।४४८
४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १ पृ० २१७
५. शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति ।

—वाक्यपदीय २।१३

की दृष्टि में भेद, वाक्यार्थ है।

कुछ आचार्य दोनो मतों को जोडकर भेद और ससर्ग दोनो को वाक्यार्थ रूप में स्वीकार करते हैं।

वाक्य से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है किन्तु उस प्रतिपत्ति का कोई निश्चित प्रकार नही है। किसी को किसी रूप मे प्रतिपत्ति होती है किसी को किसी रूप में। कोई आचार्य पाणिनि की प्रक्रिया के आश्रय से अर्थ का अवबोध करता है कोई किसी अन्य व्याकरणसम्मत प्रक्रिया से। श्रोत्रिय शब्द से वेद पढ़ने वाला व्यक्ति का बोध होता है किन्तु इस बोध की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है। किसी मत से श्रोत्रिय शब्द श्रोत्र शब्द से घ प्रत्यय से बना है और श्रोत शब्द स्वतः छन्द शब्द का आरोपित रूप है। किसी के मत मे श्रोत्रिय शब्द श्रोत्र से किए गये कर्म के अर्थ मे निष्पन्न होता है। अन्वाख्यान की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। भेद वाक्य-विभाग के आधार पर होते हैं। राजपुरुष कहने से संसृष्ट रूप अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, 'राज्ञः पुरुष' कहने से विभक्त रूप मे। भर्तृहरि के अनुसार भेद और ससर्ग, अध्यारोपसिद्धांत, नियमसिद्धांत अथवा अपवाद सिद्धात की प्रक्रिया से भिन्न-भिन्न व्यक्तियो को बोध कराने के उपाय मात्र हैं।

वाक्यार्थ एक है, अखण्ड है। जैसे पदार्थ के ज्ञान मे वर्ण के अर्थ पर ध्यान नही जाता वैसे ही वाक्य के अर्थ के लिए पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा नही रहती।[1]

इसके विपरीत कुछ आचार्य मानते हैं कि वाक्यार्थ पदार्थ मे सन्निविष्ट रहता है, पदार्थ वर्ण के अर्थ मे सन्निविष्ट रहता है। वर्ण और पद भी अर्थवान् हैं। इनके अर्थ के द्वारा ही वाक्य भी अर्थवान् होता है। वाक्य और पद के अर्थ तो स्पष्ट प्रतीत होते हैं, किन्तु वर्ण के अर्थ सूक्ष्म है, अप्रत्यक्ष से हैं, किन्तु वर्ण वाचक अवश्य हैं। जिस हेतु के बल पर पदार्थवादी पद मे अर्थ की कल्पना करते हैं, उसी हेतु के बल पर वर्ण-वादी वर्ण में अर्थ की कल्पना करते हैं।[2]

बुद्ध्यनुसंहार वाक्यवाद के समर्थक जैसे आन्तर शब्द की सत्ता मानते हैं वैसे ही आन्तरवाक्यार्थ की भी सत्ता स्वीकार करते हैं। संपूर्ण वाक्य एक शब्द है, उस शब्द के दो भाग हैं। एक भाग से अन्त. शब्द तत्त्व की अभिव्यक्ति होती हैं, दूसरे भाग से अन्तः अर्थ तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है।

अर्थभागंस्तथा तेषामान्तरोर्थं प्रकाशते

—वाक्यपदीय २।३१

सभी व्यवहार पहले अन्तःबुद्धि में बद्धमूल होते हैं, इसलिए सभी अर्थ आन्तरिक हैं।

भर्तृहरि ने इस विचारधारा के पोषक किसी प्राचीन सांख्य अथवा आचार्य पंचशिख का मत उद्धृत किया है। इस मत मे अर्थ के भान की प्रक्रिया यों है—विषय

१. वाक्यपदीय २।६०
२. वाक्यपदीय २।६१-६३

(वस्तु) का बुद्धि में संक्रमण होता है, बुद्धि आत्मा से संपृक्त होती है, बुद्धि में जिस वस्तु का बिम्ब है, पुरुष भी तदात्मक हो जाता है, फलतः पुरुष को अर्थ की उपलब्धि होती है। उस उपलब्धि का भोग (विभाग ?) विषय का भोग, अर्थ का परिज्ञान होता है। इसमें सहायक दो शक्तियां हैं। भोक्तृ शक्ति और भोग्य शक्ति। ये दोनों शक्तियां असंकीर्ण हैं, अलग-अलग हैं, फिर भी अविभक्त-सी होकर भोग का निष्पादन करती हैं। यह भोग बुद्धि मे घटित होता है। बुद्धि प्रकाशमयी है। उसमे चैतन्य पुरुष और वस्तु दोनों ही प्रतिबिम्बित हैं। दूसरे शब्दो मे, बुद्धि पुरुषरूप और वस्तुरूप दोनों हो जाती है। इसलिए जो विभक्त है वह अविभक्त-सा हो जाता है। विभक्त का अविभक्त सा हो जाना ही भोग है। भोक्तृ शक्ति अपरिणामी है और सक्रमणशील नहीं है। वस्तु परिणामी है। किन्तु भोग्यशक्ति वस्तु मे सक्रमित सी होकर वस्तुगत धर्म का अनुभव करती है। ज्ञान की प्रवृत्ति इस चैतन्य युक्त बुद्धि वृत्ति से अविशिष्ट है। भोग और ज्ञान समान है। भोग की तरह अर्थ ज्ञान भी बुद्धिसमाविष्ट है। भोक्तृ और भोग्य शक्ति की तरह प्रतिपादक और प्रतिपत्तव्य शक्ति बुद्धि मे अविभक्ति-सी रहती हैं। दूसरे शब्दों मे, शब्द और अर्थ दोनों बुद्धि मे एकत्र अविभक्त से सपृक्त रहते हैं। ये एक ही शब्दात्मा के दो भेद हैं।[1] विषय भेद से उनका विभाग कल्पित है।

वाक्यार्थ की सत्ता बौद्ध है, बुद्ध्यात्मक है। अर्थ सदा एक बुद्धि से अवमृष्ट होता है। वह आतरिक है। बाह्य नही है। किन्तु अबाह्य बाह्य रूप मे प्रतीत होता है और अपोद्धार के सहारे उसका विभाग किया जाता है। यो अर्थ विज्ञानमय है, बौद्ध है, वह बाह्य रूप मे प्रतिभासित होता है। बाह्य रूप मे, हो चाहे वह सत् या असत्, उपचार के सहारे अपोद्धार पद्धति पर उस अर्थ का विभाग किया जाता है :

संप्रत्ययार्थाद् बाह्योऽर्थः सन्नसन्वा विभज्यते।
बाह्यीकृत्य विभागस्तु शक्त्यपोद्धारलक्षणः॥

—वाक्यपदीय २।४४६

पुण्यराज ने इस कारिका के संप्रत्यय शब्द का अर्थ बुद्धि या विज्ञान किया है। उनके अनुसार निष्कर्ष यह है कि यदि अर्थ विज्ञानाकार है किन्तु विकल्प-वासना के प्रभाव से बाह्य अर्थ के साथ एकाकार होकर सत्य रूप से बाह्य रूप मे अवस्थित होता है, शब्दार्थ बाह्य है। यदि असत्य रूप मे अवस्थित होता है, शब्दार्थ बौद्ध है।

अर्थ के बौद्ध या बाह्य दोनों रूप मे अपोद्धार समान है। वाक्यवादी, वाक्य की ही सत्ता स्वीकार करने वाले, अखण्ड वाक्य की व्युत्पत्ति मे पद-व्युत्पत्ति को उपाय (साधन) मानते हैं। पदवादी प्रकृति-प्रत्यय आदि की व्युत्पत्ति को उपाय मानते हैं।

---

१. वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति। भर्तृहरि ने यहाँ जिन वाक्यों का प्रयोग किया है वे वाक्य योगसूत्र व्यास भाष्य २।६ और ४।२२ में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ये विचार पचशिख के हैं। भर्तृहरि ने इस दर्शन का उल्लेख वृत्तिसमुद्देश ३२५ में भी किया है—

अचेतनेषु सक्रान्तं चैतन्यमिव दृश्यते।
प्रतिबिम्बकधर्मेण यतच्छब्दनिबन्धनम्॥

वाक्यों के अनन्त होने से उनकी व्युत्पत्ति स्वलक्षण से नही हो सकती। अतः अपोद्धार पद्धति का आश्रय लिया जाता है। दोनों पक्ष में अपोद्धार भी असत्य है। अपोद्धार में भी पद अपोद्धार की अपेक्षा अर्थ अपोद्धार अधिक युक्त है। कल्पना बुद्धि से पद का पृथक्करण अपोद्धार कहलाता है। जो ज्ञान मे प्रतिबिम्बित है वही बाह्य सदृश रूप में आभासित होता है। वाक्य से पद का अपोद्धार वाक्यार्थ परिकल्पना के आधार पर होता है। वाक्यार्थ स्वय निरंश है। स्थितलक्षण है। कारक युक्त क्रिया स्वभाव है।[1]

जैसे वाक्य के विषय मे, वाक्यार्थ के विषय मे भी सर्वाधिक विचार वाक्यपदीय में है। पुण्यराज के अनुसार वाक्यपदीय मे निम्नलिखित छः वाक्यार्थों का निरूपण है—

१—ससर्ग वाक्यार्थ
२—ससृष्ट वाक्यार्थ
३—निराकाक्ष पदार्थ वाक्यार्थ
४—प्रयोजन वाक्यार्थ
५—क्रिया वाक्यार्थ
६—प्रतिभा वाक्यार्थ

इन छ प्रकार के वाक्यार्थ के अतिरिक्त, मीमासादर्शन की दृष्टि से विधि वाक्यार्थवाद, नियोगवाक्यार्थवाद और भावना वाक्यार्थवाद तथा न्याय दर्शन और बौद्ध दर्शन मे गृहीत वाक्यार्थ पर भी पुण्यराज ने कुछ प्रकाश डाला है और उनका उपर्युक्त भेदो मे अन्तर्भाव दिखाया है।

संसर्ग वाक्यार्थ रूप में

जो आचार्य पदसघात को वाक्य मानते हैं उनके मत मे संसर्ग वाक्यार्थ है। भर्तृहरि ने इस मत के आधार के लिए महाभाष्यकार की आधिक्यवाली उक्ति उद्धृत की है। पदो मे परस्पर सम्बन्ध होने पर जो आधिक्य अवगत होता है वह अनेकपदाश्रित ससर्ग है, वही वाक्यार्थ है.

सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम्॥

—वाक्यपदीय २।४२

ससर्ग को वाक्यार्थ के रूप मे स्वीकार करने वालों के भी तीन विकल्प हैं। एक जाति के सदृश वाक्यार्थ की प्रत्येक मे परिसमाप्ति मानता है। दूसरा, सख्या की

१. ज्ञानप्रतिबिम्बितस्य हि बाह्यानुकारित्वेन सादृश्यं सर्वत्र प्रकारार्थः। संकल्पितसादृश्यस्य बाह्यस्य निर्वतनात्। वाक्याच्चापोद्ध्रियमाणस्य पदस्य वाक्यार्थांशपरिकल्पनया अर्थवत एवापोद्धारो युक्तः। अर्थापोद्धार एव हि पदापोद्धारस्य निमित्तम्। अनिमित्ते हि तस्मिन् वर्णापोद्धारस्यापि प्रसंगात् तेषामपि व्युत्पाद्यता स्यात्। वाक्यार्थश्च स्थिरलक्षणो निरंशः कारकोन्कलितशरीरक्रियास्वभावः॥
हेलाराज ३।१

तरह वाक्यार्थ की परिसमाप्ति समुदाय में मानता है। तीसरा, सामान्य विरोधी विशेष विश्रान्त पक्ष का समर्थन करता है। इनका उल्लेख संघात वाक्यवाद के अवसर पर किया जा चुका है।

वाक्यार्थ का विशेष स्वरूप संसर्ग है। जो आचार्य वर्ण या पद को सार्थक नहीं मानते, उनके मत मे भी पद समुदाय से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है :

यथैवानर्थकैः वर्णैः विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते ।

पदैरनर्थकैरेवं विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते ॥ —वाक्यपदीय २।४१६

वाक्य की असमाप्तिदशा मे पदो से जो ज्ञान होता हैं वह इस मत में, प्रतिपत्ति का उपाय मात्र है।

अपरिसमाप्ते यद् वाक्ये सामान्यमात्रे
पदाभिधेये देवदत्तादिश्रुतेः ज्ञानमुत्पद्यते ।
प्रतिपत्त्युपायएवासौ पुरस्तात् व्याख्यातः ।

—वाक्यपदीय २।४१७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

पद चाहे अनर्थक हो, अथवा उपाय के रूप मे सार्थक हो, सदा क्रम मे उच्चरित होने पर एक विशेष अर्थ के जनक होते हैं। वह विशेष ससर्ग है :

अनर्थकान्युपायत्वात्पदार्थेनार्थवन्ति वा ।
क्रमेणोच्चारितान्याहुर्वाक्यार्थं भिन्नलक्षणम् ॥

—वाक्यपदीय २।५५

कुछ विचारको के मत मे अर्थ का निर्धारण अशब्द होता है। शब्द अर्थ के स्वभाव का ज्ञान नही करा सकता। शब्द अर्थ के अवधारण मे उपायभूत नही हैं। शब्द केवल एक प्रकार की स्मृति मात्र जगाते हैं जो अर्थ के अवभास रूप होती है। घट, पट आदि शब्द बुद्धि मे घट, पट आदि के आकार से व्यक्त करते जान पडते हैं किन्तु इन शब्दो मे आकार की अभिव्यक्ति की क्षमता नही है। शब्द तो अर्थ को दूर हटाता है, वह अर्थ के अवबोध मे विक्षेप सा उत्पन्न करता है। अर्थ का परिज्ञान अशब्द व्यापार है। वह निर्विकल्प है। अग्निदाह, हिमदाह, शस्त्रदाह जैसे शब्दों मे दाह शब्द से भिन्न-भिन्न अर्थ झलकते हैं। इसलिए मान लेना चाहिए कि शब्द मे अर्थ के अवधारण का सामर्थ्य नही है। शब्द स्मृतिकल्प है।

सर्वत्र अशब्दमर्थानां स्वभावावधारणम् इत्येकेषां दर्शनम् ।

—वाक्यपदीय २।४२४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

पुण्यराज ने, इस मत मे पदार्थ को विपरीतख्यातिरूप अथवा असत्ख्यातिरूप माना है। पदार्थ असत्य है। वाक्यार्थ सत्य है। पदार्थ अपना पृथक् अर्थ रखते हो तो भी वाक्य मे बिना अवस्थित हुए वे अर्थ के प्रत्यायक नही होते। इन्द्रियो मे शक्ति होती है किन्तु शरीर के आश्रय से ही वे अपने-अपने व्यापार को कर पाती हैं। वाक्य से अलग पद मे अर्थवत्ता नही है। वाक्य मे अथवा पद मे ससर्ग रूप प्रतीत ही होता है। इसलिए वाक्यार्थ का स्वरूप पदार्थ से विलक्षण है और वह संसर्ग रूप है :

संसर्गरूपं संसृष्टेष्वर्थवस्तुषु गृह्यते । —वाक्यपदीय २।४२८

संसृष्ट वाक्यार्थ रूप में

पुण्यराज के अनुसार जो आचार्य आद्यपदवाद और पृथक् साकाक्ष सर्वपदवाद के समर्थक हैं, उनके मत में संसृष्ट वाक्यार्थ है। संसर्ग वाक्यार्थ और संसृष्ट वाक्यार्थ में केवल यह भेद है कि संसर्ग वाक्यार्थ पक्ष में वाक्यार्थ में पदार्थों से वैशिष्ट्य माना जाता है। संसृष्ट वाक्यार्थ पक्ष मे पदार्थों का परस्पर भाव ही वाक्यार्थ है, वाक्यार्थ में कोई आधिक्य नही आता। दूसरे शब्दो मे, ससर्ग पक्ष मे पदार्थों का वैशिष्ट्य वाक्यार्थ है। संसृष्ट पक्ष मे विशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ हैं। एक पद अपने अर्थ से पहले अनुगत होकर दूसरे पदो से जुटता है। अत. पद पहले ही विशिष्ट हो गया रहता है। वह सदा विशिष्ट रूप में ही पदान्तर के सन्नि- ध्ययन से श्रोता या अवबोद्धा को अपना बोध कराता है.

पूर्वैरर्थैरनुगतो यथार्थात्मा परः परः।
संसर्ग एव प्रकान्तस्तथान्येष्वर्थवस्तुषु॥[1]

—वाक्यपदीय २।४१८

निराकांक्षपदार्थ वाक्यार्थ रूप में

कुछ आचार्यो की मान्यता है कि निराकाक्ष किन्तु विशेष विश्रान्त पदार्थ ही वाक्यार्थ है। यह मत संसर्गवाद का ही एक पक्ष है। संसर्गवाद मे और इसमे भेद यह है कि उसमें पद परस्पर साकाक्ष होते है, इसमे निराकाक्ष। ससर्गपक्ष मे पदार्थ ही वाक्यार्थ नही हैं। इस मत मे पदार्थ ही वाक्यार्थ है। पदार्थ विशेष विश्रान्त अवश्य हैं किन्तु उनका सम्बन्ध संसर्ग न होकर असत्त्वभूत है, उसे ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। वह प्रत्यक्ष नही है। वह अनुमेय है। वह सम्बन्ध अभिधेय के स्वरूप का अतिक्रमण नही करता.

कार्यानुमेय सम्बन्धो रूपं तस्य न दृश्यते।
असत्त्वभूतमत्यन्तमतस्तं प्रतिजानते॥

—वाक्यपदीय २।४६

प्रयोजन वाक्यार्थ रूप में

किसी दर्शन में पद का अर्थ अभिधेय माना गया था और वाक्य का अर्थ प्रयोजन था। इस मत मे प्रयोजन वाक्यार्थ है।

---

१. पुण्यराज के अनुसार इस कारिका में ससृष्ट पक्ष का प्रतिपादन है जो अन्विताभिधानवाद के अनुकूल है—
अनेन श्लोकेनान्विताभिधानसमाश्रयणेन संसृष्टं वाक्यार्थप्रदर्शनं क्रियते। तथा हि अभिहितान्वयवादिनः पूर्वपूर्वार्थानुगतः संसर्गः वाक्यार्थः। अन्विताभिधानवादिनस्तु उत्तरोत्तरपदार्थादिगतः प्रथमतरमेव संसृष्ट एव॥
—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४१८

अभिधेयः पदस्यार्थो वाक्यस्यार्थः प्रयोजनम् ।

—वाक्यपदीय २।११४

यह मत अभिहितान्यवाद का ही एक पूर्व रूप जान पड़ता है। तात्पर्यार्थ और प्रयोजन समान हैं। वाक्यपदीयकार ने इस मत की स्वयं समीक्षा की है। प्रयोजन को वाक्यार्थ मानने पर वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध दिखाना कठिन होगा। वाक्य लोहे की शलाका की तरह होते हैं। उनमे परस्पर सम्बन्ध अभि-धेय के द्वारा संभव है। किन्तु पद का अर्थ अभिधेय मानने से और वाक्य का अर्थ अभिधेय न मानने से, वाक्यों में सम्बन्ध दुर्घट होगा।

क्रिया वाक्यार्थ रूप में

आख्यात शब्द को वाक्य मानने वालो के मत मे क्रिया वाक्यार्थ है। बिना क्रिया के अनुषग के वाक्यार्थ की प्रतीति नही होती। कुछ के मत मे क्रिया सदा शक्ति विशेष (कारक) से युक्त होकर तुल्य रूप मे और अतुल्य रूप मे भी विशिष्ट स्वरूप वाली ही होती है। कारक केवल बोध मे उपायभूत होते हैं :

इह केचित् मन्यन्ते तुल्यरूपा चातुल्यरूपा च वाक्येषु विशिष्टैव फलरूपाभ्याम् शक्तिविशेषैः युक्ता क्रिया मुण्डि कुटि चर्चिवत् प्रक्रान्ता प्रतिपत्तृणाम् ।

—वाक्यपदीय २।४२१ हरिवृत्ति, हस्तलेख।

मुण्डयति माणवकम्—बालक के सिर के बाल काट रहा है—इस वाक्य मे मुण्डयति की व्युत्पत्ति मुण्ड करोति के रूप मे की जाती है। कुछ लोगो के मत मे मुण्ड शब्द सामान्य प्रवृत्ति को व्यक्त करता है, किन्तु णिच् करोति विशेष मे होता है सामान्य से नही। कुछ आचार्यों के अनुसार मुण्ड धातु केशच्छेदन के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। मुण्डयति से क्रियाविशेष का स्वभावत· अभिधान होता है :

यद्यपि क्रियाविशेषाभिधायित्वं मुण्डादीनां नैवोपात्त तथापि स्वाभाविकत्वादर्थाभिधानस्य प्रयोगादेव तदवसीयते ।

—कैयट, महाभाष्य प्रदीप ३।१।८

मुण्डयति के अर्थ मे कुटयति का प्रयोग होता है किन्तु मुण्डं करोति की तरह कुट करोति प्रयोग नही होता। अत. क्रिया तुल्य रूप भी है और अतुल्य रूप भी। दूसरे शब्दो मे, क्रिया क्रियान्तर से भिन्न, विशेष है।

जो आचार्य एकत्व और नित्यत्व दर्शन के अनुगामी हैं वे भी मानते हैं कि वाक्य से विशिष्ट क्रिया का ही बोध होता है। वह क्रिया काल, कारक, वचन आदि से अनुगत होती है :

एकत्वनित्यत्वदर्शिनस्तु मन्यन्ते विशिष्टा हि क्रिया यथा संभवं कालसाधनद्रव्यपुरुषोपग्रहादिभिः अनुगता वाक्येनाभिधीयते ।

—वाक्यपदीय, २।४४७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

कुछ आचार्यों के मत में क्रिया मे भी दो भाग होते है, व्यक्ति भाग और जाति भाग। क्रिया कभी व्यक्ति भाग से अर्थ को व्यक्त करती है, कभी सामान्य भाग से।

इसके विपरीत कुछ आचार्य क्रिया में जाति व्यक्ति भाव नहीं मानते हैं। जाति और व्यक्ति वस्तु के धर्म हैं, क्रिया के नहीं। क्रिया पूर्व और अपर रूप मे फैली हुई इदं तत् जैसे सर्वनाम से बोध्य नही है। इसलिए उसमें जाति व्यक्ति नहीं संभव है। हाँ उसके सत्त्वभावापन्न जाने पर बात दूसरी है। क्रिया मे जाति व्यक्ति धर्म के समर्थकों का मत है कि क्रिया मे भी सामान्य और विशेष भाव देखा जाता है—दोनों ही अपौरुषेय हैं। अतिशययोग, समुच्चय आदि में भेद व्यवहार में क्रिया का व्यक्ति धर्म देखा जाता है। अन्यावृत्ति, अभेदैकत्व संख्या आदि में सामान्य धर्म देखा जाता है :

> इह केचित् क्रियायामाकृतिव्यक्तिव्यवहारो नास्तीत्येवं प्रतिपन्नाः पदान्तर धर्ममेव तं प्रतिजानते। विप्रकृता पूर्वापरीभूता साध्यावस्था क्रिया। तस्या इदं तत् इति प्रतिप्लवमानकल्पनया व्यपदेष्टुमशक्यत्वात् जातिव्यक्तिधर्मो नास्ति।…केचित् मन्यन्ते, तस्यामपि सामान्यविशेषवृत्तिरूपतामात्रमस्ति हेतुः। सा तु क्वचित् व्यक्तिभागेनोपकरोति। क्वचित् सामान्यभागेन।
>
> —वाक्यपदीय २।४६५ हरिवृत्ति हस्तलेख

क्रियावाद की छाया में एक दार्शनिकवाद भी खडा हो गया था। वह मानता था कि जगत् वस्तु शून्य है। बुद्धि ही भिन्न-भिन्न व्यवहार का मूल कारण है। बुद्धि ही साध्य (क्रिया) रूप मे अथवा सिद्ध (कारक) रूप मे व्यक्त होती है और शब्द से उसी की प्रतीति होती है। जो कुछ बाह्य व्यवहार है वह माया, इन्द्रजाल सा है। बुद्धि अपनी महिमा से उल्लसित होकर काल्पनिक आकार मे परिणत-सी होकर भेद का जनक होती है। वस्तुत बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता ही नही है जिसमे सिद्ध और साध्य का विवाद खडा हो। कुछ लोग बुद्धि को आकार भेदवाली क्रिया मानते है। उनके मत मे बाह्य अर्थक्रिया की सिद्धि अन्त तत्त्व से गठित होती है जो अपनी मात्राओं से किंचित् विषय का निर्भास कराते है।[1]

भर्तृहरि ने अर्थ को सर्वशक्तिमान् माना है और प्रयोग करने वाले की विवक्षा के आधार पर वही अर्थ कभी सिद्धि रूप मे और कभी साध्य रूप मे प्रधान दिखाई देता है :

> सर्वशक्तेरर्थस्य यः प्रदेशो यथा प्रक्रम्यते सिद्धरूपेण साध्यरूपेण वा शेषभावेन वा।
>
> —वाक्यपदीय २।४३५ हरिवृत्ति हस्तलेख

वाक्यपदीय मे विधि वाक्यार्थ, नियोग वाक्यार्थ और भावना वाक्यार्थ पर विचार नही मिलता। ये तीनो ही मीमांसा दर्शन के विचार के विषय हैं। इनमे विधि और नियोग लिङ्, लोट् और कृत्य प्रत्यय के अर्थ होने के कारण, केवल एक देश के छूने के कारण, इन पर विचार नही किया गया है। भावना वाक्यार्थवाद क्रियावाक्यार्थवाद के समान है। केवल प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ को लेकर वैयाकरण और मीमांसक मे विवाद है। इनके स्वरूप में विशेष अन्तर नही है। भावना सकर्मक होती है, क्रिया अकर्मक भी

१. शृंगार प्रकाश पृ० ११४-११५ मैसूर संस्करण

होती है किन्तु दोनों ही साध्य हैं। और इस साध्य की एकता के आधार पर क्रियावाक्यार्थवाद भावना वाक्यार्थवाद को समेट लेता है।[1]

प्रतिभा वाक्यार्थ रूप में

जो वाक्यार्थ को अखण्ड, अनंश, मानते हैं उनका ही एक वर्ग प्रतिभा को वाक्यार्थ मानता है। भर्तृहरि का एक अपना प्रतिभा दर्शन है। उन्होने प्रतिभा को वाक्यार्थ रूप में भी लिया है :

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थे रुपपादिताम्।—वाक्यपदीय २।१४४

देवदत्तादि के अलग-अलग अर्थ ग्रहण के अवसर पर उन पदो से एक विशेष प्रतिभा उद्बुद्ध होती है। वही वाक्यार्थ है। पुण्यराज के अनुसार शब्द स्फोट है और अर्थ प्रतिभा है। स्फोट लक्षण शब्द मे कोई विभाग नही है। वाक्यार्थ लक्षण प्रतिभा मे कोई विभाग नही है, वाक्य और वाक्यार्थ मे अध्यासलक्षण सम्बन्ध है। पुण्यराज के अनुसार यह मत वैयाकरणो का है :

तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाक्य, प्रतिभैव वाक्यार्थ. अध्यासश्च सम्बन्ध इति।

पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

असत्यभूत पदार्थों से प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है। पदार्थों का परिज्ञान अलग अलग भले ही हो, भावार्थग्रहण के समय एक ही प्रतिभा उत्पन्न होती है, वह पदार्थों से व्यतिरिक्त नही होती। वस्तुत, पुण्यराज के अनुसार, प्रतिभा मे एक अखण्ड भाव का परिज्ञान अभिप्रेत है, इसलिए अभिहितान्वयवाद अथवा अन्विताभिधानवाद जैसे पदार्थ-वाक्यार्थ विचारपरक किसी वाद का प्रतिभा-वाक्यार्थ मे कोई स्थान नही है

प्रतिभायां त्वेकरसैव प्रतिपत्तिरिति न तत्र काचिदभिहितान्वयान्विताभिधानचर्चा।

पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

वस्तुत. वाक्यार्थरूप प्रतिभा से भर्तृहरि का अभिप्राय एक तरह की आन्तरिक बुद्धि से है। भर्तृहरि इस बात को मानते हैं कि उस प्रतिभा को किसी अन्य से ठीक-ठीक रूप मे बताया नही जा सकता। वह स्वसंवेदनसिद्ध है। प्रतिभा-बल से ही पदार्थों मे परस्पर संश्लेष-सा होता है। मानो प्रतिभा ही सब विषयो का आकार-सा धारण कर लेती है। वह कभी किसी शब्द से अभिव्यक्त होती है और कभी अनादि-वासना-संस्कार से उद्भूत होती है। लोक प्रतिभा को प्रमाण मानता है। पुण्यराज के अनुसार कालिदास की "सता हि सदेह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त.करणप्रवृत्तय" यह उक्ति प्रतिभा के प्रामाण्य का संकेत करती है। जिस तरह विशेष द्रव्यो के परिपाक से किसी

---

१. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१-२

विशेष अन्य यत्न के बिना ही उस द्रव्य में मद शक्ति स्वाभाविक रूप से आ जाती है उसी तरह प्रतिभा भी स्वाभाविकरूप से सस्कार के अतिरिक्त अन्य किसी साधन के बिना ही प्रबुद्ध हो जाती है। वसन्त में कोयल की कूक मे माधुरी कौन भरता है ? पक्षियों को घोंसले बनाने की शिक्षा कौन देता है ? यह सब प्रतिभा का कार्य है। पशु-पक्षियों में आहार, द्वेष, तैरना आदि आप से आप अनादि प्रतिभा वश ही होते हैं।[1] इस तरह भर्तृहरि ने मूल प्रवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) और आन्तरिक ज्ञान-वृत्ति (इन्ट्यूशन) को प्रतिभा-भेद माना है। अभिनवगुप्त ने भर्तृहरि की 'प्रतिभा' की परिभाषा निम्नरूप में दी है जो उपर्युक्त तथ्यों का निष्कर्ष-सा है :

समाधान नैर्मल्यात्मिका प्रतिभा इति तत्रभवद् भर्तृहरिप्रभृतयः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तृतीय भाग, पृ० २०६.

प्रतिभा के छः भेद

भर्तृहरि के अनुसार प्रतिभा के निम्नलिखित छः भेद हैं :—

(१) स्वभावजन्या (स्वाभाविकी) प्रतिभा,
(२) चरणजन्या प्रतिभा,
(३) अभ्यास निमित्ता प्रतिभा
(४) योग निमित्ता प्रतिभा
(५) अदृष्टोपपादिता प्रतिभा
(६) विशिष्टोपहिता प्रतिभा

स्वाभाविकी प्रतिभा

पुण्यराज के अनुसार बन्दर आदि मे जो प्रतिभा देखी जाती है वह स्वाभाविकी प्रतिभा है (स्वभावेन यथा कपिः-वाक्यपदीय २।१५३)। यहा की खण्डित हरिवृत्ति से ऐसा जान पडता है कि भर्तृहरि स्वाभाविकी प्रतिभा का आधार "सत्ता" को मानते हैं। भावना-अभ्यासवश सभी तरह के ज्ञान शब्दात्मारूप से सत्ता अथवा "परा प्रकृति" मे लीन रहते हैं। उन पूर्व सस्कारो का उद्बोध स्वभावतः होता है। स्वभावजन्य ज्ञान ही स्वाभाविकी प्रतिभा है। जिस तरह सुषुप्तावस्था में ज्ञान की सत्ता होते हुए भी वह अप्रबुद्ध-सा होता है पर नीद के टूट जाने पर स्वभावतः वह अभिव्यक्त हो उठता है उसी तरह स्वभावजन्य प्रतिभा भी सस्कार रूप मे अनादि-अभ्यास वश सत्ता में पड़ी रहती है और सत्ता के भावविकार के रूप में विवर्त होने पर वह भी उद्बुद्ध हो जाती है। पक्षियो आदि के घोसले बनाने की कला एक तरह की पैतृक प्रवृत्ति अथवा चिर-अभ्यास-सस्कार है। ऐसे सस्कार स्वभावजन्य प्रतिभा के उदाहरण के द्योतक हो सकते हैं।

अथवा स्वभावजन्य प्रतिभा से अभिप्राय स्वतः प्रकट आत्मज्ञानमयी प्रतिभा

---

१. वाक्यपदीय २।१४४ से १५१

से है। वाक्यपदीयकार ने स्वभाव शब्द का आत्मा के अर्थ मे अनेक बार प्रयोग किया है। उनके अनुसार कुछ ऋषि प्रतिभात्मा मे विवर्त प्राप्त करते हैं अर्थात् अपनी सृष्टि के साथ ही उन्हें प्रतिभा का भी परिज्ञान हो जाता है। परिज्ञान की प्रक्रिया को भर्तृहरि ने "स्वप्नप्रबोध वृत्ति"[1] कहा है। अर्थात् स्वप्न मे बिना किसी शब्द के सुने ही जैसे ज्ञान होता है वैसे ही उन ऋषियो को बिना किसी के बताये आपसे आप ज्ञान हो जाता है। अविद्या की योनि सत्ता स्वरूप महान् आत्मा को देखते हुये वे प्रबोध प्राप्त करते हैं। स्वाभाविकी प्रतिभा से तात्पर्य इस तरह स्वतः ज्ञान कराने वाली शक्ति से है। कुछ ऋषि विद्या मे विवर्तित होते हैं अर्थात् विश्व का अविद्यात्मक समस्त व्यवहार उनके लिये औपचारिक रूप में ही सत्ता रखता है, वस्तुतः वे विद्या के नित्य तत्त्व को स्वभावत. समझते हैं। जिस तरह स्वप्न से बिना सुने शब्द का भी परिज्ञान होता है वैसे ही वे अपनी प्रज्ञा के बल से बिना किसी के बताये ही सभी वेद, सब ज्ञान समझ जाते है। इस तरह की प्रतिभा स्वाभाविकी प्रतिभा है·

> **येषां तु स्वप्नप्रबोधवृत्त्या नित्यं विभक्तपुरुषानुकारितया कारणं प्रवर्तते तेषां ऋषय केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तन्ते, सत्तालक्षण महान्तमात्मानम् अविद्यायोनिं पश्यन्तः प्रतिबोधेनाभिसंभवन्ति। केचित्तु विद्यायां विवर्तन्ते···ते च स्वप्न इवाश्रोत्रगम्यं शब्दं प्रज्ञयैव सर्वमाम्नायं सर्वभेदशक्तियुक्त अभिन्न शक्तियुक्तं च पश्यन्ति।**
>
> —वाक्यपदीय १। १४६ हरिवृत्ति

चरण निमित्ता प्रतिभा

पुण्यराज ने चरण निमित्ता आदि प्रतिमा की व्याख्या नही की है। यह कह कर छोड़ दिया है कि इनके उदाहरण अन्वेषणीय है (**चरणादिषूदाहरणान्यूह्यानि**)। छपी हरिवृत्ति मे इस पर यह वाक्य है : **चरणनिमित्ता काचित् प्रतिमा। तद्यथा। कारणेनैवावधृतप्रकाशविशेषाणां वसि (ष्ठादीनाम्)**। इस कठिन वाक्य का अभिप्राय क्या है ? जान पड़ता है चरणनिमित्ता प्रतिभा का सम्बन्ध आचरण या तपस्याजन्य ज्ञान से है। ज्ञान को प्रकाश रूप मे व्यक्त करना भर्तृहरि की शैली है। शिष्ट जनो को अतीत और अनागत को भी प्रत्यक्ष सा देखने की शक्ति आ जाती है :

> **आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसां**
> **अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्नविशिष्यते।**
> **अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।**
> **ये भावान् वचन तेषां नानुमानेन बाध्यते॥**[2]

---

१. टीकाकार वृषभ ने प्रलय से सर्ग तक की अवस्था को स्वप्नवृत्ति और सर्ग से प्रलय तक की अवस्था को प्रबोधवृत्ति माना है (प्रलयात् सर्ग यावत् मात्रयाप्यदर्शनात् स्वप्नवृत्तिः। सर्गात् प्रलय यावद् भावाववोधात् प्रबोधवृत्तिः— वृषभ-वाक्यपदीय १। ११९ टीका)।

२. वाक्यपदीय १। ३७-३८। भवभूति के निम्नलिखित श्लोक में भर्तृहरि की इन कारिकाओं

शिष्टों या वसिष्ठ आदि जैसे मुनियों की यह अद्भुत शक्ति ही चरण निमित्ता प्रतिभा का प्रतीक है। परन्तु ऐसा अर्थ करने मे एक कठिनाई है। एक योग निमित्ता प्रतिभा भी है। चरणनिमित्ता प्रतिभा को उपर्युक्त रूप मे ग्रहण करने पर योग निमित्ता से उसका भेद दिखलाना कठिन हो जाता है। किसी-किसी प्रज्ञाचक्षु में एक अद्भुत शक्ति देखी जाती है, गहन स्थल मे छिपी वस्तु को भी वे कभी कभी बता देते हैं। इसी तरह बधिर में भी स्वप्न मे शब्द श्रवण के उदाहरण मिलते हैं (?)। भर्तृहरि ने अन्यत्र बधिर और अन्ध की इस शक्ति का उल्लेख यो किया है :

स्वप्ने हि बधिरादीनां शब्दादिप्रतिपादनम्, घनसंनिविष्टावयवाना च कुड्यादीनामवयवविभागमन्तरेणान्तर्वेश्माविषु सूक्ष्माणामर्थानां दर्शन सर्वप्रवादेषु सिद्धम्।[1] कार्य से कारण शक्ति का ग्रहण किया जाता है। अन्ध आदि मे अद्भुत दर्शन क्षमता देखकर उनमे प्रकाशमयी प्रतिभा-रूप कारण का अनुमान करना सहज है। चरण-निमित्ता प्रतिभा का अभिप्राय ऐसी ही प्रतिभा से जान पडता है।

अभ्यासनिमित्ता प्रतिभा

हरिवृत्ति मे इस प्रसग पर लिखा है—'**अभ्यास निमित्ता काचित् प्रतिभा। तद् यथा-कूपतटाकादीनाम्।**' 'कूपतटाकादोना' पाठ अशुद्ध जान पड़ता है। मेरी नम्र सम्मति मे यहा "रूपतर्कादीनां" पाठ होना चाहिये। रूपतर्कादीना के बदले कूपतटकादीना पाठ लिपिकारो द्वारा पढ़ लिया जाना अस्वाभाविक नही है। "रूपतर्क' शब्द के विशेष प्रचलन न होने से ऐसा सभव हुआ होगा। रूपतर्क सौवर्णिक को कहते हैं जो सोने के सिक्के के खरे-खोटे होने की परीक्षा करते है (रूप रूपकभेदा दीनारादय तास्तर्कयन्ति परीक्षन्त इति सौवर्णिका उच्यन्ते)।[2] भर्तृहरि ने इस शब्द का प्रयोग किया है और अभ्यासजन्य ज्ञान के प्रसग मे किया है। अभ्यासजन्य प्रतिभा से भर्तृहरि का अभिप्राय उस तरह के ज्ञान से है जिसे व्यक्ति सतत अभ्यास से प्राप्त करता है परन्तु जिसे सीधे दूसरे को नही बताया जा सकता। सौवर्णिक या माणिक्यपरीक्षक के ज्ञान इसी कोटि मे आते हैं। जौहरी चिर अभ्यास के कारण किसी रत्न की शुद्धता की पहिचान शीघ्र कर सकता है परन्तु वह दूसरो को सरलता से अपने पहिचान के आधारो को नही समझा सकता। इसी तरह षडज्, ऋषभ, गान्धार, धैवत आदि स्वर भेदो को केवल सगीत मर्मज्ञ ही चिर साधना के बल पर अवगत कर पाता है। बिना

की छाया स्पष्ट है—

"आविर्भूत ज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारास्तेषु मा संशयोभूत्।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषिक्ता
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति।"

उत्तररामचरित—४।१८

१. वाक्यपदीय १।३६ हरि वृत्ति—पृष्ठ ५१

२. वृषभ-वाक्यपदीय १। ३५ की टीका

अभ्यास के संगीत से परिचय रखने वाले भी ठीक से उन्हें नही समझ पाते। इसे भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है :

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम् ॥[1]

अत अभ्यासजन्य प्रतिभा का उदाहरण सौवर्णिक आदि की प्रतिभा को समझना चाहिये।

योग निमित्ता प्रतिभा

योगनिमित्ता प्रतिभा से तात्पर्य योगियो की उस शक्ति से है जिसके बल से वे दूसरे मनुष्यो के अभिप्राय आदि तुरन्त ठीक-ठीक अवगत कर लेते है—जिसके बल से उनमे सर्वज्ञता आती है।

अदृष्ट निमित्ता प्रतिभा

भूत, प्रेत, पिशाच आदि मे दूसरे पर सवार होने (परावेश) और अन्तर्धान होने की क्षमता देखी जाती है। उनमे एक तरह की अदृष्ट-शक्ति देखी जाती है। अदृष्टनिमित्ता प्रतिभा से भर्तृहरि का अभिप्राय ऐसी ही शक्ति से है।

विशिष्टोपहिता प्रतिभा

कभी-कभी कोई विशिष्ट व्यक्ति अपनी ज्ञान-राशि का सक्रमण किसी अन्य मे कर देते है। इससे दूसरा व्यक्ति भी उस विशेष ज्ञान का वाहक हो जाता है। कृष्ण द्वैपायन (व्यास) ने संजय मे ऐसी शक्ति का संक्रमण किया था जिससे सजय को दिव्य-दृष्टि मिल गई थी। इस तरह की अन्य द्वारा अन्य मे आहित प्रतिभा का नाम विशिष्टोपहिता प्रतिभा है।

इस तरह प्रतिभा के अनेक भेद है। वह वाक्य प्रतिपाद्य है, और सभी वाक्यों का अधिष्ठान भी वही है। वह व्याकरण से परे की वस्तु है। व्याकरण के काल क्रम से विनष्ट हो जाने पर भी और अन्य शक्तियो के नाश हो जाने पर भी उसमे शब्द बीज संनिविष्ट रहते हैं और समय पाकर वही प्रतभिा विवर्त प्रक्रिया के आधार पर वर्ण पद वाक्य रूप मे पुनः आभासित होती है :

एव प्रतिभा बहुविधापि सर्वेवागमिकवाक्यनिबन्धना वाक्यप्रतिपाद्या व्याकरणा-त्ययेपि सर्वशक्तिप्रत्यस्तमये प्रत्यस्त मितनिविष्टशब्दशक्तिबीजकारणान्तर्भूता निबद्धबीजा वृत्तिकाले प्रथमं सूक्ष्मेणापि वर्त्मना विवर्तमात्रामनुभूय क्रमेण वर्णवाक्यनियताभिरवस्थाभिः संमूर्च्छन्ती प्राप्तबीजपरिपाकाकारा पुनः पुनः व्यक्तेन रूपेण प्रत्यवभासते।

—वाक्यपदीय २।१५३ हरिवृत्ति।

---

१. वाक्यपदीय १। ३५

भर्तृहरि के अनुसार करण, स्थान, प्रयत्न आदि का परिज्ञान व्यक्ति की प्रतिभा के द्वारा ही, बिना किसी अन्य के बताये, आपसे आप हो जाता है। क्योंकि शब्द भावना अनादि है, वह पौरुषेय नहीं है :

अनादिश्चैषा शब्द भावना ।……नह्यं तस्याः कथंचित् पौरुषेयत्वं संभवति । तथा ह्यनुपदेशसाध्याः प्रतिभागम्या एव करणविन्यासादयः ।

—वाक्यपदीय, १।१२३ हरिवृत्ति

प्रतिभा के सम्यक् अवबोध से क्षेम की प्राप्ति होती है :

तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भावविकार-प्रकृतिं सत्तां साध्यसाधन शक्तियुक्तां सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति ।

वही, पृष्ठ ११८

भर्तृहरि के आधार पर भोज ने भी प्रतिभा का स्वरूप दिया है :

स्व स्वमर्थमभिधायोपरतेषु पदेषु पदार्थप्रतिपत्त्यनन्तरमुपजायमाना इदं तदिति व्यपदेश्यानुपदेशमिद्धा हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतु प्रवृत्त्यनुकूला बुद्धिः प्रतिभा । तथाहि पदनिबन्धनानां पदार्थवनिबन्धनाना चार्थप्रत्ययभासमात्राणां अविच्छेदेन प्रवृत्तौ पदार्थे. क्रमेण गृह्यमाणैः आहितसंस्कारासु बुद्धिषु सर्वार्थप्रत्ययभास-संसर्गानुगृहीता प्रत्यस्तमितभेदप्रत्ययभासा प्रवृत्तिफलप्रसवानुमेया अभिन्न-जातीयैव प्रतिभा प्रत्यात्मं विवर्तते ।

—शृंगार प्रकाश पृ० २१३

प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय मे भी प्रतिभा महायक है। जब तक प्रतिभा शब्द के माध्यम पूर्व-अपर का प्रत्यवमर्श नही करती, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान अपना काम नहीं कर पाते हैं। सभी प्रमाण प्रतिभा से उपगृहीत होकर प्रमाणता प्राप्त करते हैं।

प्रत्यक्षानुमानविषयेऽपि यावत् पूर्वापरप्रत्यवमर्श. शब्दोल्लेखवान् प्रतिभया न क्रियते तावत् प्रत्यक्षमनुमानं वा स्वकार्यं न प्रसाधयति । प्रतिभोपगृहीतानि सर्वप्रमाणानि प्रमाणतां लभन्ते ।

—शृंगार प्रकाश, पृ० २१३

भोज ने षट् प्रकार की प्रतिभा का काल, अभ्यास, योग, ध्यान और अनुध्यान के आधार पर विभाजन किया है और इन्हे पूर्वजन्म के शब्दश्रवण जनित संस्कारो का उद्बोधक माना है। कभी वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिभा रूप अर्थ का उन्मीलन हो जाता है, कभी निमित्तान्तर के सान्निध्य मे चिर व्यवहित भी विशिष्ट प्रतिभा-भावनाबीज के संनिवेश से वही वाक्य परपरया प्रतिभारूप स्वार्थ का आविर्भाव करता है। प्रतिभा वाक्यार्थ है। (शृंगार प्रकाश पृ० २१४)

कुमारिल भट्ट ने प्रतिभा वाक्यार्थवाद को आंशिक रूप में स्वीकार किया है और आंशिक रूप मे इसकी समीक्षा की है। वाक्य के प्रयोजन अथवा जन्यत्व रूप में प्रतिभा को स्वीकार करने मे उन्हें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु यदि प्रतिभा-किसी-न किसी रूप में बाह्य अर्थ से सम्बद्ध है तो इस वाद में आपत्ति है। बाह्य अर्थ नियत-

स्वभाव वाला होता है। किन्तु एक ही अर्जुन चरित, वीर पुरुष में हर्ष और भीरु में भय उत्पन्न करता है। प्रतिभा वाक्यार्थवाद में इसकी उपपत्ति नही बैठती (श्लोक वार्तिक, वाक्याधिकरण ३२५-३३०)।

वाक्यार्थ के अनुग्राहक वाक्य के धर्म

भर्तृहरि ने पदार्थनिबन्धन वाक्यधर्मों का उल्लेख किया है। वाक्य के ऐसे धर्म लक्षण नाम से भी उन दिनो ज्ञात थे। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड मे इन पर विशेष विचार किया था। किन्तु वह भाग (लक्षण समुद्देश) दशवी शताब्दी तक लुप्त हो चुका था। लक्षणो के एक भेद बाधा पर विशेष विचार 'बाधा समुद्देश' में भर्तृहरि ने किया था। वह भी आज अनुपलब्ध है। किन्तु वाक्यकाण्ड मे लक्षणो की एक लम्बी सूची वाक्य के धर्म के रूप मे मिलती है। पुण्यराज ने उन्हे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भोज ने भी शृगार प्रकाश मे वाक्यपदीय के आश्रय से इन वाक्यधर्मों पर विचार किया है। डा० वी० राघवन् का ध्यान इस पर गया था और उन्होने भर्तृहरि, पुण्यराज और भोज द्वारा व्यवहृत वाक्यधर्मों का तुलनात्मक उल्लेख अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भोज के 'शृगार प्रकाश' मे किया है।[1]

लक्षण अनुपपत्ति के विचार के आधार पर कहा जा चुका है कि भर्तृहरि ने लक्षणो की सख्या विचार भेद से छ, बारह अथवा चौबीस बताई है। किन्तु ये छ: बारह अथवा चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं, इसका सकेत वाक्यपदीय मे नही है। भर्तृहरि ने जिन नामो को गिनाया है वे चौबीस से अधिक है। पुण्यराज ने इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार इन लक्षणो का सम्बन्ध मूल रूप मे मीमासा दर्शन से है। पद-पदार्थ के विचार के अवमर पर इन लक्षणो पर विचार उपयोगी समझ कर भर्तृहरि ने इन्हे अपनाया है।

जैमिनि का मीमासादर्शन बारह अध्यायो में विभक्त है। इसके पहले छ: अध्यायो मे प्रत्यक्षविहित धर्म-कर्मों की इतिकर्तव्यता पर विचार है। दूसरे छ. अध्यायो मे अविहित इतिकर्तव्यता पर विचार है।

मीमासादर्शन के पहले छ अध्याय को प्रकृति षटक् कहा जाता है। इन्हे उपदेश षटक् भी कहते हैं।

प्रथम अध्याय मे विधि, अर्थवाद, मत्र और स्मृति पर विचार है, गुणविधि और नामधेय का उल्लेख है, संदिग्ध अर्थों का वाक्यशेष के सहारे अर्थनिर्णय की प्रक्रिया बताई गई है। इनमें वेद का प्रामाण्य (विधि) मुख्य है और अन्य प्रासगिक हैं।

द्वितीय अध्याय मे प्रधान-अप्रधान, भिन्न-अभिन्न पर विचार है। षड्विध कर्म-भेद का विवेचन है। मुख्य प्रतिपाद्य भेद है।

तृतीय अध्याय मे श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्यान द्वारा शेषविनियोगलक्षण वर्णित है। शेषशेषिभाव प्रतिपाद्य है।

---

१. भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० ७२९-७३५

चतुर्थ अध्याय में क्रत्वर्थ, पुरुषार्थ पर विचार है। प्रयोजकाप्रयोजक भाव (प्रयुक्ति) प्रतिपादित है।

पचम अध्याय मे श्रुति, अर्थ, पाठ, प्रवृत्ति, काण्ड और मुख्य के रूप में क्रम-नियमलक्षण पर विचार है। क्रम पतिपाद्य विषय है।

षष्ठ अध्याय मे अर्थी, समर्थ अधिकारी का निरूपण है।

इस तरह प्रथम छः अध्यायों मे क्रम से दिधि, भेद, शेषशेषिभाव, प्रयुक्ति, क्रम और अधिकारी का प्रतिपादन किया गया है। षट् लक्षण से तात्पर्य इन्ही छ. लक्षणो से हो सकता है :

> **एव विधिभेद शेषशेषिभावप्रयुक्तिक्रमाधिकारिणां प्रतिपादनायाध्यायाः षडिति षट् लक्षणानि।**
>
> —पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७

जो आचार्य केवल छ· लक्षण मानते होगे और बारह अथवा चौबीस लक्षण के पक्ष में नही होगे उनका अभिप्राय संभवतः यह होगा कि मीमांसासूत्र के प्रथम छः अध्यायों में ही मौलिक लक्षण आ जाते हैं। बाद के छ अध्यायों में, उनके मत मे, मौलिक लक्षण प्रतिपादित नही हैं। सातवें अध्याय मे ऐन्द्राग्न आदि के धर्म बताए गये हैं। आठवे अध्याय में, ये धर्म इसके हैं बताया गया है। नवम अध्याय मे उनकी प्रयोग-प्रक्रिया समझाई गई है। दशवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्यायो मे उनकी इयत्ता, इतने प्रयोग किए जाने चाहिए, इससे अधिक नही, का वर्णन है। अन प्रकृतिषट्क —प्रथम छ अध्याय से प्रतिपाद्य लक्षण ही षट्लक्षण हैं।

द्वादशलक्षण के पक्ष मे, बारहों अध्याय से प्रतिपादित लक्षण द्वादश लक्षण माने जाते हैं। इनमे प्रथम छ अध्यायो से प्रतिपाद्य छ. लक्षण और शेष छ अध्याय से प्रतिपाद्य छ लक्षण, कुल मिलाकर बारह लक्षण हो जाते हैं। शेष छ अध्यायो मे सातवे अध्याय मे सामान्यातिदेश पर विचार है। आठवे मे विशेषातिदेश की चिन्ता है। नवम अध्याय मे ऊह पर ऊहापोह है। दशम अध्याय मे बाधा का निरूपण है। ग्यारहवे अध्याय मे तन्त्र-विचार है और बारहवें अध्याय मे प्रसग की चर्चा है। इन छः अध्यायों को अतिदेश षट्क कहा जाता है। इस तरह इनमे क्रम से सामान्यातिदेश, विशेषातिदेश, ऊह, बाधा, तंत्र और प्रसग—ये छ लक्षण प्रतिपादित हैं। पहले के छः लक्षण और ये छः लक्षण मिलकर कुल द्वादश लक्षण हो जाते हैं।

चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं ? इनकी असदिग्ध पहिचान पुण्यराज को भी नही थी। चौबीस लक्षण के नामतः स्वरूप निर्धारण करने के लिए उन्होने एक कल्पना की है। उनके मत मे जो द्वादश लक्षण द्वादश अध्याय के बल पर स्वीकृत हैं इनके प्रतिपक्ष रूप मे भी दूसरे द्वादश लक्षण इन अध्यायों मे वर्णित हैं।[२] पूर्व के मूल बारह लक्षणो में, पुण्यराज के अनुसार, प्रमाण (विधि) का प्रतिपक्ष संभव नही है। सामान्या-

---

२. एतत प्रतिपक्षभूतान्यन्यानि द्वादश यथायोगमेतेष्वेवाध्यायेषु दर्शितानि—

पुण्यराज, वाक्यपदीय—२।७७

तिदेश और विशेषातिदेश के प्रतिपक्ष का संकेत भर्तृहरि ने नहीं किया है। शेष के प्रतिपक्ष अथवा अपवाद होते हैं जो निम्नलिखित हैं :

लक्षण	प्रतिपक्ष / अपवाद
प्रमाण (विधि)	—
भेद	अभेद
शेषशेषिभाव	गुणप्रधानभावाविवक्षा
प्रयुक्ति	अप्रयोजक
क्रम	अविवक्षा
अधिकारी	क्रियान्तरव्युदास
सामान्यातिदेश	—
विशेषातिदेश	—
ऊह	संबंधबाध
बाध	(क) समुच्चय
	(ख) विकल्प
तंत्र	आवृत्ति
प्रासंगिक	भेद

इस तरह से प्रतिपक्ष अथवा अपवाद रूप में अभेद, गुणप्रधानभावाविवक्षा, अप्रयोजक, अविवक्षा, क्रियान्तरव्युदास, संबधबाध, समुच्चय, विकल्प, आवृत्ति और भेद। ये दस लक्षण और हो जाते हैं। सब मिलकर २२ लक्षण हो जाते हैं। अवशेष दो लक्षण के विषय मे पुण्यराज की कोई निश्चित धारणा नहीं है। उन्होने लिखा है कि शेष दो लक्षण 'लक्षणसमुद्देश' में ढूढना चाहिए। अथवा सामान्यातिदेश का भी अपवाद सामान्यातिदेश का अभाव मान लेना चाहिए। इसी तरह विशेषातिदेश का प्रतिपक्ष सामान्यातिदेश अथवा विशेषान्तरातिदेश मानकर अवशेष दो लक्षणो की पूर्ति कर लेनी चाहिए। इस तरह से २४ लक्षण हो जाते हैं—

इत्येवमादिभिः सह द्वाविंशतिर्लक्षणानि भवन्ति । द्वे लक्षणे समुद्देशादूह्ये । अथवा सामान्यातिदेशस्य तदभाव एवापवादः । विशेषातिदेशस्य सामान्यातिदेश एव विशेषान्तरातिदेशो वेत्यनयोः सप्रतिपक्षत्वमाश्रित्य चतुर्विंशतिः सम्पद्यन्त इत्येवमनेन क्रमेणैतानि लक्षणानि । एतदेव मनसिकृत्य षड् द्वादश चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीत्युक्तम् ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय २।७७-८८ मे जिन वाक्य धर्मों का उल्लेख किया है वे निम्न लिखित हैं : प्रासङ्गिक, तंत्र, आवृत्ति, भेद, बाध, समुच्चय, ऊह, सम्बन्धा, बाध, सामान्यातिदेश, विशेषातिदेश, अर्थित्व, सामर्थ्य, अर्थभेद, अधिकार, क्रियान्तर-व्युदास, श्रुत्यादिक्रम, क्रमबलाबल, अविवक्षितक्रम, पराङ्ग, अप्रयोजक, प्रयोजक-नान्तरीयक, प्रधान, शेष, विनियोगक्रम, साक्षादुपकारी, आराद् विशेषक, शक्तिव्यापार भेद, फलभेद, सम्बन्धजभेद, अविवक्षितभेद, प्रसज्यप्रतिषेध, पर्युदास, गौण, मुख्य,

व्यापि, गुरु, लाघव, अङ्गाङ्गिभाव, विकल्प, नियम, योग्यता, लिंगाद्भेद, अपोद्धार।

भोज के अनुसार वाक्य के धर्म निम्न लिखित हैं : प्रधान, शेष, प्रयोजक, अप्रयोजक, नान्तरीयक, मुख्य, गौण, व्यापक, लघु, गुरु, अर्थवाद, अनुवाद, भेदविवक्षा, अभेदविवक्षा, व्यवहितकल्पना, उपचारकल्पना, तद्भावापत्ति, योग्यतापत्ति, सम्बन्धाबाधन, विकल्प, समुच्चय, नियम, निषेध, प्रतिनिधि, ऊह, बाध, तंत्र, प्रसंग, आवृत्ति, भेद, समान्यातिदेश, विशेषातिदेश, अधिकार, अध्याहार, विपरिणाम, वाक्यशेष, अवधि, अपोद्धार, अनिर्ज्ञातप्रश्न, क्रियान्तरव्युदास, लिङ्गाद्भेद लिंगादिभेद, शब्दान्तरादिभेद, शक्तियादिभेद, श्रुत्यादिविनियोग, श्रुत्यादिबलाबल, श्रुत्यादिक्रम, क्रमसंभेद।[3]

भोज द्वारा दिए हुए वाक्य के धर्मों का भी उल्लेख वाक्यपदीय और उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति मे यत्र-तत्र मिल जाता है। भोज ने उनका एकत्र चयन कर दिया है। हम पहले भर्तृहरि द्वारा दिए हुए वाक्यधर्मों पर पुण्यराज और भोज के सहारे विचार करेंगे।

प्रासंगिक : भर्तृहरि ने वाक्यधर्मों मे सर्व प्रथम प्रासगिक की चर्चा की है। मीमासादर्शन मे प्रसग पर विचार अतिम अध्याय मे किया गया है, वह अंतिम लक्षण है। प्रमाण (विधि) आदि लक्षण है। आदि को प्रथम न लेकर अंतिम के प्रथम ग्रहण मे क्या हेतु है ? पुण्यराज के अनुसार भर्तृहरि न्याय मात्र का प्रामाण्य मानते हैं। न्याय मात्र का चाहे वह जिस किसी भी दर्शन-क्षेत्र का हो, विचार के लिए अपने दर्शन मे स्थान देते हैं। यहा सामान्य रूप से वाक्य के धर्मों पर विचार अपेक्षित है जो पद-पदार्थ की व्यवस्था मे उपयोगी है, वेदविधि के प्रमाण्य-अप्रामाण्य से यहा कोई प्रयोजन नही है।[4]

शबरस्वामी ने प्रसग की एक प्राचीन परिभाषा उद्धृत की है : **एवमेव प्रसंगः स्यात् विद्यमाने स्वके विधौ**—अन्यत्र किया गया का अन्यत्र आसक्ति प्रसग है। जैसे किसी प्रासाद पर किया गया आलोक राजमार्ग को भी प्रकाशित करता है।[5] भर्तृहरि ने महाभाष्य त्रिपादी में प्रसग की परिभाषा यों दी है : **यदप्रर्थी प्रयोजकः (यदर्थाप्रयोजकः) अन्यद्वारेणार्थं प्रतिपद्यते स प्रसंग इत्युच्यते।**[6] अर्थी अप्रोजक यदि किसी दूसरे के आश्रय से अर्थ की प्राप्ति करता है, प्रसग कहलाता है, जैसे 'आम्राश्च सिक्ता पितरश्च प्रीणिताः' इस वाक्य मे आम्र सेचन क्रिया के प्रयोजक हैं, पितर अप्रयोजक हैं, आम के लिए डाले गये जल को वे भी प्रसंग से पा लेते है।

पुण्यराज ने, सभवतः हरिवृत्ति के आधार पर, प्रसंग का लक्षण दिया है :

द्वयोरर्थिनोः कार्येण संभाविना प्रयोजकत्वेन निर्ज्ञातसामर्थ्ययोः यत्र अन्यतर-

---

३. श्रृंगारप्रकाश, पृष्ठ ३०७ मैसूर संस्करण।

४. यद्यपि परेषा चोदनैव प्रमाण प्रसिद्धं तथापीह टीकाकारो न्यायमात्रस्य प्रामाण्यमंगीकरोति। अतएव चोदनायामेव प्रामाण्य'थाभावान् प्रथममेव लक्षणनिदर्शनं न कृतम्।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७

५. शाबरभाष्य १२।१।१ पृ० ३०६ काशी संस्करण।

६. महाभाष्य त्रिपादी, पृ० ४५ पूना संस्करण।

प्रयुक्तेन ग्रर्थेन ग्रपरोऽभिसम्बध्यमानः कृतार्थत्वात् पृथक् प्रयोजकत्वं नोपैति स प्रसंगः। तत् प्रयोजनकं प्रासङ्गिकम्।[७]

जहा दो कार्य होने वाले हों, जिनका प्रयोजक रूप में सामर्थ्य ज्ञात हों, यदि एक के प्रयोग से दूसरा भी सम्बद्ध रूप मे, सफल-सा होकर प्रयोजक नही बनता है, उसे प्रसग कहते हैं। प्रसंग के प्रयोजनक को प्रासंगिक कहते है। भोज ने भी पुण्यराज वाला लक्षण दिया है। प्रासंगिक का लौकिक उदाहरण सघाताध्ययन है। 'ये ग्रध्यापक हमारे ग्रध्यापन के लिए हैं, तुम भी इन्ही से पढो।' व्याकरण मे प्रसग का उदाहरण 'सर्वादीनि सर्वनामानि' १।१।२७ सूत्र में णत्व का ग्रभाव माना जाता है :

सर्वादीनि सर्वनामानीत्यत्र णत्वाभावं प्रासंगिकमुदाहरन्ति।[८]

भोज ने प्रासगिक की एक दूसरी भी परिभाषा दी है :

यच्चान्यद् ग्राचक्षाणोऽन्यदप्याचष्टे तदपि प्रासंगिकम्।[९]

दूसरी बात कहने हुए यदि कोई ग्रन्य बात का भी साथ ही उल्लेख हो जाय, वह भी प्रासगिक है। जैसे कुमारसभव मे कालिदास ने काम के बाणप्रहार के समय का चित्र देते हुए धनुर्विद्या के रूप पर भी प्रकाश डाला है।[१०]

तंत्र · दूमरा वाक्यधर्म तत्र है। एक ही ग्रर्थ की सिद्धि की इच्छा रखने वाले कई ग्रर्थों के प्रयोजक के ग्रभेद से ग्रथवा ग्रावृत्ति द्वारा, संभव की दृष्टि से ग्रौर लाघव की दृष्टि मे, उस ग्रर्थ का एक ही प्रयोग करते है। वह तत्र है।

यत्रार्थिन सर्वे प्रयोजकाभेदेनावृत्या वा योऽर्थः प्रतिपत्तव्यस्तमर्थम् एकमेव सम्भवात् लाघवाच्च प्रयोजयन्ति तत् तन्त्रम्।[११]

भोज ने भी ऐसा ही लक्षण दिया है। पढने वाले सभी छात्र शाला मे एक ही दीप से काम ले लेते हैं। ग्रथवा जैसे कठाध्यायी शतपथिको की शाला मे जलाया गया दीप व्याकरण पढने वालो के भी काम ग्राता है। जहा एक ही वस्तु से कई प्रयोजनार्थी एक साथ काम निकालते है वहा तंत्र माना जाता है। भर्तृहरि ने 'श्वेतो धावति' वाक्य मे तत्र माना है। शब्द की शक्ति का तत्र द्वारा शक्ति-ग्रवच्छेद मात्र किया जाता है। एक ही पुरा शब्द पुरा के ग्रर्थ मे भी ग्राता है, सह वचन भी है; एक ही ग्रारात् शब्द संनिकृष्ट ग्रर्थ मे देखा जाता है ग्रौर विप्रकृष्ट ग्रर्थ मे भी। इसी तरह श्वेत शब्द ग्रनेक शक्ति से युक्त है। प्रतिपत्ता व्यक्ति शक्ति-ग्रवच्छेद के द्वारा ग्रर्थ-

---

७. पुण्यराज—वाक्यपदीय २।७७

८. तुलना कीजिए—लोकेऽप्ययं णत्वरहित एव प्रयुज्यते।
तस्मात्र प्रसंगेन साधुत्वं प्रतिपाद्यते॥

—कैयट, प्रदीपोद्योत १।१।२७

सभवतः पुण्यराज ग्रौर कैयट दोनों ने भाष्यत्रिपादी से इस तथ्य को लिया है।

९. श्रृंगार प्रकाश, पृ० ३१९

१०. कुमार सभव ३।७०

११. वाक्यपदीय, पुण्यराज, २।७७

बोध करते हैं। अर्थान्तर से मानो दो शब्दों का उच्चारण किया गया हो। जैसे एक ही प्रदीप अर्थी व्यक्तियों को आवृत्ति से (तंत्र से) आलोक देकर काम निकाल देता है। शब्द में भी ऐसी शक्ति है कि वह तंत्र से दो शब्द के उच्चारण जान पड़ता है।[१२] जैसे अर्थ द्विगत होता है, शब्द भी द्विगत होता है। लोक मे शब्द के प्रयोग में कभी क्रम और कभी यौगपद्य का आश्रय देखा जाता है। जैसे अक्षः भज्यताम्, अक्षः भक्ष्यताम्, अक्ष दीव्यताम्। इस वाक्य मे भक्ष्यताम् क्रिया का अक्ष' से क्रम से संबंध दिखाया गया है। 'अक्षा भज्यन्ता भक्ष्यन्ता दीव्यन्ताम्' इस वाक्य में क्रम उपसंहृत है। भज्यन्ता आदि का अक्ष से एक साथ अन्वय हो जाता है। यह भी तंत्र का एक रूप है। अभेदैकत्व सख्या दूसरी सख्या के साथ तंत्रिणी मानी जाती है।' आस्यते भवद्भ्याम्' 'आस्यते भवद्भि।' इसमे 'आस्यते' मे एकत्व का सम्बन्ध द्वित्व, बहुत्व से भी हो जाता है। प्रश्न मे भी बहुत्व सख्या एकत्व और द्वित्व की तंत्रिणी होती है। 'कति भवतः पुत्रा' इस प्रश्न मे बहुत्व का सम्बन्ध एकत्व और द्वित्व से भी है। इसी तरह नपुसक का स्त्री और पुरुष से तंत्र सम्बन्ध सभव है जैसे 'किम् जातमस्य' का उत्तर 'पुत्र जात' 'पुत्री जाता' दोनो हो सकता है। 'गोस्वामी व्रजति' और 'गवां स्वामी व्रजति' जैसे वाक्यो मे विभक्ति भी तंत्रिणी होती है। 'गोस्वामी व्रजति' वाक्य से कर्म 'अरण्य' का आक्षेप सम्बन्धिविशेष के रूप में हो जाता है, 'गवा स्वामी व्रजति' कहने से षष्ठीविभक्ति द्वारा स्वस्वामिभाव के व्यक्त हो जाने के कारण व्रजति क्रिया से कर्म का भान अनियत ही रह जाता है। कभी-कभी प्रधान क्रियाविषयक धातु से उत्पन्न प्रत्यय अप्रधानक्रियाविषयक शक्ति को भी तन्त्र द्वारा समेट लेता है। 'इष्यते ग्रामो गन्तुम्' जैसे वाक्य मे 'इष्यते' प्रधान क्रिया का प्रत्यय अप्रधान गमन क्रिया को भी साथ ले लेता है। 'पक्त्वा अत्र ओदनो भुज्यते' इस वाक्य मे भोजन क्रिया प्रधान और पाचन क्रिया अप्रधान है। अप्रधान का भी तंत्र द्वारा, पहले पकाता है, बाद मे भोजन करता है के रूप मे, ग्रहण हो जाता है। अथवा गुण-विषयक शक्ति अनभिहित होती हुई भी प्रधान क्रिया के अनुरोध से अभिहित के सदृश जान पड़ती है। भोज ने पद और वाक्य की तरह दो प्रयोजन को सिद्ध करने वाले प्रकरण और प्रबन्ध को भी तंत्र माना है।

व्याकरण शास्त्र मे 'तपरस्तत्कालस्य' १।१।७० मे तपर शब्द तंत्र के आधार पर बहुव्रीहि समास के रूप मे (त परो यस्यात् सोऽय तपर) और पंचमी तत्पुरुष के रूप में (तादपि पर तपर) दोनो तरह से गृहीत होता है। लम्बे प्रसारिततन्तु को तंत्र कहा जाता है। जैसे वह अनेक तिरछे किए हुए तन्तुओं का अनुग्राहक होता है वैसे ही शास्त्र मे जब एक अनेक लक्ष्य अनुग्राहक होता है, तंत्र कहलाता है—तत्र प्रधान को भी कहा जाता है। सिद्धान्त भी तत्र शब्द से अभिप्रेत होता है! महाभाष्यकार ने निर्देश और विवक्षित के सम्बन्ध मे तंत्र शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है।[१३]

---

१२. महाभाष्य त्रिपादी, पृ० ४५ पूना संस्करण

१३ तत्र तरनिर्देशः महाभाष्य १।२।३३, तत्र यः प्राधान्ये बर्तते तन्त्रशब्दः, त.देहग्रहणम्—
महा भाष्य १।४।५४

शबरस्वामी ने तंत्र को साधारण धर्म-समूह के अर्थ में ग्रहण किया है।[१४]

आवृत्ति: एक क्रिया पदार्थ अथवा कारक पदार्थ का अपने अभिन्न रूप से पर्याय रूप में अनेकस्थलों में उपस्थित होना आवृत्ति कहलाता है। एक साथ न भोजन करने वाले यदि कई व्यक्ति हो और थाली एक ही हो, बारी-बारी से एक ही थाली सबके भोजन का पात्र बन जाती है। एक ही वस्त्र या भूषण रंगमंच पर अनेक नटों के लिए बारी-बारी से उपयोगी हो जाता है। वार्तिककार ने 'आवृत्तिसंख्यान' के रूप में आवृत्ति का व्यवहार किया है। महाभाष्यकार ने इसके लौकिक उदाहरण मे कहा है कि एक ही कपिला गाय को सहस्र ऋषियों ने बारी-बारी से सहस्र बार देकर सहस्र दक्षिणा का फल प्राप्त किया था।[१५] व्याकरण शास्त्र मे एकाच्—अनेकाच् ग्रहणो मे आकृतिसख्यान के आश्रय से घटेन तरति जैसे स्थलो में द्व्यच्लक्षण ठन् प्रत्यय होता है। कैयट के अनुसार आवृत्तिभेद से भी भेदाश्रयकार्य की प्रवृत्ति देखी जाती है।[१६] इग्यण सम्प्रसारणम् १।१।४५ सूत्र मे तंत्र अथवा आवृत्ति के आधार पर वाक्यार्थ और वर्ण दोनों के पक्ष में दो तरह से अर्थ किए जाते हैं। भाषा में क्रियापद की आवृत्ति और कारक पद की आवृत्ति के उदाहरण अलकृत रचना मे बराबर मिलते हैं। जैसे—

> *'शशिना च निशा निशया च शशी विभाति'।*
> *'सीता विस्मयते निरीक्ष्य हरते दृष्टिं झटित्याकुला'।*[१७]

भेद: जहा पर वस्तु अपने स्वरूप सामर्थ्य से अनेकत्व प्राप्त करती है, भेद माना जाता है। जैसे पात्र सहभोजी व्यक्तियो के लिए भेद रूप मे ही भोजन के आधार होते है।[१८] वेद मे भी 'ग्रह समार्ष्टि' जैसे स्थलो में ग्रह विषयक संमार्जन भेद रूप मे किया जाता है। व्याकरणशास्त्र मे भी 'न वेति विभाषा' १।१।४४ इस सूत्र के प्रत्याख्यानपक्ष मे उभयत्रविभाषा का कभी विधि रूप मे, कभी प्रतिषेध रूप मे, भेदाश्रित प्रवृत्ति होती है। भोज ने इस भेद का क्रियाभेद और शब्दभेद के रूप मे दिखाया है। शब्द भेद भी पद और वाक्य भेद से दो तरह का और वाक्यभेद भी प्राकृत, वैकृत भेद से दो तरह का होता है। 'जायन्ते च म्रियन्ते च मद्विधा. क्षुद्रजन्तवः वाक्य मे 'क्षुद्रजन्तव' मे क्षुद्र और जन्तव. रूप मे पदभेद माना जाता है।

बाध: अर्थित्वसामान्य के आधार पर अथवा उपदेश के आधार पर, प्रवृत्ति के संभव होने पर भी, दृष्ट-अदृष्ट अर्थों मे तुल्यबल वाले विरोधी अथवा अविरोधी

---

१४ तंत्र साधारणो धर्मग्रामः, शाबरभाष्य १२।१।१

१५. महाभाष्य, पृ० १७, कीलहार्न सम्करण।

१६. गोद्वयच्च इत्यत्राश्वशब्दप्रतिषेधात् लिगात् आवृत्तिभेदेनापि भेदाश्रयकार्यप्रवृत्तिः।
कैयट—प्रदीप, शिवसूत्र १

१७. शृंगारप्रकाश, पृ० ३१६

१८. भोज ने उत्तरभारत की किसी परंपरा को लक्ष्य कर भेद का लौकिक उदाहरण दिया है—
'गृहस्थान् पत्न्य आर्यावर्ते संभोगसंपादनाय भेदेनैवोपासते इति'
—शृंगार प्रकाश पृ० ३२०

अर्थों का अप्राप्त्यनुमान बाध है। उसे बाधा भी कहते हैं। बाध अथवा बाधा वचन, असंभव, चरितार्थता, फलाभाव, विशेष प्रत्यक्षश्रुति, परिसंख्या आदि कारणों से उद्बुद्ध होता है। 'अभक्ष्यो ग्राम्य कुक्कुट.' इसमे बाध वचनसामर्थ्य से उद्बुद्ध है। बुभुक्षित का भक्षण मे प्रवृत्ति अर्थित्व सामान्य है। उसका बाध उपर्युक्त वाक्य से किया जाता है। यहां बाध वचनाश्रित है। भर्तृहरि ने इस वाक्य मे प्राप्त्यनुमानबाधा न मानकर केवल बाधा माना है।[१९] 'गुरुवत् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्, अन्यत्रोच्छिष्टभोजनात्', इस वाक्य मे सामान्य उपदेश के आधार पर गुरुपुत्र के प्रति गुरुसदृश व्यवहार करने की प्रवृत्ति है, किन्तु उच्छिष्ट भोजन मे गुरुसदृश व्यवहार का निषेध है अत: यहां भी बाध वचनाश्रित है। 'अष्टाश्रि' यूपोभवति' इस सामान्योपदेश का 'चतुरश्रो वाजपेययूप:' इस उपदेश का एक साथ घटित होना असमव है, अत यहा बाधा असंभव के आधार पर है। 'व्रीहीन् अवहन्ति' मे सामान्योपदेश और अर्थित्व के आधार पर प्रवृत्ति प्राकृत अवहनन 'नखनिर्भिन्नानां नखावपूताना चरुर्भवति' इससे नख द्वारा ही अवघात प्रयोजन के सिद्ध हो जाने के कारण चरितार्थ रूप से बाधित है। इसी तरह 'शतकृष्णलश्चरुर्भवति' इसमे कृष्णल मे फलाभाव के आधार पर अवघात नहीं होता है।

'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयता तक्र कौण्डिन्याय' इसमे औत्सर्गिक दधिदान तक्रदान से विशेष मे प्रत्यक्ष श्रुति से बाधित है। अर्थित्व के आधार पर पाच नख वाले और बिना पाच नख वाले दोनो के भक्षण मे प्रवृत्त का 'पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या' इस परिसख्या से बाध किया जाता है। यहा पचनखान्तरो की निवृत्ति, भर्तृहरि के अनुसार, शब्दवती नही है, किन्तु सामर्थ्य लक्षण है।[२०] व्याकरण शास्त्र मे उत्सर्ग नियम का अपवाद से बाध दिखाया जाता है। जैसे कर्मण्यण् ३।२।१ सामान्यनियम है, उसका आतोनुपसर्गे क ३।२।३ इस विशेष नियम से बाध होता है। कर्म उपपद हो, धातु से अण् प्रत्यय होता है—यह उत्सर्ग वाक्य है। कर्म उपपद रहते भी आकारान्त और उपसर्गरहित धातु से क प्रत्यय होता है। यह अपवाद वाक्य है। उत्सर्ग वाक्य का अपवाद वाक्य से बाध माना जाता है। भर्तृहरि के अनुसार उत्सर्ग वाक्य अपवाद वाक्य की परिकल्पना मे ही प्रवृत्त होता है। उनके मत मे यहा उत्सर्ग वाक्य का रूप है 'आकारान्त वर्जित धातुओं से कर्म मे अण् होता है'।[२१] इस सम्बन्ध मे दो तरह के सिद्धान्त गृहीत हैं। सर्वविशेषस्वीकारपूर्वक उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है अथवा कतिपयविशेष स्वीकार पूर्वक प्रवृत्ति होती है। पहले मत मे उत्सर्ग के विषयविभाग के लिए पहले अपवाद की प्रवृत्ति होती है, इसके बाद त्यक्त विषय मे उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है।

---

१९. अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुट इति। अर्थमुख्य: प्रतिषेध इति। न ह्यत्र प्राप्त्यनुमानबाधा, कि तर्हि। बाधैवेयम्।

महाभाष्यत्रिपादी, पृ० १६

२०. असौ न शब्दवती। कि तर्हि। सामर्थ्यलक्षणा।

महाभाष्यत्रिपादी, पृ० १७

२१. आकारान्तवर्जितेभ्यो धातुभ्य: कर्मण्यण् भवतीत्येवंभूतमेव तदुत्सर्गवाक्यम्।

वाक्यपदीय २।३५१, हरिवृत्ति, हस्तलेख।

दूसरे मत में, अपवाद विषय की कल्पना कर उत्सर्ग प्रवृत्त होता है।[२२] इस सम्बन्ध में भर्तृहरि ने कई प्रकार से विचार प्रस्तुत किए हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि शब्द से प्रापित का शब्दान्तर से बाध नहीं होता। दोनों के अर्थ के परित्याग में कोई भेद नहीं है। अवश्य ही लोक में गम्यता (जाओ), भुज्यताम् (उपभोग करो) कहकर, कुछ दोष देखकर 'स्थीयताम्' (ठहरो) कहा जाता है। ऐसे स्थल पर शब्दान्तर से प्रापित का शब्दान्तर से निषेध है। किन्तु यहां अप्राप्त्यनुमान नहीं है। अप्राप्त्यनुमान बाध्य-बाधक रूप में देखा जाता है। वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में शास्त्र में अनेक विकल्प देखे जाते हैं जैसा कि कहा जाता है—'यदि प्राप्तिकारण तुल्य हो, प्रतिषेध विकल्पार्थ होता है' आदि। गम्यतां, भुज्यता जैसे उत्सर्ग वाक्य में 'दोष यदि न हो जाओ' ऐसा छिपा हुआ है। बाद में दोषान्तर के देखने से, अथवा प्रयोजन के अभाव से, अथवा किसी अन्य-प्रयोजन से अपवाद के संस्पर्श से दोषाभाव के रूप में विशेष अनुमित होता है।[२३]

"कौण्डिन्य को छोडकर ब्राह्मणों को दधि दो' इस वाक्य में यद्यपि तक्रदान का शब्दत उल्लेख नहीं है फिर भी वह वाक्य शेषभूत है और कौण्डिन्यश्रुति से उसका अनुमान हो जाता है। अथवा अतिरिक्त भी ब्राह्मण शब्द है जिसकी वृत्ति कौण्डिन्य वर्जित ब्राह्मणों में है। प्रदेश सामान्य अनेक प्रकार का होता है। जैसे 'ब्राह्मण हो, कोई गाय देखे हो।' दधिदान में अनुमेय कौण्डिन्य के लिए दधिदान अशब्द उद्भूत है तक्रदान शब्द से प्रतीत है। हम यह नहीं कहते कि दधिदान का कौण्डिन्यत्व प्रापक है, ब्राह्मणत्व उस शब्द की तरह है। यदि माना जाय कि प्रतिषेध उपयुक्त है क्योंकि अन्यार्थक है। अप्राप्त्यनुमान तो निरर्थक है। आत्मरूप की कल्पना में चरितार्थ हो जाने के कारण उपस्थित दूसरे विधि को विकल्प रूप में ही कल्पना करेगा। वहा अप्राप्ति का कैसे अनुमान सभव है? अनुमान की पहुंच सर्वथा नहीं है। कैसे, ऐसा नहीं है कि प्रतिषेध जहा कही प्रवृत्त हो जाता है। वह स्वाभाविकी निवृत्ति का द्योतक है। नित्यपरतन्त्रता के कारण उसका अर्थ अन्यसमवायिनी निवृत्ति को द्योतित करता हुआ अनुमान की कल्पना करता है। जहा-जहा प्रतिषेध इस रूप में रहता है वहाँ-वहाँ सामान्यविशेषभाव सहचारि रूप में रहता है। वह अनुमान के लिए पर्याप्त है। जैसे आग के लिए धूम। सम्बन्ध से और सम्बन्ध सम्बन्ध से भी अनुमान

---

२२. इह दर्शनद्वयम्-सर्वविशेषस्वीकारेण वोत्सर्गस्य प्रवृत्तिः, कतिपयविशेषावगाहनेन वा। तत्र पूर्वस्मिन् दर्शने, उत्सर्गस्य विषयविभागाय पूर्वमपवादः प्रवर्तते। पश्चात् तद्विमुक्ते विषये उत्सर्गः। द्वितीये तु दर्शने, अपवादविषय परिकल्प्योत्सर्गः प्रवर्तते।

कैयट, महाभाष्य प्रदीप, २।३।४६

२३. अत्र केचिदाहुः, न शब्देन प्रापितस्य शब्दान्तरेण बाधनं भवति। उभयोरर्थपरित्यागे भेदाभावात्। ननु च लोके गम्यता भुज्यतां इत्युक्त्वा दोषं किञ्चित् दृष्ट्वा स्थीयतामिति। न च तावदप्राप्त्यनुमानम् अत्रास्ति। न च (तच्च ?) बाध्यबाधकभावेनावतिष्ठते। एवं प्रकारेषु तादृकल्पितावकाशान्तरेषु शास्त्रेषु विकल्पा दृश्यन्ते। "प्रतिषेधो विकल्पार्थस्तुल्यं चेत् प्राप्तिकारणम्" इति। अपि च गम्यतां भुज्यतामिति दोषश्चेन्नास्तीत्येतदुत्सर्ग वाक्ये प्रकम्प्यते। तच्च दोषान्तरदर्शनात् प्रयोजनाभावाच्च प्रयोजनान्तरेण वापवादे प्रकम्प्यमाणेऽस्ति दोषाभावइत्येषः विशेषोऽनुमीयते—

—वाक्यपदीय २।३५१ हरिवृत्ति, हस्तलेख।

होता है। कहीं सामान्य में प्रवृत्त होते हुए का विशेष में, कहीं प्राप्तिप्रसंग सा समझ कर स्वभावनिवृत्त वाक्यशेष के द्वारा अथवा स्वाभाविक वाक्यार्थ अवच्छेद के द्वारा विशेष में प्राप्त कराता हुआ सम्भव होने पर भी, विद्यासनिधान अनुमान से उस विषयक बुद्धि प्रवृत्ति को हटाता हुआ बाधक कहा जाता है।[२४]

कुछ आचार्य उत्सर्ग और अपवाद में एक वाक्यत्व स्वीकार करते हैं और कुछ विचारक इनमें नानात्व मानते हैं। बाध्य-बाधकभाव दोनों पक्षों में होता है। नानात्व-पक्ष का संकेत वार्तिककार कात्यायन ने **तत्र ल्युनादि प्रतिषेधो नानावाक्यत्वात्**—इस वार्तिक में किया है। अपवाद के द्वारा उत्सर्ग का बाध समानवाक्य में होता है। जहाँ नाना वाक्य है वहाँ बाध नहीं होगा। इस वार्तिक की आलोचना करते समय पतंजलि ने एकवाक्यत्व का निर्देश किया है। उनके अनुसार देश भेद के आधार पर वाक्य-भेद नहीं होता

न विदेशस्थमिति कृत्वातो नाना वाक्यं भवति विदेशस्थमपि सवैकवाक्यं भवति।[२५] —महाभाष्य १।४।६७

जो नानात्व के समर्थक है उनके अनुसार निराकाक्ष प्रधान वाक्यो मे एकत्व संभव नही है वहां नानात्व ही मानना चाहिए

इह साकांक्षाणां संसर्गात् परस्परमुपकारे वर्तमानानाम् एकवाक्यत्वमुपपद्यते। प्रधानानि तु पृथगात्मनिवृत्तौ व्यापृतानि। तेषां निराकांक्षत्वात् सत्युपकारे नास्त्येकवाक्यत्वम्।[२६]

---

२४. कौण्डिन्यवर्जं दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतामित्येतद् उत्सर्गवाक्ये प्रक्रान्त तक्रस्याश्रूयमाणस्यापि वाक्यशेषस्य तक्रदानविषया कौण्डिन्यश्रुतिरनुमानम्। अथवा दिष्ट एवापरो ब्राह्मण शब्दः कौण्डिन्यवर्जितेष्वेव ब्राह्मणेषु यस्य वृत्तिः। प्रदेशसामान्यं हि बहुप्रकारम्। यद्, यथा, ब्राह्मणोऽसि, अत्र काञ्चित् गां पश्यसीति। ननु च दधिदाने कौण्डिन्यस्यानुमेयस्याशब्द प्रतीतं दधि-दानं, तक्रन्तु शब्दप्रतीतम्। न ब्रूमः, कौण्डिन्यस्य दधिदानस्य प्रापकम्, ब्राह्मणत्व तच्छब्दवदेव ननु युक्त प्रतिषेधोऽन्यार्थकत्वात् अप्राप्त्यनुमानमनर्थकम्, आत्मरूपप्रकल्पने तु कृतार्थम् विध्यन्तर मुपजायमानं सामर्थ्यात् विकल्पमेव प्रकल्पयेत्। तत्र कथमप्राप्तिरनुमीयते। सर्वथा नास्त्यनुमानस्य व्यावृत्तिः (व्यापृतिः ?)। कथ, न तावत् प्रतिषेधः क्वचिदपि प्रवर्तत इत्यभ्युपगम्यते। किं तर्हि, स्वाभाविक्या निवृत्ते द्योतकाः, स खलु नित्यपरतन्त्रत्वादस्यार्थः, तामन्यसमवायिनी निवृत्ति द्योतयन् अनुमानं प्रकल्पयति यत्र यत्र च प्रतिषेधः इत्थ भूतः, तत्र तत्र सामान्य विशेषभावोऽन्य-दृष्ट व्यभिचारः सहचारिप्रतीतिवतो विद्यते। सचानुमानायालम्। यथाग्नेः धूमः पतंगाद् धूमका इति सम्बन्धात् सम्बन्धसम्बन्धाच्चानुमान भवति। सामान्ये प्रयुज्यमानं विशेषे क्वचित् प्राप्ति प्रसंगमिव बुद्ध्या स्वभावनिवृत्त वाक्यशेषेण स्वाभाविकेन वा वाक्यार्थस्यावच्छेदेन विशेषे प्राप्यमाण सत्यपि सम्भवे विद्यासनिधानानुमानत्वात्, तद् विषय बुद्धिप्रसंग व्यावर्तयन् बाधक इत्युच्यते।
वाक्यपदीय २।३५२, हरिवृत्ति, हस्तलेख

२५. कैयट ने देश शब्द काल का उपलक्षण माना है—न कालभेदात् नानावाक्यत्वं भवति। शास्त्रे विदेशस्थानामप्यनन्तरवाक्यानामाकांक्षावशादेकवाक्यत्वदर्शनात्। देशग्रहणं चात्र कालस्योपल-क्षणम्।
—कैयट-महाभाष्य प्रदीप १।४।६७

२६. वाक्यपदीय २।३५४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

आख्यात के भिन्न-भिन्न होते हुए भी उत्सर्ग और अपवाद में एकवाक्यता के समर्थक अपने पक्ष में नियम, प्रतिषेध का विधिशेष आदि की उपपत्ति बतलाते हैं। इको गुणवृद्धी १।१।३ सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४ के गुणविधि का शेष है और उसके साथ एकवाक्यता से सार्थक होता है। प्रतिषेध भी विधि के साथ एकवाक्यता से सफलता पाता है। भिन्न आधार मे भी एक शक्ति की कल्पना से एकवाक्यता की उपपत्ति हो जाती है। पुण्यराज ने आकाक्षा, योग्यता और सनिधि के आश्रय से एकत्वपक्ष का समर्थन किया है।[२७]

भोज ने भाषा के व्यवहार मे बाधा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए है।

'वामेन अक्षणा एष पश्यति'

'किमस्य यन्न रोचते।

आदि वाक्य विशेष के वाचक है।[२८]

समुच्चय . तुल्यबलवाले अविरोधियो का एकार्थपरक उपादान का नाम समुच्चय है। जैसे, 'देवदत्त भोजय, लवणेन सर्पिषा शाकेन'—इस वाक्य मे लवण, घी, शाक का उपादान एक भोजन क्रिया के लिए किया गया है। भोज के अनुसार अविरोधियो का तुल्यविधान भिन्न प्रयोजन वालो का एक कार्य के लिए ग्रहण समुच्चय कहलाता है। गुण आदि का समुच्चय भेद रूप मे और अभेद रूप मे दोनो तरह से देखा जाता है।

व्याकरणशास्त्र मे प्रत्यय कृत् कृत्य सज्ञाओ का, प्रत्यय तद्धित, तद्राज सज्ञा का एकत्र समुच्चय, अविरोध और फलभेद के आधार पर, देखा जाता है।

जयादित्य ने अनेक क्रिया के अध्याहार को समुच्चय माना है(**अनेक क्रियाध्याहार समुच्चय**—काशिका ३।४।३)। समभिहार से समुच्चय मे भेद यह है कि समभिहार पौन पुन्य अथवा एक ही की पुनरावृत्ति है, वह एक ही क्रिया मे होता है, समुच्चय अनेक क्रिया मे होता है। न्यासकार ने समुच्चिति को समुच्चय माना है। एक साधन अथवा क्रिया के प्रति क्रियाओ की चीयमानता-अनेकता समुच्चय है। समुच्चय तुल्यबलो मे और जिनका नियतक्रमयौगपद्य नही है उन्ही मे होता है जैसे, **गाम् अश्वं पुरुषं अहरह नयमानो वैवस्वतः**—इस वाक्य मे एक नयन क्रिया से गाम्, अश्वं आदि का सम्बन्ध है।[२९]

ऊह : ऊह का सम्बन्ध लिंग, वचन विभक्ति आदि के विपरिणाम से है। दो तरह के योग होते हैं, प्रकृति और विकृति। जिसमे इतिकर्तव्यता आदि संपूर्ण अंग-समूह का उपदेश होता है वह प्रकृति है। जैसे दर्शपूर्णमास आदि। जहा सम्पूर्ण अगो का उपदेश नही होता वह विकृति है। जैसे सौर्य आदि। प्रकृति की तरह विकृति

---

२७. वस्तुतस्त्वाकाङ्क्षायोग्यता संनिधिवशादेकवाक्यतागत वाक्य बोद्धव्यम्।
—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३५३

२८. शृंगार प्रकाश, पृ० ३१७

२९. काशिकाविवरण पञ्जिका २।२।२९, कैयट और भट्टोजिदीक्षित के भी समान मत हैं। द्रष्टव्य. महाभाष्यप्रदीप २।२।२९ तथा शब्दकौस्तुभ २।२।२९

करनी चाहिए। यह मीमांसा का न्याय है। प्रकृति में जिस मंत्र का जो अभिधेय है यदि वह विकृति में साकल्य रूप में नहीं है, संपूर्ण मंत्र की निवृत्ति होती है। यदि उसके एक देश का अभिधेय नहीं है तो उसके एक देश की निवृत्ति होती है।

भर्तृहरि ने महाभाष्यत्रिपादी मे ऊह पर विशेष प्रकाश डाला है। भोज ने वाक्य के धर्मों पर विचार करते हुए ऊह पर जो कुछ लिखा है वह सब महाभाष्य त्रिपादी से लिया है। उसके आधार पर यहा ऊह का कुछ विवेचन किया जा रहा है। ऊह प्रकृति मे समर्थ मंत्रों का विकृति मे सामर्थ्य के अभाव के कारण प्रकृति रूपलिंग-वचनान्तर के उपादान के रूप मे किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, प्रकृति मंत्र के पद-प्रकृति, लिंग, वचन, विभक्ति आदि का दूसरे पद-प्रकृति, लिंग, वचन, विभक्ति रूप मे यथावसर उपादान ऊह कहलाता है। जैसे प्रकृति याग में 'अग्नये त्वा जुष्ट निर्वपामि (प्रोक्षामि)'[30]—इसमे अग्नि शब्द अगार के अर्थ मे समर्थ देखा गया है। विकृति याग मे अग्नये के स्थान पर सूर्याय ऊह कर लिया जाता है।

विकृत यागो मे एक देश की निवृत्ति हो जाने पर भी क्रिया में मुख्यवृत्ति मे उलटफेर के कारण (बाध) और अर्थान्तर के प्रसक्ति के कारण शब्दान्तर का अर्थान्तर के ग्रहण के रूप मे किया जाता है। यदि विकार मौन रूप मे, उपांशुप्रयोग के रूप मे, किया जाय, प्रकृति शब्दवती होगी जबकि विकार अशब्द हो जायगा। यदि अशब्द न कर अग्नि शब्द का ही ग्रहण किया जाय, अग्नि शब्द अपने मुख्य अगार अर्थ में परिनिष्ठित होने के कारण सूर्य-अर्थ का प्रत्यायन नही कर सकेगा। यदि मुख्यवृत्ति (अभिधा) का आश्रय न लेकर और गौणी वृत्ति के सहारे अग्नि शब्द का सूर्य के अर्थ मे प्रयोग मान लिया जाय, प्रकृति के विपरीत शब्दप्रवृत्तिधर्म का आश्रय अपनाना हो जायगा। इसलिए उसी विभक्तिवाले दूसरे शब्द का उपादान कर लिया जाता है, 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' के स्थान पर 'सूर्याय त्वा जुष्ट निर्वपामि' कहा जाता है। चतुर्थी विभक्ति दोनो मे समान है, केवल प्रकृति मे परिवर्तन हुआ है। अग्नि के स्थान पर सूर्य का उपादान किया गया है। इस तरह यह प्रकृति-ऊह है।

लिङ्ग का भी ऊह होता है। जैसे 'देवीराप शुद्धा यूयम्'।[31] 'देव आज्य शुद्धं त्वम्'। पहला वाक्य आप (जल) देवता के विनियोग मे है। इसलिये शुद्धा मे स्त्रीलिंग है। इस वाक्य को आज्य के साथ रखने मे शुद्धा के स्थान पर शुद्धं करना पड़ा है। यह लिंग का ऊह है।

विभक्तियो का भी ऊह होता है। जैसे आयुराशास्ते[32] के लिए आयुराशासाते अथवा आयुराशासते। जिनका प्रकृति मे ही अथवा बिना प्रकृत्यर्थ के सामर्थ्य नही है उनका, असामर्थ्य के कारण, विकृति मे ऊह नही होता है। जैसे 'वायव. स्थ।[33]

---

३०. वाजसनेयी संहिता, १।१३।०

३१. मैत्रायिणी संहिता १।१।११।७।५

३२. तैत्तिरीय संहिता २।६।६।७

३३. तैत्तिरीय संहिता १।१।१

'उपायव: स्थ' में प्रकृति मे ही बहुवचन के द्वारा एक वत्स का अभिधान होता है। इसलिए विकृति मे यहा ऊह नही होता। इसी तरह 'अदिति पाशान् प्रमुमोक्तु'[34] इसमे प्रकृति मे 'पाशान्' मे बहुवचन एक प्रकृतिपाश के लिए व्यवहृत हुआ है। यहाँ भी विकृति में ऊह नही होता है। किसी वाजसनेयी शाखा मे 'अदिति. पाशम्' इस रूप में एकवचनान्त रूप मे पढा जाता है, इस दृष्टि से यहा ऊह प्राप्त हो सकता है। यदि ऐसा नही है, अदितिरशना-पाश मे ऊह नही होता। अथवा यहा नैगमविभाषा—वैदिक विकल्प है। बहुवचन के प्रयोग मे यथेष्ट प्रयोग होता है। भर्तृहरि ने लिंग-ऊह के कई उदाहरण यागभेद और शाखाभेद से दिखाए हैं। वेद में 'जूरसिधृता मनसा जुष्टा'[35] इस रूप मे स्त्रीलिंग पाठ मिलता है। इसका साद्यस्क्री मे स्त्रीगत-वृत्ति की उपेक्षा कर, वेद मे पुल्लिंग रूप में दृष्ट न होने पर भी, पुशब्द रूप मे ऊह होता है, फलत : जूरसि धृतो मनसा जुष्टो आदि रूप मे पढा जाता है। इसी तरह राजक्रयणी-सस्तव मे 'चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि……सुप्राची सुप्रतीची भव'[36] रूप मे स्त्रीलिंग रूप मे पढा जाता है। इसी को साद्यस्क मे पुल्लिग रूप मे ऊह होता है—'चिदसि मनोसि धीरसि दक्षिणोसि……सुप्राक् सुप्रत्यक् भव' आदि। वाजसनेयी शाखा वाले भी इसी रूप मे इनका ऊह किया करते है। इसी तरह सोमक्रयणानयन मत्र मे स्त्रीलिंग पद पढे जाते हैं जैसे वस्व्यसि रुद्रासि…चन्द्रासि।[37] इनका साद्यस्को मे पुल्लिग रूप में ऊह होता है। वसुरसि, रुद्रोसि…चन्द्रोसि। इसी तरह पशुप्रकृति मे पुल्लिग रूप मे मत्र पढ़ा जाता है—'अस्मिन् प्रतिमुञ्चति'। इसका 'अस्यै प्रतिवेदय' रूप मे स्त्री प्रत्यय के रूप मे ऊह होता है यदि उस स्त्रीगवी का आलंभन मूर्धा से हो। 'हुतो याहि पथिभि. देवयानै.[38] का ऊह 'हुता याहि' के रूप मे स्त्रीप्रत्यय के रूप मे देखा जाता है।

पाणिनि का घसह्वरणश २।४।८० सूत्र घस् ह्वर, णश् आदि से, छन्द मे, सिच् (लि) के लुक् का विधान करता है। ऊह्य मत्रों में ऐसे सूत्रो की प्रवृत्ति होगी कि नही इस प्रश्न पर विचार-भेद था। कुछ आचार्यों के मत मे ऊह्य मत्र नही है, इसलिए छान्दस नियमों की प्रवृत्ति इनमे नही होनी चाहिए। 'अघस्ताम्' जैसे प्रयोग की उपपत्ति पठित के आधार पर कर लेनी चाहिए। कुछ अन्य आचार्यों के मत मे ऊह विषयक मत्र मत्रान्तर हैं—एक प्रकार के मत्र हैं। अघसत्, अघसताम् अघसन् अभीषु अक्षन्-ये सब ऊह प्रकरण मे पढे जाते हैं। कहीं-कहीं स्वयं वेद मे ही तप्यघ्वम्, तप्यस्व, तप्येथाम्, जैसे ऊह-प्रयोग निर्दिष्ट हैं। इसलिए ऊह्य और अनूह्य की न्याय से व्यवस्था समव होने पर लिग वचन और विभक्ति के विनियोग के लिए ऊह के विषय मे व्याक-

---

३४. मैत्रायिणी संहिता १।२।१५-२६।२, तैत्तिरीय संहिता ३।१।४।४
३५. वाजसनेयी संहिता ४।१७, तैत्तिरीय संहिता १।२।४।१
३६. तैत्तिरीय सहिता १।२।४
३७. वाजसनेयी संहिता ४।२१
३८. मैत्रायिणी संहिता २।५।१०।—६।१।११

रण शास्त्र की अपेक्षा की जाती है। ऊह के प्रतिषेध के विषय में भर्तृहरि ने एक कारिका उद्धृत की है :

अङ्गानि ज्ञातिनामान्युपमा चेन्द्रियाणि च।
एतानि नोहं गच्छन्ति अध्रिगौ विषमं हि तत् ॥

अध्रिगु से अन्यत्र अंगों का, ज्ञातिनामों का, उपमा का, इन्द्रियों का ऊह नहीं होता। अध्रिगु में होता है। अंग के अनूह के उदाहरण मे **'यत् पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहते। अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः**[३९] यह मंत्र उद्धृत किया जाता है। इस मंत्र मे प्रकृति याग मे उर शब्द एक वचन है और अंग का नाम है। द्विपशुक विकृतियाग मे उर का उरसी रूप मे विपरिणाम नही होता जबकि पशु का पशू रूप मे होता है। इसी तरह बहुपशुक विकृतियाग मे पशु का विपरिणाम पशव होता है किन्तु उर का उरांसि नही होता। भर्तृहरि के वक्तव्य से जान पड़ता है कि ऊह परिगणित हो चुके थे और गणपाठ की तरह उनका भी एक शास्त्र था। अंगो मे पाणिपाद शिर ग्रीव आदि, ज्ञातिनामो मे माता, पिता, भ्राता आदि, उपमा मे कश्यपेवासाच्छिद्रे श्रोणी, कदलोरू, स्रेकपर्णा आदि, इन्द्रियो मे चक्षु, श्रोत्र आदि परिगणित थे।[४०]

भर्तृहरि के अनुसार, इतिकर्तव्यता और गीति के ऊह मे व्याकरण की गति नही है। उसकी व्यवस्था लोक से, लक्षणान्तरो से और प्रातिशाख्यो आदि से सभव है। किन्तु शब्दविषयक ऊह मे—विभक्ति आदि के विपरिणाम मे व्याकरण की प्रवृत्ति है। ऊह का विषय, वस्तुत:, प्रकृतिविकृतिभाव से ही है।[४१]

पुण्यराज के अनुसार सबंधत्याग और विभक्त्यन्तर के योग जहा व्याकरणशास्त्र मे दिखाए गये हैं वे ऊह के विषय हो सकते हैं। जैसे, भूवादयो धातव १। ३। १ सूत्र मे धातव प्रथमान्त है। अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १। ३। १२ मे इसकी अनुवृत्ति होती है। वहां धातो पञ्चम्यन्त अपेक्षित है फलत प्रथमान्त का पञ्चम्यन्त मे विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। इसी प्रकार उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२ तथा तस्यलोप १।३।९ मे भी विपरिणाम का आश्रय लिया जाता है। जो विभक्ति जिस रूप म श्रुत है उसी रूप मे जब अन्वय की उपपत्ति नही होती है तो अन्यथानुपपत्ति के आधार दूसरे के साथ सम्बन्ध की चरितार्थता के लिए विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। यह विपरिणाम सामर्थ्य से अनुमित होता है अथवा क्षीर-दधि के विपरिणाम की तरह भिन्न होता हुआ भी प्रत्यभिज्ञान के बल से अभिन्न माना जाता है। अथवा तदेव इदम् इस रूप मे उपचरित होता है।[४२]

---

३९. तैत्तिरीय सहिता ३।१।४।३

४०. कश्यपकबवस्त्रेकाणा कच्छपमत्स्यजातीयकरवीरवाच्निनां यथोपमेयलिंग सख्यान्तरविपरिणामो न भवति—
हेलाराज, वृत्तिसमुद्देश ५९०

४१. महाभाष्य त्रिपादी, पृ० ५-८

४२. वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ४५९-४६०

भोज ने मंत्र के अतिरिक्त भाषा में भी ऊह के प्रयोग दिखाए हैं।[४३]

सम्बन्धाबाध—पुण्यराज के अनुसार सम्बन्धाबाधन ऊह का प्रतिपक्षी है। 'देवदत्तस्य उच्चानि गृहाणि युक्त तानि अभिजातस्य' इसमे पहले वाक्य के विभक्त्यन्त पदों का वाक्यान्तर के तदनुकूल पदो से संबंध हो जाता है। इसी तरह 'बदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वृक्ष:' 'पचाला जनपद:' आदि मे सम्बधाबाधन माना जाता है। बदरी के विशेषण मधुर और सूक्ष्मकण्टक शब्द हैं, बदरी के स्त्रीलिङ्ग से उनका भी योग मान कर मधुरा, सूक्ष्मकण्टका कहा जाता है। यदि वृक्ष से संबध हो तो वृक्षगत लिङ्ग सख्या योग होना चाहिए। महाभाष्यकार ने ऐसे स्थलों पर आविष्टलिङ्गा-जातिः का सहारा लिया है। जाति के सहारे उसके विशेषणो मे भी युक्तवद्भाव नही होता है। फलत. पचाला· जनपद. प्रयोग उपपन्न होते हैं।

व्याकरण शास्त्र में बहुगणवतुडति सख्या १।१।२३ सूत्र मे बहु और गण शब्द का वैपुल्य या सघ के अर्थ मे ग्रहण न होकर सख्यावाची के अर्थ मे ग्रहण होता है। और उनकी सख्या संज्ञा की जाती है। ष्णान्ता षट् १।१।२४ मे ष्णान्ता मे स्त्रीलिङ्ग निर्देश मे सख्या से उसका सबध हो जाता है। वेद मे भी 'यजमानं दण्डेन दीक्षयति' जैसे वाक्यो मे यजमानम् का सबध अबाधित रूप मे हो जाता है।

भोज ने सबधाबाधन को दूसरे रूप मे लिया है। उनके अनुसार विशेष श्रुति के द्वारा भी सामान्यश्रुति का अबाध सबधाबाधन है। जैसे 'ब्राह्मणा भुञ्जता माठरकौण्डिन्यौ परिवेविष्टाम, इस वाक्य मे विशेषश्रुति माठर कौण्डिन्य से सामान्यश्रुति ब्राह्मण भुञ्जताम् का बाध नहीं होता।[४४]

सामान्यातिदेश . सामान्यातिदेश अतिदेश का एक भेद है। अन्य धर्म का अन्यत्र प्रापण अतिदेश है। सामान्य का भी अतिदेश होता है और विशेष का भी अतिदेश होता है। सामान्यातिदेश मे अन्यत्र जो धर्म रूढ है उनका, प्रसिद्ध अथवा अनुमेयभेद सभव संबधियो द्वारा, निर्ज्ञात भेद वाले वस्तुओ (अर्थों) में प्रापण किया जाता है। 'ब्राह्मणवत् अस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यम्' इस वाक्य से ब्राह्मण शब्द के जितने प्रसिद्ध अर्थ हैं, उनसे सम्बद्ध जो प्रसिद्ध कार्य है अग्रभोजन आदि उन सबका छत्रिय में, जिसमे ब्राह्मण शब्द की वृत्ति नहीं है, अतिदेश किया जाता है। सामान्य में

४३. चूडाचुम्बित कङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो,
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरोधत्ते त्वचं रौरवीम्।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधो वासश्च माञ्जिष्ठकम्
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः॥

(उत्तररामचरित ४।२०)

इत्युत्तररामचरिते लवमेकमुद्दीश्य भवभूतिर्जनकमेतच्छ्लोकं पाठितवान्। तमेव पश्चाद्वीरचरिते (१।२२) धत्तस्त्वचं रौरवीमित्यूहयित्वा रामलक्ष्मणौ द्वावुद्दिश्य कुशध्वजमपाठयत्। अत्राप्युरःपाणिवासः कार्मुकादीनामामूहो न भवति। संबन्धिभेदेनैव भेदसिद्धेः। भेदेन हि प्रतिपत्तव्योऽर्थो यावानभेदेऽपि भवति तावन्न भिद्यते।

शृंगार प्रकाश, पृ० ३१६

४४. शृंगार प्रकाश पृ० ३१३

ब्राह्मण शब्द की अव्यभिचरित शक्ति है, माठर आदि मे अव्यभिचरित शक्ति नही है। कट मे माठरत्व नही है। शब्द अर्थ के किसी भाग का ही सस्पर्श करता है। अर्थ की जितनी विशेषताए ज्ञात है अथवा उसमे सन्निहित हैं सबको बताने की शक्ति शब्द मे नहीं है। माठरवत् अस्मिन् कटे वर्तितव्यम्' इस वाक्य मे भी सामान्यातिदेश ही है। माठर के विशेष धर्म उसके सौंदर्य आदि हैं उनका यहां अतिदेश नही किया गया है। इसी तरह 'विशिष्टवदस्मिन् वर्तितव्यम्' मे सामान्यातिदेश ही है। क्योंकि विशिष्ट मे जो सामान्यधर्म वैशिष्ट्य है उसीका अतिदेश किया गया है। उसके रूपविशेष आदि विशिष्टभाग का निर्देश नही किया गया है। इसीलिए कहा जाता है कि शब्द का अर्थ केवल सामान्य होता है, विशेष व्यभिचरित होते है। जब तक सामर्थ्य विशेष का उल्लेख न हो विशेष का अतिदेश नही होता

सामान्यमात्रं शब्दार्थो, विशेषा व्यभिचारिणः।
सामान्यमन्तरेणातो विशेषो नातिदिश्यते॥

'गुरुवन् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्' मे भी सामान्यातिदेश है।

व्याकरण शास्त्र मे स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५६ पर वार्तिककार ने 'सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेश' वार्तिक द्वारा विशिष्ट वल आदि कार्य के अतिदेश का समर्थन नही किया है।

विशेषातिदेश सामान्यकार्य के निर्ज्ञात होने पर सामर्थ्य के आधार पर विशिष्ट प्रकृतिगत कार्य का अतिदेश विशेषातिदेश कहलाता है। जैसे 'ब्राह्मणवत् अस्मिन् ब्राह्मणे वर्तितव्यम्।' यहा ब्राह्मणविषयक विशिष्ट कार्यो के अतिदेश का निर्देश है। जो ब्राह्मण के प्रति ब्राह्मणवत् व्यवहार करते हैं, उनको उद्देश्य कर ऐसा कहा जाता है। बुद्धिसभेद वालो के लिए अथवा प्रमादवश अन्यथा आचरण करने वालो के लिए नियम ही किया जाता है।

व्याकरणशास्त्र मे विशेषातिदेश छ प्रकार का देखा जाता है. रूपातिदेश, निमित्तातिदेश, तादात्म्यातिदेश, शास्त्रातिदेश, कार्यातिदेश और व्यपदेशातिदेश। द्विर्वचनेऽचि १।१।५९ सूत्र मे रूपातिदेश का आश्रय लिया जाता है। यहा आदेश का धातु के स्वरूप मे ही अतिदेश होता है। फलत चक्रतु. ययत. मे क्व और या का द्विर्वचन होता है।

पूर्ववत्सन १।३।६२ सूत्र से आत्मनेपद के लिए ङकार आदि निमित्त का सन्नन्त के लिए अतिदेश होता है। यहा निमित्तातिदेश है।

तादात्म्यातिदेश सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे २।१।२ सूत्र मे देखा जा सकता है। जहा सुबन्त आमन्त्रित से, मिट्टी-धूल-पानी के सदृश, एक मे मिलकर आमन्त्रित के स्वर को पाता है।

शास्त्रातिदेश और कार्यातिदेश दोनो के उदाहरण कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय ३।१।८७ मे मिल जाते हैं। यहां शास्त्रातिदेश मे शप् से यक् का बाध न हो इसलिए यग्विधि मे कर्मकर्तर्युपसख्यान का आश्रय लिया जाता है और विप्रतिषेध से शप् को बलवान् माना जाता है। कार्यातिदेश पक्ष मे कर्मवत् कर्मणा सूत्र से ही यक् का विधान

होता है, यक्, के पर होने से शप् से बाध भी नहीं होता, फलतः उपसंख्यान की आवश्यकता भी नहीं होती। शास्त्रातिदेश और कार्यातिदेश में भेद यह है कि शास्त्रातिदेश में कार्य उन उन शास्त्रों (सूत्रों) से होता है जबकि कार्यातिदेश में कार्य अतिदेश वाक्य से ही होता है।[४५]

सभी अतिदेशों मे कार्यातिदेश प्रधान माना जाता है।[४६]

पुण्यराज के अनुसार व्यपदेशातिदेश व्याकरणशास्त्र (पाणिनिशास्त्र) मे संभव नही है। वह संज्ञापक्ष से भिन्न नही है और वत् ग्रहण भी विफल होने लगेगा।[४७] किन्तु कैयट आदि ने अनेकस्थल पर व्यपदेशिवद्भाव का आश्रय लिया है:

यः शब्दोऽर्थवान् तस्यार्थोपादानपरित्यागाभ्यां
व्यपदेशिवद्भावो भवति, बुद्ध्या नानात्वकल्पनात्।

—कैयट, महाभाष्य प्रदीप ६।१।४५

भोज ने व्यपदेशमात्र को अतिदेश का कार्य माना है।[४८] अतिदेश वत्यादि के विना भी देखा जाता है। जैसे अब्रह्मदत्त के लिए ब्रह्मदत्त का प्रयोग किया जाता है। इसकी व्याख्या इस रूप मे की जाती है कि ब्रह्मदत्त मे जो गुण या क्रियाएँ थी उनका अब्रह्मदत्त में समारोप कर लिया जाता है। अथवा ब्रह्मदत्त मे जो गुण आदि अभी होगे उनका वुद्धि से आकलन कर उपमानोपमेय सम्बन्ध के सहारे उपचार से अब्रह्मदत्त के लिए ब्रह्मदत्त शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

"उशीनरवत् मद्रेषु यवा" इस वाक्य मे अतिदेश है कि नही ? भोज के अनुसार यहा भी अतिदेश है। यहा उशीनर के यवो का, भाव अथवा अभाव रूप मे प्रसिद्धो का मद्र जनपद के यव मे अतिदेश किया जाता है। यद्यपि वतिः प्रत्यय का स्वरूप समान है। किन्तु दो नियमो से प्रवर्तित होने के कारण ये दो भिन्न-भिन्न कार्य करते है। तेन तुल्य क्रिया चेन् वति ५-१-११५ से प्रवर्तित वतिः प्रत्यय प्रकृत्यर्थ धर्म का अन्यत्र अतिदेश करता है। तत्र तस्येव ५।१।११६ से विहित वतिः प्रत्यय आधेय सम्बन्धि धर्मों का अन्यत्र अतिदेश करता है। तदर्हम् ५-१-११७ से विहित वतिः प्रत्यय सभवत सभिन्न वुद्धि वालों के लिए नियम विधायक है। आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में "तदर्हम्" नियम नही था।[४९]

---

४५. शास्त्रकार्यातिदेशयोश्चायं विशेषः। शास्त्रातिदेशे तेन तेन शास्त्रेण कार्याणि भवन्ति। कार्यातिदेशे तु अतिदेशवाक्येनैवेति— पदमंजरी ७।१।९५, पृ० ७४०

४६. सर्वातिदेशानां कार्यातिदेशस्य प्राधान्यात् तस्यैवेहाश्रयणम्।
महाभाष्यप्रदीप १।१।२१

४७. व्यपदेशिवद् भावस्तु व्याकरणे नैव संभवति, संज्ञापक्षाद्विशेषात् वत् करणवैफल्यप्रसंगात्। पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७८

४८. व्यपदेशमात्रमपिकार्यमतिदेशस्य
श्रृंगार प्रकाश पृ० ३२१

४९. तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे।—वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ५६१
आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतत् नाधीयते। —हेलाराज, वृत्तिसमुद्देश ५६१

भोज ने उपमान के प्रसिद्ध धर्मों का उपमेय के आरोप के रूप में अतिदेश को ग्रहण किया है। वह प्रसिद्धि कभी लोक, कभी प्रयोक्ता और कभी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की अपेक्षा रखती है।

शबर स्वामी ने नाम और वचन के आधार पर पांच प्रकार के आतिदेशिक माने हैं, कर्मनाम, सस्कारनाम, यौगिक, प्रत्यक्षश्रुत और आनुमानिक। उन्होंने अतिदेश के स्वरूप के द्योतक निम्नलिखित प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है :

प्रकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु।
धर्मोपदेशः येन स्यात् सोऽतिदेश इति स्मृत :॥

—शाबरभाष्य ७।१२

अर्थित्व, सामर्थ्य और अर्थभेद—इन तीन को पुण्यराज ने वाक्यधर्म नही माने हैं। किन्तु वाक्यधर्म के सम्बन्ध मे भर्तृहरि ने सामर्थ्य और अर्थभेद का उल्लेख स्वयं किया है :

वाक्येऽपि नियता धर्मा केचित् वृत्तौ द्वयोस्तथा।
तेऽर्थभेदेन (त्वभेदेन) सामर्थ्यमात्र एवोपवर्णिताः।[५०]

अर्थित्व से अभिप्राय एकार्थीभाव से जान पडता है। सामर्थ्य से अभिप्राय भेद, ससर्ग अथवा भेदसंसर्ग दोनो से है। यदि वृत्ति मे भेद और ससर्ग न हो, सामर्थ्य नही हो सकता। सामर्थ्य भेद-ससर्गात्मक होता है। कभी भेद सामर्थ्य होता है और ससर्ग अनुमेय होता है। कभी ससर्ग सामर्थ्य होता है, और भेद अनुमेय होता है अथवा युगपत् आश्रित होकर दोनो सामर्थ्य कहलाते हैं। महाभाष्यकार ने भेद और संसर्ग की उपपत्ति यहा अन्वय-व्यतिरेक के सहारे की है। भोज ने भी ऐसा ही दिखाया है।[५१] अर्थभेद वाक्य और वृत्ति के अर्थ के अभेदत्व का प्रतीकमात्र जान पडता है।

अधिकार पुण्यराज और भोजराज ने अर्थित्व और सामर्थ्य को स्वतत्र वाक्य धर्म के रूप मे न लेकर इनका सम्बन्ध अधिकार अथवा अधिकारी से जोडा है।

अर्थित्वं सामर्थ्यं शास्त्रपर्युदासयोगित्वमधिकार।[५२] मीमासादर्शन मे यज्ञ-क्रिया मे उसी का अधिकार माना जाता है जो अर्थी हो, जो दूरफल की इच्छा रखता हो। साथ ही जो अधिकृत वर्ण का हो, निषिद्ध जाति का न हो। अदृष्ट के विषय मे सामर्थ्य-असामर्थ्य का निर्णायक शास्त्र है,

क्रियासु योग्यत्वमधिकारः। कः पुनः योग्यः अर्थी समर्थः शास्त्रेण पर्युदस्त इति।[५३]

---

५०. वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३६

५१. किं पुनरिदं सामर्थ्यं नाम। भेदः संसर्गः उभयं वा। तत्र राज्ञः पुरुष इत्यत्र तावदेतदयं तत्परायत्त-वृत्तिरयं पुरुषः न स्वतन्त्रः तदा स्वामिसंसर्गस्यावगतत्वात् स्वामिविशेषज्ञानोपादीयमानो राजशब्देभ्यः स्वाम्यन्तरेभ्यः पुरुषं व्यावर्तयति। सोऽयं स्वान्यन्तरव्यवच्छेदो भेद इत्युच्यते।

—शृंगार प्रकाश, अध्याय ३४ हस्तलेख

५२. पुण्यराज, वाक्यपदीय २.७१

५३. शृंगार प्रकाश, पृ० ३२३

अदृष्टार्थविषये (विशेषे) हि सामर्थ्यासामर्थ्ये शास्त्रादेव समधिगम्येते ।[५४]

अर्थित्व, सामर्थ्य और अधिकार को साथ रखकर इनकी एक दूसरी व्याख्या भी संभव है अर्थात् एकार्थीभाव, सामर्थ्य और अधिकार अथवा व्यपेक्षा, सामर्थ्य और अधिकार। इन दोनों पक्षों का महाभाष्य में समर्थ सूत्र २।१।१ में विवेचन मिलता है।

व्याकरणशास्त्र में अधिकार का सम्बन्ध, पुण्यराज के अनुसार, शब्द, अर्थ और पुरुषधर्म से है। यहां प्रसंग से पुण्यराज ने शब्द और अर्थ के भेदों पर विचार किया है जो निम्न लिखित है !

शब्द छ तरह के हैं। साधु और असाधु। साधु शब्द भी दो तरह के हैं शास्त्रीय और प्रायोगिक। शास्त्रीय शब्द भी तीन तरह के हैं। प्रतिपाद्य, प्रतिपादक और उभय रूप। प्रायोगिक भी लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। इस तरह कुल छः प्रकार के शब्द हैं।

अर्थ अठारह प्रकार के होते है :

१ वस्तुमात्र—जिसके बारे मे कहा जा सके, जो प्रतिपादन का विषय बन सके वह अर्थ का वस्तुमात्र रूप है, अर्थात् जो कुछ वस्तु है, चाहे उसकी यथार्थ सत्ता हो अथवा कल्पित सत्ता हो वह वस्तु मात्र अर्थ है। दूसरे शब्दो मे, शब्द निरपेक्ष वस्तु की सत्ता वस्तुमात्र है।

२ अभिधेय—अभिधेय वह अर्थ है जो शब्द का अर्थ है। बाह्य यथार्थ अर्थ नही। जो समीहित है वह अभिधेय है। अभिधेय ही शब्द-व्यापार का विषय है। यह दो प्रकार का होता है। शास्त्रीय और लौकिक।

३ शास्त्रीय वह अर्थ है जो पौरुषेय है, कल्पित है, व्यभिचरित भी होता है फिर भी जो परंपरा से अव्यभिचरित माना जाता है और जो परिकल्पित होता हुआ भी अविकल्पित-सा शब्दसाधुत्व के निमित्त के रूप मे प्रतिपादक माना जाता है। उसकी नियत अवधि नही है, इसलिए व्याख्याता उसको बहुधा विभक्त कर अन्वाख्यान किया करते हैं। इसलिए वह आवापोद्धारिक भी है, उसका विश्लेषण आवाप उद्धार पद्धति से किया जाता है।

४. लौकिक अर्थ अखण्ड अर्थ है। लौकिक अर्थ मे ही शब्द का अधिकार माना जाता है, शास्त्रीय अर्थ मे शब्द का अधिकार नही होता है।

५. विशिष्टावग्रहसप्रत्ययहेतु—जब अर्थ विशिष्टाकार रूप मे ज्ञान विशेष का प्रत्यायक होता है, वह विशिष्टावग्रहसप्रत्यय हेतु माना जाता है। कंसं घातयति, बलिं बन्धयति जैसे वाक्यो से भूतकाल के व्यापार नट आदि के माध्यम से वर्तमान काल में दिखाए से जाते है। इस तरह के अर्थ के लिए विशिष्टावग्रह सप्रत्ययहेतु शब्द का व्यवहार पुण्यराज ने किया है।

---

५४. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७६, शृंगार प्रकाश पृ० ३२३ पुण्यराज और भोज के इस प्रसंग के कई वाक्य समान हैं। या तो दोनों ने भर्तृहरि से लिया है अथवा भोज ने पुण्यराज से लिया है। द्वितीय पक्ष में पुण्यराज के समय की अन्तिम सीमा ई० ६५० हो जाती है।

६. **अविशिष्टावग्रहसंप्रत्ययहेतु**—बाह्य रूप में जो वस्तु जैसी है उसी रूप में उसका उद्‌भावन अविशिष्ट-अवग्रह-संप्रत्यय हेतु अर्थ है जैसे गौः शुक्लः।

७. मुख्य—शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ का साक्षात्‌बोध होता है वह मुख्य है। जैसे गौ. शब्द से सास्ना आदि युक्त गो व्यक्ति।
तस्मात् श्रुतिमात्रेणशब्दस्य येषामर्थेषु तादर्थ्यमवसीयते तेषां मुख्यमर्थमाचक्षते। यत्रश्रुतिमात्रविषयं प्राकृतं यत्नमतिक्रम्य निमित्तान्तरात् प्रतिपत्तिः तं गौणमित्याहुः।[५५]

८. परिकल्पितरूपविपर्यास—किसी निमित्त के आधार पर जिसका रूप विपर्यास कल्पित होता है वह अर्थ परिकल्पितरूपविपर्यास है। दूसरे शब्दो मे, गौण अर्थ का एक नाम परिकल्पित रूपविपर्यास है। किसी आचार्य के मत मे शब्द का अपना स्वरूप ही उसका मूल अर्थ है। उसी के साथ उसका नित्य संबध है। शब्द के स्वरूप का अर्थ मे अध्यारोप किया जाता है। जो यह गो शब्द है वही यह गो पिण्ड है। श्रवण तो शब्द रूप का होता है किन्तु उसका अर्थ मे विपर्यास हो जाता है। कल्पित होने के कारण इसे कल्पितरूपविपर्यास कहा जाता है। सब लोक व्यवहार इस विपर्यास से ही परिचालित होते हैं। यह विपर्यास द्वितीयस्थानापन्न है। इसलिए इसे गौण कहा जाता है—

> **अन्ये त्वाचार्याः मन्यन्ते स्वरूपे शब्दो नित्यं वर्तते स एव तस्यान्तरंगो व्यभिचारी (अव्यभिचारी) शब्दान्तरेश्चासाधारणोऽर्थ। तत्र चानुपदेश-प्रतिपत्ति. सर्वेषाम्। रूपं तु शब्दानामर्थेष्वेवाध्यारोप्यते। यो गो शब्दः सोऽयं पिण्डोऽर्थ। तथा यो वृद्धि-शब्द. त आदेच इति। तत्र स्वरूपेष्वेव श्रुतयो नित्यावरुद्धा। अर्थस्वरूपयोस्तु रूपविपर्यासमात्रेण सर्वोलोकव्यवहारः क्रियते। नित्यत्वाच्चेयं सर्वविषया गुणकल्पना गौणव्यपदेशे निमित्तत्वेनोपादीयते। (नियतस्वरूप श्रूयते) द्वितीयस्थानापन्न-विपर्यासस्वरूपं गौणव्यपदेशनिमितं प्रतिपद्यते।**[५६]

९. व्यपदेश्य—आवाप-उद्धार पद्धति के आधार पर जाति अथवा द्रव्य व्यपदेश्य अर्थ कहे जाते है।

१०. अव्यपदेश्य—वाक्यार्थलक्षण अखण्ड अर्थ को अव्यपदेश्य माना जाता है।

११. सत्त्वभावापन्न—अवाप-उद्वाप पद्धति वाला व्यपदेश्य अर्थ ही सत्त्वभावापन्न अर्थ है।

१२. असत्त्वभूत—वाक्यार्थलक्षण अर्थ जब सत्त्वभावापन्न न हो, असत्त्वभूत माना जाता है। व्यपदेश्य और सत्त्वभूत अर्थ मे, तथा अव्यपदेश्य और असत्त्वभूत अर्थ मे केवल उक्ति भेद से भेद है।

१३. स्थितलक्षण—जो अर्थ कभी अपने सम्बन्ध को नही छोड़ता वह स्थितलक्षण

---

५५. वाक्यपदीय, २।२८० हरिवृत्ति हस्तलेख, शृंगार प्रकाश पृ० ३६१ में उद्धृत।

५६. वाक्यपदीय २/२५७ हरिवृत्ति, हस्तलेख; शृंगार प्रकाश पृ० ३६२ पर भी उपलब्ध।

कहा जाता है अथवा जिसका लक्षण (स्वरूप) स्थित रहता है वह स्थित लक्षण है। राजपुरुषः मे पुरुष का राजसम्बन्धित्व सदा अव्यभिचरित रहता है। वह स्थितलक्षण है। स्थितलक्षण पदार्थ भी होता है, वाक्यार्थ भी होता है।

१४. विवक्षाप्रापितसन्निधान—जिस अर्थ का सम्बन्ध विवक्षाधीन है वह विवक्षा-प्रापित सन्निधान अर्थ है। जैसे राज्ञः पुरुषस्य मे विशेषणविशेष्य विवक्षाधीन है, फलतः सम्बन्ध अनियत है।

१५. अभिधीयमान—जो अर्थ जिस रूप मे कहा जा रहा है उसी रूप मे उसका ग्रहण अभिधीयमान कहलाता है। राजसख. शब्द से यह राजा का सखा है—ऐसा अर्थ अभिहित होता है।

१६ प्रतीयमान—अभिधीयमान से एक कोटि आगे का अर्थ प्रतीयमान माना जाता है जैसे राजसख . से यह राजा का सखा है—पुन: राजा इसका सखा है यह अर्थ झलकता है। यही प्रतीयमान अर्थ है। बाद मे इसे ध्वनिवादियो ने अपनाया।

१७. अभिसहित—शब्द से सपृक्त जो अर्थ रहता है उसे अभिसहित कहा जाता है। जैसे गो शब्द से जाति अथवा द्रव्य दोनो दर्शनभेद से अभिसहित हैं।

१८ नान्तरीयक—शब्द के सहचरित वर्णसंघटना आदि नान्तरीयक अर्थ हैं। पुरुषधर्म के भीतर वक्तृत्व और प्रतिपत्तृत्व दोनों गृहीत हैं।

उपर्युक्त अठारह प्रकार के अर्थ भर्तृहरि ने स्वय किए होगे। पुण्यराज ने वहीं से इन्हे लिया होगा। इनका कही अन्यत्र उल्लेख नही मिलता। अवश्य अर्थ नाम से उल्लिखित उपर्युक्त शब्द भर्तृहरि की कृतियो मे बहुधा मिलते हैं। भोज ने अर्थ द्वादश प्रकार के गिनाए है जो व्याकरण की दृष्टि से हैं और वे हैं—क्रिया, काल, कारक, पुरुष, उपाधि, प्रधान, उपस्कारार्थ, प्रातिपदिकार्थ, विभक्त्यर्थ, वृत्त्यर्थ, पदार्थ और वाक्यार्थ।[५७]

वस्तुत: पुण्यराज ने जिन अठारह प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है वे अर्थ के भेद न होकर अर्थ के विभिन्न स्वरूप के प्रत्यायक है। एक ही अर्थ विभिन्न व्यक्तियो द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से गृहीत हो सकता है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द मे विशिष्ट-अविशिष्ट दोनो के अभिधेय की शक्ति रहती है **विशिष्टाविशिष्टाभिधेय निबन्धनत्वात् शब्दानाम्**।[५८] पुण्यराज ने भर्तृहरि के विशिष्टाभिधेयनिबन्ध के लिए विशिष्टावग्रह-सप्रत्यय हेतु शब्द का व्यवहार किया है और अविशिष्टाभिधेयनिबन्धन के लिए 'विशि-ष्टावग्रह सप्रत्ययविपरीत' शब्द का व्यवहार किया है। भर्तृहरि ने विशिष्टाभिधेय का उदाहरण चन्दन गन्ध दिया है। चन्दन शब्द विशिष्टसन्निवेश से युक्त रूप रसादि को व्यक्त करते हैं। केवल रूप, रस आदि शब्द सर्वपदार्थ साधारण होने से अविशिष्टा-

५७. शृङ्गार प्रकाश, पृ० १२६ मैसूर सरकरण
५८. वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १/२४ पृ० ४६

भिन्न हैं। दर्शन भेद से व्यपदेश्य, अव्यपदेश्य का भी यही उदाहरण है। चन्दन से गन्ध का व्यपदेश होता है, रूप से नहीं होता। अपोद्धार और स्थितलक्षण की चर्चा भर्तृहरि ने **अपोद्धार पदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः (वाक्यपदीय १।२४)** में स्वयं की है। अपोद्धारपदार्थ के लिए ही, पुण्यराज ने आवापोद्धारिक शब्द का व्यवहार किया है। अपोद्धार की प्रक्रिया शास्त्रव्यवहार के लिए है, लौकिक व्यवहार भी उसका अनुगमन करता है। किन्तु अपोद्धार एक पद से अन्वाख्येय है। क्योंकि सत्य अथवा असत्य, सत्ता अथवा असत्ता का बोध नहीं हो पाता है;

सोऽयमपोद्धारपदार्थ. शास्त्रव्यवहारमनुपतति।
शास्त्रव्यवहारसदृशं च लौकिकमेवव्यवहारम्।
स चैकपदनिबन्धनः सत्यासत्यभावेनानुपाख्येय।

—वाक्यपदीय, १।२४ हरिवृत्ति

स्थित लक्षण अर्थ मे भी उद्देशप्रविभाग कल्पित होते हैं। सग्रामयति, नमस्यति जैसी क्रियाएँ अविभक्ति रूप मे अपना अर्थ व्यक्त करती है वैसे ही स्थितलक्षण अविभक्त, अखण्ड अर्थ है।

मुख्य, गौण आदि की चर्चा हो चुकी है, यथावसर अभी आगे भी होगी। भर्तृहरि ने विवक्षाप्रापित सन्निधान अर्थ का व्यवहार अविवक्षित अर्थ के लिए किया है। जैसे घट के लिए प्रकाशित दीप घट के समीप के अन्य पदार्थों का भी द्योतक होता है वैसे ही अर्थ भी विवक्षित अर्थ से सम्बद्ध अर्थ का प्रत्यायक होता है.

शब्दस्य त्वविवक्षितार्थप्रतिपादने किमन्यत् कारणम्
विवक्षाप्रापितसन्निधान एव व्यवहारेषु अर्थात्मा।

—वाक्यपदीय २।३०१ हरिवृत्ति, हस्तलेख

क्रियान्तरव्युदास : पुण्यराज के अनुसार शब्द के अथवा शास्त्र के जो धर्म अनधिकार के रूप मे कहे गये है वे क्रियान्तरव्युदास माने जाते हैं। भोज ने इसी को दूसरे शब्दो मे कहा है। सामर्थ्य, अर्थित्व आदि की किसी स्थल पर अयोग्यता का नाम क्रियान्तरव्युदास है। इसी आधार पर कवियो की ये लोकोक्तिया प्रसिद्ध हैं:

क्वचित् कश्चित् प्रगल्भते। न सर्वं सर्वं जानाति।
किमपि कस्मैचिद् रोचते। भिन्नरुचिर्हि लोकः।

श्रुत्यादिक्रम . पौर्वापर्य के आधार पर नियोजन क्रम है। पुण्यराज ने क्रम के आठ प्रकार दिए है—श्रुतिक्रम, अर्थक्रम, पाठक्रम, काण्डक्रम, प्रवृत्तिक्रम, प्रतिपत्तिक्रम, प्रयोगक्रम और बुद्धिक्रम।

श्रुतिक्रम . श्रुति के आधार पर पदार्थो की परिपाटी का अवस्थापन श्रुतिक्रम है। 'स्नात्वा व्रजति' इस वाक्य मे त्वा प्रत्यय क्रम का निर्देश करता है। वह पहले स्नान करता है, बाद मे जाता है। व्याकरणशास्त्र मे पाणिनि ने यथासख्यमनुदेशः समानाम्' १।३।१० जैसे नियम क्रम-परिपाटी के द्योतक है। सभाव्य भर्तारमम् युवान··· निर्विश्यता सुन्दरि यौवनश्री .—रघुवंश ६।५० । इसमे सभाव्य मे ल्यप् प्रत्यय पूर्वकाल में है। विवाह और परिभोग मे क्रम निर्देश प्रत्यय द्वारा व्यक्त किया गया है।

अर्थक्रम : सामर्थ्य के आधार पर गठित क्रम अर्थक्रम कहलाता है। 'भुक्त्वा, स्नात्वा व्रजति' इस वाक्य में अर्थक्रम के अनुसार पहले स्नान किया, इसके बाद भोजन किया, तत्पश्चात् गमन किया—ये क्रम हैं किन्तु शब्दतः ये क्रम व्यवहृरित नहीं हैं। अर्थक्रम का आधार अर्थ-स्वरूप की पर्यालोचना है। 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागू श्रपयति' इस विधि में यवागू के श्रपण का बाद में उल्लेख है किन्तु व्यवहार में पहले यवागू का श्रपण होता है बाद मे अग्निहोत्र होता है।

पाठक्रम : उच्चारण क्रम का दूसरा नाम पाठक्रम है। यथापठित का यथापठित से सम्बन्ध पाठक्रम है । यथासख्य नियम ही एक तरह से पाठक्रम है। 'विप्रतिषेधे परकार्यम्' १।४।२ 'पूर्वत्रासिद्धम्' ८।२।१ ये सूत्र पाठक्रम से सम्बद्ध हैं :

इन्दु स्वर्णमातगपुंस्कोकिलकलापिनः ।
वक्त्रकान्तीक्षणगतिस्वरकेशैस्त्वया जिताः ।

इस श्लोक मे इन्दु का वक्त्र से, स्वर्ण का कान्ति आदि से यथाक्रम सम्बन्ध है। भोज ने कालिदास के निम्न लिखित श्लोक मे पाठक्रम दिखलाया है।

अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिश सपत्नीभव दक्षिणस्या ॥[५९]

अत्र पृथिवी सामर्थ्यात् दक्षिणासाधर्म्याच्च पूर्व पतित्वं पश्चात् करग्रहणमित्यर्थे प्राप्ते पाठसामर्थ्यात् पूर्व करग्रहण तत. पतित्वमिति क्रम ।

—*श्रृंगार प्रकाश, अध्याय २६, हस्तलेख*

काण्डक्रम : वैदिक साहित्य मे वर्ण-आचार सम्बन्धी जो आदेश जिस प्रकरण मे उद्दिष्ट हैं उसी प्रकार से उनका अभिधान होता है। कर्मों का विधान कारिका क्रम से ब्राह्मणग्रथो मे देखा जाता है। व्याकरण शास्त्र मे भी अधिकार के रूप मे काण्ड क्रम सभव है। अष्टाध्यायी ६।१।१ से ६।१।१२ तक द्विर्वचन काण्ड तथा ६।१।१३ से ६।१।४४ तक सप्रसारण काण्ड माना जाता है। भोज ने काण्ड क्रम का उल्लेख नही किया है। किन्तु शाबर भाष्य मे काण्ड क्रम का व्यवहार है।[६०] भोज ने स्थान क्रम का उल्लेख सभवत· काण्डक्रम के स्थान पर किया है। स्थानक्रम का उदाहरण श्रृंगार प्रकाश के नवे अध्याय मे 'भू र्भुवः स्वर्लोकान् तर्पयति' दिया है किन्तु २६ वे अध्याय में प्राकृत गाथा उद्धृत कर लिखा है अत्र···· ·दिने-दिने सापि कृशायते रणायते च इति क्रम ।[६१]

प्रवृत्तिक्रम :प्रतिपत्ता के इच्छावश प्रवृत्त क्रम को प्रवृत्तिक्रम कहा जाता है। महाभाष्यकार ने कहा है—जिस आनुपूर्वी से अर्थों का प्रादुर्भाव होता है उसी तरह

---

५९. भोज ने इस श्लोक के प्रथम पाद का पाठ 'अनेन कल्याणि करे गृहीते' इस रूप में दिया है। यह पाठ अधिक उपयुक्त जान पडता है। भोज की टिप्पणी भी कर ग्रहण को लक्ष्य कर है। श्रृंगार प्रकाश पृ० ३७९ पर भी यही पाठ है।

६०. तत् (क्रम) श्रुत्यर्थपाठप्रवृत्तिकाण्डमुख्यैः वक्ष्यते—शाबरभाष्य ५।१

६१. श्रृंगार प्रकाश, अध्याय २६, हस्तलेख। भर्तृहरि ने स्थानक्रम का उल्लेख महाभाष्यदीपिका में किया है।

शब्दों का भी होता है। पट्व्या, मृद्व्या इनमें पहले स्त्री प्रत्यय लगते हैं, इसके बाद एक वचन आदि की उत्पत्ति होती है। भोज के अनुसार 'प्राग्वदनोऽवमर्षणानि जपति' में प्रवृत्तिक्रम है।

प्रतिपत्तिक्रम : अवबोध के क्रम को प्रतिपत्तिक्रम कहा जाता है। जैसे राज्ञः पुरुषः के स्थान पर पुरुषः राज्ञः के उच्चारण करने पर भी राज सम्बन्धी पुरुष के क्रम से ही बोध होता है। वैदिक साहित्य में प्रतिपत्ति का उदाहरण दीक्षणीयादि का सोमयज्ञ से सबन्ध है। सोमयज्ञ प्रधान है। फिर भी दीक्षणीयादि यागनिवर्तन पूर्वक ही सोमयज्ञ की प्रतिपत्ति होती है। भर्तृहरि के अनुसार प्रतिपत्ति क्रम श्रोता अथवा अभिधाता में व्यवस्थित नही है।[६२] भोज ने प्रतिपत्तिक्रम का नाम नही लिया है।

प्रयोग क्रम : प्रयोग क्रम का उल्लेख न तो शबरस्वामी ने और न भोज ने किया है। पुण्यराज ने इसके उदाहरण में डुकृञ् करणे जैसे धातुओं का संकेत किया है। इस धातु में जिस क्रम से अनुबधो का प्रयोग है उसी क्रम से वे संज्ञा पाते हैं।

बुद्धिक्रम : बुद्धिक्रम प्रतिपत्तिक्रम का ही एक रूप जान पड़ता है। व्याकरण में इकोयणचि ६।१।७७ आदि में बुद्धि द्वारा पौर्वापर्य की कल्पना की जाती है। वर्णसंहार आदि में बुद्धिक्रम की चर्चा की जाती है। भर्तृहरि के अनुसार एक बुद्धि मे आविष्ट वस्तु का बुद्ध्यन्तर से प्रविभाग होता है। प्रविभक्त का भी एक दूसरे से सम्बन्ध, बुद्धि द्वारा, स्थापित है तभी अर्थ क्रिया सभव हो पाती है। इन सब मे बुद्धिक्रम काम करता है। एक ही भावात्मा बुद्धिवृत्ति से विभक्त की जाती है।[६३]

बुद्धिक्रम का उल्लेख किसी अन्य दर्शन मे नही मिलता। शाबरभाष्य तथा शृंगार प्रकाश मे भी इसका उल्लेख नही है किन्तु दोनों स्थान पर मुख्यक्रम का उल्लेख है जिसे पुण्यराज ने नहीं दिया है। अभ्यर्हित का पूर्व उल्लेख मुख्यक्रम कहलाता है। जैसे देवान् मनुष्यान् अर्चयति। मुख्यक्रम का उल्लेख भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका मे किया है।

क्रमो की अन्योन्यसंकरता को भोज ने 'क्रमभेद' शब्द मे व्यवहृत किया है।

क्रमबलाबल : क्रमो के बलाबल मे श्रुतिक्रम, पाठक्रम आदि में परस्पर एक दूसरे के प्रति उत्कर्ष अथवा अपकर्ष पर विचार है। भोज ने श्रुतिबलाबल नाम दिया है और 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याना समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इस न्याय को निर्णायक माना है।

अविवक्षितक्रम : कभी-कभी निमित्त वश, वेद मे, लोक मे शास्त्र मे भी क्रम अविवक्षित रहता है।

---

६२. प्रतिपत्तिक्रमोऽय श्रोतुरभिधातुर्वा न व्यवस्थितः।

वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति, पृ० ४१ लाहौर संस्करण,

प्रतिपत्तिक्रमो न वस्तुसमुत्थः, पुण्यराज द्वारा उद्धृत, वाक्यपदीय २।८०

६३. बुद्धिक्रमो व्यवतिष्ठते तथा हि आह "एकोऽयं शक्तिभेदेन भावात्मा प्रविभज्यते। बुद्धिवृत्त्यनुकारेण बहुधा ज्ञानवादिभिः॥

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२६, पृ० ४२

पराङ्ग : पराङ्ग से अभिप्राय संभवतः पराङ्गवद्भाव से है।

अप्रयोजक : जो परार्थ उत्पन्न है, उसी के काम करता हुआ पर का उपकार करता है, वह पर उसका अप्रयोजक माना जाता है। दूसरे शब्दों में, स्वयं प्रयोग करने मे असमर्थ, किन्तु दूसरे द्वारा किये गए कर्म से जिसका सम्बन्ध हो वह अप्रयोजक है। जैसे मांस के पाक में घृत आदि के साथ अस्थि का सम्बन्ध अप्रयोजक रूप में होता है। स्नान करने वाले के द्वारा स्नानीय द्रव्य से स्नानशाटी का अप्रयोजकरूप मे सम्बन्ध है। छत्रच्छाया के प्रयोजक राजा है किन्तु छत्रच्छाया से सम्बन्ध हस्ती का है, हस्ती अप्रयोजक है। तंत्र, अप्रयोजक और प्रसंग तीनों का स्वरूप निम्नलिखित कारिका में है :

साधारणं भवेत्तन्त्रं परार्थं त्वप्रयोजकः ।
एवमेव प्रसंग स्याद् विद्यमाने स्वके विधौ ॥ —शाबर भाष्य ११।१

प्रयोजक : जिसके द्वारा प्रयुक्त होने पर प्रवृत्ति होती है उसे प्रयोजक माना जाता है। स्वर्ग यज्ञ का प्रयोजक है। गार्हस्थ्य अर्थोपार्जन का प्रयोजक है। राजा छत्रच्छाया का प्रयोजक है। कभी प्रयोजक और अप्रयोजक साथ-साथ समृष्ट रहते हैं और उनका निर्णय सामर्थ्य के आधार पर किया जाता है।

अर्थानां सन्निधानेऽपि सति चैषां प्रयोजने ।
प्रयोजनोऽर्थं शब्दस्य रूपाभेदेऽपि गम्यते ॥[६४]

नान्तरीयक : प्रधान क्रिया के निवर्तन मे अनिवार्यतः साथ लगे धर्म अथवा अर्थ नान्तरीयक कहे जाते है। पाक क्रिया के लिए प्रज्वलित अग्नि के साथ धूम नान्तरीयक है। भोज के अनुसार जिस सम्बन्ध के साथ क्रिया प्रधान से जुटती है वह नान्तरीयक है (**यत् सम्बन्धमन्तरेण क्रिया प्रधानेन सम्बन्ध्यते तन्नान्तरीयकम्, शृङ्गारप्रकाश,** पृ० ३०८)।

प्रधान : जो साध्य है, अपरार्थ है वह प्रधान है। व्याकरण मे क्रिया और विशेष्य प्रधान है। प्रधानभाव विवक्षा पर भी निर्भरर हता है।

शेष : जो परार्थ होता है उसे शेष कहा जाता है। शबर स्वामी ने अत्यन्त परार्थ को शेष माना है। आचार्य बादरि ने द्रव्य, गुण और सस्कार को शेष माना था, याग, फल और पुरुष को शेष नही माना था। द्रव्य क्रिया के लिए होता है। अतः द्रव्य परार्थ है। गुण भी द्रव्य के आश्रय से क्रिया का उपकारक है। इसलिए वह भी परार्थ है। जिसके होने से कोई वस्तु किसी क्रिया के योग्य होती है उसे सस्कार कहा जाता है। क्रिया के लिए सस्कार के प्रयोजन होने से वह भी परार्थ है। शेष है। जैमिनि ने कर्म और फल को भी परार्थ माना है।

व्याकरणदर्शन मे प्रधान और शेष भाव विवक्षावशात् होता है। भेद्य विशेष्य होता है। भेदक विशेषण होता है। द्रव्य का साक्षात् क्रिया से सम्बन्ध है। अत. वह प्रधान है। गुण का द्रव्य द्वारा क्रिया से सम्बन्ध होता है, अत. वह अप्रधान है.

---

६४. वाक्यपदीय २।३०४, इस कारिका में पाठभेद मिलता है।

विशेष्यं स्यादनिर्ज्ञातं निर्ज्ञातार्थो विशेषणम् ।
परार्थत्वेन शेषत्वं सर्वेषामुपकारिणाम् ॥[६५]

इसी तरह साध्य होने के कारण क्रिया प्रधान है। सिद्ध होने के कारण कारक अप्रधान है, शेष है। विवक्षावशात् कही क्रिया भी शेष होती है।

विनियोगक्रम : शेषशेषिभाव की इतिकर्तव्यता का नाम विनियोगक्रम है। भोज ने श्रुत्यादिविनियोग का उल्लेख किया है। श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या का प्रधान और अगत्व निर्धारण श्रुत्यादिविनियोग है। श्रुत्यादि का कही व्यस्त रूप और कही समस्त रूप मे विनियोग देखा जाता है। भर्तृहरि ने विनियोग क्रम का एक बौद्धिक रूप भी दिखाया है। शब्द विनियोग क्रम के सहारे अर्थ के प्रकाशक होते हैं। जाति, व्यक्ति अथवा क्रिया के रूप मे वाच्य-वाचक का—बुद्धिस्थ शब्द का—बुद्धिस्थ अर्थ के साथ विनियोग होता है। अनेकार्थ मे से अभिप्रेत अर्थ-विशेष का परिग्रहण होता है।[६६]

साक्षादुपकारक : जो प्रत्यक्ष रूप मे अपने आपका उपकारक हो उसे साक्षात् उपकारक कहा जाता है। जैसे अलकार आदि अपने लिए साक्षात् उपकारक हैं। व्याकरण शास्त्र मे प्रत्यय का साक्षात् उपकारक प्रकृति है। वेद मे भी दर्शपूर्णमासयागो मे अवघात आदि साक्षात् उपकारक माने जाते है।

आरादुपकारक जो साक्षात् उपकारक न होकर कुछ दूर से उपकारक है वे आराद् उपकारक कहे जाते है। अलकार अपने आप के लिए साक्षात् उपकारक है, पुत्र-पौत्र के लिए दूर से उपकारक है। प्रकृति प्रत्यय का साक्षात् उपकारक है। प्रकृति के विशेषण आराद् उपकारक है। प्रयाज आदि दर्शपूर्णमास के आरादुपकारक है। अथवा आरात् शब्द की तरह जो परस्पर विरोध के रूप मे भी उपकारक हो। आरात् शब्द कभी समीप अर्थ का वाचक होता है, कभी दूर अर्थ का वाचक होता है।[६७]

भर्तृहरि ने आरादुपकारक के लिए आराद्विशेषक शब्द का व्यवहार किया है। विशेषक अलग से वाक्यधर्म नही जान पडता। भोज ने साक्षात् उपकारक और आराद् उपकारक का उल्लेख नहीं किया है।

शक्तिव्यापारभेद : शक्ति और व्यापार के आश्रय से उपस्थित भेद शक्ति-व्यापार भेद है।

वलाहकात् विद्योतते ।
वलाहके विद्योतते ।
वलाहको विद्योतते ।

---

६५. वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ७

६६ विनियोगादृते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशकः ।
अर्थाभिधानसम्बन्धमुक्तिद्वारं प्रचक्षते ॥

—वाक्यपदीय २।४०६

६७. आराच्छब्दवदेकस्य विरुद्धेऽर्थे स्वभावतः—वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश २७०

इन वाक्यों में वलाहक शब्द क्रमशः उपादान, अधिकरण और कर्तृशक्ति के साथ भिन्न-भिन्न रूप में व्यक्त किया गया है। यह शक्तिभेद है। विवक्षावशात् इन वाक्यो मे व्यापारभेद भी है इसलिए शक्तिव्यापारभेद कहा जाता है :

व्यापारं याति भेदाख्यैस्तत् स्वैरवयवैः क्वचित् ।
आत्मामेवानपेक्षोऽस्य क्वचिदेति निमित्तताम् ॥[६८]

'विध्यति धनुषा' इस वाक्य में करण शक्ति अपादान शक्ति को अपने भीतर समेट कर विध्यति के अर्थ के साथ मिल जाती है। धनुष में करणत्व तब तक नही आ पायेगा जब तक अपादान शक्ति को वह न अपना ले। पुण्यराज के अनुसार शुद्ध व्यापार भेद सभव नही है। शक्तिभेद के बिना व्यापार भेद सभव नही है। भोज के अनुसार वास्तव शक्ति भेद के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अग्निः काष्ठानि दहति, ओदनं पचति, पदार्थान् प्रकाशयति ।
सर्पिः अग्नि दीपयति, पित्तं शमयति, शरीरमाप्याययति ॥

वास्तव शक्ति व्यापार के उदाहरण मे आम्या क्रीतम्—ग्राम्यां पक्व· आम्या दत्तम् है। इनमे आम्या पद का लब्ध आदि पदो के साथ अपादान, करण कर्तृ, संप्रदान आदि के रूप मे अभिधाव्यापार भिन्न-भिन्न है।

"पयः पयो जरयति" वाक्य में कर्तृकर्मविशेषविषय व्यापार है। इसी तरह "गावौ गावौ श्रयेते", "पय पयोऽन्वेषयति" "कुण्डे कुण्डे निवेहि" जैसे वाक्यो में क्रमश. द्वित्व, बहुत्व, कर्माधिकरण विषय से व्यापार भेद है।

फलभेद फल के आधार पर भेद फलभेद कहलाता है। एक ही दान क्रिया के आयु, आरोग्य और ऐश्वर्य ये भिन्न-भिन्न फल हो सकते है। इन सबमे एक ही फल-प्रीति विशेष है। बहुत क्रियाओ का भी एक फल हो सकता है। भिन्नकर्तृक भी क्रिया कही आलेख्य की तरह विभक्त होती हुई भी अविभक्त-सी समुदित रूप मे स्वार्थ की सिद्धि करती है।[६९] एक याग-क्रिया का फल यजमान को धर्मरूप मे, ऋत्विज को अर्थ रूप मे, औदारिक को भोजन रूप मे विभिन्न हो सकता है। क्रियाभेद औपाधिक भी हो सकता है, जैसे,

उष्ट्रासिका आस्यन्ते,
हतशायिकाः शय्यन्ते,
रंपोष पुष्यति।
समूलकाषं कषति।

सम्बन्धजभेद : धातु से उपात्त क्रिया के सम्बन्ध भेद से भेद की प्रतीति सम्बन्धज भेद है। पचतः पचन्ति मे धातु से उपात्त पाक क्रिया एक है किन्तु कर्तृभेद से

---

६८. वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश १३१

६९. क्वचित् भिन्नकर्तृकापि क्रिया प्रविभक्तावयवरूपा रेखालेख्यादिप्रविभागेन प्रत्यात्मसाधारणशक्तिसन्निवेशात् समुदायसमवायेन विभागमिव प्राप्तं स्वार्थं साधयति। तामपि समुदायसमवायिनीं केचित् मन्यन्ते। किंचित् भिन्नानां क्रियाणामेव प्रधानविषयत्वं व्याचक्षते।

—वाक्यपदीय २।३८३ हरिवृत्ति, हस्तलेख

भिन्न जान पड़ती है। सम्बन्धभेद औपाधिक भी होता है; जैसे,

'सम्पन्नोयवो यवनेषु शुष्कस्तुरुष्केषु विनष्टः सुराष्ट्रेषु।'

'पचत् भवान् पटुरासीत् पटुतर ऐषम'।

पुण्यराज ने सम्बन्धजभेद का एक प्रतिपक्ष दिखाया है जहां सम्बन्धजभेद से भेद नही होता; जैसे "आस्यते देवदत्तेन" इस वाक्य में भाव में लकार, साधन भेद के अभिव्यक्त न होने के कारण, क्रिया भेद के भी बताने मे असमर्थ है। भोज ने सहचारि भेद का भी उल्लेख किया है।

अविवक्षितभेद : भेद का प्रतिपक्षभूत अभेद अविवक्षितभेद से अभिप्रेत है। जहां शक्ति मे अभेद है वहा भेद को अविवक्षा माननी चाहिए। 'पक्त्वा ओदन भुंक्ते' इस वाक्य मे कर्ता और कर्म के क्रियाभेद से शक्तिभेद संभव है किन्तु वक्ता द्वारा वह विवक्षित नही है। इसी लिए इस वाक्य मे समानकर्तृकत्व उपपन्न होता है। भोज ने अङ्गाङ्गिभाव के आधार पर भेद विवक्षा और उसके विपर्यय मे अभेदविवक्षा दिखाया है। 'अधि ब्रह्मदत्ते पाञ्चाला' मे भेद विवक्षा और 'तान् एव शालीन् भुञ्जमहे ये मगधेषु' मे अभेदविवक्षा है।

इस तरह शक्ति आदि के भेद से भेद अनेक प्रकार का होता है और अभेद भी कई प्रकार का होता है। भेद और अभेद कही वास्तविक होते हैं कही केवल विवक्षाधीन होते है। विवक्षा भी कही लौकिकी होती है, कही प्रायोक्त्री होती है।

प्रसज्यप्रतिषेध जहा नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ होता है और वाक्यभेद होता है वहा प्रसज्यप्रतिषेध माना जाता है। जैसे व्याकरण शास्त्र मे अकर्तरिच कारके ३।३।१९ सूत्र मे नञ् का सम्बन्ध क्रिया से है। 'असूर्यं पश्या राजदारा' 'अभानु भेद्य तम' आदि मे प्रसज्य प्रतिषेध है।

पर्युदास · जहा नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ नही होता और एकवाक्यता होती है, वहा पर्युदास होता है। पाणिनि के आतोऽनुपसर्गे क. ३।२।३ सूत्र मे अनुपसर्ग मे पर्युदास है। 'अब्राह्मणम् आनय' वाक्य मे अब्राह्मण मे पर्युदास है।

गौण तत्पुरुष. समानाधिकरण १।२।४२ मे अवयवो के समानाधिकरण से तत्पुरुष का भी समानाधिकरणत्व माना जाता है। गौर्वाहीक सिंहो माणवक आदि गौण के उदाहरण है।

मुख्य शूर माणवक' जैसे प्रयोग मुख्य के उदाहरण है। मुख्य और गौण पर विस्तृत विचार इस ग्रथ मे पहले किया जा चुका है।

व्यापि अनेक विषय का स्पर्श करने वाला व्यापि है। एक श्रुति दूरात्सम्बुद्धौ १।२।३३ मे लौकिक सबोधन की व्यापकता के कारण उसी का ग्रहण होता है। भोज ने इसके लिए व्यापक शब्द का प्रयोग किया है और उसे क्रियाविषय तथा कारक विषय के रूप मे द्विविध माना है।

गुरु असक्षिप्त अभिधान गुरु है। 'लोहितशालिमान् अय ग्राम.' जैसे प्रयोगों मे कर्मधारय और मत्वर्थीय का एकत्र समावेश गुरुप्रक्रमा है। आवृत्ति में गुरुप्रक्रमा होती है।

लघु (लाघव) : संक्षिप्त अभिधान लघु है। शास्त्र में एक शेष, संज्ञा आदि का विधान लाघव के लिए किया जाता है। तत्र और प्रसंग मे लघुप्रक्रमा होती है।

अङ्गाङ्गिभाव : सयुक्तविधान होने पर अंगाङ्गिभाव होता है। एक का भी अवयव वाक्यान्तर से व्यवहित होने पर भी दूसरे से संम्बध्यमान होकर सम्बन्ध प्राप्त करता है। बहुतो मे भी अगाङ्गिभाव होता है। एक क्रिया का अनेक वाक्यो से सम्बन्ध मे भी अंगाङ्गिभाव होता है। पुण्यराज ने तस्यापत्यम्, ४।१।९२ कर्तरिकृत् ३।८।६७ जैसे सूत्रो मे अंगाङ्गिभाव माना है। दीपक अलकार में भी अंगाङ्गिभाव माना है।

विकल्प · तुल्यप्रमाण वाले वाक्यों मे विरोध होने पर विकल्प होता है। वेद में 'व्रीहिभिः यजेत् । यवै यजेत्' जैसे विधान तुल्यप्रमाण विशिष्ट है। और इनमे साथ लेने पर विरोध है। लोक में भी 'दधितक्रे कौण्डिन्याय दीयताम्' वाक्य मे दधिदान और तक्रदान का एक साथ विरोध है। व्याकरण शास्त्र में भी ण्वुलतृचौ ३।१।१३३ जैसे सूत्रो मे विरोध उपस्थित होता है।

विधि और प्रतिषेध के तुल्यबल होने पर भी विकल्प होता है। वेद मे, षोड-शिनं गृह्णाति, न गृह्णाति, लोक मे 'किंचिदस्य दीयता, न दीयताम्, ये उदाहरण है। विभाषा का व्यवहार भी विकल्प के रूप मे होता है। विभाषा तीन प्रकार से देखी जाती है, प्राप्तविभाषा, अप्राप्त विभाषा और उभयविभाषा। काव्य मे उत्प्रेक्षा विकल्प का ही एक स्वरूप है। समुच्चय और विकल्प का साथ-साथ निर्देश 'समुच्चयो विकल्पो वा प्रकारा· सर्व एव वा' जैसी कारिकाओं में प्राय· मिलता है।

नियम :—अनेक की प्राप्ति होने पर अयोग, अन्ययोग, व्यवच्छेद के आधार पर निर्धारण नियम कहलाता है। व्याकरणशास्त्र मे पति समास एव १।४।८, ते प्राग्-धातो. १।४।८० जैसे सूत्र नियमविधायक है। वेद मे काल की दृष्टि से 'नक्षत्र दृष्ट्वा वाच विसृजेत्' नियम है। भाषा मे पार्थ एव धनुर्धर, 'शंख . पाण्डुरेव' जसे प्रयोग नियम के ही स्वरूप के द्योतक है।

योग्यता :—अधिकारित्व का ग्रहण योग्यता है। मीमासा दर्शन में अर्थी समर्थ और शास्त्र से अनिषिद्ध योग्य माना जाता है। लोक में भी समर्थ के साथ योग्यता का सम्बन्ध जोडा जाता है। 'धुरि धुर्यो नियुज्यते' लोकोक्ति प्रसिद्ध है। वैदिक क्रिया में भी दर्भ के स्थान मे शर द्वारा प्रस्तरण, ऋत्विज का लोहित-उष्णीष विधान आदि योग्यता के निदर्शक हैं। व्याकरण में भी एक पद में एक उदात्त और शेष का अनुदात्त विधान योग्यता से सम्बन्ध रखता है।

लिङ्गाद् भेद : शब्दान्तरोपलब्ध वस्तु के सामर्थ्य से सामान्य रूप मे आक्षिप्त का विशेष रूप में अवस्थापन लिङ्गाद्भेद कहा जाता है। वेद में 'अक्ता. शर्करा उपदधाति' श्रुति है। किससे अक्त की जिज्ञासा होने पर 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्या-न्तर लिङ्ग के बल से घृत से अक्त रूप में विशेष की प्रतीति होती है। भाषा में भी 'रामोऽसौ भुवनेषु' इसके श्रवण से राम और परशुराम के सदेह मे आगे के एक बाण से तमालबेध के विवरण रूपी वाक्यान्तर लिङ्ग से दशरथपुत्र राम का बोध होता है। व्याकरण शास्त्र में ओः पुयण्ज्यपरे ७।४।८० सूत्र मे पुयण्ज्यपर' यह वचन द्विर्वचन

निमित्तक णि परे स्थानिवद्भाव का ज्ञापक होता है। काव्य में लिङ्गाद् भेद का उदाहरण भोज ने दिया है :

उत्तीर्णस्य जयन्ति दान्तभुजगस्याविलब्ध मात्रा हरे।
निर्लुलाञ्चलकाकपक्षशिखरव्यासङ्गिनोऽम्भ. कणा.।

इसमें दान्तभुजग और अम्भ.कण के लक्षण से यमुना-ह्रद के उत्तीर्ण के अर्थ-विशेष की उपलब्धि होती है। भोज ने अर्थ, प्रकरण, औचित्य आदि के आधार पर सामान्यवाची शब्द का विशेषरूप मे अध्यवसाय को लिङ्गाद् विभेद कहा है।

अपोद्धार : विभाग को अपोद्धार कहा जाता है। अत्यन्त ससृष्ट का अनुमेय अथवा कल्पित रूप में प्रकृत स्वरूप का विश्लेषण अपोद्धार कहलाता है। 'धृषद्यमी वैधात्ये' पढ़ा जाता है। इसमे वैधात्य शब्द से अपोद्धार कर विघात का भाव वैधात्य इस रूप मे विभाग किया जाता है। वेद मे 'वायव्य श्वेतमालभेत्'[७०] इस वाक्य से वायव्य पद से अपोद्धार कर 'वायुर्क्षेपिष्ठा देवता' इस रूप मे विभाग किया जाता है। लोक मे भी 'किस राजा का पुरुष' के उत्तर मे शूद्रक का कहा जाता है। काव्य मे अपोद्धार का उदाहरण कालिदास के निम्नलिखित श्लोक मे है .

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥[७१]

इसमे 'अनेन' इस सर्वनाम के द्वारा 'रञ्जयित्वा' इस श्रुति मे समवेत चरणराग पृथक् किया जाता है।

भर्तृहरि ने उपर्युक्त वाक्यधर्मों का एकत्र उल्लेख किया है। भोज द्वारा दिए गये वाक्यधर्मों मे अर्थवाद, अनुवाद, व्यवहित कल्पना, उपचार कल्पना, तद्भावापत्ति. प्रतिनिधि, अध्याहार, विरिणाम, वाक्यशेष, अवधि, अनिर्ज्ञातप्रश्न इन पर पुण्यराज ने जहा तहा विचार किया है और ये भर्तृहरि द्वारा भी प्रसगत. वर्णित है। इनमे प्रतिनिधि और अनिज्ञात प्रश्न की चर्चा अन्विताभिधानवाद के प्रसग मे की गई है। शेष पर सक्षेप मे विचार किया जा रहा है।

अर्थवाद स्तुति अथवा निन्दा के लिए अतिशयोक्ति का आश्रय अर्थवाद के नाम से विदित है। भर्तृहरि के अनुसार अर्थवाद प्रवर्तक भी होता है और निवर्तक भी होता है।[७२]

अनुवाद सिद्धि का विधि अथवा निषेध के लिए उच्चारण अनुवाद कहलाता है। पुन स्पष्टीकरण के लिए सिद्ध वस्तु का पुन उपात्त भी अनुवाद माना जाता है।

---

७०. तैत्तिरीय सहिता २।१।१

७१. कुमार सभव ७।१९

७२. अर्थवादस्तु प्रवर्तको निवर्तको वा। तत्राय प्रवर्तको निरदः। सर्वा वा इमा दिशः पशुया इ व्यभिजयति सर्वान् लोकान् सर्वा एवास्येमा दिशोऽभिजिता भवन्ति सर्वे लोकाः। निवर्तकः न दतो गमयेत् यददतो गमयेत् सर्पा एन घातुकाः स्युः सर्पानेव शमयत्यहिंसायै।

—महाभाष्यत्रिपादी, पृ०

प्रमाणान्तर से ज्ञात अर्थ का शब्द द्वारा उल्लेख मात्र भी अनुवाद है।[७३] 'कथं एवं विधायास्तव एवं विधः पतिः' इस वाक्य में, भोज के अनुसार, अनुवाद है।

व्यवहितकल्पना : सन्निहित पदार्थ की अयोग्यता के कारण जब व्यवहित का आश्रय लिया जाता है, व्यवहितकल्पना होती है। 'प्रविश पिण्डीं' कहने पर प्रवेश क्रिया के सान्निध्य से स्थित पिण्डी में इसका सम्बन्ध अनुपन्न होने से व्यवहित भी गृह आदि की अपेक्षा होती है। इसी तरह पिण्डी का सन्निहित प्रवेश क्रिया से अयोग्यता के कारण भक्षण क्रिया का आक्षेप हो जाता है।

उपचार कल्पना . किसी निमित्त के आधार पर अन्य के धर्म का अन्यत्र अध्यारोप उपचारकल्पना है। इसके लिए जयादित्य ने गुणकल्पना शब्द का व्यवहार किया है।[७४] उपचार निबन्धन धर्म यहा गुण शब्द से अभिप्रेत है। गुणनिमित्त कल्पना गुणकल्पना है। वह उपचारात्मक होती है इसलिए उसे उपचारकल्पना कहते हैं। जो वस्तु जैसी न हो उसमें वैसा आरोप अथवा आरोपित भाव, ज्ञान, उपचार कहा जाता है। 'मञ्चाः क्रोशन्ति', जैसे वाक्यो मे अन्य के धर्म का अन्यत्र आरोप है।

तद्भावापत्ति : भोज ने विपर्यय से अतद् मे तत् के व्यपदेश को तद्भावापत्ति कहा है। शुक्ति मे रजत का, मृगतृष्णिका मे जल का व्यपदेश तद्भावापत्ति है।

अध्याहार : वाक्य के न्यून होने पर आकाक्षा की निवृत्ति के लिए विशिष्ट क्रिया, कारकपद आदि का उपादान अध्याहार कहलाता है। द्वार-द्वार के सुनने से आकाक्षा की पूर्ति के लिए यथावसर निवियताम् अथवा आवियताम् क्रिया का अध्याहार कर लिया जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा।
यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वत्र कटुरेव स॥

इसमे परशुना (छिनत्ति), मधुसर्पिषा (सिञ्चति) आदि रूप मे अलग-अलग क्रियापद का अध्याहार अर्थसामजस्य की दृष्टि से कर लिया जाता है।

व्याकरण मे सोपस्कार सूत्रो मे, जिन सूत्रो मे क्रियापद के प्रयोग सूत्रकार ने नही किए है, क्रिया का अध्याहार लक्ष्य के अनुसार कर लिया जाता है। वृत्तिकार ऐसे सूत्रो मे क्रियापद के साथ ही अर्थ करते है जैसे धातोरण् भवति, कर्तरि कृतः भवन्ति आदि। इको गुणवृद्धी १।१।३ सूत्र के लिये 'यत्र गुणवृद्धी ब्रूयात् तत्रेक इत्युपस्थितं द्रष्टव्यम्' इस रूप मे अध्याहार किया जाता है।

वाक्यशेष : जहा वाक्य से साक्षात् विधि अथवा निषेध न कहा गया हो— अश्रुत हो, वहा उसकी परिकल्पना वाक्यशेष मानी जाती है। 'यह ग्राम निवास है' इतना कहने से यही ठहरने की कल्पना हो जाती है। यही वाक्यशेष है। इसी तरह 'इस नदी मे ग्राह है' इस वाक्य मे स्नान का निषेध वाक्यशेष के रूप में उपस्थित होता है।

भर्तृहरि ने अध्याहार और वाक्यशेष का समान अर्थ मे भी प्रयोग किया है :

---

७३. प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन संकीर्तनमात्रमनुवादः—काशिका २/४/३
७४. काशिका वृत्ति ४।१।८८

सोपस्कारेषु सूत्रेषु वाक्यशेषः समर्थ्यते ।
तेन यत् तत् तृतीयान्तं क्रियावेत् सेति गम्यते ।।[७५]

अध्याहार और वाक्यशेष मे भेद यह है कि अध्याहार शाब्दी आकांक्षा का निवर्तक होता है। जबकि वाक्यशेष आर्थी आकाक्षा का निवर्तक होता है।[७६] भर्तृहरि की इस सम्बन्ध मे दो कारिकाएँ हैं :

स्वार्थमात्रं प्रकाश्यासौ साकांक्षो विनिवर्तते ।
अर्थस्तु तस्य सम्बन्धी प्रकाशयति संनिधिम् ।।
पारार्थ्यस्याविशिष्टत्वान्न शब्दाच्छब्दसन्निधिः ।
नार्थाच्छब्दस्य सान्निध्यं न शब्दादर्थसंनिधिः ।।[७७]

पुण्यराज और भोज दोनो ने इस प्रसंग मे श्रुतार्थापत्ति का प्रश्न उपस्थित किया है। 'पीन देवदत्त दिन मे नही भोजन करता है।' इस वाक्य मे पीनत्व भोजन के बिना अनुपपन्न है, इसलिए वह उपयुक्त शब्द द्वारा रात्रि भोजन का गमक माना जाता है। पुण्यराज के अनुसार यहा चार सभावनाए हो सकती है—शब्द द्वारा शब्द का आक्षेप, अर्थ द्वारा शब्द का आक्षेप, शब्द द्वारा अर्थ का आक्षेप, अर्थ द्वारा अर्थ का आक्षेप। इनमें शब्द द्वारा शब्द का आक्षेप पक्ष उपयुक्त नही है। स्वार्थ प्रतिपादन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। अपने अर्थ के प्रकाशन तक ही उसका व्यापार है। अर्थ द्वारा शब्द का आक्षेप भी सभव नही है। अर्थ से शब्द का सानिध्य नही है। जिस अश्रुत का अर्थ-सानिध्य अपेक्षित है वह भी परतंत्र है। प्रयोजक सान्निध्य के बिना उसका सनिधापन सभव नही है। अन्य अर्थ का और अन्य शब्द का वाच्य-वाचक भाव न होने से अर्थ द्वारा शब्द का आक्षेप युक्तिसंगत नही है। शब्द के उच्चरित होने पर श्रुतार्थापत्ति से परिकल्पित शब्दवाच्य अर्थ का आक्षेप भी अनुपपन्न होगा क्योकि वाच्य-वाचकभाव के न होने के कारण यहा भी शब्द से शब्दान्तर वाक्य अर्थ की उपस्थिति न हो सकेगी। यदि अर्थ-से-अर्थ का आक्षेप स्वीकार किया जाय तो शब्द एकत्व की उपपत्ति नही हो पाती है। पुण्यराज के मत मे चतुर्थपक्ष कुछ दूर तक ठीक है। उनके मत मे एक पदों के प्रयोग मे श्रुतार्थापत्ति से शब्दान्तर के आक्षेप से वाक्यार्थ निष्पत्ति मानने की अपेक्षा एक पद का ही प्रकरण आदि के बल से अर्थ-प्रत्यायन की क्षमता मान लेना अधिक उपयुक्त है।

भोज ने अध्याहार और वाक्यशेष दोनों के लिए श्रुतार्थापत्ति आवश्यक माना है। पद के ही दीर्घ-दीर्घ व्यापार के रूप मे सब तरह के अर्थ प्रत्यायन सामर्थ्य मानने के पक्ष मे वे नही हैं। क्योकि पद या तो अभिधा के द्वारा उन अर्थों का बोध कराएगा अथवा तात्पर्य शक्ति के द्वारा उनका प्रत्यायन कराएगा। अभिधापदार्थप्रतिपादन मे ही

७५. वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ४६३
७६. कः पुनरध्याहारवाक्यशेषयोर्विशेषः। शब्दाकांक्षानिवर्तकोऽध्याहारः, अर्थाकांक्षानिवर्तको वाक्यशेष इति ।—शृंगार प्रकाश, पृ०३२४
७७. वाक्यपदीय २।३४१-४२

क्षीण हो जाती है। तात्पर्य शक्ति का सम्बन्ध प्रतीयमान अर्थ से अवश्य है किन्तु वह तभी काम करती है जब वाक्य और वाक्यार्थ दोनों परिपूर्ण हों, जैसे 'विष भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस वाक्य में वाक्य और वाक्यार्थ की पूर्णता है। जहां वाक्य आदि पूर्ण नहीं हैं वहां अध्याहार, वाक्यशेष आदि की कल्पना करनी पड़ती है और इनकी सिद्धि के लिए श्रुतार्थापत्ति स्वीकार करनी चाहिए।[७८]

विपरिणाम : लिङ्ग, वचन, विभक्ति आदि जिस रूप मे उपात्त हों उसी रूप में पुनः उच्चरित होते हुए भी यदि अर्थान्तरवश उनका दूसरे रूप में संबंध दिखाया जाय—वह विपरिणाम कहलाता है। यह एक तरह से ऊह ही है। केवल यही भेद है कि ऊह प्रकृति-विकृति को लक्ष्य कर होता है जबकि विपरिणाम के लिए इस तरह का कोई बन्धन नहीं है। विपरिणाम मे विषयान्तर की अपेक्षा अवश्य की जाती है :

विविभक्तिः प्रकृत्यर्थं प्रत्युपाधिः कथं भवेत् ।

विभक्तिपरिणामे च प्रकल्प्यं विषयान्तरम् ॥ वाक्यपदीय ३, ४५८

तेन तुल्य क्रिया चेत् वतिः ५।१।११५ इस सूत्र मे 'तेन' मे तृतीया समर्थ प्रकृति प्रधान है। क्योंकि विशेष्य है। उसको लक्ष्य कर 'क्रिया' शब्द का प्रथमान्त रूप में व्यवहार किया गया है। दोनों पद भिन्न विभक्ति वाले हैं। इनमें सामानाधिकरण्य कैसे संभव है ? ऐसे स्थलों में संबंध की अन्यथानुपपत्ति के कारण विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। अथवा वाक्याध्याहार से उपपत्ति की जाती है। अथवा उपाधि के आश्रय से विभक्तिविपरिणाम नही माना जाता है :

अत्यन्तानुगमात् तत्र सूत्रे न च विग्रहे ।

विभक्तिविपरिणामेन किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥

—वाक्यपदीय ३, वृत्ति समुद्देश ४६६

अवधि : इयत्ता निर्धारण का नाम अवधि है। इस शब्द का यह अर्थ है, अथवा इस अर्थ मे यह शब्द है इस तरह की एक बौद्धिक सीमा अवधि कहलाती है। महाभाष्यकार आदि ने जहां द्विष्ठ शब्द का व्यवहार किया है उसी के लिए भोजने अवधि नाम दिया है। यह श्लेष अलंकार का विषय है।

'काले नदन्ति नागाः' यह वाक्य दो रूप मे विभक्त किया जा सकता है—

१—काले (समय पर) नदन्ति (गरजते हैं) नागाः (सांप)।

२—कालेन (काले) दन्तिना (हाथी पर) अगा. (गये हो)

उपर्युक्त सभी वाक्यधर्म वाक्यार्थविशेष की प्रतिपत्ति में सहायक माने जाते हैं। एक वाक्य के विभिन्न अर्थों की कल्पना कर अथवा लोक और वेद मे उसके विभिन्न अर्थों को देखकर उन अर्थों के निर्णायक कुछ तत्त्वो की कल्पना कर ली गई थी। ये ही वाक्यधर्म अथवा वाक्य-लक्षण हैं।

---

७८. शृंगारप्रकाश, पृ० ३२५-२६

वाक्यार्थ की प्रक्रिया

वाक्य और वाक्यार्थ को अखण्ड मानने वाले आचार्य भी व्यवहार दशा में पद-पदार्थ की कल्पना करते हैं। जो वाक्य को सखण्ड मानते हैं उनके यहां पद-पदार्थ, वाक्य-वाक्यार्थ पर विभक्त रूप से विचार स्वाभाविक है। पद-पदार्थ के अन्वय-अनन्वय को लेकर प्राचीन आचार्यों में पर्याप्त ऊहापोह मिलता है। महाभाष्यकार ने ऐसे प्रसंगों पर अन्वय-व्यतिरेक पद्धति का आश्रय लिया है किन्तु कहीं-कहीं आक्षेप आदि का भी संकेत किया है। केवल प्रविश से द्वार का, दत्त से देवदत्त का, भामा से सत्यभामा का अवबोध देखा जाता है। पतजलि ने वाक्यैकदेश माना है :

> अथवा दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशा-
> प्रयुज्यमाना, पदेषु च पदैकदेशाः।

—महाभाष्य १।१।४५, पृष्ठ १११, कीलहार्न संस्करण।

उद्भट के विचार

वाक्य में पदो में व्यपेक्षा आदि के सहारे परस्पर अन्वय होता है। उद्भट के अनुसार वह तीन तरह का होता है, शाक्त, वैभक्त और शक्तिविभक्तिमय।[1]

कर्म आदि शक्तियों से निर्वृत्त को शाक्त कहा जाता है। सबध आदि विभक्तियों से निर्वृत्त को वैभक्त कहा जाता है और दोनो से निर्वृत्त को शक्ति-विभक्तिमय माना जाता है।

क्रिया और सुप् विभक्ति से कर्ता और कर्म के अभिधान में शाक्त होता है। कृत् और आख्यात से भिन्नकालस्थ कर्तृ शक्ति के अभिधान मे और सुप् विभक्तियों से कर्म, करण और सप्रदान के अभिधान मे भी शाक्त होता है। आख्यात विभक्ति से हेतु शक्ति के अभिधान मे और सुब्विभक्ति से कर्ता, कर्म, अपादान और अधि-करण शक्ति के अभिधान मे भी शाक्त होता है। आख्यात द्वारा कर्ता के अभिधान मे सुप् विभक्ति द्वारा कथित और अकथित कर्म के अभिधान मे भी शाक्त होता है।

वैभक्त अन्वय सबधविभक्ति से, शेषविभक्ति से, उपपदविभक्ति से और सम्बोधनविभक्ति से निर्वृत्त होता है।

कारकविभक्ति से और संबध, उपपद, शेष, संबोधन विभक्तियों द्वारा अभि-व्यक्त शक्तिविभक्तिमय है। विभक्तियों के लोप होने पर भी जहां शक्ति का उद्गमन हो वह भी शक्तिविभक्तिमय है। जहा एक ओर शक्ति दूसरी ओर विभक्ति हो वह भी शक्तिविभक्तिमय है।[2]

---

१. पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकारः संदर्भो वाक्यम्।
तस्य च त्रिधाऽभिधा व्यापार इत्यौद्भटाः। वैभक्तः, शाक्तः, शक्तिविभक्तिमयश्च।
काव्यमीमांसा पृ० २२, बड़ौदा संस्करण।

२. शृंगारप्रकाश २७५-२७६।

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद

वाक्यार्थ प्रक्रिया के विषय में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद प्रसिद्ध वाद हैं। यद्यपि व्याकरणदर्शन मे इन वादों की प्रसिद्धि नहीं है किन्तु, जैसा कि हम देख चुके हैं, वाक्यपदीय में इन वादों द्वारा स्वीकृत मान्यताओं की चर्चा है और पुण्यराज ने इन दोनों वादों का खुलकर उल्लेख किया है और इनकी आलोचना की है। नागेश ने भी मंजूषा में इन पर विचार किया है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार पद पहले सामान्य अर्थ का बोध कराते हैं बाद में, आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के सहारे विशेष का बोध कराते हैं। विशेष वाक्यार्थ है और वह अपदार्थ है। प्राचीन आचार्यों मे पतजलि और शबरस्वामी का भी ऐसा ही मत है। सादृश्य के कारण, लाघव की दृष्टि से, अन्वयव्यतिरेक का आश्रय लेकर पद और पदार्थ की कल्पना की जाती है। प्रतिवाक्य से व्युत्पत्ति भी सबको संभव नही है। अतः व्यवहार की दृष्टि से पद-पदार्थ की कल्पना कर ली जाती है। वाक्य मुख्य है। ससर्ग वाक्यार्थ है। प्राचीन दृष्टिकोण मे और अभिहितान्वयवाद मे केवल इतना ही अन्तर है कि अभिहितान्वयवाद मे वाक्यार्थ की प्रतीति पदार्थ-प्रतीतिपूर्वक ही मानी जाती है। जब तक पदार्थ का ज्ञान न हो, वाक्यार्थ का ज्ञान नही देखा जाता है।

अन्विताभिधानवाद की दृष्टि मे वाक्य से ही व्यवहार होता है, पद से नही। एकार्थपरक पदसमूह वाक्य है। सभी पद परस्पर मिलकर वाक्यार्थ का अवबोध कराते हैं। अन्वित का ही स्वशब्द से अभिधान होता है, वाक्यार्थ की साक्षात् उपलब्धि होती है, परम्परया नही। वाक्यार्थ संसृष्ट स्वरूप है। इस वाद का मूल भी महाभाष्य में मिल जाता है .

न वै पदार्थादन्यस्यार्थस्योपलब्धि भवति वाक्ये ।

—महाभाष्य १।२।४५ पृ० २१८ कीलहार्न स०

इस वाक्य का अभिप्राय, कैयट के अनुसार, यह है कि अपने अपने अर्थ को व्यक्त करने वाले पद वाक्य है। पदार्थ ही आकाक्षा, योग्यता, सन्निधिवश परस्पर संसृष्ट होकर वाक्यार्थ हैं।[3] भर्तृहरि ने अन्विताभिधानवाद का सकेत निम्नलिखित कारिका मे किया है :

नियतं साधनं साध्ये क्रिया नियतसाधना ।
स सन्निधानमात्रेण नियम. सन् प्रकाशते ।।

—वाक्यपदीय २।४७

अभिहितान्वयवादी अन्विताभिधानवाद की समीक्षा मे कहते है कि यदि पद

१. पदानि स्वस्वमर्थं प्रतिपादयन्ति वाक्यम् । पदार्था एव आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् परस्परं संसृष्टा वाक्यार्थ इत्यर्थः

—कैयट, प्रदीप १।२।४५

का जो अर्थ होता है, पदार्थान्तर अन्वित दशा में भी वही होता है, अर्थ की प्रतिपत्ति कदम्बक रूप में होगी, पदार्थ का प्रविभाग न हो सकेगा। आवाप उद्वाप पद्धति से यथा अवसर जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया के रूप में पदार्थ का विषय-विभाग अवगत भी हो जाय, कदम्बक रूप में अर्थ की प्रतीति वहां भी होगी। अन्विताभिधान पक्ष में दो पदार्थों का परस्पर संबंध भी कठिनाई से जान पड़ेगा क्योंकि प्रतियोगी अनन्त हैं, फलतः अन्वय भी अनन्त होगा। अन्वय की अनन्तता से अन्वित के अभिधान का सम्बन्ध ग्रहण न हो सकेगा। यदि उससे अनपेक्ष रूप मे संबंध ग्रहण माना जायगा पहले सुने हुए भी उस अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। 'गाय लाओ' कहने पर अश्व बांधो अर्थ का भान हो सकेगा। वृद्धव्यवहार मे भी वाक्य से होने वाली प्रतीति भी पदपर्यवसायी होती है। अन्यथा प्रतिवाक्य में व्युत्पत्ति की अपेक्षा होगी और ऐसा संभव न होने से, आनन्त्य और कठिनाई के कारण शब्दव्यवहार का ही उच्छेद हो जायगा। इसके अतिरिक्त अभिनव कवि की कविता से भी अर्थबोध होता है, वह पद और पदार्थ की व्युत्पत्ति के बल पर ही होता है। वाक्यार्थ की व्युपत्ति के सहारे नही होता। साथ ही अन्वय अन्वित का विशेषण है, पहले अन्वित का अभिधान हो ले तब अन्वय काम कर सकता है अन्यथा नही। किन्तु यह एक शक्ति से संभव नहीं है। इसकी सिद्धि के लिए शक्त्यन्तर कल्पना करनी पड़ेगी। अन्विताभिधान पक्ष मे 'गाम् आनय' वाक्य से यदि गो शब्द से आनयति क्रिया से विशिष्ट की अभिव्यक्ति मानें, गो के अर्थ की प्रधानता होगी। यदि आनयति क्रिया से गो अर्थ की विशेषता मानें तब क्रिया के अर्थ की प्रधानता होगी। इस तरह से, दो प्रधान अर्थ के होने से, वाक्य-भेद होगा।

अन्विताभिधानपक्ष मे, पहले प्रकृति-प्रत्यय का अन्वय, तदनन्तर पदार्थों का अन्वय—इस रूप मे दो बार अभिधान मानना पड़ेगा।

यदि यह मान लिया जाय कि पद अन्वित होकर अपना अर्थ व्यक्त करता है तो उस समय दूसरा पदार्थ अभिहित होता है अथवा अनभिहित। यदि दूसरा पदार्थ अनभिहित होता है, एक ही पद से उसके अर्थ से अनुरंजित द्वितीय पदार्थ के भी ज्ञान हो जाने के कारण पदान्तर-उच्चारण व्यर्थ होने लगेगा। इस दृष्टि से, एक ही पद अखिल पद अर्थ को प्रकट करने वाला हो जायगा और उसी एक से ही व्यवहार होने लगेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। केवल गौः कहने से सब वैशिष्ट्य् के बोध होने के कारण यह नही समझ में आयगा कि किस गुण आदि का उपादान हो। नियत गुण-क्रिया आदि से अनुरूप स्वार्थ की प्रतीति होती है इसमे कोई हेतु नही है। पदान्तर सनिधान को भी नियम हेतु नही माना जा सकता। वह जप, मंत्र आदि पदों की भांति यदि स्वरूप मात्र से ही सन्निहित होता है, अविशिष्ट है। यदि पदान्तर का संनिधान अर्थ प्रतिपादन के रूप में नियम का हेतु होता है, वह अभिहित अर्थों के अन्वय का प्रतिपादक हो जाता है जो अभिहितान्वयवाद के अनुकूल है।

यदि ऐसा माना जाय कि प्रथम पद के अन्वय के समय दूसरे पद का अर्थ अभिहित रहता है तब मानना होगा कि प्रथम पद पदान्तरोत्थ अर्थाभिधान की अपेक्षा

रखता है और इस तरह इतरेतराश्रय दोष उपस्थित हो जायगा। यदि दूसरा पद अनन्वित रूप में अर्थ बोध करा सकता है, पहले का क्या अपराध है। यदि सभी पदों से स्वार्थमात्र का अभिधान मान लें तो एक तरह से अभिहितान्वय पक्ष का समर्थन होता है।

इसके अतिरिक्त, "अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतम्" जैसे वाक्य में भी अन्विताभिधानपक्ष मे, अन्वय होने लगेगा।

अन्विताभिधानवादी मानते हैं कि वाक्य कार्यभूत है। वक्ता के मन में अर्थ का पूर्वविज्ञान कारण भूत है ऐसा अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात् बौद्ध अर्थ कारण है बाह्य वाक्य कार्य है। ज्ञान ज्ञेय से अव्यभिचरित है। इससे ज्ञेयभूत अर्थ का निश्चय होता है। वाचकशक्ति से अर्थ का परिज्ञान नहीं होता। अतः जिस दर्शन मे वाचक शक्ति का ही निश्चय नहीं है, अन्वित का अभिधान कैसे सभव है ?

अन्विताभिधानवाद के समर्थक उपर्युक्त आक्षेपो के उत्तर दे देते हैं। कदम्बक रूप मे अर्थ की प्रतिपत्ति और प्रतियोगियों के अनन्त होने के कारण पदार्थ प्रतिभास की दुष्करता के उत्तर मे वे अपनी पदार्थान्वय प्रक्रिया की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके मत में 'गौः शुक्लः' मे गो शब्द का शुक्ल से अन्वित अर्थ नही होता, ऐसा मानने पर व्यभिचार होगा क्योंकि कृष्ण से अन्वित रूप मे भी उसके अर्थ की उपलब्धि होती है। सर्व पदों से अन्वित रूप मे भी अर्थ नहीं होता क्योकि ऐसा मानने पर आनन्त्य के कारण अर्थपरिज्ञान दुर्बोध होगा। वस्तुतः उसका अर्थ आकाक्षा, सन्निधि और योग्यता के सहारे उपलब्ध अर्थान्तर से अनुरक्त रूप मे व्यक्त होता है। यह व्युत्पत्ति पद के अवाप-उद्वाप अथवा रचना वैचित्र्य के कारण वाक्य से ही प्रकट हो जाती है। जो आकांक्षित है, योग्य है, सन्निहित है, उससे अन्वित होकर पद अपने अर्थ का प्रदिपादन करता है। भर्तृहरि की निम्नलिखित कारिकाएँ भी इस मत का समर्थन करती हैं:

> नियतं साधनं साध्ये क्रिया नियतसाधना।
> स सन्निधानमात्रेण नियमः सन्प्रकाशते॥
> गुणभावेन साकांक्षं तत्र नाम प्रवर्तते।
> साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते॥[४]

सन्निहित, आकाक्षित और योग्य से उपरक्त अपने अर्थ मे सम्बन्धग्रहण कर सर्वत्र ग्रहण कर लिया जाता है। इसलिए आनन्त्य और व्यभिचार के कारण संबंध अग्रहण का दोष नहीं होगा। पुनः पद-पदार्थ में सबध-ग्रहण की उपपत्ति होने के कारण प्रथमश्रुत पदार्थ प्रतीति का जो आरोप किया गया था वह निराधार है और गाय लाओ इससे गाय बांधो यह अर्थ भी नही झलकेगा, प्रतिवाक्य मे व्युत्पत्ति की अपेक्षा भी नहीं होगी और न अभिनव कवि के श्लोक से वाक्यार्थ प्रतीति होती है। अन्वितअभिधान-शक्ति के आधार पर ही अन्वय होता है इसलिए दो शक्तियो के

---

४. वाक्य पदीय २।४७, ४८

कल्पना-गौरव का दोष भी नही है। वाक्यभेद संबंधी जो आक्षेप किया गया था वह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योकि अन्वित संबंध कभी प्रधान रूप मे और कभी अप्रधान रूप में यथायोग्य उत्पन्न हो जायगा, वाक्य भेद नही होगा।

प्रकृति-प्रत्यय के और पद के अभिधान मे दो बार अभिधान होने का जो दोष दिखाया गया है वह भी उपयुक्त नही है। क्योकि प्रकृति से अन्वित का अर्थ व्यक्त होता है। प्रत्यय प्रत्ययार्थ और पदार्थ से अन्वित स्वार्थ को व्यक्त करता है। प्रत्ययार्थ के प्रकृत्यर्थान्वित के पद की अपेक्षा होने के कारण दो बार अभिधान नही माना जायगा।

अभिहित-पदार्थान्तर-अन्वित के अभिधान पक्ष में दूसरे पद के उच्चारण की व्यर्थता का दोष और अनभिहित पक्ष मे इतरेतराश्रय दोष—ये दोनों भी निराधार हैं। क्योकि, अन्विताभिधानवाद के मत मे, प्रथमश्रुत पद ही अन्योन्य रूप में अन्वित होकर स्वार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं—ऐसी उनकी मान्यता नही है। वे मानते हैं कि जिस पद के जितने अर्थ संभव हैं, उसके श्रवण से उतने अर्थ स्मृति में झलक उठते हैं। पुन. आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के सहारे परस्पर अन्वित होकर पदों के द्वारा स्मृति आरूढ उन अर्थों का बोध होता है। क्योकि उस व्यक्ति मे वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं जगती जिसने संबंध ज्ञान नही प्राप्त किया है अथवा जिसमे संबंध के ग्रहण करने वाले संस्कार नहीं उत्पन्न हुए हैं। अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं। जिनके संस्कार च्युत नही हुए हैं वह पद-पद को सुनकर इस अर्थ से यह यह आकांक्षित सन्निहित और योग्य है इसका स्मरण कर लेता है।[५]

पदो द्वारा अन्वित का अभिधान यदि स्मृतिसन्निधान के सहारे अपनाया जायगा, अनेक स्मृति के उद्बुद्ध होने की संभावना होगी, क्योकि स्मृति प्रत्यासत्ति से संपृक्त होती है। स्मृति के सन्निहित पदार्थों के किसी विशेष का ग्रहण न हो सकेगा। फलत 'उखाया पचति' वाक्य मे उखा केवल पचति के अर्थ से अन्वित रूप में ही सामने नही आयगी अपितु कलाय निर्वाप आदि से युक्त भी जान पड़ेगी क्योकि उनका स्मरण भी उखा के साथ-साथ होगा। इसी तरह 'पचति' का अर्थ इष्टका कर्म से भी संपृक्त होने के कारण उसका भी स्मरण होने से ओदन-अन्वित रूप में सामने नही आएगा। इस आक्षेप का उत्तर यह कह कर दिया जाता है कि शब्द से जिनका स्मरण होता है उनका अन्वय होता है, वृद्ध-व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है।

---

५. पार्थसारथि ने 'स्मृति' वाले उत्तर की समीक्षा की है। स्मृति तो अनुभूत की होती है। पद रूप कारण के होने से स्मृतिप्रमोष भी नहीं माना जा सकता। अतः उनके मत में अन्विताभिधानवाद अनुपयुक्त है :—

अन्वितमेवाभिधेयामिति चेन्न। केवलोच्चारणे पदार्थस्वरूपावगमात्। स्मरणं तद् इति चेन्न। अनुभूतापरामर्शात्। स्मृतिप्रमोषश्चेन्न। पदरूपप्रत्युत्पन्नकारणसद्भावात्। अतः स्वरूपं तावदभिधेयमिति नान्विताभिधानम्। निरस्तं चेदमन्विताभिधानं न्यायरत्नमालायां शास्त्रदीपिकायां चेति।

—पार्थसारथि, न्याय रत्नाकर, पृ० ८७५

इसलिए जो अर्थ शब्द से स्मारित है उसी से अन्वित का अभिधान होता है। इसलिए उखा शब्द से कलाय निर्वाप आदि के अर्थ से अन्वित की ही प्रतीति होती है। स्मृति के द्वारा अनन्वित के स्वरूप का भी स्मरण हो जाता है। इस तरह स्मृति-सन्निहित अर्थों से अन्वित स्वार्थ को पद प्रकट करता है।

शब्द के श्रवण से स्वरूप का स्मरण कैसे होता है ? शब्द में अपने स्वरूप को व्यक्त करने की क्षमता नहीं होती। इसका उत्तर यह है कि जिसका जिसके साथ कोई लगाव (प्रत्यासक्ति) देखा गया है वह पूर्व संस्कार को जगाकर उसका स्मरण करा सकता है। स्वरूप का शब्द के साथ, अभिधेय संबंध के आधार पर, प्रत्यासत्ति है। अत शब्द स्वरूप की प्रतीति करा सकता है। जैसे अर्थ कभी अपने पद की स्मृति जगा देता है वैसे ही पद भी अर्थ का स्मरण करा देता है। अन्विताभिधानवाद के समर्थक स्वीकार करते हैं कि पद से नियत अर्थ से अन्वय लाभ अन्विताभिधान पक्ष मे ही उपपन्न हो पाता है। पदान्तर-अभिधेय के रूप में जो स्मरण कराया जाता है उससे अन्वित का ही, वृद्धव्यवहार में, वाच्यत्व देखा जाता है। जहा कही अध्याहार होता है वहा भी सन्निधापित अश से विशेष-अन्वित-अभिधान सिद्ध हो जाता है।

अन्विताभिधानपक्ष मे 'अड्गुल्यग्रे हस्तियूथम्' इस वाक्य मे भी अन्वय होने लगेगा इस रूप में जो दोष दिखाया गया है वह भी उचित नही है। क्योंकि स्मृत पदार्थों मे भी यदि योग्यता न हो, अन्वय नही होता, इसलिये उपर्युक्त वाक्य में अभिधान सभव नही है। पदार्थ की प्रतिपत्ति तो अवश्य स्मृति से ही होती है। पुरुषवाक्य के प्रमाण के आधार पर पदो मे वाचकत्व शक्ति के अनवधारण संबंधी जो दोष कहा गया है, वह भी ठीक नही है। क्योकि एक तो अन्विताभिधानवाद पुरुषवाक्यो का अर्थ मे प्रामाण्य नही मानता। यदि किसी तरह प्रामाण्य मान भी लिया जाय, फिर भी दोष नही है। क्योकि पद अन्वित के अभिधायक रूप में जाना गया है किन्तु व्यभिचरित होने की आशंका से लोक में वह निश्चायक नही होता। बाद मे पर्यालोचना से अनुमित अर्थ मे अनुवादक माना जाता है। इसलिए उसमे प्रामाण्य नही आ पाता। किन्तु पद अपना वाचकत्व नही छोड़ता है।

यह भी नही कहा जा सकता कि अनन्त प्रतियोगी से अन्वित स्वार्थबोधन विषयक अनन्त शक्तियो की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योकि चक्षु आदि इन्द्रियो की तरह कार्यभेद की उपपत्ति हो जायगी। आकांक्षित, सन्निहित पदों मे स्वार्थ के अभिधान की शक्ति एक ही है। उस शक्ति से प्रतियोगी के भेद से कार्यभेद हो जायगा। जैसे चक्षु मे दर्शन-शक्ति एक ही है फिर भी चक्षु घट आदि प्रतियोगी के आश्रय से अनेक ज्ञान का जनक होती है उसी तरह शब्द भी प्रतियोगी के भेद से, बिना अनेकशक्ति की कल्पना के भी, कार्यभेद का जनक हो जायगा। अन्विताभिधान पक्ष मे ही पदो का संहत्य-अर्थाभिधान और एकार्थपरक पदसमूह मे वाक्यत्व उपपन्न होता है। संहत्य-अर्थाभिधान और सघातार्थ मे भेद यह है कि संहत्यपक्ष मे पदो के स्वकार्य होते हैं, संघातपक्ष मे संघातकार्य होते हैं। पदो का स्वकार्य स्वार्थ की

प्रतिपत्ति है। संघातकार्य से अभिप्राय वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति है। संहृत्य-पक्ष में एक एक पद कृत्स्नफलपर्यन्त व्यापारशील होते हैं, कृत्स्नकारी कहलाते हैं। एक-एक के होने से संपूर्ण सफल कार्य की निर्वृत्ति होती है और एक के न होने पर नहीं होती, इसलिए पद में कृत्स्नकारिता मानी जाती है। एक पद में इतनी शक्ति है, पदान्तर अभिव्यंजक हैं। अथवा संघातपक्ष में भी पदान्तर के प्रयोग पर इसी तरह का अभियोग संभव है, यदि दोष है तो दोनों पक्षों में समान है, केवल अन्विताभिधानवाद को ही, इस आधार पर, दोषयुक्त नहीं माना जा सकता।

अन्विताभिधानवादी को भी किसी-न-किसी स्तर पर आकांक्षा, योग्यता आदि को स्वीकार करना पड़ता है। क्यों न अभिहितान्वयवाद को प्रश्रय दिया जाय। क्योंकि उसके मत में, पद पदार्थ की अभिव्यक्ति कर उपरत हो जाते हैं। बाद में आकांक्षा आदि के सहारे पदार्थों में अन्वय की प्रतीति होती है। इसके उत्तर में प्रभाकर का संप्रदाय कहता है कि ऐसा संभव नहीं है। ऐसा मानने पर संसर्ग का मान नहीं होगा। क्योंकि आकाक्षा किसकी है? शब्द की, अर्थ की अथवा प्रमाता की? शब्द और अर्थ के अचेतन होने से उनकी आकांक्षा न हो सकेगी। प्रमाता की हो सकती है। किन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि शब्द शब्दान्तर की आकाक्षा करता है और अर्थ अर्थान्तर की। स्वतंत्र की आकांक्षा प्रमाण नहीं है, पुरुष की इच्छा का वस्तुस्थिति से कोई सीधा लगाव नहीं है, उसकी आकाक्षा शब्द प्रमाण के पीछे रहती है। अर्थ मे पुरुष की आकांक्षा अर्थों मे ससर्ग का हेतु नहीं हो सकती। फलत: शब्द का ही यह बाण की तरह दीर्घदीर्घ व्यापार है। शब्द व्यापार के उपरत हो जाने पर पुरुष की आकांक्षामात्र सम्बन्ध का कारण नहीं होती। ऐसा मानने पर वाक्यार्थ का ज्ञान अशाब्द होने लगेगा। किन्तु यदि साक्षात् शब्दत्व संभव हो, व्यवधान अयुक्त है। इसलिए पद अन्वित होकर ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा मानना ही उपयुक्त है। इस मत मे ही ससर्ग प्रतीति उपपन्न होती है। 'गाम् आनय शुक्लाम्' जैसे वाक्यों मे संसर्ग पद का प्रयोग नहीं है जिससे कि ससर्ग का ज्ञान हो। यदि ससर्ग पद का प्रयोग भी होता तो भी दश दाड़िम वाक्य की तरह अनन्वित ही अर्थ होता। वस्तुतः व्यतिषङ्ग का बोध व्यतिषिक्तार्थ बुद्धि द्वारा होता है। यही मार्ग ससर्ग बोध का है। इसलिए अन्विताभिधानवाद को प्रश्रय देना चाहिए।

अभिहितान्वय का मूल आधार मीमासको की दृष्टि मे शाबर भाष्य का निम्न-लिखित वाक्य है:

> पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि
> अथेदानीं पदार्था अवगता सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति।[६]

पद अपने-अपने अर्थ को व्यक्त कर उपरत हो जाते हैं, पदार्थ के अवगत हो जाने पर वे वाक्यार्थ का बोध कराते है।

अन्विताभिधानवादी भी उपर्युक्त वाक्य की अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या

---

६. शाबर भाष्य १।१।२५

करते हैं। प्रभाकर ने 'तस्मात् व्यतिषक्तार्थाभिधानम् व्यतिषक्तेनावगतेः व्यतिषंगस्य' कहा था।[७] अर्थात् पद व्यतिषक्त का अभिधायक है। वह व्यतिषक्त का अभिधायक नहीं है। भाव यह है कि शब्द से आकृति का अभिधान होता है, साथ में व्यक्ति का भी भान होता है, इसलिए यद्यपि व्यक्ति शब्दजन्य प्रतीति से ग्राह्य है फिर भी आकृतिगम्य मानी जाती है। आकृति-प्रत्यय व्यक्ति-प्रत्यय का निमित्त है। जैसे आकृति-मात्र शब्द से गम्य है वैसे व्यक्ति भी गम्य है ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि केवल जाति का अवगमन संभव नही है। यह आकृति का स्वभाव है कि वह बिना व्यक्ति के आश्रय के प्रतीति गोचर नहीं हो सकती। वह व्यक्ति का रूप है। बिना रूपवान् के रूप में बुद्धि नहीं जम सकती। यदि रूप रूपवान् के बिना भी प्रतीत होता, रूपवत्ता का अस्तित्व ही नहीं होता। इसलिए व्यक्ति के साथ ही जाति का भान होता है। शब्द भी अपनी शक्ति से जाति का अभिधान करता है। उसका व्यक्ति के बिना ग्रहण दुष्कर है अत: जाति व्यक्ति का भी प्रत्यायन करती है। इससे शब्द का आकृति-प्रत्यायन स्वाभाविक है और उसका निमित्त व्यक्तिप्रत्यायकत्व है। इसलिए आकृति-प्रत्यय व्यक्ति-प्रत्यय का निमित्त माना जाता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि शब्द से प्रथम अवगत आकृति बाद मे व्यक्ति का बोध कराती है। ठीक इसी तरह, अन्वित-अभिधायी शब्द द्वारा अन्वय के बिना अन्वित का बोध नही कराया जा सकता। अतः अन्वय का बोध करता हुआ पदार्थ निमित्तक माना जाता है। शावर भाष्य के उपर्युक्त वाक्य में पदार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वित से है, वाक्यार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वय से है। पद अन्वित होकर अन्वय का अवबोध कराते हैं।

पार्थसारथि ने इसे क्लिष्ट मार्ग माना है।[८] उनके अनुसार, भाष्यकार ने वाक्यार्थ मे पदार्थ की निमित्तता स्पष्ट रूप मे व्यक्त कर दी है। पदार्थ आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के सहारे अन्वित होकर वाक्यार्थ को व्यक्त करते हैं।

वृद्धव्यवहार वाक्य से परिचालित होता है। व्युत्पत्ति भी वाक्य से होती है। किन्तु वह व्युत्पत्ति एकघटनाकारकसंहतवाक्यार्थनिष्ठ है अथवा पदार्थ पर्यन्त है? पहले पक्ष मे प्रतिवाक्य मे व्युत्पत्ति अपेक्षित होगी, इससे आनन्त्य, व्यभिचार आदि दोष सामने आयेंगे। पदार्थपर्यन्त मानने पर यह निश्चय करना पड़ेगा कि इस पद का अर्थ इतना है। संहत्यकारिता पक्ष मे शकट के अवयव का दृष्टान्त दिया जाता है, इस दृष्टान्त के द्वारा भी पदव्यापार का निर्धारण अभीष्ट है। पदार्थनियम की अन-पेक्षा से 'गाम् आनय' कहने की इच्छा रखने वाला 'अश्वम् आनय' कह सकता है। जिस तरह से वैयाकरण पदपदार्थ-विभाग की अपेक्षा नहीं रखते, वैसे उसकी भी नहीं होती ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए आवाप उद्वाप की पर्यालोचना से जितना पद का अर्थ निर्धारित होता है उतना उसका अर्थ है। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर पद की अभिधात्री शक्ति केवल जाति में है अथवा व्यक्ति मे है, अन्वित मे नहीं है।

---

७. बृहती, पृ० ३८५

८. न्यायरत्नमाला, पृ० १२०

तात्पर्य शक्ति जितना व्यापक है उतना अभिधात्री शक्ति नहीं है। वाक्यार्थ की दृष्टि से पदों में तात्पर्य शक्ति है, अभिधात्री शक्ति नहीं है। इसलिए अन्विताभिधान पक्ष से अभिहितान्वयपक्ष युक्ततर है।

पदार्थों के अन्वय बोध में शक्ति गौरव नहीं होगा, क्योकि सभी वाक्यार्थ लाक्षणिक होते हैं। अभिहितार्थ के सम्बन्ध से गम्य होने के कारण वे लाक्षणिक माने जाते हैं। यद्यपि पदार्थ वाक्यार्थ से अविनाभूत रूप से सम्बद्ध नहीं है फिर भी यहां एकवाक्यता के आधार पर लक्षणा मानी जाती है, अविनाभूत सम्बन्ध के आधार पर नहीं मानी जाती। बिना अविनाभाव के भी व्रीहीन् अवहन्ति, जैसे वाक्यो में एकवाक्यता के आधार पर लक्षणा देखी जाती है। एकवाक्यता कहीं प्रत्यक्ष होती है, कहीं प्रकरण के सहारे अनुमेय होती है।

भोज ने उभयवादी का भी उल्लेख किया है। उभयवादी अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद का समन्वय उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार सामान्य की दृष्टि से अन्विताभिधान होता है, विशेष की दृष्टि से अभिहितान्वय होता है। गो शब्द स्वार्थ को सामान्य से अन्वित रूप मे जताता है, विशेष का भान नहीं हो पाता। यही सामान्य के द्वारा अभिधान है। शुक्ल आदि गुण पदान्तर से अवगत होते हैं। यही विशेष के द्वारा अभिधान है। वाक्यार्थ, इस मत में क्रियाकारक संसर्ग रूप है।[६]

अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद दोनो मे पदार्थ मे शक्ति कल्पना समान है। पदार्थ के आश्रय से यदि वाक्यार्थ का बोध न माना जाय तो, जैसा कि भर्तृहरि ने दिखाया है, निम्नलिखित पाँच दोष उपस्थित होते हैं :—

१—प्रतिनिधि कल्पना की अनुपपत्ति

२—पिकादिनियतपदप्रश्न की अनुपपत्ति

३—श्रुति और वाक्य के विरोध में श्रुति की बलवत्ता की अनुपपत्ति।

४—अवान्तर वाक्यों में अर्थवत्त्व का अभाव

५—लक्षण की अनुपपत्ति।

मुख्य वस्तु के अभाव में यदि उसके सदृश किसी अन्य वस्तु से उसका काम लिया जाता है तो उस सादृश्य वाली वस्तु को प्रतिनिधि कहा जाता है। जैसे व्रीहि के अभाव मे यदि नीवार से काम लिया जाय, नीवार प्रतिनिधि है। 'व्रीहिभिः यजेत्' इसमें यजति क्रिया से देवता को लक्ष्यकर द्रव्य का त्याग अर्थ सामने आता है। इस लिये द्रव्य यजति क्रिया से एकदेशभावापन्न होने के कारण उसका अंग है और श्रुतिप्राप्तसंनिधान है। यहां श्रुतिप्राप्तसंनिधान शब्द है। व्रीहित्व आदि सामान्यविशेष है। निर्विशेष सामान्य नहीं होता इसलिए व्रीहित्व विशेष से परिपोष होता है। व्रीहि श्रुति अध्यावापार्थ है। वह शब्दसामर्थ्य प्राप्त द्रव्यत्व मात्र को, अविरोध के कारण नहीं बाधती। द्रव्यत्व श्रुतिसामर्थ्य प्राप्त है, व्रीहित्व अर्थसामर्थ्य से आया है, वह सामान्यमात्रप्राप्तसनिधान है। किन्तु जिसके विचार में यजति क्रिया के सामर्थ्य से ही व्रीहित्व

६. शृंगार प्रकाश, पृ० २९३, मैसूर सस्करण

आदि की प्राप्ति है, उनके अनुसार व्रीहिश्रुति नियमार्थक होगी और यवत्व आदि सामान्य विशेष का निवर्तक होगी। इस दृष्टि मे, व्रीहित्व से यवत्व आदि सहचारी द्रव्यो का अपसारण होगा। जिस तरह से यज्ञ के लिए निषिद्ध पलाण्डु आदि का, अर्थित्व और सामर्थ्य होने पर भी, शास्त्र के द्वारा अपर्युदस्त होने के कारण वचनान्तर के न होने के कारण, प्रतिनिधि उपादान नही होता, उसी तरह नीवार, यव आदि का भी. व्रीहादि नियम से निषिद्ध होने के कारण और वचनान्तर के अभाव के कारण प्रतिनिधि नही होगा। एक दूसरे दर्शन के अनुसार व्रीहिशब्द, शब्द द्वारा अंगीकृत व्रीहित्व को अग रूप मे अधिक कल्पित कर लेता है। फलतः द्रव्यत्व का बोध नही कर पाता है। क्योंकि न तो यवत्व आदि की वृत्ति मे उसका व्यापार है और न अभ्यनुज्ञा में। सामान्य का विशेष के साथ अविरोध होने के कारण द्रव्यत्व का बाध न होगा। द्रव्यत्व मात्र के आक्षेप मे प्रतिनिधि की उपपत्ति हो जायगी।

यदि व्रीहिश्रुति नियमार्थ न मानी जायगी, नीवार आदि का विकल्प प्राप्त होगा। व्रीहि से होना चाहिए अथवा यव से होना चाहिए इस रूप मे विकल्प होगा। फलत. व्रीहिश्रुति निरर्थक होगी। इसके समाधान मे भर्तृहरि ने असंभव नियम का उल्लेख किया है। व्रीहित्व से द्रव्यत्व के विशेषित होने पर वस्तु सामर्थ्य के बल से यवत्व आदि की संभावना नही है। जहा पर द्रव्यत्व व्रीहित्व एकार्थसमवायी है वही यवत्व-एकार्थसमवायी संभव नही है। यह असभव नियम है। दो प्रकार का नियम होता है। कोई शब्दसामर्थ्य से आ जाता है, जहा पक्ष में प्राप्ति होने पर श्रुति होती है। जैसे व्यक्ति पदार्थ पक्ष मे 'विप्रतिषेधे परम्'। कोई नियम, शब्द व्यापार के न होने पर भी. पदार्थों के इतरेतररूपसांकर्य के अभाव से, एक प्रवृत्ति अपने से अतिरिक्त के निवृत्तिफलक होती है इस आधार पर, पदार्थस्वरूप के विमर्श से आ जाता है। इसे असभव नियम कहा जाता है

> **असंभवो नाम नियम शब्दव्यापारो (अशब्दव्यापार.) नियमसदृशफल: : क्वचि-द्विषयेऽन्य एव धर्मोऽयमसंभवनियम इति नियम विभागे न्यायविद. केचिदा-चक्षते।**[10]
>
> —वाक्यपदीय २।६८ हरिवृत्ति

यहा पर शब्द सामर्थ्य से द्रव्यत्व भी उपस्थित है, व्रीहित्व भी। अध्यावाप शब्द व्यापार है। अखण्ड वाक्यार्थ पक्ष मे भी अपोद्धार दशा मे भेद, संसर्ग आदि विकल्प किए जाते हैं। व्याडि के मत मे भेद वाक्यार्थ है। क्योंकि पद से वाच्य द्रव्यो का द्रव्यान्तर से निवृत्ति अभिप्रेत रहती है। जातिवादी वाजप्यायन के मत मे ससर्ग वाक्यार्थ है। क्योंकि वाक्यार्थ सामान्यो का, पदार्थों का सश्लेष मात्र है।[11] जहां

---

१०. शृंगार प्रकाश में यह वाक्य यों उद्धृत है—

"असंभवो नाम यन्नियमसदृशफलः, अन्य एव बाधविशेषः यमसभवनियम इत्यामनन्ति।" शृंगार प्रकाश पृ० ३१४ मैसूर संस्करण।

११. अखण्डेऽपि वाक्यार्थनयेऽपोद्धारदशागतो भेदसंसर्गादिविकल्पः। तत्र व्याडिमते भेदो वाक्यार्थः।···वाजप्यायनस्य तु मते संसर्गो वाक्यार्थः।

—हेलाराज। वाक्यपदीय, जातिसमुद्देश ५

शब्द से व्रीहित्व अधिक रूप में अंगभाव प्राप्त हो जाता है, वहां श्रुति से अप्रतिषिद्ध होने पर भी यव आदि न हो सकेंगे क्योंकि व्रीहि के साथ उनका विरुद्ध—एकार्थसमवाय है। यदि हो भी, तो विरोध न होने से, सामर्थ्यप्राप्तसन्निधान के रूप में, शब्द व्यापार के बिना भी गृहीत हो। किन्तु यह विकल्प का विषय नहीं है।

निर्विशेष सामान्य नहीं होता, इसलिए यजि क्रिया से विशेषनिष्ठ द्रव्य का आक्षेप होता है। इसलिए सभी विशेष श्रुतिसामर्थ्य से प्राप्त होंगे। फलतः व्रीहिभिः यह श्रुति श्रौत रूप में भी नियमफल वाली ही हो जाती है अतः श्रौत अर्थ का त्याग कैसे नहीं होगा? इसका उत्तर भर्तृहरि ने यह कहकर दिया है कि प्रतिनिधि के विषय में ऐसा नहीं होता। क्रिया शब्द से सभी विशेष लक्षित नहीं होते। शब्द सभी विशेष का अभिधायक नहीं होता :

न हि सर्वेषां सतां शब्दोऽभिधायकः।[१२]

शब्द वस्तुचिन्ता का अनुसरण नहीं करता। वस्तु का कोई भाग ही शब्द का विषय होता है। सकल सनिहितविशेष का अभिधायक शब्द नहीं देखा जाता। यजति क्रिया का केवल द्रव्य मात्र के आक्षेप में शक्ति है, द्रव्य विशेष मे नहीं है। व्रीहित्व आदि द्रव्य सहचारी विशेष जो क्रियापदार्थ के एकदेश भूत हैं यजि क्रिया से लक्षित नहीं होंगे। वस्तु विवक्षानिबन्धन होती है। सत् पदार्थ भी अर्थ रूप में असत् हो सकता है। विवक्षा शब्द सामर्थ्य के अनुरूप होती है। द्रव्य के साथ शुक्ल आदि गुण भी रहते हैं किन्तु क्रिया शब्द से गुण की विवक्षा क्रिया के अंग रूप में नहीं होती और न उनका प्रत्यायन क्रिया पद से संभव ही है। इसलिए द्रव्यमात्र का ही आक्षेप शब्द से होता है, उसके परिपोष के लिए विशेष का आवाप नियम के लिए नहीं होता। फलतः शास्त्र से अपर्युदस्त विशेषो के प्रतिनिधि उपपन्न हो जाता है। इस तरह यहां असभवनियम त्याग का विवरण है।

जिनके मत मे क्रियाविशेष ही वाक्यार्थ है उनके मत में क्रिया स्वसिद्धि के लिए योग्यद्रव्य, साधन का आक्षेप कर लेती है। वही पदान्तर से विशिष्ट कहा जाता है। ऐसी दशा में, जहा श्रुत साधन सभव नहीं है, प्रधानभूत क्रिया की प्रतिपत्ति के लिए किसी अन्य साधन को प्रतिनिधि रूप मे ले लिया जाता है। क्रिया का प्रतिनिधान नहीं होता क्योंकि वह प्रधान होती है। शिष्टों ने गुणभूत साधन को ही प्रतिनिधि रूप में स्वीकार किया है। अतः प्रधानभूत क्रियापदार्थ से आक्षिप्त साधनमात्र का त्याग नहीं होता, अपितु व्रीहिपद से उपात्त द्रव्यविषयक नियममात्र का बाध होता है। इसे नियम-मात्रबाध कहा जाता है।

प्रतिनिधि के प्रसग मे असंभवनियमत्याग और नियमात्रबाध इन दो दार्शनिक विचारो के अतिरिक्त तीन अन्य विचारो का भी भर्तृहरि ने उल्लेख किया है। वे हैं— पदार्थ सामर्थ्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति, वाक्यार्थसामार्थ्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति और प्रकरण सामर्थ्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति।

---

१२. वाक्यपदीय २।६८ हरिवृत्ति।

जातिपदार्थ पक्ष में आख्यातवाच्य क्रिया से जाति का समन्वय कैसे होगा। क्रिया साधन से जुटती है। जाति साधन नहीं है। उसके आश्रय रूप साधन से सम्बन्ध करने पर प्रतिनिधि की अनुपपत्ति का प्रश्न उठ खड़ा होता है। इसके उत्तर में कुछ आचार्यों की मान्यता है कि जाति शक्ति का उपलक्षण है। 'खदिरे बध्नाति' इस श्रुति के अनुसार कहीं खदिर में बांधने का संयोग न हो तो उसके सदृश कदर में बन्धन का कार्य संपन्न किया जाता है। जिस तरह कदर खदिर का प्रतिनिधि हो जाता है, उसी तरह द्रव्यान्तरगत शक्ति का भी, आश्रय की सशक्तता की दृष्टि से, परिग्रहण कर लिया जाता है।

जातिपदार्थ-सिद्धान्त के मानने वालों में कतिपय जाति को अभिधेय मानते हैं, उपलक्षण नहीं मानते। उनके मत में भी प्रतिनिधि की उपपत्ति हो जायगी। बन्धन का प्रयोग अस्वातंत्र्य है। यदि खदिर शक्तिहीन है तो उसको छोड़कर कदर काम में लाया जाता है। इसमे विधि में कोई दोष नही माना जाता। इसी तरह जाति के अभिधान के पक्ष में भी शक्तिहीन का ग्रहण नहीं होगा। गाम् आलभेत् जैसे श्रुतिवाक्य से भी योग्य व्यक्ति के साथ क्रिया का सम्बन्ध होता है।

यदि बन्धन का अभिप्राय केवल सश्लेष मात्र हो तो प्रकरण आदि की पर्यालोचना से प्रतिनिधि उपपन्न होता है।

प्रतिनिधि के उपादान होने पर भी अखण्डवाक्यार्थ का अनुष्ठान संभव न होने से, नीवारकरणकयाग के अनुष्ठान से नित्य, काम्य आदि विधि का लोप होने लगेगा। अखण्ड पक्ष मे 'क्रिया का प्रतिनिधान नहीं होता, द्रव्य का होता है', यह न्याय भी विच्छिन्न हो जायगा। अतः पदार्थ द्वारा वाक्यार्थ का अवबोध मानना चाहिए।

प्रसिद्ध पदार्थ के अवधारण के लिए अप्रसिद्ध पदार्थ का परिग्रह निर्ज्ञात-प्रश्न कहा जाता है। जैसे 'वनात् पिकः आनीयताम्', 'जर्जरा वरासी वृषलाय दीयनाम्' जैसे वाक्यों के कहने पर सुनने वाले जिन पदों के अर्थ जानते हैं उनके बारे में तो कुछ नही कहते किन्तु जिन पदों के अर्थ उन्हें नहीं ज्ञात हैं उनके बारे में जिज्ञासा व्यक्त करते हुए देखे जाते हैं। जैसे बन शब्द का अर्थ ज्ञात है किन्तु पिक शब्द का नही ज्ञात है तो पूछते हैं 'पिक कौन सी वस्तु है जिसे बन से लाना है।'[१३] अथवा विरासी (वरांगी ?) क्या है जिसे वृषल को देना है। वृक्ष, वृषभ, काण्डीर आदि प्रसिद्ध भेदों मे अक्ष, ऋषभ, भाण्डीर आदि अर्थ जिज्ञासा में वकार अथवा ककार के अर्थ के लिए वर्ण-विषयक प्रश्न नहीं देखा जाता है। यदि निरवयव, अखण्ड वाक्य से अखण्ड अर्थ की प्रतीति होती, 'वनात् पिक आनीयताम्' वाक्य से भी अखण्ड अर्थ भासित होता। किन्तु पृथक् पिक पद के अर्थ की जिज्ञासा होती है। अतः वाक्यार्थ अविभागाश्रित न होकर विभागमय

---

१३. शबर स्वामी ने पिक शब्द को अनार्य माना है। जिन दिनों यह वाक्य उदाहरण के रूप में आया होगा, बहुत से लोग इस शब्द को नहीं पहचान पाते होंगे. वरासी शब्द भी संस्कृतेतर भाषा का जान पड़ता है। यों वैदिक साहित्य में वस्त्रविशेष के अर्थ में मिलता है।

है। मीमांसा दर्शन में श्रुति और वाक्य के विरोध में श्रुति बलवती मानी जाती है। यदि वाक्यार्थ अविभक्त रूप में स्वीकार किया जायगा, श्रुति और वाक्य के परस्पर विरोध में पारदौर्बल्य वाला नियम नहीं लागू हो सकेगा। प्रमाणान्तर निरपेक्ष शब्द को श्रुति कहा जाता है। भर्तृहरि के अनुसार श्रुति एक शब्दविषया एकपदनिबन्धना होती है :

इह श्रुतिर्नामैकशब्दविषयैकपदनिबन्धनार्था।[१४]

समभिव्याहार अथवा शेषशेषि वाचकपदों के सह-उच्चारण को वाक्य कहा जाता है। श्रुति का सम्बन्ध साक्षात् प्रापित से होता है, वाक्य का यत्न प्रापित से होता है इसलिए श्रुतिधर्म से वाक्यधर्म विलक्षण माना जाता है। श्वेत छागमालभेत् इस वाक्य में द्रव्य का आलभन क्रिया के साथ योग द्वितीया श्रुति (द्वितीयाविभक्ति) से साक्षात् प्रतिपादित है। श्वेतगुण का सम्बन्ध सामानाधिकरण्य के आधार पर है। निर्गुण द्रव्य नहीं हो सकता, केवल गुण में क्रिया नहीं हो सकती, इस लिए गुण का सम्बन्ध आश्रयआश्रयिरूप में है, यह सम्बन्ध वाक्यीय है। उसका सम्बन्ध सन्निधान वश है। द्वितीया श्रुति और तिङ् विभक्ति श्रौत सम्बन्ध को प्रकट करती है, क्योंकि क्रिया और कारक एक-दूसरे के स्वरूप से यहां अनुबिद्ध हैं। वाक्य के सम्बन्ध का कोई साक्षात् वाचक यहां नहीं है, केवल योग्यार्थ-समन्वय के लिए पदान्तर सन्निधान से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इसलिए श्रुति की अपेक्षा वाक्य दुर्बल माना जाता है। भर्तृहरि ने श्रुति और वाक्य का विरोध और वाक्य से श्रुति की बलवत्ता के लिए निम्न लिखित उदाहरण दिया है :

पयसा भुंक्ते देवदत्तः शृतेन

इस वाक्य में पय में उपसेचन श्रुतिप्रापित है। क्योंकि 'पयसा' में तृतीया श्रुति का क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध है। पयविषयक श्रपण वाक्य प्रापित है। क्योंकि उनमें विशेषणविशेष्य भाव है। यहां वाक्य प्रापित श्रपण के न होने पर भी श्रुतिप्रापित उपसेचनत्व का निवर्तन नहीं होता। लोक में उपसेचन के रूप में अप्रसिद्ध जल आदि हैं, उनके द्वारा श्रपण कार्य उपयुक्त नहीं माना जाता। अशृत पय का ग्रहण कर लिया जाता है, किन्तु शृत भी उदक का उपादान नहीं होता। श्रुति और वाक्य के विकल्प में श्रुत्यर्थ ही किया जाता है, वाक्यार्थ नहीं।

भर्तृहरि ने श्रुति को 'सामर्थ्य प्रापित' और व्यक्यत्यर्थ—अनुषजन—दो रूप में ग्रहण किया है। सामर्थ्य प्रापित से तात्पर्य साक्षात् एक शब्द से गृहीत अर्थरूप से है। इसके अतिरिक्त एक शब्दोपात्त अर्थ जब किसी शब्दान्तर से अभिव्यक्ति के लिए सम्बद्ध हो जाता है, वह भी, किसी सम्बन्धान्तर के आश्रय न लेने के कारण—अनाधेय सम्बन्ध के कारण—श्रुति माना जाता है। दूसरे शब्दों में, श्रुति अपने अर्थ की सिद्धि

---

१४. वाक्यपदीय २।७३ हरिवृत्ति, भोज ने यों उद्धृत किया है—
श्रुति हि नामानेकपदनिबन्धन एव शब्दविषयो विध्यादिरर्थः।
—शृंगार प्रकाश, पृ० ३३०

के लिए कर्म, करण, अधिकरण आदि जिसका आक्षेप करती है वह सब भी श्रुत्यर्थ माने जाते हैं। जैसे 'अवहन्यताम्' कहने से व्रीहि आदि का, 'सूर्यः उदेति' कहने से दिन का, वर्षति कहने से देव का आक्षेप हो जाता है। व्यक्त्यर्थ अनुषंग साधन का भी होता है। साधनाश्रय का भी होता है।[१५] यदि वाक्यार्थ अखण्ड रूप में माना जायगा, श्रौत और वाक्यीय का विभाग ही संभव नहीं होगा, पुन उनमें बाध विचार तो सर्वथा निरर्थक हो जायगा।

यदि पदार्थनिबन्धन वाक्यार्थ नही स्वीकार किया जायगा, अवान्तर वाक्यों में अर्थवत्ता की उपपत्ति कठिन हो जायगी। कभी-कभी एक अर्थ की सिद्धि के लिए वाक्यो के समुदाय एक साथ व्यवहृत होते हैं और वे परस्पर साकांक्ष होते हैं, जैसे,

"गौः बुह्यताम्, उपाध्यायः पयसा भुक्त्वा मामध्यापयतु।"

"अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः।"

ऐसे वाक्यो मे, अखण्डपक्ष मे, पद की तरह अवान्तरवाक्य अनर्थक हो जायेंगे। वाक्य की कोई सीमा नही है। वे बढ़ाए जा सकते है; जैसे,

गाम् अभ्याज।

देवदत्त गाम् अभ्याज।

देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्···आदि।

ऐसी दशा मे स्वतत्र रूप मे जो वाक्य सार्थक हैं, अवान्तर वाक्य के रूप मे वही निरर्थक होने लगेंगे।

वाक्य के अविभाग पक्ष को प्रश्रय देने से लक्षण की भी अनुपपत्ति होती है। लक्षण एक तरह से वाक्य धर्म है जो वाक्यार्थविशेष के परिज्ञान मे सहायक होते हैं। ये षट्, द्वादश अथवा चौबीस तरह के माने जाते हैं। भर्तृहरि के लिखने से ऐसा जान पडता है कि उन्होने स्वयं लक्षणसमुद्देश मे इन भेदो पर विस्तार से विचार किया था :

> **सर्वन्यायलक्षणव्यवस्थाविरुद्धश्चायमविभागपक्षः। तत्र द्वादश, षट्, चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेशं सविरोध विस्तरेण व्याख्यास्यते —वाक्यपदीय २।७६ हरिवृत्ति।**

लक्षण समुद्देश आज उपलब्ध नहीं है। पुण्यराज के समय मे भी उपलब्ध नही था :

> **एतेषां च वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रंशात् लेखकप्रमादेन वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः।**

वाक्यपदीय २।७७-८७ में इनका सकेत किया गया है। इनमें मीमासा दर्शन में प्रतिपादित प्रसग, तत्र, बाध आदि हैं, कुछ अन्य भी हैं। इन पर हम 'वाक्य के

---

१५. वाक्यपदीय २।७३ हरिवृत्ति।

पदार्थनिबन्धन धर्म' के रूप में अभी विचार कर चुके हैं। यहा केवल यह दिखाना है कि यदि पदार्थ के आधार पर वाक्यार्थ विचार नहीं होगा, गौण मुख्य, नान्तरीयक आदि लक्षण विचार भी संभव नहीं हो सकेंगे। क्योंकि ये सब पदार्थनिबन्धन हैं।

इस तरह निरवयव वाक्य पक्ष मे उपर्युक्त पांच विप्रतिपत्तियां उठाई गई हैं।

भर्तृहरि ने इनका परिहार भी किया है। वाक्यार्थ एक है, अविभक्त है। विकल्प भावनाश्रित है। पुरुष की शास्त्रवासना के अनुरूप भिन्न-भिन्न विकल्प होते हैं :

अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रया: ।[१६]

वाक्य को अखण्ड मान कर भी अपोद्धार पद्धति से पद-पदार्थ की कल्पना कर पदार्थनिबन्धन धर्मों का निर्वाह किया जा सकता है :

अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते ।
वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते ।।[१७]

जैसे एक ही गन्ध का पुष्पगन्ध, चन्दनगन्ध, आदि के रूप में विश्लेषण किया जाता है, जैसे एक नरसिंह में नर और सिंह के सादृश्य की कल्पना की जाती है, जैसे एक निरंश प्रकाश का नील, पीत आदि रूप मे भाग किया जाता है, वैसे ही एक निर्विभाग वाक्य का विभाग के रूप मे निर्वचन किया जाता है। वृक्षः आनीयताम् इस वाक्य से वनात् पिक. आनीयताम् यह वाक्य सर्वथा विलक्षण है। पिक के योग से यह वाक्य सर्वथा एक नवीन, विलक्षण वाक्य बन गया है। वाक्य के एक देश की, अवान्तरवाक्य की अर्थवत्ता वैयाकरण भी स्वीकार करते हैं। इस तरह उपर्युक्त सभी अनुपपत्तियां दूर हो जाती हैं :

यस्याप्येकः सन्निविष्टानेकशक्तिरूपसर्वोपाधिविशिष्टः क्रियात्मा व्यावहारिकाभ्यां (केन) प्रकल्पितोऽहं शविभागेनैकेन वाक्याख्येन शब्देनाभिधीयते तस्यापि यावानयं पदश्रुतिरूपभेदेन च व्यवहारः परस्तादुपन्यस्तः स सर्व एकस्मादर्थात् शब्दरूपाणि बुद्धयन्तरैः कृतप्रविभागानि अपोद्धृत्यापोद्धृत्य प्रकृतिप्रत्ययादिवत् श्रुतिरूप प्रविभागे क्रियामाणे न विरुध्यते।"[१८]

अस्तु, अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनो से गृहीत पदार्थशक्ति व्याकरणदर्शन में भी उपोद्धार कल्पना से चरितार्थ हो जाती है। पुण्यराज ने अनेक स्थल पर इन वादो की समीक्षा भी की है और भर्तृहरि को भी अपने साथ रखने की चेष्टा की है। पुण्यराज की आलोचना का भी प्रसंगवश ऊपर निर्देश किया जा चुका है। उनका मुख्य वक्तव्य निम्नलिखित है :

इति अन्विताभिधान प्रदर्शनम्। दूषणमस्याग्रे तत्र तत्राभिधास्यति यथा 'नियमार्थां श्रुतिः भवेत्' वा० प० २।२४६ इत्यादि। तथा हि, यद्येकेन पदेन

१६. वाक्यपदीय, २।११७
१७. वाक्यपदीय २।८६
१८. हरिवृत्ति, शृंगारप्रकाश में संप्रति उपलब्ध, पृ० ३३३

सकलवाक्यार्थस्याशेषविशेषणखचितस्यावगतिः तदोत्तरेषां पदानां नियमायानुवादाय वोच्चारणं स्यात् । न चैतत् युक्तमिति वक्ष्यामः । एकस्मादेव पदात् समस्तविशेषणखचितस्य वाक्यार्थस्य प्रतीतेरुत्तरेषामानर्थक्यं स्यादेव । न च तस्मादेव वाक्यार्थप्रतीतिः दृश्यते । व्यक्तोपव्यञ्जना इत्यसमाधानमेव । यतः किमेकस्माद् वाक्यार्थावसायोन्येषामुपव्यंजकत्वम् । अथ समस्तेभ्य एव तेभ्यः । सर्वथोत्तराणि पदानि वाक्यार्थप्रतीतये उपादीयन्त एवेत्यन्विताभिधानमसमञ्जसमेव । एकस्य वापरपदोच्चारण काले तिरोधानादभिहितान्वयस्याप्यसंभव इत्यर्थभागे दूषणम् । शब्दभागसमाश्रयणेन द्वयोरपि पक्षयोः दूषणं 'पदानि वाक्ये तान्येव' (वाक्यपदीय २।२८) इत्यादि—श्लोकद्वयेनाभिधास्यति ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१८

यदि एक पद से सकल वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति हो, अन्य पद व्यर्थ होंगे। अथवा नियम या अनुवाद के लिये होंगे। हम देख चुके हैं कि भर्तृहरि ने भी आख्यात शब्द वाक्य आदि की व्याख्या मे नियम-अनुवाद सिद्धान्त का आश्रय लिया है। सहभूत के उपादान मे व्यक्तोपव्यंजन वाले मत का पुण्यराज ने स्वय समर्थन भी किया है।

भर्तृहरि ने आलोचना की है कि यदि वाक्य में वे ही पद होगे, पद मे वे ही वर्ण होंगे, वर्णों में वर्ण भाग सम्बन्धी परमाणु सदृश भेद होने लगेंगे। इसका उत्तर कुमारिल ने दिया है :

सद्भावे पदवर्णानां भेदो यः परमाणुवत् ।
सर्वाभावस्ततश्चेति सेयं बालविभीषिका ॥

यह केवल बच्चो को डराना मात्र है। पद और वर्ण का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है। वर्णांश के परित्याग से वर्ण की स्थापना सरल है (श्लोकवार्तिक ७।१५०)

भर्तृहरि के अनुसार यदि अखण्डवाक्यार्थ न मानकर पद-पद के सहारे वाक्यार्थ की उपपत्ति मानी जायगी, निम्नलिखित वाक्य के अर्थ का ठीक अवभास न हो सकेगा :

अनड्वाहं हर शिरसा या त्वं भगिनि साचीनं अभिधावन्तं कुम्भमद्राक्षीः ।

इस वाक्य के प्रथम अंश सुनने पर अन्य अर्थ उपस्थित होता है, पूरा वाक्य सुनने पर दूसरा अर्थ सामने आ जाता है और पहला अर्थ छूट जाता है। अखण्ड पक्ष मे पूरे वाक्य से पूरे अर्थ का ज्ञान होता है। इसलिए सामान्य में वर्तमान का विशेष मे अवस्थान उपयुक्त नही माना जा सकता :

तथा सति नास्ति सामान्येऽवस्थितानां विशेषेऽवस्थानम् ।[१६]

वाक्य और वाक्यार्थ में सम्बन्ध

वाक्य और वाक्यार्थ में परस्पर संबध, दर्शनभेद के आधार पर, निम्नलिखित माने

---

१६. वाक्यपदीय २।२४८ हरिवृत्ति, हस्तलेख

जाते हैं :

१—वाच्यवाचक सम्बन्ध (योग्यता)

२—कार्यकारण सम्बन्ध ।

३—संकेत सम्बन्ध ।

४—अध्यास सम्बन्ध ।

इनमे वैयाकरण अध्यास सम्बन्ध को अपनी मान्यताओ के अनुकूल मानते हैं और उसे स्वीकार करते हैं । सम्बन्ध के विषय मे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अवसर पर विशेष विचार किया जा चुका है ।

वाक्यार्थ निर्धारण के साधन

वाक्यार्थ की व्यवस्था में कुछ अन्य उपाय भी काम मे लाए जाते हैं । वे प्राय: परिगणित हैं । भर्तृहरि ने इनका उल्लेख निम्नलिखित कारिका में किया है :

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालत ।
शब्दार्था प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ।।[1]

साथ ही किसी दूसरे आचार्य का भी मत दिया है :

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थ प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि: ।
सामर्थ्यमौचिती देश: कालो व्यक्ति. स्वरादय ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव: ।।

इनके विवरण नीचे दिए जा रहे हैं ।

एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं । एक स्थान पर दो अर्थों की प्राप्ति हो सकती है । उस समय निर्धारण की अपेक्षा होती है । निर्धारण विभाग द्वारा पृथक्करण का नाम है । कुछ उपाय जो समस्त अनेकार्थ शब्द मे समान हैं, वाक्यार्थ के अवच्छेद के लिए काम में लाए जाते हैं । भर्तृहरि ने इनका वाक्य, प्रकरण, अर्थ आदि के रूप मे उल्लेख किया है ।

वाक्य : कभी-कभी वाक्य ही विशेष क्रिया से युक्त रहता है और तुल्य श्रुति के होने पर भी शब्द और अर्थ के प्रविभाग की व्यवस्था मे सहायक हो जाता है । जैसे 'वटवृक्ष: रौति' और 'वटवृक्ष. स्वादुफल:, आरुह्यताम्' इन दोनो वाक्यों मे वाक्यार्थ ही शब्दार्थ के प्रविभाग मे हेतु है । 'केशान् वपति' और 'केशान् नमस्यति' दोनो वाक्यों मेभी शब्दार्थ का अवच्छेदक वाक्य ही है । 'कटं करोति, भीष्ममुदार दर्शनीयम्' इस वाक्य मे द्वितीया विभक्ति कट, भीष्म, उदार, दर्शनीय सभी शब्दो मे है । क्योकि करोति क्रिया से सबका पृथक्-पृथक् सम्बन्ध है । बाद मे विशेषण-विशेष्यभाव हो जाता है । कट विशेष्य है और भीष्म, उदार आदि विशेषण है । यहां यद्यपि द्रव्य और गुण दोनों के साथ क्रिया का सम्बन्ध है किन्तु ईप्सिततम द्रव्य है इसलिए क्रिया

१. वाक्यपदीय २।३१६

का सम्बन्ध केवल द्रव्य से होना चाहिए। गुण से नहीं होना चहिए। इस आधार पर द्वितीया विभक्ति केवल कट शब्द से होनी चाहिए। भीष्म आदि शब्द से नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर है कि यद्यपि भीष्म आदि मे स्वयं कर्मता नहीं है किन्तु वे विशेष्य के सम्बन्ध से द्वितीया विभक्ति के पात्र हैं क्योकि उसके साथ उनका एकयोग क्षेम है, सामानाधिकरण्य है। केवल प्रातिकपदिक का प्रयोग हो ही नही सकता। जैसे राजा का सखा स्वयं निर्धन भी हो फिर भी राज-धन से धन का फल प्राप्त करता है, वैसे ही गुण भी द्रव्य के धर्म से तद्रूप होते है। अतः भीष्म आदि से द्वितीया विभक्ति सिद्ध होती है। अथवा द्रव्य निर्गुण नही हो सकता, गुण भी बिना आधार के नहीं रह सकते, इसलिए आकाक्षा आदि के आधार पर उनमे वाक्यीय सम्बन्ध सामानाधिकरण्य के रूप मे स्थापित हो जाता है। फलत भीष्म गुण युक्त कट का करना ही अभिप्रेत वाक्यार्थ होता है। इस तरह यहा शब्दार्थ निर्णय वाक्य की पर्यालोचना पर निर्भर है।

प्रकरण· प्रकरण स्वय अशब्द होता है फिर भी शब्दार्थ निर्धारण मे सहायक होता है। जैसे सैन्धव शब्द का युद्ध के प्रकरण मे अश्व अर्थ होता है, भोजन के प्रकरण मे लवण अर्थ हो जाता है। व्याकरणशास्त्र मे भी 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' २।३।१८ सूत्र मे, कारक के अधिकार क्षेत्र मे होने के कारण, करण शब्द से क्रिया का ग्रहण अभिप्रेत नही होता। इसी तरह 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्य. करणे' ३।१।१७ सूत्र मे, धातु-अधिकार के कारण, करण शब्द से क्रिया की प्रतीति होती है।

अर्थ : अर्थ शब्द से सम्बद्ध होने के कारण शब्दार्थ निर्णय मे हाथ बटाता है। जैसे अञ्जलिना जुहोति, अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठते, अञ्जलिना पूर्णपात्र हरति। इन वाक्यो मे जुहोति आदि शब्द के अर्थवश अजलि शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ भासित हो जाते हैं। व्याकरण शास्त्र मे भी पूरणगुण सुहित० २।२।११ सूत्र मे अर्थ ग्रहण के बल से गुण शब्द से अदेङ् का ग्रहण नही होता। इसी तरह न शशादद्वादिगुणानाम् ६।४।१२६ सूत्र मे अर्थ के सामर्थ्य से परतत्र आश्रयी शुक्ल आदि का ग्रहण नही होता। काव्य प्रकाश के टीकाकारो ने अर्थ शब्द का अर्थ प्रयोजन माना है जो सगत नही है। प्रकरण और अर्थ मे भेद यह है कि प्रकरण अशब्द होता है उसमे प्रयोगदर्शन से प्रतिपत्ति होती है। अर्थ शब्दवान् होता है उसमे श्रुत्यनुपातिनी प्रतिपत्ति होती है।

औचित्य : (औचिती)—भर्तृहरि ने औचित्य शब्द का व्यवहार किया है। उन्होंने इस प्रसग मे जो कारिका (संसर्गो विप्रयोगश्च···) उद्धृत की है उसमे औचिती शब्द है। दोनो समानार्थक ही होगे। औचित्य (औचिती) के द्वारा भी अर्थ की व्यवस्था की जाती है। किन्तु औचित्य अथवा औचिती का क्या अभिप्राय है? भर्तृहरि ने औचित्य शब्द का प्रयोग संभवत· ऐसे वाक्यो के लिए किया है जिनसे निन्दा और प्रशंसा दोनो अर्थ झलकते हो। उन्होने उपर्युक्त कारिका की अपनी वृत्ति मे लिखा है :

औचित्यादपि व्यवस्था। तद् यथा राक्षसो
दस्युः भद्रमुखइति। विपर्ययेण निन्दा प्रशसा वा गम्यते।

राक्षस दस्यु भद्रमुख है—इस वाक्य से निन्दा अथवा प्रशसा ध्वनित है।

पुनः श्रौचिती पर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है :

श्रौचिती केषांचित् प्रयोक्तृणां निन्दाप्रशंसादिषु किंचिदुचितं भवति, भद्रमुख वास्या राक्षसादिव (दस्यु राक्षस इव), वणिजां च वाराणसीं जित्वरीत्यु-पचरन्ति (वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति)। श्रौचित्यादेव रामस-दृशोऽयमर्जुनसदृश इति प्रयोक्तृभेदादर्थविशेष प्रतिपत्तिः।[२]

इस वक्तव्य से भी भर्तृहरि के मत मे श्रौचित्य का सम्बन्ध निन्दा प्रशंसा से है। श्लोकवार्तिककार ने वाराणसी को व्यापारियों द्वारा जित्वरी नाम देने का उल्लेख किया है।[३] कैयट आदि ने जित्वरी शब्द को मंगल के अर्थ मे लिया है, मंगलार्थं वाराणसी को जित्वरी कहते थे अथवा उनके लिए वाराणसी मंगलार्था थी। संभवतः जित्वरी शब्द देशी शब्द था और इसका अर्थ निन्दात्मक था। दोनों तरह से यहाँ श्रौचिती है। भद्रमुख शब्द भी संभवतः उभयात्मक था। भर्तृहरि ने श्रौचित्य का सम्बन्ध प्रयोक्ता से भी दिखाया है। प्रयोक्तृभेद से जहां अर्थविशेष की उपलब्धि होती है वहां भी श्रौचित्य है। 'यह राम सदृश है, यह अर्जुन सदृश है' जैसे वाक्य के प्रयोग करने वालों की दृष्टि से भी इन वाक्यो का अर्थ बदलता होगा, कही प्रशसात्मक, कही निन्दा-त्मकध्वनि निकलती होगी। अथवा राम और अर्जुन मे विशेष की प्रतिपत्ति होती होगी।

पुष्पराज के सामने भी श्रौचिती शब्द का कोई स्पष्ट अर्थ नही था। उन्होंने इसके कई अभिप्राय दिए हैं। उनके अनुसार, सीर (हल), असि (तलवार), मुसल शब्दो का क्रिया निरपेक्ष भी यदि प्रयोग किया जाय तो क्रमशः विलेखन (जोतना) युद्ध और अवहनन (कूटना) के रूप में अर्थ का बोध, समुचित क्रिया के आक्षेप से, शब्दार्थनिर्णय के रूप मे, हो जाता है। अथवा प्रष्ठ आदि शब्दो का प्रवृत्तिनिमित्त पुस् मे होने के कारण ये पुशब्द माने जाते हैं। इसमें निमित्त अग्रगामित्व आदि है। पुयोग के कारण स्त्रीत्व से इनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है, साक्षात् नहीं। पुयोगादा-ख्यायाम् ४।१।४८ सूत्र में प्रष्ठ सम्बन्ध को निमित्त रूप मे दिखाया गया है। अतः यहां निमित्त्त्व श्रौचित्य है।

अथवा नीचे लिखे श्लोक पर विचार कीजिए :

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा।
यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव सः॥

इस श्लोक में किन्हीं क्रिया पदो का उल्लेख नहीं है। कारकपद ही श्रौचित्य के आधार पर समुचित क्रियापदों का आक्षेप करा देते हैं और इस तरह से एक वाक्यार्थ सामने झलका जाते हैं जिसमे अवान्तर वाक्यो के अर्थों का समावेश रहता है और जो अप्रस्तुत प्रशंसा (अप्रस्तुत की प्रशसा के माध्यम से प्रस्तुत की निन्दा) का उदाहरण खड़ा कर देता है। जैसे, जो व्यक्ति नीम के पेड को टांगी (कुल्हाडी) से काटता है और जो इस पर गन्ध तथा माला चढ़ाता है सबके लिए वह, अपने दुस्त्यज स्वभाव के कारण, कटु ही है, उनको दुखी ही बनाता है। किसी व्यक्ति की नीच प्रकृति

---

२. वाक्यपदीय २।३१६, हरिवृत्ति, हस्तलेख
३. महाभाष्य ४।३।८४

को लक्ष्य करके यह श्लोक लिखा गया है। उसकी नीचता दिखाना ही यहां अभिप्रेत है। यह निन्दाभाव औचिती से गम्य है। यहां पुण्यराज भर्तृहरि द्वारा गृहीत औचिती के अर्थ का समर्थन कर रहे हैं। पुण्यराज ने व्याकरणशास्त्र में औचित्य को दिखाते हुए काशिका वृत्ति का एक उद्धरण दिया है :

शास्त्रे यथा पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८ इत्यत्रोक्तं पुंसि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य संभवात् पुमाख्या एते इति।

औचित्य अथवा औचिती का अर्थ भोजराज तथा मम्मट के समय तक अवश्य कुछ बदल चुका था। स्तुति-निन्दा वाला मूल अर्थ ओझल हो चुका था। भोज ने औचित्य के ये उदाहरण दिए हैं—

औचित्याद् यथा करभोरु, शिखरिदशना, पुण्डरीकमुखी। उपमेयौचित्यात् करभादिशब्दैः धनु.कोटिकुन्दकुड्मलकमलानि प्रतीयन्ते। न उष्ट्राचलाग्रछत्राणि।[४]

भोज का अभिप्राय यह है कि करभ शब्द का अर्थ धनु कोटि और ऊंट दोनों हैं। करभोरु कहने पर औचित्य के बल पर धनुःकोटि अर्थ निश्चित हो जाता है। इसी तरह शिखरिदशना में शिखरि का अर्थ पर्वत की चोटी न होकर, कुन्दकली है। पुण्डरीकमुखी में औचित्य से पुण्डरीक का अर्थ कमल है, क्षत्रक नहीं है। अन्यत्र भी भोज ने औचित्य के उदाहरण में लिखा है :

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।
आसञ्जयामास यथा प्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्॥ —रघुवंश ६।८३
अत्र अङ्गनारूपौचित्यात् करभशब्देन धनुःकोटिग्रहणं विधीयते, नोष्ट्रावयव इति।[५]

मम्मट ने औचित्य का उदाहरण दिया है: **पातु वो दयितामुखमिति सांमुख्ये।** इसके अर्थ में टीकाकारों में मतभेद है। नरसिंह, भास्करसूरि, भट्टगोपाल, सोमेश्वर आदि पातु क्रिया के अनेक अर्थ दिखाकर एक में नियंत्रित करते हैं। गोविन्द ठक्कुर, विद्याचक्रवर्ती, नागेश आदि ने मुख शब्द के अनेक अर्थ देकर उसका सामुख्य अर्थ में औचित्य दिखाया है। काव्यप्रकाश के किसी टीकाकार का ध्यान ऊपर उद्धृत 'यश्च निम्बं परशुना' श्लोक पर अवश्य गया था किन्तु इसमें औचित्य वह ठीक से नहीं दिखा सका था।[६] किसी भी प्रसिद्ध टीकाकार ने औचित्य के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है। सब ने उसे उचित-सम्बन्ध के रूप में ही लिया है। किन्तु इस रूप में लेने पर सामर्थ्य से औचित्य का भेद बताना कठिन है। गोविन्द ठक्कुर का ध्यान इस प्रश्न पर गया था किन्तु उनका उत्तर संतोषजनक नहीं है :

---

४. शृंगार प्रकाश, पृ० ३२७

५. शृंगार प्रकाश, अध्याय २७, हस्तलेख, मल्लिनाथ ने यहां करभ शब्द का अर्थ हथेली का किनारा माना है।

६. अत्रपरशुनेत्यस्य परशुकरणकच्छेदनपरत्वम्। मधुसर्पिः शब्दस्य तत्कारणकसेचनपरत्वम्। गन्धमाल्याभ्यामि.यस्य तत् कारणकपूजार्थत्वमाहुः।
वामनझलकीकर, काव्यप्रकाश टीका पृ० ६६

यद्यप्यत्रापि सामर्थ्यं संभवत्येव तथापि मधुनेत्यत्र तृतीययैव तद्बोधाभावेऽप्यौचितीमात्रज्ञानादेव शक्तिनियमनमसंकीर्णमिति ।[७]

देश—अर्थव्यवस्था देश से भी होती है। जैसे 'मथुराया: प्राचीनादुदीचीनात् नगरादागच्छति' ऐसा कहने पर नगरविशेष पाटलिपुत्र का बोध होता है। भर्तृहरि के समय में कुछ लोग देश शब्द से देशविशेष का अर्थ नहीं करते थे। उनके मत मे संभवतः देश सम्बन्धी औचिती का अभिप्राय यह था कि किसी स्थान में कोई शब्द प्रशंसा वाचक है, अन्य स्थान मे वही शब्द उससे भिन्न अर्थ मे व्यवहृत हो सकता है। सभवत: गौड़ शब्द ऐसा ही था। कम्बोज मे शवति का प्रयोग गति अर्थ मे था, आर्यावर्त मे इसका सम्बन्ध निर्जीव से था। भोज ने भी देश भेद से अर्थभेद माना है और उदाहरण दिया है : हरि: अरण्ये। हरि: द्वारिकायाम्। हरि: अमरावत्याम्। यहाँ स्थान-भेद से हरि शब्द का क्रमश: सिंह, विष्णु (कृष्ण) और वासव अर्थ निश्चित हो जाता है।

काल : शब्दार्थ के व्यवच्छेद मे काल भी सहायक है। शिशिर काल मे द्वारं कहने से दरवाजे बन्द करने का भान होता है। ग्रीष्म काल मे द्वारं शब्द से दरवाजे खोलने का अर्थ भासित होता है। भर्तृहरि के समय मे दक्षिणापथ के किसी एक प्रदेश मे पूर्वाह्ण मे पच्यताम् कहने से वपा मिश्रित विक्लेदनमय यवागू पाक का बोध होता था, सध्या के समय पच्यताम् कहने पर ओदन प्रधान पाक का बोध होता था। कुछ लोग इसे काल का उदाहरण न मान कर प्रकरण के भीतर गृहीत करते थे। जागृहि जागृहि ऐसा दिन में कहने पर जागर्ति का अन्य अर्थ होता था और रात मे कहने पर उससे भिन्न अर्थ होता था। रात्रि मे पतग शब्द कहने पर शलभ द्योतित होता था, सूर्य नही।

ससर्ग, विप्रयोग आदि का विवरण भर्तृहरि ने शब्द के नानात्व पक्ष और एकत्व पक्ष को सामने रखकर दिया है। नानात्वपक्ष मे शब्द की तुल्यश्रुति होने पर भी वे स्वभावतः भिन्न-भिन्न माने जाते है। किन्तु शब्द रूप अभिन्न रहता है। ऐसी दशा मे उनके अर्थ के अवच्छेद के लिए ससर्ग आदि का आश्रय लिया जाता है। एकत्व पक्ष मे अर्थ के अभिधान मे शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं किन्तु श्रुति सारूप्य के कारण विभागप्राप्त नही होती है। निमित्त के आधार पर विशेष रूप मे उनका अवच्छेद किया जाता है।

किसी आचार्य के मत मे शब्दार्थ का अवच्छेदक केवल एक तत्त्व है और वह सामर्थ्य है। अर्थ, प्रकरण आदि के आधार पर जिसका स्वाभाविक भेद ज्ञात होता है वह भी सामर्थ्य ही है। उसी सामर्थ्य का संसर्ग, विप्रयोग आदि रूप मे विभाग किया जाता है।

संसर्ग : संसर्ग के आधार पर सामर्थ्य का विभाग होता है। 'धेनुः आनीयताम्' इस वाक्य से धेनु लाने की प्रतीति तो होती है किन्तु विशेष धेनु की प्रतीति नही

७. काव्यप्रकाश, प्रदीप, पृ० ६५ (आनन्दाश्रम)

होती। किन्तु यदि 'सकिशोरा धेनुः आनीयताम्' कहा जाय तो किशोर शब्द के संसर्ग से धेनु का अर्थ घोड़ी (वडवा) हो जाता है। यहाँ संसर्ग अभेद ज्ञान का निमित्त है। किशोर शब्द घोडे के बछडे के लिए प्रयुक्त होता है। उसके संसर्ग से धेनु का द्रोणघ्री विशेष में—वडवा मे—संप्रत्यय होता है। इसी तरह सवत्सा धेनु से गाय का, सवर्करा से बकरी (अजा) का, सकरभा धेनु से ऊटनी का बोध होता है। क्योंकि वत्स, वर्कर, करभ शब्द क्रमशः गाय के बछडे, बकरी के बच्चे और ऊट के बच्चे के लिये प्रयुक्त होते हैं।

'कृष्णकिशोरा धेनु' मे जैसे किशोर शब्द धेनु का विशेषाधायक है, वैसे ही धेनु शब्द किशोर के अर्थ का अवच्छेदक क्यो नही होता। भर्तृहरि के अनुसार वत्स, किशोर आदि शब्द विशेषण के रूप मे अवच्छेदक हो जाते हैं। कृष्णधेनुक किशोर के रूप मे प्रतिपत्ति नही देखी जाती।

जो लोग धेनु शब्द को गाय के अर्थ मे ही रूढ मानते हैं उन्हे ऐसे वाक्यों मे संसर्ग मे विशेष सप्रत्यय के रूप मे केवल धर्म मात्र की विवक्षा अभिप्रेत रहती है। जैसे, तदस्य परिमाणम् ५।१।५७, सख्यायाः संज्ञासघसूत्राध्ययनेषु ५।१।५८। यहाँ पञ्च एव पञ्चका शकुनय मे स्वार्थ मे प्रत्यय माना जाता है, प्रत्यय विशेष का सप्रत्यय नही कराता है। सस्कृत मे दस तक की संख्या संख्येय के अर्थ मे व्यवहृत होती है, केवल सख्यान के लिए नही व्यवहृत होती हैं। दस के बाद की सख्याएँ संख्यान और सख्येय दोनो के लिए आती है। इसलिए पञ्च शब्द से जो पक्षी वाच्य है वे ही पञ्चक शब्द मे भी वाच्य हैं। इसीलिए परिमाणपरिमाणिभाव के न होने के कारण स्वार्थ मे ही प्रत्यय-विधान माना जाता है। कैयट के अनुसार यदि पञ्च आदि संख्याओ का, वृत्ति के विषय मे, सख्यामात्र में शक्ति मानी जाय, परिमाणापरिमाणि-भाव के आश्रय से भी प्रत्यय विधान सभव है। स्वयं पाणिनि ने द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ सूत्र मे द्वि और एक शब्द का द्वित्व और एकत्व मानकर ही इन शब्दो का निर्देश किया है। सख्येयार्थपरक मानने पर 'द्वयेकेषु' ऐसा होना चाहिए था।[८]

भर्तृहरि ने संसग के शास्त्रीय उदाहरण मे पाणिनि का अवाद् ग्र. १।३।५१ सूत्र उद्धृत किया है। गृ धातु दो है। एक गृ निगरणे तुदादिगण मे है। दूसरी गृ शब्दे क्र्यादि गण मे है। यहा अव उपसर्ग के ससर्ग से गृ निगरणे का ही ग्रहण होता है और अवगिरते प्रयोग बनता है। गृ शब्दे के साथ अव उपसर्ग का प्रयोग नही देखा जाता। इसलिए उसका ग्रहण नही होता। अथवा, अर्थविरोध के कारण गृणाति के साथ अव का योग उपपन्न नही होता। फलत, अव के ससर्ग से गृ धातु का गृ निगरणे के रूप में निर्णय किया जाता है.

मम्मट ने संसर्ग के स्थान पर संयोग पढा है।

विप्रयोग—ससर्ग की तरह विप्रयोग भी शब्दार्थ निर्धारण में हेतु माना जाता है। निर्ज्ञात सम्बन्ध का वियोग से व्यपदेश देखा जाता है। जैसे 'अकिशोरा धेनु.

---

८. कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।१।५८

अकरभा अवकरा वा आनीयताम्', इस वाक्य में किशोर आदि के विप्रयोग से विशिष्ट-जाति के धेनु का बोध होता है। जिसके साथ बराबर संबंध देखा गया है, उसके बिन ा भी उसी का ग्रहण होता है। व्याकरणशास्त्र में भी भुजोऽनवने १।३।६६ सूत्र में जिस भुज् धातु का अशन (अवन) और अनवन (अपालन) दोनों अर्थ होता हो उसी का ग्रहण किया जाता है।[९] तुदादिगण पठित कौटिल्य अर्थ वाले भुज धातु का ग्रहण नहीं किया जाता। फलतः 'निभुजति जानुशिरसी' में आत्मनेपद का प्रयोग नहीं होता।

साहचर्य : अर्थ का अवच्छेद साहचर्य से भी होता है। शिला आनीयतां गन्ध-द्रव्याणि च। शिला आनीयन्ता स्तम्भाश्च। शिला आनीयतां गदाधनुषी च। इन वाक्यो में शिला शब्द क्रमशः सिल' सिली (काठ) और शास्त्र का बोधक है। रामलक्ष्मणौ, राम-केशवौ, युधिष्ठिरार्जुनौ जैसे शब्दो में क्रमश राम, बलराम और पाण्डुपुत्र अर्जुन का बोध लक्ष्मण, केशव और युधिष्ठिर शब्द के साहचर्य से होता है। अतः साहचर्य भी विशेषाधायक है। राम शब्द के कई अर्थ हैं, वह व्यभिचरित शब्द है। लक्ष्मण शब्द का एक ही अर्थ है, वह अदृष्टव्यभिचार है। अदृष्टव्यभिचार दृष्टव्यभिचार का अवच्छेदक साहचर्य के बल पर हो जाता है :

> **यद्यप्येको दृष्टिव्यभिचार । तथापि अदृष्टव्यभिचारो दृष्टव्यभिचारस्य साह-चर्यात् तुल्यधर्मतां प्रतिपादयति ।**[१०]

व्याकरणशास्त्र में भी विपराभ्या जे. १।३।१९ सूत्र में वि और परा शब्द, साहचर्य के आधार पर, उपसर्ग माने जाते हैं। यहाँ परा शब्द दृष्टापचार है, वह उपसर्ग भी है, अनुसर्ग भी है। विशब्द अदृष्टापचार है, वह उपसर्ग ही है।[११] इस-लिए उपसर्ग का उपसर्ग सहायक हो जाता है।

> **तद् यथा गोर्द्वितीयेनार्थ इति गौरेवोपादीयते। नाश्वो न गर्दभ इति।** [१२]

लोक में द्वितीय शब्द कहने पर जिसकी अपेक्षा से द्वितीय शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसके तुल्यजातीय का ही ज्ञान कराता है। गो द्वितीय कहने से गौः (बैल) का ही ग्रहण होता है, अश्व अथवा गर्दभ का नही होता। इसी तरह 'अन्तरान्त-रेण युक्ते' २।३।४ सूत्र में अन्तरा और अन्तरेण दोनों शब्द साहचर्य के आधार पर निपात रूप में गृहीत होते हैं। गोविन्द ठक्कुर ने साहचर्य का अर्थ सहचरता किया है। नागेश इससे सहमत नही है। उनके अनुसार साहचर्य का अर्थ यहा सादृश्य है। किसी

---

९. महाभाष्य में 'यस्य भुजेरवनमनवनं च चार्थः' ऐसा पाठ है। भर्तृहरि की वृत्ति में यहां 'यस्य भुजेरनवनं चाशनं चार्थः' पाठ है। अवन पाठ शुद्ध है।

१०. वाक्यपदीय २।३१७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

११. बहुविजयति वनम्—यहां विशब्द उपसर्ग है किन्तु जहत् स्वार्थावृत्तिपक्ष में अनर्थक है। अजहत् स्वार्थपक्ष में भी उसके अर्थ के उपसर्जन होने से उसका ग्रहण नहीं होगा। सम्बोधनान्त वे का, रूपान्तरयुक्त होने के कारण ग्रहण नहीं होता। एकदेशविकृति के आधार पर वे को वि नहीं माना जा सकता क्योंकि वे विभक्त्यन्त वि का विकार है न कि विशब्द का।

कैयट, प्रदीप ३।१।१९, पुण्यराज २।३१७

१२. महाभाष्य १।३।१९

के मत में साहचर्य प्रत्यासत्ति का उपलक्षण है।

विरोध : विरोध से भी अर्थ का अवधारण होता है। रामर्जुनौ कहने से अर्जुन पद के सन्निधान से विरोध के आधार पर, राम शब्द का परशुराम अर्थ निश्चित हो जाता है।

लिङ्ग : वाक्यान्तर में दृष्ट लिङ्ग से प्रसिद्ध भेद का अनुमान कर लिया जाता है। जैसे 'अक्ता. शर्करा उपदधाति' इस वाक्य में 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्य के बल से शर्करा का घृत द्वारा आक्तत्व सन्निधापित होता है। अजन क्रिया का कर्म शर्करा और साधन घृत है। इसी तरह 'पशुमालभेत' इस वाक्य से पशुत्व युक्त सभी प्राणियो की सभावना होने पर 'छागस्य हविषो वपाया मेदस' इस लिङ्ग बल से केवल छाग समवायी पशुत्व प्रतीत होता है। इन वाक्यों मे बाध नही है। यदि घृत से अक्त अनक्त होते, यदि छाग पशु न होता तो बाध उपस्थित होता। सामान्य मे न्यूनाधिक भाव नहीं होता। वह ज्यो का त्यों रहता है। लिङ्ग के बिना भी शब्द का वाच्य अर्थ जितना होता है, लिङ्ग केग्रहण होने पर भी वह उतना ही रहता है। केवल यही अन्तर होता है कि लिङ्ग के उपादान से शब्दान्तर वाच्य का अर्थान्तर मे अध्यारोप होता है। किसी अर्थ के अभिधान से जितने अर्थान्तर सभव है वे सब शब्द के अर्थ नही हैं तो फिर पशु शब्द का अवच्छेद (निर्धारण) नही होगा। पशु शब्द की पहले पशु और पशुत्व दोनो मे वृत्ति है। छागआदि भी पहले शब्दार्थ को न बाधित करते हुए स्वार्थ मात्र कोलक्ष्य में आरोपित करते हैं। यह ठीक है। किन्तु समवायी विशेषण सभव न हो सकेंगे। इसलिए शब्द व्यापार के न होते हुए भी, बाधाकुल होने के कारण, अवच्छेद मान लिया जाता है। अथवा पहले अर्थ का स्वरूप संसर्ग से अविशिष्ट रूप मे ही सम्बद्ध होता है। दूसरे पद के सान्निध्य से उसमें विशेषता आ जाती है। यदि ससर्गज भेद से शब्द में कोई विशेषता न मानी जाय, सन्निधानमात्र के अशब्द होने से अर्थ भी अशब्द मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा होता नही है।[13] शास्त्र में लिङ्ग का उदाहरण अण् प्रत्याहार का परणकारक तत्व होना है। उऋँत् ७।४।७ मे तपरकरण लिङ्ग से परणकार तक का निश्चय होता है।

शब्दान्तर सन्निधान : अर्थ विशेष की अवगति दूसरे शब्द के सन्निधान से भी होता है। जैसे अर्जुनः कार्तवीर्य, रामो जामदग्न्य। कार्तवीर्य और जामदग्न्य शब्द के संन्निधान से अर्जुन और रामशब्दका विशेष अर्थ स्पष्ट हो जाता है। शास्त्र मे 'अक्षस्य देवनस्य' 'अर्द्धस्य समद्योतनस्य' में अक्ष और अर्द्ध का अर्थ शब्दान्तरसन्निधान से स्पष्ट है। भर्तृहरि ने शब्दान्तर योग के उदाहरण में अग्निः माणवकः, गौ वाहीकः का भी उल्लेख किया है। साथ ही अवच्छेद की एक दार्शनिक पीठिका भी दी है। बुद्धि मे सब

---

१३. पूर्वं वा अर्थरूपः संसर्गेणाविशिष्टमेव प्रक्रान्तः। तस्य पदान्तरसन्निधानाद् विशेषो व्यज्यते। यदि हि ससर्गजो भेदः शब्दे नानुपगृहीतः स्यात् सन्निधानमात्रस्याशब्दत्वाद् अशब्दोऽर्थः प्रतिसज्येत्—वाक्यपदीय २।३१८ हरिवृत्ति, हस्तलेख। (यहां की भर्तृहरि वृत्ति के हस्तलेख में पाठ में व्यतिक्रम जान पड़ता है।)

तरह के अर्थ समाविष्ट हैं उनमें से कुछ का निर्धारण (पृथक्करण) इन्द्रियों द्वारा होता है। इन्द्रिय जिसकी अभिलाषा रखती है उसे ही पकड़ती है। इन्द्रिय की भी सर्वार्थ इच्छा अर्थ सम्बन्ध आदि के द्वारा नियमित होती है। किन्तु शब्द कभी युगपत् अनेक अर्थ का प्रत्यायक होता है, जैसे, श्वेतो धावति, अलम्बुसानां याता (वाक्यपदीय २।२५२ हरि-वृत्ति, हस्तलेख)।

सामर्थ्य : सामर्थ्य से भी अर्थविशेष की प्रतिपत्ति होती है।

अवहननकृतो नाशो वाजिनः कार्मुकस्य वा—इसमें किसी ने सामर्थ्य माना था। कुछ लोग यहां अर्थ का निदर्शन मानते हैं। कुछ अन्य आचार्य सामर्थ्य का उदाहरण 'अनुदरा कन्या' में मानते हैं। यहां पर सामर्थ्य से उदरविशेष की प्रतिपत्ति गम्य है। इसी तरह 'अभिरूपाय कन्या देया' वाक्य से सामर्थ्यवश 'अभिरूपतराय कन्या देया' इस रूप में अर्थविशेष का आभास होता है। शास्त्र में भी 'प्रथमा निर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' १।२।४३ सूत्र में समास शब्द की प्रवृत्ति समासार्थ शास्त्र में मानी जाती है। 'एक विभक्ति चापूर्वनिपाते' १।२।४४ सूत्र में जिस समास शब्द का अनुमान किया जाता है उसकी समास में प्रवृत्ति प्राथमकल्पिक ही मानी जाती है। इसी तरह 'अकर्म-काणा (विभक्त्यर्थानाम् ?) सरूपे' में सामर्थ्यवश कुछ कर्म और कुछ सारूप्य गृहीत होते हैं।

व्यक्ति : लिङ्ग की पूर्वाचार्य संज्ञा व्यक्ति है। व्यक्ति भी अर्थ निर्धारण में हेतु होता है जैसे 'ग्रामम्यार्धं लभते' इस वाक्य में अर्ध शब्द नपुसकलिंग में है। नपुसक-लिंग वाले अर्ध शब्द का अर्थ समप्रविभाग है। अतः लिंग के बल से यहां ग्राम का आधा अर्थ स्फुट हो जाता है। पद्म पद्म. में भी लिङ्गभेद से अर्थभेद है।

स्वर : स्वर भी अर्थविशेष का ज्ञान करा देते हैं। 'स्थूलपृषतीमालभेत' वाक्य में अन्तोदात्त स्वर के श्रवण होने के कारण स्थूला चासौ पृषती च इस रूप में अर्थ की प्रतीति होती है। पूर्वपदप्रकृतिस्वर यदि दिखाई दे तो 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याम्' इस रूप में अन्य पदार्थ की प्रतीति होती है। इसी तरह वैपाशः कूपः में आदि उदात्त के होने के कारण विपाशा के उत्तर के कूप रूप में विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है और अन्तोदात्त के श्रवण पर विपाशा नदी के दक्षिण के कूप की प्रतीति होती है।[१४]

आदि पद से सत्व, णत्व आदि भी लिए जाते हैं। ये भी अर्थविशेष के परि-ज्ञान में सहायक होते हैं. सुसिक्तम् अतिस्तुतम्, शब्दों में सु और अति कर्मप्रवचनीय हैं और पूजा तथा अतिक्रमण के अर्थ में है। उपसर्ग न होने से, और कर्मप्रवचनीय होने से वे अपने कर्मप्रवचनीय वाले अर्थ के द्योतक हैं। सुषिक्तम्, सुष्टुतम् शब्दों में सु उपसर्ग है, इसलिए स का मूर्धन्य आदेश है और अर्थान्तर की उपलब्धि होती है। न और ण के विधान भी अर्थ-परिच्छेद में सहायक होते हैं। प्रनायक और प्रणायक के अर्थ में भेद है। प्रनायक का अर्थ होता है वह देश जिसमें नायक चला गया हो। प्रणा-

---

१४. गौप्तः कूपः (गुप्त द्वारा निर्मित कूप) में वर विशेष पर ध्यान दिलाना पाणिनि की महती सूक्ष्मेक्षिका मानी जाती है। महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य—काशिका ४।२।७४

यक शब्द से प्रणयन क्रिया के कर्ता की प्रतीति होती है।

नागेश ने वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्य प्रतिभादि को भी अर्थ निर्णय में सहायक माना है (मंजूषा पृ० ११२)।

संदेह के निराकरण के लिए अथवा नियत अर्थ के परिज्ञान के लिए उपर्युक्त प्रकरण आदि काम मे लाए जाते हैं।

भेद पक्ष मे भी भिन्न-भिन्न अर्थ के होते हुए भी सादृश्य से अभेद की दशा में प्रकरण आदि का सहारा लिया जाता है। जो लोग शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध मानते है उनके लिए भी अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग आदि के बल से संदेह निवारण पूर्वक अन्य की अभिव्यक्ति प्रतिपत्ता को होती है। अर्थान्तर से सम्बद्ध का अर्थान्तर मे संक्रमण देखा जाता है·

येषां रूप ·····र्थैन नित्यसम्बन्धा लोके व्यवस्थिता इति दर्शन, तेषामर्थ-प्रकरणादिभि. सन्दिग्धाभेदास्तं प्रतिपत्तारं प्रति प्रकाश्यते। न त्वेकस्य शब्दस्यार्थान्तरयोर्नित्वान्नस्यर्थान्तरे संक्रान्तिरिति।[१५]

जहा नाम पद और आख्यात पद सदृश होते हैं, वहा भी संदेह निवारण के लिए प्रकरण आदि की अपेक्षा होती है। केवल स्वरूप के आधार पर कार्यान्तर निबन्धन (कार्योत्साहनिबन्धन) सदृश शब्दो का अर्थ-निर्णय नही हो सकता :

नामाख्यातसरूपा ये कार्यान्तर (कार्योत्साह) निबन्धनाः।
शब्दवाच्याश्च तेष्वर्थो न रूपादधिगम्यते ॥[१६]

जैसे अश्व और अश्व. शब्द हैं। इनमे एक अश्व शब्द नाम शब्द है। दूसरा अश्व शब्द टुओश्वि धातु के लङ् लकार मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। इसी तरह से अजापय अजापय शब्द है। एक अजापय शब्द बकरी के दूध के लिए नाम शब्द है दूसरा अजापय शब्द जि जये धातु से अजेय के जितने वाले प्रेरक की अर्थविवक्षा मे किसी तरह निष्पन्न होता है। यहां सादृश्य से संदेह होने पर प्रकरण के आधार पर अर्थ निर्णय किया जाता है। आख्यात सरूप भी नामपद होते हैं। तेन, तेन। तेन शब्द तनु विस्तारे धातु के लिट् लकार मध्यमपुरुष का एकवचन का रूप है। तेन सर्वनाम भी है। तस्य और यस्य की भी कुछ ऐसी कहानी वैयाकरण बताते हैं। भर्तृहरि ने नाम और आख्यात के सारूप्य निर्देशक शब्दो की एक छोटी सूची दे दी है। घातम् घातम्। अरुण: अरुण:। श्याम श्याम। अस्या: अस्या:। आचितम् आचितम्। अश्व: अश्व। सम सम। हाल हाल:। दुहिता दुहिता।

ऐसे शब्दो मे जिनकी स्वरूपनिबन्धना प्रवृत्ति होती है, उनके लिए अर्थ, प्रकरण आदि के बल से प्रविभागकल्पना की जाती है।

---

१५. वाक्यपदीय। ३२६१ हरिवृत्ति, ह तलेख

१६ वाक्यपदीय २।३२०

१७. पदा॰धारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः।
क्रमन्यूनातिरिक्तत्व स्वर वाक्य स्मृति श्रुतिः॥ —श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण १८१

पद अवधारण के उपाय

वाक्य की भांति पद-अवधारण के भी कुछ उपाय सोच लिए गये थे। कुमारिल ने उनमें क्रम, न्यून, अतिरिक्त, स्वर, वाक्य, स्मृति और श्रुति का उल्लेख किया है।[१७]

क्रम भेद से पद भेद होता है। जैसे रस और सर में वर्णसाम्य है किन्तु वर्णों के क्रम में भेद होने से रस और सर भिन्न-भिन्न पद हैं। इसी तरह राजा और जार में क्रमभेद पद अवधारण का उपाय है। कर और करज, गौः और गोमान् में वर्णों का न्यून और अतिरिक्त भाव अवधारक है। 'इन्द्रशत्रुः' मे स्वर के आधार पर तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि रूप में निर्णय किया जाता है। वाक्य भी पदावधारण मे सहायक होता है। वाक्य से यहां अभिप्राय पदान्तर समभिव्याहार से है। 'सा रङ्गमागता नर्तकी' में रंग के समभिव्याहार से सा का अवधारण नर्तकी से होता है। 'पचते देहि' इस वाक्य में पचते क्रिया न होकर नाम है। इसका निर्णय अन्य पद के समभिव्याहार से हो जाता है। 'अश्वः गच्छति' में अश्व शब्द नामपद है, क्रियापद नहीं है। मनुष्यत्व के समान होते हुए भी 'सोम शर्मा का पुत्र आ रहा है' इस वाक्य से ब्राह्मणत्व की स्मृति जगती है। ऐसी स्मृति भी अवधारण में सहायक होती है। 'उद्‌भिदा यजेत' जैसे स्थलों मे उद्‌भिनत्ति अथवा उद्‌भेदयति इस रूप मे संदेह होने पर उद्‌भिदा में तृतीया विभक्ति के आधार पर भावनाकरणक यज् के साथ सामानाधिकरण्य के सहारे उद्‌भेदयति (प्रकाशक) के रूप मे निर्णय किया जाता है। यह श्रुति है। अथवा 'परमे व्योमन्' जैसे स्थलों मे श्रुति से पदावधारण माना जाता है।

किसी आचार्य ने अवधारण को कुछ और व्यापक आधार दिया है। उनके मतमे व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्य शेष, विवृत्ति और सिद्ध-पद का सान्निध्य—ये आठ गृहीत हैं :

> शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानं कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
> वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा.।[१८]

---

१८. शब्दशक्ति प्रकाशिका, रामभद्री टीका, पृष्ठ १०३

१०

वृत्ति-विचार

पाणिनि ने समर्थ को पदविधि माना है। पतञ्जलि ने पदविधि के भीतर तीन विषयों को समेटा है—समास, विभक्ति विधान और पराङ्गवद्भाव।

समास पदविधि है। क्योंकि परिनिष्पन्न शब्दों के विधि से उसका सम्बन्ध है। समास संज्ञा भी है। समुदाय (संज्ञी) भी समास है। समास का मूल आधार विग्रह वाक्य है। जो विग्रह भी हो और वाक्य भी हो उसे विग्रह वाक्य कहा जाता है अथवा विशेष रूप मे ग्रहण को विग्रह माना जाता है। विग्रहार्थ वाक्य विग्रह वाक्य कहलाता है।

> **विग्रहश्च तद् वाक्यञ्चेति विग्रहवाक्यम्। अथवा विशेषण ग्रहणं विग्रह.। विग्रहार्थं यद्वाक्यं तद् विग्रहवाक्यम्। विग्रहवाक्यस्यार्थो विग्रहवाक्यार्थः।**
>
> न्यास २।१।१

सामान्यविहित विभक्तियो का कर्मणि द्वितीया २।३।२ आदि के द्वारा जो नियम किया जाता है उसे विभक्ति विधान कहा जाता है। इसी तरह ये पदविधि कहलाते हैं। यद्यपि एकवाक्यता के आश्रय से विभक्तियो का विधान होता है, फिर भी पदान्तर सम्बन्ध से जिन विभक्तियों का विधान होता है उनके आश्रय से भी पद-विधि रहता है। इसी आधार पर निरपि पद, विधिरपि पद कहा जाता है। विभक्ति से अवच्छिन्न होने के कारण विशिष्टविधानकर्म सामान्यविधानक्रिया का होता है। जैसा कि कहा जाता है :

सामान्यपुषेरवयवपुषि: कर्मेति।

पराङ्गवद्भाव तादात्म्यातिदेश का दूसरा नाम है। तत् स्वभावता का नाम तादात्म्य है। सुबन्त का आमंत्रित मे अनुप्रवेश को पाणिनि ने पराङ्गवत् माना है। मद्राणा राजन् आदि मे भी पराङ्गवद्भाव है।

उपर्युक्त तीनों पदविधि कहलाते है। नागेश ने पद-संपादक सभी विधि को पदविधि माना है :

> **केचित्तु पदोद्देशकः पदत्वसंपादको वा सर्वोपि पदसम्बन्धित्वात् पदविधिरेवेति वदन्ति।** —महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१

इस तरह समर्थ पदों के अथवा सम्बद्धार्थों के अथवा संसृष्टार्थों के विधि को पदविधि कहा जा सकता है। इनके भीतर समास, तद्धित आदि आ जाते हैं। इन्हें वृत्ति शब्द से भी कहा जाता है। परार्थ के अभिधान का नाम वृत्ति है (**परार्थाभिधानं वृत्तिः—महाभाष्य २।१।१**)। दूसरे शब्द का जो अर्थ होता है उसका जहा शब्दान्तर से अभिधान हो, वह वृत्ति है।

वृत्तिविचार सम्बन्धी वार्तिककार के कुछ विचार

पाणिनि के समर्थ पदविधि : २।१।१ सूत्र पर विचार करते हुए वार्तिककार ने एकार्थीभाव और व्यपेक्षा का सिद्धान्त स्थिर किया है।

पृथगर्थानामेकार्थीभाव. समर्थवचनम् २/१/१—१।

परस्पर व्यपेक्षां सामर्थ्यमेके २/१/१—४।

एकार्थीभाव उस वाद को कहते है जहा पद प्रधान अर्थ के लिए अपने अर्थ को गौण बना लेते हैं, अथवा छोड देते हैं, और इस तरह व्यर्थ हो जाते है, या अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। व्यपेक्षावाद मे यह माना जाता है कि पद परस्पर साकाक्ष होते हैं। उनमे एक दूसरे की आकाक्षा रहती है :

यत्र पदान्युपसर्जनीभूतस्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि, अर्थान्तराभिधायीनि वा स एकार्थीभाव । परस्पराकांक्षारूपा व्यपेक्षा । —महाभाष्यप्रदीप २/१/१

वार्तिककार ने पृथक्-पृथक् अर्थ वाले पदो के एकार्थीभाव होने को समर्थ माना है। वाक्य मे (विग्रहवाक्य मे) पद पृथक् पृथक् अर्थ वाले होते हैं जैसे, राज्ञः पुरुषः। यहां राज शब्द राजार्थ को ही व्यक्त करता है, पुरुष शब्द पुरुष के ही अर्थ को प्रकट करता है। वृत्ति (समास) मे पद एकार्थक होते है। जैसे राजपुरुषः मे राज शब्द भी पुरुष के ही अर्थ को कहता है, इस तरह दोनो पदों का एकार्थीभाव होता है। अथवा अवयवार्थ से युक्त समुदायार्थ अन्य ही प्रकट होता है। इस दृष्टि से एकार्थीभाव कहते हैं। जैसे जल और धूल मिल कर एक हो गये रहते हैं वैसी एकार्थीभाव मे पदार्थ एक से हो गए रहते हैं। वाक्य में पदो में पृथगर्थता होते हुए भी पदो के आकाक्षा-योग्यता वश विशेषणविशेष्यभाववश विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। वृत्ति मे भी विशिष्ट अर्थ भासित होता है। इससे यह नही कहा जा सकता कि वृत्ति और वाक्य मे नितान्त एकार्थता हैं। जिस तरह से ब्राह्मणाना शतं भोज्यताम् और शत ब्राह्मणा भोज्यन्ताम् इन दोनो वाक्यो से व्यवहारगत कार्य मे कोई भेद नही है—सौ ब्राह्मण खिलाये जाते है, परन्तु शब्दार्थ भिन्न-भिन्न हैं। वाक्य और वृत्ति मे भी यही बात है।

एकार्थीभावकृत विशेषता के लिए दो वाक्य महाभाष्य मे है जो कात्यायन के नही जान पडते परन्तु भाष्यकार ने उनकी व्याख्या वार्तिक की तरह की है। वे हैं—

१—सुबलोपो व्यवधानं यथेष्टमन्यतरेणाभिसम्बन्धः स्वर.।

२—संख्याविशेषो व्यक्ताभिधानमुपसर्जनविशेषणं च योगः ॥

अर्थात् विग्रह वाक्य मे विभक्ति का लोप नही होता। परन्तु समास मे सुप्

विभक्ति का लोप होता है। जैसे राज्ञः पुरुषः इस वाक्य मे राजन् शब्द के आगे की विभक्ति का लोप नही हुआ है। परन्तु राजपुरुषः इस समास मे विभक्ति का लोप हो गया है। पर कुछ ऐसे भी समास होते है, जिनमे विभक्ति का लोप नही होता। जैसे वर्षासुज. (इन्द्रगोप), गोपुचर (कुक्कुट)।

वाक्य मे उसके बीच मे दूसरा शब्द डाला जा सकता है। जैसे राज्ञः पुरुषः को राज्ञ. ऋद्धस्य पुरुषः कह सकते हैं। परन्तु समस्त पद के बीच मे कोई शब्द नही डाल सकते।

वाक्य के शब्दो को हम जैसे चाहे क्रम बदल कर रख सकते हैं। जैसे राज्ञ. पुरुष. को हम पुरुष राज्ञः ऐसा भी कह सकते है। परन्तु समास मे क्रम निश्चित रहता है। राजपुरुष हो कहेंगे, राजासम्बन्धी पुरुष के अर्थ मे पुरुषराज नही कह सकते।

कभी-कभी समास मे भी प्रयोग अनियमित रहता है। जैसे जातपुत्र· और पुत्र-जात दोनो तरह से कहते हैं।

वाक्य मे प्रत्येक पद का अलग-अलग स्वर (उदात्त) होता है। जैसे राज्ञः पुरुष. इसमे राज्ञ और पुरुष दोनो मे आदि उदात्तस्वर है। परन्तु समस्त पद मे एक ही उदात्तस्वर होता है जैसे राजपुरुष. मे अन्तोदात्त स्वर है।

कभी-कभी वाक्य मे भी एक स्वर दिखाई देता है जैसे तीक्ष्णेन परशुना वृश्चन् इस वाक्य मे है। और तवै प्रत्ययान्त वाला एक पद भी दो उदात्तस्वर वाला होता है। जैसे कर्तवै-एतवै आदि।

वाक्य मे सख्या विशेष का ज्ञान रहता है जैसे राज्ञः पुरुष., राज्ञो. पुरुष, राज्ञा पुरुष इनमे एकत्व, द्वित्व और बहुत्व स्पष्ट जान पड़ता है। समास मे संख्या का ठीक ज्ञान नही होता। राजपुरुष मे एकत्व, द्वित्व, बहुत्व सब छिपे हैं।

कभी-कभी विशेष स्थलो मे समास मे भी सख्या की प्रतीति होती है जैसे—द्विपुत्रः, पचपुत्रः, मासजातः। मासजात· मे एकत्वसख्या का ज्ञान होता है। द्विपुत्र. आदि मे संख्या का ज्ञान द्वि शब्द से होता है।

वाक्य मे लिंगविशेष का स्पष्ट ज्ञान रहता है। परन्तु समास मे उतना स्पष्ट नही होता। कुक्कुट्याः अण्डम्, कुक्कुटस्याण्डम् दोनो के लिए समास में कुक्कुटाण्डम् कहेंगे। ऐसे ही मृगमासम् मृगी और मृग दोनो के मांस के लिए।

कभी-कभी वाक्य मे भी लिंग की अविवक्षा देखी जाती है जैसे, छागस्य मासम् छाग और छागी दोनो के लिए व्यवहृत।

वाक्य मे कथन अपेक्षाकृत स्पष्ट रहता है। समास मे उतना स्पष्ट नही होता। जैसे ब्राह्मणस्य कम्बल· तिष्ठति। इसका अर्थ स्पष्ट है। परन्तु यदि ब्राह्मणकम्बलः तिष्ठति ऐसा कहे तो यह सदेह होता है कि ब्राह्मणकम्बल यह नाम है अथवा ब्राह्मण का कम्बल यह अर्थ है।

कभी-कभी समास मे वाक्य की अपेक्षा स्पष्टता अधिक होती है। जैसे अर्द्धं पशो. देवदत्तस्य की अपेक्षा अर्द्धपशुः देवदत्तस्य अधिक स्पष्ट है।

वाक्य में प्रत्येक पद अपना विशेषण साथ रख सकता है परन्तु समास में प्रत्येक पद अपना विशेषण साथ नहीं रख सकता। ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः कहते हैं परन्तु इसी अर्थ में ऋद्धस्य राजपुरुषः ऐसा नहीं हो सकता।

कभी-कभी समस्त पद भी विशेषण रखते हैं जैसे देवदत्तस्य गुरुकुलम्, देवदत्तस्य गुरुपुत्रः, देवदत्तस्य दासभार्या आदि। परन्तु गुरुकुल, दासभार्या जैसे शब्द अत्यधिक व्यवहार के कारण एक पद जैसे हो गये थे और इनका समस्त रूप ओझल सा हो गया था। तभी ऐसे प्रयोग बोले जाने लगे होंगे।

वाक्य मे समुच्चय द्योतक च का व्यवहार बीच बीच में किया जाता है जैसे राज्ञः गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च। परन्तु समास में एक तरह के सामूहिक अर्थ की स्वतः अभिव्यक्ति हो जाने के कारण च का प्रयोग बीच मे नहीं किया जाता। जैसे राज्ञः गवाश्वपुरुषाः।

इन विशेषताओं के प्रसग मे भाष्यकार ने शब्दों द्वारा अर्थ का अभिधान स्वाभाविक है अथवा वाचनिक है के साथ-साथ जहत्स्वार्थावृत्ति, अजहत्स्वार्थावृत्ति आदि पर भी विचार किया है जिससे दूसरे दर्शन भी प्रभावित हैं।

यदि वृत्ति मे एकार्थीभाव नही स्वीकार किया जायगा तो वाक्य की तरह इसमें भी संख्याविशेष की प्रतिपत्ति, विशेषणयोग आदि के रोकने के लिए उपाय करने पड़ेंगे। शब्द का स्वाभाविक रूप कभी नित्यदर्शन के आधार पर समझा जाता है कभी कार्यदर्शन के आधार पर अबुधबोधनार्थ उपस्थित किया जाता है। कार्यपक्ष में अनेक साधारण बातों के लिए नियम बनाने पडते हैं। उदाहरण के लिए, जैसा कि कैयट ने लिखा है, निष्कौशाम्बिः, गोरथः, घृतघटः, गुडधानाः, केशचूडः, सुवर्णालंकारः, द्विदशाः, सप्तपर्णः, गौरखर आदि के लिये क्रमशः क्रान्त, युक्त, पूर्ण, मिश्र, सघाविकार सुप्प्रत्ययलोप, वीप्सा और जातिविशेषाभिधायित्व नियम से प्रतिपाद्य हैं। नित्यदर्शन पक्ष मे ये सब विशेषताएं एकार्थीभावकृत मान ली जाती हैं। इनके लिए विशेष सूत्र की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त वार्तिककार ने व्यपेक्षापक्ष में दोष निम्नलिखित वार्तिको द्वारा भी व्यक्त किया है :

तत्र नानाकारकान्निघात युष्मदस्मदादेशप्रतिषेध : २।१।१—५, **अचये समासप्रतिषेध** : २।१।१—६

अव्ययीभाव प्रकरण मे २।१।१० सूत्र पर कितवव्यवहारे च २।१।१०-१ वार्तिक वार्तिककार के लोक-ज्ञान का भी द्योतक हैं। खलेयवादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे २।१।१७-२ भी वार्तिककार के लोक ज्ञान के साथ लोक जीवन से ली गई शब्दावली के चयन को स्पष्ट कर देता है। खलेयवम्, खलेबुसम्, लूनयवम् आदि का प्रथमान्त ही प्रयोग होता है (**अव्यतिरिक्त एव प्रातिपदिकार्थे एषां प्रयोगः कर्तव्यः नान्यत्र—महाभाष्यप्रदीप** २।२।१७)

बुसोपेन्ध्य, धनधार्यं, पादहारकः और गलेचोपकः इन लोक-जीवन सबन्धी शब्दो की सिद्धि के लिए वार्तिककार ने वार्तिक लिखे हैं। कृतापकृतम्, भुक्तविभुक्तम्, पीतविपीतम्, गतप्रत्यागतम्, यातानुयातम्, पुटापुटिका, क्रयाक्रयिका, फलाफलिका,

मानोन्मानिका—ये व्यवहारसिद्ध शब्द वार्तिककार द्वारा संगृहीत और प्रतिपादित हैं।

वर्णोवर्णेन २।१।६९ के दो वार्तिक इष्टि माने जाते हैं। वे हैं—

(१) **समानाधिकरणसमासाद्बहुव्रीहिः कदाचित् कर्मधारयः सर्वधनाद्यर्थः।**

(२) **पूर्वपदातिशये मातिशायिकाद् बहुव्रीहि सूक्ष्मवस्त्रतराद्यर्थः।**

पहले के लिए कैयट ने इष्टि शब्द का प्रयोग किया है (**वार्तिककारेणेष्टिरूपेण पठितम्—महाभाष्यप्रदीप** २।१।६९) और दूसरे को भाष्यकार ने इष्टि माना है। इष्टियों पर अन्यत्र विचार किया गया है। इच्छाप्रदर्शक वाक्य को इष्टि कहते हैं।[1] इससे सर्वधनी, सर्ववीजी, सर्वकेशी (नट), गौरखरदरण्यम् कृष्णसर्पवान् वल्मीकः, लोहितशालिमान् ग्रामः, सूक्ष्मवस्त्रतरः, तीक्ष्ण शृंगतरः, बह्वाढ्यतरः, बहुसुकुमारतरः ये शब्द सिद्ध होते हैं। यहाँ उपसंख्यात वार्तिक द्वारा शाकपार्थिव, कुतपसौश्रुत, अजातौल्वलिः यष्टिमौद्गल्यः—ये शाकपार्थिवादिगण के शब्द साधित हैं।

२।२।३ पर वार्तिक है—**द्वितीयादीनां विभाषा प्रकरणे विभाषा वचनं ज्ञापकमवयवविधाने सामान्यविधानाभावस्य** २।२।३-१ अवयवविधि में सामान्यविधि नहीं होती है। कैयट ने अवयवविधान की परिभाषा यों दी है :

> **सामान्याश्रयसमूहापेक्षया प्रतिनियतो विशेष एकदेशो भवतीति विशेषविषयं विधानम् अवयवविधानशब्देनोच्यते।**
>
> —महाभाष्यप्रदीप २।२।३

भिनत्ति में श्नम् के बाद श्नम् नहीं होता यह ज्ञापन का फल है। यह वार्तिककार के मत से है। वस्तुतः वाध्यवाध्यकभाव विरोध से होता है अथवा एकफल से होता है। यहा भिन्न देश होने के कारण विरोध नहीं है, विकरणों के अनर्थक होने के कारण एकफल का भी अभाव है। किन्तु वार्तिककार विरोध के अभाव में बाध्यबाधक नहीं मानते हैं। जैसा कि उनके श्नम् बहुजकस्नु नानादेशत्वादुत्सर्गाप्रतिषेध : २।३।१-२ वार्तिक से स्पष्ट है। भाष्यकार बिना विरोध के भी सामान्य-विशेषविधि मे बाध्यबाधकभाव मानते हैं।

षष्ठी के प्रसग मे कात्यायन ने प्रतिपदविधाना और कृद्योगा का उल्लेख किया है। प्रतिपदविधाना षष्ठी के साथ समास, वार्तिककार के अनुसार नहीं होता किन्तु कृद्योगा के साथ होता है। प्रतिपदविधाना और कृद्योगा का अर्थ कैयट ने यों दिया है :

> **साक्षात् धातुकारकविशेषोपादानेन विधानात् प्रतिपदविधानेत्यर्थः। कृत् शब्दोपादानेन तु या विहिता सैव कृद्योगोच्यते।**
>
> —महाभाष्यप्रदीप २।२।८

फलतः सर्पिषो ज्ञानम् मे षष्ठीसमास नहीं होता परन्तु इध्मव्रश्चनः, पलाशशातनः में

---

१. मृजेरजादौ संक्रमे विभाषावृद्धिरिष्यत इत्यादीनि इच्छाप्रदर्शकवाक्यानि इष्टयः—शेष श्रीकृष्ण, पदचन्द्रिकाविवरण, हस्तलेख, पृ० १२ (लेखक का संग्रह)

[होता है ।

तत्स्थैश्च गुणैः २।२।८-२ वार्तिक द्वारा तत्स्थ गुणों के साथ षष्ठी समास का विधान कात्यायन ने माना है । किन्तु गुणबोधक शब्दों के विशेषण के साथ नहीं माना है । तत्स्थ गुण से अभिप्राय उस गुण से है जो द्रव्य से अलग स्वतंत्र रूप मे व्यवहृत होता है, द्रव्य के उपरजक के रूप मे नही । जैसे चन्दनस्य गंध : चन्दनगन्ध· । कपित्थस्य रस· कपित्थरस. । इन उदाहरणो में गुण और गुणी में वैयधिकरण्य है, सामानाधिकरण्य नही है । अर्थात् हम सदा चन्दनस्य गन्ध· ऐसा ही कहते हैं, चन्दन गन्धः ऐसा नही कहते । यद्यपि गुण के द्रव्याश्रित होने के कारण पूर्णरूप से उसका अपने आप मे अवस्थान (तत्स्थभाव) नही सभव है फिर भी द्रव्य के उपरजक के रूप में व्यवहृत न होकर जहाँ वह प्रधानरूप से व्यवहृत होता है वहा द्रव्य से पृथक् सत्ता रखता हुआ सा जान पडता है और इस दृष्टि से ही वह तत्स्थ कहा जाता है । काकस्य कार्ष्ण्यम् मे यद्यपि गुण तत्स्थ है फिर भी शुक्ल. पटः आदि मे गुण-गुणी मे अभेद मानने से द्रव्य का उपरंजक भी होता है । शुक्ल शब्द के द्रव्य के अर्थ मे व्यक्त होने पर ही उससे भाव मे प्रत्यय होता है । अत. वह शुक्ल गुण तत्स्थ नही है । यद्यपि शुक्ल और शौक्ल्य मे भेद है फिर भी अर्थ की दृष्टि से तत्स्थता मानी जाती है । शब्द में भेद होते हुए भी अर्थ मे भेद न होने के कारण शुक्ल गुण मे तत्स्थता नही है । रूपवान् पटः जैसे स्थलों मे मत्वर्थीय प्रत्यय के भेद के द्योतक होने के कारण गुण-गुणी मे अभेद का आरोप नही होता । फलत रूप मे तत्स्थत्व रह जाता है और समास होकर पटरूपम् प्रयोग बनता है ।

किन्तु वार्तिककार के अनुसार गुणबोधक शब्दो के विशेषण के साथ षष्ठी तत्पुरष समास नही होता । जैसे घृतस्य तीव्रो गन्ध । चन्दनस्य मृदु गन्ध· । इन वाक्यो मे तीव्र और मृदु गन्ध के विशेषण हैं । इसलिए इनके साथ समास नही हुआ है । यद्यपि घृत का सम्बन्ध गन्ध से है, न कि तीव्र या मृदु से । अत असामर्थ्य के कारण इन शब्दो के समास की प्राप्ति ही नही होनी चाहिए, परन्तु प्रकरणवश कभी-कभी तीव्र शब्द भी तीव्रगंध का बोधक हो जाता है । उस अवस्था मे समास की प्राप्ति हो सकती है । तदर्थ कात्यायन ने 'न तु तद् विशेषणै , कह कर उसका निषेध किया है ।

२।२।२४ सूत्र पर सामान्याभिधाने विशेषानभिधानम् २।२।२४-६ और विभक्त्यर्थाभिधाने द्रव्यस्य लिंगसंख्योपचारानुपपत्ति. २।२।२४-७ वार्तिककार के दार्शनिक विवेचन शैली को स्पष्ट करते है । उच्चैर्मुख , उष्ट्रमुख , केशचूडः, प्रपर्ण., अभार्य जैसे शब्दो के समास पर अभिधान और अनभिधान दोनो दृष्टियो से वार्तिककार ने विचार किया है ।

चार्थेद्वन्द्व. २/२/२९ पर के वार्तिको मे वार्तिककार का युगपदधिकरणतावाद उल्लेखनीय हैं । **'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्'** मे द्वन्द्व के अभाव के लिए वार्तिककार ने कहा है—**सिद्धं तु युगपदधिकरणवचने द्वन्द्ववचनात्** २/२/२९-२ । एक-एक शब्द से एक साथ जब समुदाय अभिधेय होता है, द्वन्द्व होता है । इसी को युगपदधिकरणतावाद कहते हैं । गाम् अश्वं आदि वाक्य में पदार्थ परस्पर निरपेक्ष हैं । वे स्वतन्त्र रूप मे

भिन्न-भिन्न शब्दों से प्रत्याय्य हैं। अतः युगपदधिकरणता के न होने से द्वन्द्व समास वहां नहीं होता है। इस तरह सहविवक्षा मे द्वन्द्व होता है। अभिधानक्रम से अभिधेय क्रम अवश्यंभावी होता है परन्तु इससे युगपदधिकरणतावाद का प्रत्याख्यान नही होता। प्लक्षन्यग्रोधौ, धवखदिरपलाशाः जैसे स्थलो में न्यग्रोधार्थ की प्रतिपत्ति के समय प्लक्षार्थ की अनुभूति न हो, पलाशार्थ की प्रतिपत्ति के काल में यदि धव आदि के अर्थ का आभास न हो, तो न्यग्रोध और पलाश शब्दों मे एकार्थता आ जाय। फलतः उनसे द्विवचन और बहुवचन न हो सकेंगे। अत द्विवचन और बहुवचन की अन्यथानुपपत्ति के कारण एक-एक शब्द भी अनेकार्थ है ऐसा अनुमान करते हैं और इस अनुमान से युगपद्वाचिता का निश्चय होता है। अतः वार्तिककार ने कहा

शब्दपौर्वापर्यप्रयोगादर्थपौर्वापर्याभिधानमितिचेद् द्विवचनबहुवचनानुपपत्तिः।

—२/२/२९-५

समुदाय को उद्भूतावयवभेद मानकर समुदायाश्रय एकवचन हो जायगा, ऐसा भी नही कह सकते। साहचर्य अर्थान्तर अभिधान मे हेतु होता है। प्रकरण, विस्तार से अवस्थान, जैसे प्लक्ष मे है वैसे न्यग्रोध मे भी है, उसका वह स्वार्थ ही है—**कारणाद् द्रव्ये शब्दनिवेश इति चेत् तुल्यकारणत्वात् सिद्धम्**—२/२/२९-१०। इस तरह मे अतिप्रसग नही होगा। वृत्ति के विषय मे शब्दों के शक्ति-वैचित्र्य से अर्थान्तर अभिधान होता है, सर्वत्र नही होता। इतरेतर सनिधान से परस्पर मे एक शक्ति का आविर्भाव होता है और इसलिए परस्पराभिधान भी शब्दो का नियतविषय ही होता है। अभिधान स्वाभाविक होता है। इस तरह कई वार्तिको द्वारा कात्यायन ने युगपद-धिकरणतावाद की पुष्टि की है। भाष्यकार इससे सहमत नही है। उनके अनुसार यह वाद कठिन और दुस्साध्य है :

इयं युगपदधिकरणवचनता नाम दुःखा च दुरुपपादा च।

—महाभाष्य २/२/२९, भाग—१, पृष्ठ ४३४ कीलहार्न संस्करण।

चार्थ मे च से समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार—इन सब का ग्रहण होता है।

काशिका के अनुसार अनेक क्रियाध्याहार समुच्चय है। अनेक क्रियाओ की चीय-मानता समुच्चय है। समभिहार और समुच्चय मे भेद यह है कि समभिहार पौन. पुन्य या भृशार्थ होता है किन्तु वह एक ही क्रिया का होता है जब कि समुच्चय अनेक क्रियाओ का होता है। न्यासकार के अनुसार समुच्चिति. समुच्चय है। किसी एक साधन अथवा किसी एक क्रिया के प्रति अनेक साधनो अथवा क्रियाओ का अपने स्व-रूपभेद के साथ चीयमानता या अनेकता समुच्चय है और वह तुल्यबलो का तथा अनियत क्रमयौगपद्यो का होता है। कैयट के अनुसार परस्पर निरपेक्ष पदार्थ जब च द्वारा क्रिया मे जोडे जाते है तब च का अर्थ समुच्चय होता है। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार परस्पर निरपेक्ष अनेको का किसी एक सम्बन्धी मे अन्वय समुच्चय कहलाता है। अहरहः नयमानो गामश्वं पुरुषं पशु मे एक ही नयति क्रिया मे गो, अश्व आदि

सबका समुच्चय है।[1] पुण्यराज के अनुसार अविरोधी तुल्यबल वालों का समुच्चय होता है जैसे देवदत्तं भोजय, लवेणन, सर्पिषा, शाकेन च।[2]

जब एक की प्रधानता होती है और दूसरे की आनुषंगिता होती है तब अन्वाचय होता है। जैसे भिक्षामट गां चानय।

इतरेतरयोग परस्परसापेक्ष अनेकों का एक अर्थ में समन्वय से होता है। मिलितों का अन्वय इतरेतरयोग है। जैसे, देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिदं कार्यं कर्तव्यम्। देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों उस कार्य के प्रति परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि उनमें से एक के भी न रहने पर काम नहीं किया जाता है।

समाहार समुच्चय का ही एक भेद है। इसमें भी परस्पर सापेक्षता होती है, किन्तु अवयवभेद तिरोहित रहते है और संहति प्रधान होती है। जैसे, छत्रोपानहम्। किसी क्रिया मे दोनों की परस्पर सापेक्षता है, संहतिप्रधान होने के कारण एकवचन है। समूह भी समाहार कहा जाता है। इसकी व्युत्पत्ति कैयट आदि ने अनेक प्रकार से की है; जैसे,

> **समाहरणं समाहारः, समाह्रियत इति समाहारः, समाह्रियमाणार्थः समाहारः (महाभाष्यप्रदीप २।१।२०)। समभ्याशीकरणं समाहारः।**
>
> —महाभाष्य २/१/५१
>
> **समाहारो हि समूहः। स च भिन्नार्थानामेककालानां भवति। बुद्ध्या युगपदर्थानां परिग्रहादेककालत्वम्।**
>
> —न्यास २/१/५१

सामान्य और विशेष का समुच्चय नहीं होता। सामान्य और विशेष का द्वन्द्व समास नहीं होता। इसमें कारण अनभिधान है। लोकमें वृक्षधवम् ऐसा नही कहते। धव शब्द से ही वृक्ष शब्द का अर्थ अवगत हो जाता है। गोबलीवर्द जैसे शब्द मे गो शब्द की वृत्ति स्त्रीगवी मे समझनी चाहिए। इस तरह ये दोनों शब्द विशेषवाची हो जाते हैं।

विशेषण-विशेष्यभाव—वार्तिककारने विशेषण-विशेष्यभाव पर विशेष प्रकाश डाला है: **विशेषण-विशेष्ययोरुभयविशेषणत्वादुभयोश्च विशेष्यत्वादुपसर्जनाप्रसिद्धिः** २।१।५७—१। वार्तिक मे विशेषण-विशेष्य मे दोनो के विशेषण और दोनों के विशेष्य होने की सभावना व्यक्त की गई है। कृष्णतिल शब्द मे कृष्ण शब्द तिलशब्द से जुट कर विशेषण होता है। तिल शब्द कई रगो के तिल का बोधक है। कृष्ण शब्द तिल के अन्य रंगो से उसका परिच्छेद कर केवल कृष्णरग में उसे सीमित कर देता है। अत: कृष्णतिल शब्द में परिच्छेदक होने के कारण कृष्ण शब्द विशेषण और परिच्छेद्य होने के कारण तिल शब्द विशेष्य है। इसी तरह कृष्णतिल शब्द मे केवल कृष्ण शब्द के उच्चारण से भ्रमर कोकिल आदि कृष्णद्रव्यो का बोध होता है। तिल शब्द के साहचर्य

१. शब्दकौस्तुभ २।२।२६
२. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।८३ टीका।

से तिल में ही उसका नियमन हो जाता है। अतः कृष्णशब्द विशेष्य और तिल शब्द विशेषण हो जाता है। इसके समाधान में दूसरे वार्तिक में लिखा है—**न वान्यतरस्य प्रधानभावात्तद्विशेषकत्वाच्चापरस्योपसर्जनप्रसिद्धि** : २।१।५७-२। दोनों में से एक प्रधान होता है। दूसरा उसका विशेषक होता है। जब तिल की प्रधान रूप में विवक्षा होती है और कृष्ण की विशेषक रूप में, तब तिल शब्द प्रधान होता है और कृष्ण विशेषण होता है। तिल द्रव्य रूप है, क्रिया की सिद्धि में साक्षात् उपयोगी है। इसलिए उनकी प्रधानता है। कृष्ण गुण है। वह द्रव्य के सहारे ही क्रिया में उपयोगी हो सकता है इसलिए वह तिल का विशेषण हो जाता है। गुण और द्रव्य में द्रव्य की ही प्रधानता मानी जाती है। यहां यह कहा जाता है कि तिल शब्द जातिवाची है न कि द्रव्य-वाची। यदि जातिविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण उसे द्रव्यवाची मानते हैं तो कृष्ण शब्द भी गुणविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण द्रव्यवाची है। इस तरह इन दोनों में कोई विशेषता नही है। इसके समाधान में कहा जाता है कि उत्पत्ति से लेकर नाश पर्यन्त जाति द्रव्य को नही छोडती है। शब्द से जाति-व्यतिरिक्त द्रव्य का भान नही होता। सदा 'गौः शाबलेयः' ऐसा कहा जाता है न कि 'शाबलेस्य गौ'।' इसलिए जात्यात्मक ही द्रव्य की प्रतीति होती है अतएव जाति शब्द द्रव्यवाची के रूप में प्रतिष्ठित होता है। गुण ऐसे नहीं हैं। गुण उपायी और अपायी दोनो होते हैं। द्रव्य से व्यतिरिक्त रूप मे भी स्व शब्द से गुण का प्रत्यायन होता है। जैसे पटस्य शुक्ल' में। इसलिए द्रव्य की गुणात्मकता नहीं है। फलतः गुण शब्द की द्रव्यवाची के रूप में प्रतिष्ठा नही हो सकती। जहां दोनो प्रधान शब्द एक अर्थ के लिए एक साथ प्रयुक्त होते हैं उनमे विशेष्यविशेषणभाव कैसे होगा ? वृक्षः शिशपाः में विशेष्यविशेषण अथवा प्रधान-अप्रधान की व्यवस्था कैसे होगी ? महाभाष्यकार के अनुसार इस तरह के दो शब्दो का एकत्र समावेश आवश्यक नही हैं। पहले विशेष 'शिंशपा' के प्रयोग से उस शब्द से वृक्ष विशेष की ही उपस्थिति होती है, विशेष का सामान्य मे अव्यभिचार होने के कारण शिशपा के बाद वृक्ष शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नही रह जाती। यदि पहले 'वृक्षः' इस रूप में सामान्य का ग्रहण हो बाद में उसकी विशेषता के लिए शिंशपा शब्द का प्रयोग हो तो शिंशपा शब्द विशेषण का काम करेगा और 'शिंशपा-वृक्षः' ऐसा प्रयोग संभव हो सकेगा। कुछ लोग मानते हैं कि शिंशपा के प्रथम उपात्त होने पर भी शिंशपा-फल से शिंशपावृक्ष के व्यवच्छेद के लिए वृक्ष शब्द का प्रयोग वृक्ष को शिंशपा का विशेषण बना देता है और इस तरह 'वृक्षशिंशपा' प्रयोग भी होना चाहिए। परन्तु कैयट के अनुसार यह मत उपयुक्त नहीं है। वृक्ष और शिंशपा मे वृक्ष व्यापक है, उसमें महाविषयता है, दूर से पहले उसी की उपलब्धि होती है अतः वृक्ष शब्द ही विशेष्य है। शिंशपा में स्वल्पविषयता है, उसका ग्रहण बाद मे होता है और वह शुक्ल आदि गुणतुल्य है। अतः वह विशेषण ही माना जायगा। गुण और द्रव्य के समभि-व्याहार मे द्रव्य की प्रधानता होती है केवल यही नियम नहीं है, अपितु व्याप्यव्या-पकजातिसमभिव्याहार में व्यापक विशेष्य होता है यह भी नियम है।

नञ् विचार

पतंजलि ने प्रश्न उठाया था कि अब्राह्मणमानय जैसे वाक्यों से नञ् से किस पदार्थ की प्रधानता व्यक्त होती है। यहां तीन विकल्प संभव हैं। अन्यपदप्रधान, पूर्वपदप्रधान और उत्तरपदप्रधान। यदि ब्राह्मण शब्द कि वृत्ति जाति मे मानी जाय और अब्राह्मण का अर्थ यह किया जाय कि जिसमें ब्राह्मणत्व न हो जैसे क्षत्रिय आदि, तो यह नञ् अन्य पदार्थ प्रधान होगा। यदि नञ् की वृत्ति इस‍् सामान्य मे मानी जाय और अब्राह्मण शब्द का अर्थ किया जाय कि जिसमे ब्राह्मण्य न हो किन्तु ब्राह्मणेतर रूप में हो अर्थात क्षत्रिय आदि तो पूर्वपदार्थप्रधान नञ् होगा। यदि ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्षत्रिय आदि के लिए मिथ्याज्ञान के कारण अथवा दुरुपदेश के कारण हो और ब्राह्मण-पदार्थ की स्वाभाविकी निवृत्ति द्योतित हो, नञ् समास उत्तरपदार्थप्रधान माना जायगा।

अवर्षा हेमन्त शब्द से न वर्षा अवर्षा हेमन्त, वर्षासदृश हेमन्त है यह अर्थ होता है। हेमन्त मे नीहार आदि से वैसा ही दृश्य उपस्थित हो जाता है जैसा कि वर्षा से। यहा उपमानोपमेय भाव भी दिया हुआ है और इसके साथ अन्य पदार्थ का बोध होता है। अवर्षा का अर्थ अविद्यमाना वर्षा वर्षात्व अस्य इस विग्रह की स्थिति मे अन्य पदार्थ नही आता। ऐसा मानने पर उपसर्जन ह्रस्व की प्राप्ति होगी। इस-लिए नञ् समास उपमा को छिपाए हुए प्रक्रिया दशा मे अन्य पदार्थ प्रधान होते है—ऐसा कुछ लोगो का विचार है।

अन्य विचारक अन्यपदार्थत्व की उपपत्ति दूसरे ढग से करते हैं। जातिपदार्थ-पक्ष मे ब्राह्मण आदि शब्द मुख्य रूप मे व्यक्तिनिरपेक्ष जाति के अभिधायक होते हैं, द्रव्य के अभिधायक नही होते। नञ् समास के द्वारा द्रव्य की अभिव्यक्ति होती है और इस आधार पर अन्य पदार्थप्रधान वह माना जाता है। अब्राह्मण शब्द मे नही है ब्राह्मण्य जिसमे अर्थात् ब्राह्मण से अन्य क्षत्रियादि का बोध होता है। ब्राह्मणत्व जाति का जहा आश्रयत्व सभावित है वही निषेध होता है, अत्यन्तविजातीय मे—क्षत्रिय आदि मे निषेध नही होता, फलतः क्षत्रिय आदि द्रव्य ही अन्य पदार्थ है। ऐसा मानने पर बहुव्रीहि और नञ् समास का विषयविभाग भी उपपन्न होता है। अगुरयमश्वः-अविद्यमाना गावो यस्येत्यगुरयमश्व.—यहा बहुव्रीहि समास है। 'अविद्यमानो गौ-र्गोत्वमस्याश्वस्य सोऽयमगौरश्व.' इस रूप मे नञ् समास होगा। बहुव्रीहि समास मत्वर्थ में होगा जबकि नञ् समास उत्तरपदार्थ विजातीय को स्वभावत अभिव्यक्त करेगा। इस रूप मे इनमे विषयविभाग रहेगा।

यदि नञ् समास को अन्य पदार्थ प्रधान माना जायगा अवर्षा हेमन्त मे हेमन्त शब्द के लिंग और वचन की प्राप्ति अवर्षा शब्द में भी होगी।

यदि पूर्वपदार्थ प्रधान माना जायगा अव्यय संज्ञा की प्राप्ति होगी। यदि अव्यय मे नञ् समास पाठ के अभाव मे अव्यय सज्ञा नही भी हो, लिंग और सख्या योग की उपपत्ति भी स्वाभाविक शक्ति के आधार पर हो जायगी। शब्द शक्ति के

स्वभाववश नञ् विग्रह वाक्य में असत्त्व रूप अर्थ को व्यक्त करता है। अथवा आश्रय के आधार पर भी लिंग योग हो जायगा। किन्तु इस पक्ष में फिर भी दोष है। यदि स्वाभाविक दर्शन का आश्रय लिया जायगा तो नञ् द्वारा अव्ययीभाव के अपवाद होने से अमक्षिकम् आदि की सिद्धि न होगी। असर्वस्मै, असः आदि उपपन्न न हो सकेंगे। यदि उत्तर पदार्थ प्रधान का आश्रय लिया जायगा, 'अब्राह्मणमानय' कहने से ब्राह्मणमात्र के लाने की आशंका होगी। महाभाष्यकार ने नञ् को निवृत्त-पदार्थक मानकर उपर्युक्त दोष का परिहार कर, उत्तरपदार्थ प्रधानता का समर्थन किया है। निवृत्तपदार्थक का अर्थ, कैयट के अनुसार, पदार्थ की निवृत्ति, मुख्य ब्राह्मण्य की निवृत्ति से है। कौण्डभट्ट के अनुसार निवृत्तपदार्थक अभावार्थक हैं। कैयट के अनुसार स्वाभाविक निवृत्त दर्शन पक्ष में नञ् से पदार्थ की निवृत्ति से तात्पर्य पदार्थ प्रत्यय से है। पदार्थ प्रत्यय ही उपचार से पदार्थ शब्द से व्यक्त किया जाता है। जैसे सिंहमध्यापयेत् वाक्य में सिंह शब्द से माणवक का बोध होता है। अभिप्राय यह है कि जब केवल ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाता है, प्रसिद्धि वश वह मुख्य ब्राह्मण अर्थ का ही प्रत्यायक होता है। किन्तु नञ् पूर्वक प्रयोग से-अब्राह्मण शब्द के व्यवहार से – ब्राह्मण शब्द की निवृत्त-पदार्थकता की प्रतीति होती है। प्रतिष्ठति में तिष्ठति क्रिया गति का बोध कराती है किन्तु केवल तिष्ठति से प्रस्थान न करने का बोध होता है। प्र उपसर्ग के साथ तिष्ठति के व्यवहार से ही प्रस्थान का बोध होता है। इसी तरह से नञ् द्योतक का काम करता है। इसके प्रयोग में पदार्थ की निवृत्ति द्योतित होती है। पदार्थ शब्द से उपचार के सहारे पदार्थ प्रत्यय अवगत होता है। महाभाष्यकार ने निवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए कील-प्रतिकील का उदाहरण दिया है। महान कील में छोटी कील उखाड ली जाती है। इसी तरह नञ् के प्रयोग करने पर वह पदार्थों की निवृत्ति करती है। यदि यह निवृत्ति वाचनिकी मानी जायगी, केवल न कहने से ही सब तरह के निषेध सपन्न हो जायगे। शत्रु को हराने के लिए सेना रखने की आवश्यकता न होगी। केवल न कहने से वे हट जायगें। यदि स्वाभाविकी निवृत्ति मानी जाय तो नञ् की चरितार्थता ही क्या होगी। इसलिए निवृत्ति तो स्वाभाविकी मानी जाती है किन्तु उसकी उपलब्धि वाचनिकी होती है। जैसे दीप अधेरे मे वस्तु का निदर्शक होता है, निवर्तक नही। ब्राह्मण शब्द के प्रयोग से ब्राह्मण पदार्थ की निवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। समुदाय के लिए व्यवहृत होने वाले शब्द उसके एक देश के लिए भी व्यवहृत होते है। एक देश के विभाग से समुदाय की निवृत्ति भी कही जाती है और एकदेश, एकभाग के होने पर भी सपूर्ण समुदाय की सत्ता अवगत होती है। पूर्व पचाला., तैल भुक्त जैसे स्थलो मे अवयव मे समुदाय के आरोप से शब्द प्रवृत्ति होती है :

> **अवयवे समुदायरूपारोपात् शब्दप्रवृत्ति विज्ञेया। न तु शब्दः स्वार्थं परित्यज्यार्थान्तरं वक्तुम् समर्थ, शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यता प्रसंगात्।**
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप २।२।६

अब्राह्मण शब्द से निवृत्ति के अर्थ के लिए महाभाष्यकार ने गुण और जाति दोनो का सहारा लिया है। किसी विशेष चिन्हो या रूप से किसी को कोई ब्राह्मण सम-

करता है, बाद में उसे ज्ञात होता है, वह ब्राह्मण नहीं है। यहां अर्थ की निवृत्ति गुण के आधार पर है। इसी तरह जाति के आधार पर प्रवृत्ति और पुनः निवृत्ति जाति-परक निवृत्ति है। ऐसे स्थल पर ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति दुरुपदेश से होती है, जाति के आधार पर अर्थ की निवृत्ति होती है। नञ् के सम्बन्ध में धर्मकीर्ति की निम्नलिखित कारिका प्रसिद्ध है :

सतां च न निषेधोस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः॥

इसका तात्पर्य यह है कि जो सत् है वह सदा सत् है उसका निषेध नहीं हो सकता। जो असत् है वह असत् है, उसका निषेध करना न करना बराबर है। और इस दृष्टि से नञर्थ का कोई स्थान नहीं है।

नागेश ने इस आक्षेप का उत्तर बौद्ध शब्द और बौद्ध अर्थ के आधार पर दिया है। बुद्धि में अवस्थित अर्थ का भी नञ् के द्वारा बाह्यसता के रूप मे निषेध संभव है।

निवृत्ति के प्रसग मे महाभाष्य में प्रसज्यप्रतिषेध का संकेत है :

प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चात् निवृत्तिं करोति।[1]

प्रसंग से यहां पर्युदास भी झलक जाता है जैसा कि कैयट ने लिखा है :

पर्युदासे तु द्रव्यादिसंख्यायुक्त एवानेकशब्दस्यार्थः।[2]

प्रसज्य प्रतिषेध का महाभाष्यकार के मत मे, क्रिया और गुण के साथ सबध होता है। 'न न एकं प्रियम्' 'न न एकं सुखम्' मे गुण के साथ सम्बन्ध है। 'असूर्यं पश्या' में क्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध है। इसी तरह अनचि च ८।४।४७ में क्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध है। प्रसज्य प्रतिषेध समस्त मे भी होता है, असमस्त मे भी होता है। समस्त का उदाहरण 'अभानुभेद्यं तमः' है, असमस्त का उदाहरण 'गृहे घटो नास्ति' है। नागेश के अनुसार, असमस्त रूप में प्रसज्यप्रतिषेध का अर्थ अत्यन्ताभाव है। असमस्त रूप में उसका अर्थ अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नञ् से द्योत्य होते हैं।

पर्युदास सदृशग्राही माना जाता है। निषेध की प्रतीति अर्थ जन्य होती है। कोई इसे आहार्यज्ञान के रूप में भी स्वीकार करते हैं। पर्युदास प्राय समस्त मे ही होता है। कहीं-कहीं समास के विकल्प में असमास में भी देखा जाता है।

नञ् के छः अर्थ के विषय मे निम्नलिखित कारिका प्रचलित है :

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।[3]

भोज ने न नञर्थ द्वारा उत्तरपदार्थ की विशेषता, उत्तरपदार्थ द्वारा नञर्थ की

---

१. महाभाष्य २।२।६
२. महाभाष्य प्रदीपोद्योत २।२।६
३. मंजूषा पृ०, ६६८

विशेषता, दोनों द्वारा अन्यपदार्थ की विशेषता के आधार पर नञर्थ के तीन घटक दिए हैं जो निम्नलिखित हैं—

(क) अत्यन्ताभाव—जैसे, अरूपो वायुः ।
अनत्यन्ताभाव—जैसे, अनुदरा कन्या ।
अन्यतराभाव—अकिंचनः पुमान् ।
तादात्म्याभाव—अपिशाचः कुड्यः ।
सम्बन्धाभाव—अघटं भूतलम् ।
प्रध्वंसाभाव—अनङ्गः कामः ।

(ख) प्रागभाव—अनुत्पन्नो घटः ।
सामर्थ्याभाव—अप्रधृष्य सुभटः ।
आवश्यकताभाव—अभूषित कान्तः ।
इतरेतराभाव—अवर्षा हेमन्तः ।
सत्ताभाव—असत् शशविषाणम् ।
भावाभाव—अनुद्भिन्नः प्रवालः ।

(ग) तदभाव—अनन्य. ।
तदन्य—अनत्रि ।
तत्सदृश—अब्राह्मणः ।
तद्विरुद्ध—असित ।
तदपकृष्ट—अमनुष्यः ।
तदुत्कृष्ट—अमानुष ।

नञर्थ अन्यपदार्थ में कभी व्यवतिष्ठित होते हैं कभी सम्प्लवित होते हैं । अनुदरा कन्या, अलोमिका एडका आदि में व्यवतिष्ठित माने जाते हैं । अनेके[४], अनेक, अजन्मा आदि मे सम्प्लवित माने जाते हैं ।

कुछ लोग निम्नलिखित चार को असमर्थ समास में परिगणित मानते हैं, कुछ इनमें भी समुदाय मे विभक्तिविशेष की प्रतिपत्ति दिखाते हैं :

अश्राद्ध भोजी ब्राह्मण ।
असूर्यं पश्या राजदाराः ।
अलवणभोजी भिक्षु ।
अपुनर्गेया. श्लोका ।

महाभाष्य मे निम्नलिखित असमर्थसमास नञ् समास का उल्लेख है जो संस्कृत की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग हैं । किन्तु उन दिनो लोक मे व्यवहृत होते थे ।

---

४. नागेश ने अनेके शब्द को असाधु माना है—एवं चानेके इति बहुवचनमसाध्वेवेति बोध्यमिति मञ्जूषाया विस्तरः ।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।२।६ पृ० १७८
गुरुप्रसाद शास्त्री सं०

और इसी आधार पर इनका उल्लेख महाभाष्यकार ने किया है—

अकिञ्चित् कुर्वाणम् ।
अमाषं हरमाणम् ।
अगाधात् उत्सृष्टम् ।

इनका शुद्ध रूप क्रमशः यों है—किंचिद् अकुर्वाणम्, माषम् अहरमाणम्, गाधात् अनुत्सृष्टम्। किन्तु लोक व्यवहार मे किंचिद् अकुर्वाणम् के स्थान पर अकिंचित् कुर्वाणम् शब्द चल पडा था और इसे बोलने वाले नञ् समास के रूप मे ही बोलते थे।

कैयट ने स्पष्ट किया है कि ये प्रयोग गावी, गोणी आदि की तरह असाधु हैं किन्तु लोक व्यवहार मे इनके प्रयोग देखे जाते है :

गाव्यादिवदसाधुरपि गमकत्वामिमतो लोके प्रयुज्यते ।

—महाभाष्यप्रदीप २।१।१

भाषाविज्ञान की दृष्टि से ये प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये केवल मिथ्यासादृश्य के सिद्धान्त के ही उदाहरण नही हैं अपितु इस बात के भी द्योतक है कि साधुता-असाधुता का निर्णायक लोक है। अन्यथा महाभाष्य जैसे ग्रन्थ मे इनका कोई स्थान नही होना चाहिए था।

भाव विचार

पाणिनि ने 'तस्य भावस्त्वतलौ' ५।१।११९ द्वारा भाव मे त्व और तल् प्रत्यय का विधान किया है। शब्द का प्रवृतिनिमित्त भाव शब्द से कहा जाता है। कात्यायन के इस सूत्र पर के दो वार्तिक व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण माने जाते है। वे है—

(१) **सिद्धं तु यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ** ५।१।११९-५

(२) **यद्वा सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावस्तदभिधाने** ५।१।११९-६

गुण शब्द यहा विशेषण अर्थ में है। द्रव्य विशेष्य है। जिस विशेषण की सत्ता मे विशेष्य मे शब्द की प्रवृति होती है उसके अभिधान में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं—यह प्रथम वार्तिक का शब्दार्थ है।

वार्तिक मे गुण शब्द से जो कुछ पराश्रय है भेदक है, जैसे जाति आदि वे सभी यहा गृहीत हैं। भावात् शब्द का अर्थ विद्यमान होने से है। द्रव्य शब्द से विशेष्यभूत सत्वभावापन्न अर्थ अभिप्रेत है। शब्दनिवेश का अर्थ शब्द की प्रवृत्ति है। शब्द से वाच्य अथवा अवाच्य जिस गुण के भाव से द्रव्य में शब्द की प्रवृति होती है वह त्व और तल् से अभिधेय है। गुणमात्र वृत्ति वाले रूपादि शब्दो से गुण समवायी सामान्य मे भाव प्रत्यय होता है, जैसे रूपत्वम्। शुक्ल आदि शब्द जो गुण और गुणी मे अभेद के कारण अथवा मतुप् के लोप के कारण गुण और गुणी उभय वृति हैं उन गुणवाचक शब्दो से गुण समवायी सामान्य मे भावप्रत्यय होता है, और गुणीवाचक

से गुण में प्रत्यय होता है। अणु, महत्, दीर्घ आदि गुणवाचक शब्द केवल परिमाण में न होकर नित्य परिमाणों मे रहते हैं, इस लिए उनसे परिमाण गुण मे भाव प्रत्यय होता है। षत्व, णत्व आदि मे प्रत्यय भिन्न वर्ण व्यक्ति मे समवेत सामान्य विशेष में होते हैं। वर्णों में भेद उच्चारण भेद के कारण अथवा औपाधिक हो सकता है। गो आदि जब केवल जातिवाचक हैं तब उनसे भावप्रत्यय शब्द स्वरूप के अर्थ में होता है। अर्थ रूप जाति मे शब्द के स्वरूप का अध्यास किया जाता है जो गो शब्द है वही अर्थ है, इस रूप मे। अत शब्द स्वरूप ही ऐसे शब्दो के प्रवृतिनिमित्त हैं। जितने यदृच्छा शब्द हैं उनमे जाति इसी पद्धति से सिद्ध की जाती है। व्याकरण-दर्शन एक व्यक्ति मे भी जाति की सत्ता मानता है। शब्द के उच्चारण भेद से शब्द मे अनेकता में एकत्व की सिद्धि की जाती है जिससे अनुगताकार प्रत्यय होता है। इसी तरह अर्थ मे अवस्था भेद के आधार पर भेद कर अनुगताकार प्रत्यय के आधार पर ऐक्य की सिद्धि की जाती है। फलत. अनेक समवेत एकत्व (जाति) की सत्ता व्यक्ति मे भी सिद्ध हो जाती है। द्रव्यवाची गो आदि से जाति मे भाव प्रत्यय होते हैं। समास, कृत् और तद्धित से सम्बन्ध मे प्रत्यय होता है यद्यपि ये केवल सम्बन्ध नहीं व्यक्त करते हैं फिर भी सम्बन्धी मे वर्तमान रूप से प्रवृत्तिनिमित्त के रूप मे सम्बन्ध की अपेक्षा रखते है। जैसे, राजपुरुषत्व से स्वस्वामिभाव की प्रतीति होती है। पाचकत्व में क्रियाकारक सम्बन्ध की झलक है। औपगवत्वम् मे अपत्यापत्यवत् सम्बन्ध हैं। किसी-किसी के मत से औपगवत्वम् मे अपत्यप्रत्ययान्त से भाव प्रत्यय का अभिधेय जाति है। जैसा कि कहा जाता है **समासकृत्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानमन्यत्र रूढ्यभिन्न—रूपाव्यभिचरित सम्बन्धेभ्य.।**[1]

गौरखर, सप्तपर्ण, लोहितशालि आदि जाति विशेष से आपन्न द्रव्य विशेष-वाची शब्दो मे ही भावप्रत्यय होता है। इसी तरह कुम्भकारत्वम् हस्तित्वम् आदि मे भी। मतुप् के लुक दशा में शुक्ल आदि तद्धितान्त हैं। फिर भी उनसे भावप्रत्यय गुण मे ही होता है, सम्बन्ध मे नही होता। जिस तरह जाति और तद्वान मे लोकनिरूढ सम्बन्ध के आधार पर भेद तिरोहित-सा हो जाता है और अभेद भासित होता है उसी तरह गुण और गुणी मे भी 'वह यह है' इस अध्यास सम्बन्ध से, गुणवचन शब्दों से मतुप् के लुक की दशा मे उनमे अभेद भासित होता है और अभेद रूप मे उनका अभिधान होता है, उनमे भेद मानकर मत्वर्थ की उत्पत्ति नही मानी जाती। सत्ता मे अव्यभिचरित-सम्बन्ध से सतोभाव. इस रूप मे जाति मे ही भावप्रत्यय होता है। सद्वस्तु सत्तासम्बन्ध को नही छोडती (**न हि पदार्थ सत्तां व्यभिचरति—योगभाष्य**) ३।१७ इस सत्ता सम्बन्ध की अपेक्षा के कारण सम्बन्ध मे प्रत्यय नही होता। राज और पुरुष मे सम्बन्ध सनातन नहीं है अत. उसकी अपेक्षा रख कर ही राज और पुरुष शब्द अपना-अपना अर्थ व्यक्त करते है, इसलिए यहा सम्बन्ध मे भाव प्रत्यय मानना युक्त

---

१. यह प्राचीन आचार्यों की परिभाषा है। सीरदेव ने इसे परिभाषा रूप मे स्वीकार किया है। कौण्डभट्ट ने इसे भर्तृहरि का वाक्य माना है। यह वार्तिकों में नहीं मिलता।

है। इसलिए कहा जा सकता है कि सभी पदार्थों में नित्य समवायरूप से रहने वाली और शब्द प्रवृत्ति की हेतु सत्ता ही भावप्रत्यय से वाच्य है। सत् और सत्ता का सम्बन्ध समवाय वाच्य नहीं है। धवखदिरत्वं जैसे स्थल में जाति द्वन्द्व होने के कारण जाति समुदाय में भावप्रत्यय है। कृत्व जैसे शब्दों में संज्ञास्वरूप का संज्ञी में वह यह के रूप में अध्यास कर भाव प्रत्यय विधान होता है। कुछ लोग ऐसे स्थलों में संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में भाव प्रत्यय मानते हैं। इस तरह कैयट ने उपर्युक्त वार्तिक की व्याख्या की है।

भाष्यकार ने वार्तिक की व्याख्या में गुण और द्रव्य की परिभाषा पर विचार किया है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध को गुण मानकर इनसे अन्य को द्रव्य माना है। यह एक मत है। गुण से अतिरिक्त द्रव्य की सत्ता अनुमानगम्य है। अथवा भिन्न-भिन्न गुणों के प्रादुर्भाव से भी जिसका तत्त्व खण्डित नहीं होता वह द्रव्य है। अथवा अन्वर्थ रूप में गुण का संद्राव द्रव्य है। डित्थ आदि में वृत्ति (भावप्रत्यय), भाष्यकार के अनुसार, प्राथमकल्पिक डित्थ के आधार पर संभव हो सकेगी। प्राथमकल्पिक डित्थ की कोई क्रिया या कोई गुण यदि किसी में पाई जाय तो इस आधार पर उसमें भी भाव प्रत्यय हो सकेगा।

दूसरे वार्तिक का अर्थ है कि जब सभी शब्द अपने (स्व) अर्थ व्यक्त करते हैं वह उनका अर्थ है और उसी के अभिधान में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं। शुक्ल का भाव शुक्लत्व है। गुण में वर्तमान शुक्ल शब्द का भाव गुणसमवायिसामान्य है। उसके निमित्त से शुक्ल शब्द अपने गुणलक्षण अर्थ में प्रवृत्त होता है। द्रव्य में वर्तमान गुण शब्द का भाव गुण है। द्रव्य में वर्तमान गो शब्द का भाव जाति है। राजपुरुष का भाव सम्बन्ध है। इस तरह अन्य को भी समझना चाहिए।

नानात्व, महत्व, यौगपद्य आदि में वृत्ति विषय में नाना शब्द असहभूत अर्थ में है। सह शब्द सहभूत अर्थ में है, युगपत् शब्द युगपद्भूत अर्थ में है। इनमें असहभाव-आदि में भाव प्रत्यय है। इसका निष्कर्ष कैयट के शब्दों में यह है :

> **तत्र भवत्यनेनेति करणसाधनेन भावशब्देन जात्यादिके उच्यमाने वाच्यसम्बन्धिनि शब्दसम्बन्धिनि वा पूर्वोक्तन्यायाद् द्रव्यवाचिनः शब्दाभिधायिनो वा शुक्लादेः त्वतलादय इति स्थितम्—महाभाष्यप्रदीप, ५।१।११९**

स्वार्थ की एक दूसरे तरह से भी व्याख्या की जाती है। स्व शब्द आत्मीय-वाची है, अर्थ शब्द अभिधेयवाची है। स्वार्थ अनेक प्रकार का होता है जैसे, जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध और स्वरूप। गौः, शुक्लः, पाचकः, राजपुरुषः और डित्थः। शब्द अपना अर्थ (स्वार्थ) निरपेक्षरूप में करता है। अपने अर्थ (स्वार्थ) व्यक्त करते समय उसे अर्थगत किसी निमित्तान्तर की आवश्यकता नहीं रहती। अपना स्वार्थ कह कर उस स्वार्थ से सम्बद्ध द्रव्य को व्यक्त करता है। द्रव्य शब्द से व्याकरण दर्शन प्रसिद्ध द्रव्य अपेक्षित है। व्याकरण दर्शन में इद तत् सर्वनाम से परामर्श योग्य वस्तु को द्रव्य कहते हैं। अब यदि जाति शब्द जाति में है, आरोपित स्वरूपवाली, स्वरूप से एकीकृत जाति व्यक्त करता है, तब उसका स्वरूप स्वार्थ है और जाति द्रव्य है। जब वह जाति विशिष्ट द्रव्य को व्यक्त करता है तब उसका स्वार्थ जाति है। शुक्ल आदि जब गुण

जाति में स्थित हैं, उनका स्वरूप स्वार्थ है और जाति द्रव्य है। जब वे गुण में स्थित हैं, गुण सामान्य उनका स्वार्थ है और गुण द्रव्य है। समवेत द्रव्य का अभिधान कर शब्द, लिंग, वचन और विभक्ति को भी व्यक्त करता है। यद्यपि लोक में पद के उच्चारण करने पर युगपत् पांच अर्थ भासित होते हैं क्योंकि शब्द का व्यापार विरम विरम कर नहीं होता, फिर भी शास्त्र में व्यवहार के लिए कल्पित अन्वय-व्यतिरेक का आश्रय लिया जाता है। इसके आधार पर प्रयोग के अनुपयुक्त प्रातिपादक में अर्थवत्ता की कल्पना की जाती है और उसमें एक क्रम माना जाता है क्योंकि 'नागृहीत विशेषण-विशेष्ये बुद्धिः' इस न्याय के अनुसार शब्द सर्वप्रथम स्वार्थ की अभिव्यक्ति करेगा। तब लिंग आदि के आधार भूत द्रव्य का अभिधान करेगा। बहिरंग सख्या की अपेक्षा लिंग अंतरंग है अतः सख्या के पूर्व लिंग का अभिधान करेगा। तब सख्या कि अभिव्यक्ति करेगा। क्योंकि संख्या और कारक मे सख्या अंतरंग है और कारक बहिरंग है। सख्या केवल तुल्यजातीयापेक्ष है जब कि कारक विजातीय क्रियापेक्ष होने के कारण बहिरंग है। अत संख्या के बाद कारक की अभिव्यक्ति होगी। वस्तुतः कात्यायन के अनुसार नानार्थकल्पना बौद्धिक है। इसी दृष्टि से तत्र व्यपदेशिवद् वचन, एकात्रो द्वे प्रथमार्थम् १।१।२१-२, ३ का प्रत्याख्यान अवचनाल्लोक विज्ञानात् सिद्धम् १।१।२१-५ वार्तिक द्वारा किया है। बुद्धिसमारोपित भेद के आश्रय से मुख्य की तरह एक मे भी द्विर्वचन आदि कार्य हो सकते है। यह वार्तिककार का अभिप्राय है।

प्रकार का स्वरूप

पाणिनि ने प्रकारवचन शब्द का व्यवहार किया है। व्याख्याकारो में प्रकार के अर्थ के विषय मे मतभेद है। स्थूलादिभ्यः प्रकार वचने कन् ५।४।३ सूत्र मे प्रकार सादृश्य-बोधक है। सादृश्य अर्थ को सामने रखकर कात्यायन ने चंचत् बृहतोरुपसख्यानम्[1] इस वार्तिक को इस सूत्र पर लिखा है। चंचत्क और बृहत्क इन दो शब्दो का मणि विशेष के अर्थ में प्रयोग कात्यायन के समय मे होता था। जो चंचत् (चमकीला) न हो किन्तु चंचत् सा जान पड़े उसे चंचत्क कहते थे। प्रभा की लहर से ऐसा जान पड़ता था। इसी तरह जो बृहत् न हो किन्तु बृहत्-सा जान पड़े उसे बृहत्क कहते थे। मणि की कान्ति के प्रसार से ऐसा होता था।

कुछ अन्य आचार्य सर्वत्र प्रकार का अर्थ सादृश्य मानते हैं। 'प्रकारवचने थाल् ५।३।२३, प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२, स्थूलादिभ्यः प्रकार वचने कन् ५।४।३ आदि सूत्रो मे सादृश्य अर्थ ही उन्हे अभिप्रेत है। यथा तथा शब्द से तुल्य अर्थ ही द्योतित होता है। पटुजातीय शब्द में जातीयर प्रत्यय द्वारा, मुख्य रूप में, सादृश्य अभिहित होता है। पटुः पटुः शब्द में भी द्विर्वचन से विशेष्य मे गुणभूत सादृश्य

१. इस वार्तिक में मतभेद था—चंचद्बृहतोरिति केचित् पठन्ति। तेषां चंचकः बृहकः इत्युदाहरणं द्रष्टव्यम्—काशिका ५।४।३
भर्तृहरि ने चंचत्क, बृहत्क पाठ अपनाया है, वाक्यपदीय, वृत्ति समुद्देश ६१६-१७

भासित होता है। इसी तरह स्थूलक शब्द से स्थूल सदृश अर्थ होता है।

कुछ अन्य आचार्य प्रकार शब्द का भेद अर्थ मानते हैं : **सामान्यस्य विशेषकः भेदकः प्रकारः**—**काशिका** ५।३।२३। इस मत में यथा तथा शब्द से भेद अर्थ की प्रतीति होती है, सामर्थ्य से यहां सादृश्य अर्थ झलकता है। इसी तरह पट्जातीय शब्द में भी भेद अभिप्रेत है। जहां भेद माना जाता है वहां सादृश्य सामर्थ्यगम्य होता है और जहां सादृश्य अर्थ माना जाता है वहां भेद सामर्थ्यगम्य समझा जाता है। पशुप्रकार देवदत्त इस वाक्य में सामान्यविशेषभाव न होने के कारण सामान्य ही प्रकार है।

'ब्राह्मणप्रकारा माठरादय.' इस वाक्य में सामान्य का विशेष में अन्वय होने के कारण सादृश्य की संभावना न होने पर भेद प्रकार माना जाता है।

कुछ प्रकार वाले प्रत्यय प्रकारवान् में होते हैं। जैसे जातीयर, कन् और द्विर्वचन। कुछ प्रकार वाले प्रत्यय प्रकार मात्र में होते है जैसे थाल्। किन्तु प्रकार में वृत्ति होते हुए भी प्रकारवान् से सम्बद्ध होते है। इसलिए थाल् और जातीयर में बाध्यबाधक भाव नहीं होगा। और थाल् प्रत्यय के बाद भी जातीयर का प्रयोग देखा जाता है जैसे 'तथाजातीय'।[२]

पाणिनि ने अव्यय विभक्ति २।१।६ सूत्र में यथा के अर्थ में अव्ययीभाव समास माना है और पुनः सादृश्य के अर्थ में भी माना है। यदि यथा और सादृश्य समानार्थक हैं तो पाणिनि को यथा शब्द में ही सादृश्य का काम चला लेना चाहिए था। इसका उत्तर भर्तृहरि ने यह दिया है कि उपर्युक्त सूत्र में सादृश्य सदृश का उपलक्षण है। इसीलिए इसका उदाहरण सदृश. किख्या सकिखि (शृगाल सदृश) दिया जाता है। जो अव्यय सादृश्य का अभिधायक हो, सादृश्य ग्रहण से उसका अव्ययीभाव समास माना जाता है। सत्वभूत अर्थ के बोधक होने पर भी वचनबल से अव्यय माना जाता है। सादृश्यवचन यथा शब्द के साथ समास नहीं होता। किन्तु थालन्तप्रतिरूपक वीप्साबोधक निपात यथा शब्द के साथ समास होता है। अथवा योग्यतालक्षण यथा का अर्थ सादृश्यमात्र है। जो मूर्तिगत (द्रव्यगत) साम्य है वह सह शब्द से व्यक्त किया जाता है। 'सकिखि' शब्द में सह शब्द से किखी निष्ठ अवयवसनिवेश आदि के द्वारा सादृश्य व्यक्त होता है। इस दृष्टि से 'सादृश्य किख्या सकिखि' इस रूप में अर्थ करना चाहिए। इस तरह उपर्युक्त सूत्र में सादृश्य शब्द से द्रव्यगत सादृश्य अभिप्रेत है, यथाशब्द से योग्यता नामक गुणगत सादृश्य द्योतित है :

किमर्थमिदमुच्यते, यथार्थ इत्येव सिद्धम्।
गुणभूतेऽपि सादृश्ये यथा स्यात्। काशिका २।१।६

---

२. थाल् और जातीयर प्रत्यय में केवल इतना ही भेद है कि थाल् प्रत्यय प्रकार में होता है जबकि जातीयर प्रकारवान् में होता है—
जातीयरस्तु स्वभावात् प्रकारवति वर्तते थाल् पुनः प्रकारमात्रे।

—काशिका वृत्ति ५।३।२३

कुछ लोग बुद्धयवस्थानिबन्धन सादृश्य को प्रकार मानते हैं। देवदत्त को अगद, कुण्डल पहने देखकर 'पहले देवदत्त इस रूप मे था' इस रूप में बुद्धिप्रकल्पित सारूप्य झलकता है। बाह्य अर्थ अन्तर्गत ज्ञान के अनुकार मात्र है। इसलिए सर्वत्र सादृश्य ही प्रकार का अर्थ है। महाभाष्यकार ने प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ सूत्र में प्रकार के लिए 'अग्नि माणवकः' और 'गौर्वाहीक, उदाहरण दिए है। ये उदाहरण प्रकार को सादृश्य मानने पर ही उपयुक्त हो सकते है। गो के सादृश्य के कारण ही वाहीक को गौ. कहा जाता है।[3] और अग्नि की तीक्ष्णता के सादृश्य से माणवक को अग्नि कहा जाता है। गोत्व अथवा अग्नित्व रूप सामान्य का यह विशेष भेद नही है। गौर्वाहीकः मे गो शब्द का द्विर्वचन नही होता। शुक्ल आदि गुण शब्दो मे चरितार्थ वाहीकाभिधायी गो शब्द का द्विर्वचन नही होता :

गौर्वाहीक इति द्वित्वे सादृश्यं प्रत्युदाहृतम् ।
शुक्लादौ सति निष्पन्ने वाहीको न द्विरुच्यते ॥[4]

इस सम्बन्ध मे दो प्रकार के विचार है। कुछ लोग मानते है कि गुण-उपसर्जन-द्रव्यवाची का द्विर्वचन होता है जैसे शुक्लशुक्ल पट। गुणमात्रवाची का भी द्विर्वचन होता है जैसे शुक्लशुक्ल रूपम्। अन्य आचार्यों के मत मे गुणविशिष्ट द्रव्य-वाची का ही द्विर्वचन होता है। 'मूले मूले स्थूला.' अग्रे अग्रे सूक्ष्मा जैसे प्रयोगो को कात्यायन ने आनुपूर्वी के आधार पर समर्थन किया है, यहाँ वीप्सा नही है। क्योकि वीप्सा वहाँ होती है जहाँ एक जातीय पदार्थों का अनेक रूप, गुण आदि से अन्वय होता है। मूले मूले स्थूला अथवा सूक्ष्मा एक ही वस्तु को लेकर कहा जाता है। अग्र, मध्य और मूल ये तीन भाग है। एक ही मुख्य है अग्र भाग अथवा मूल भाग। दूसरे भागो का अग्र अथवा मूल व्यपदेश सापेक्ष है। अध सन्निवेश की अपेक्षा से अग्र कहा जाता है। ऊपर के सन्निवेश की अपेक्षा से मूल कहा जाता है। एक रूप भागो का स्थौल्य अथवा सौक्ष्म्य नही होता। केवल मूल की ओर स्थूलता बढती जाती है और अग्रभाग की ओर सूक्ष्मता बढती जाती है। इसलिए यहाँ वीप्सा का अभाव है। किन्तु 'मूले मूले पथि विटपिनाम्' वाक्य मे वीप्सा है। हेलाराज ने प्रथम मत को प्रश्रय दिया है :

गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिनः शुक्लादेरेव द्विर्वचनं गुणमात्रवाचिनश्चेति शुक्लशुक्ल· पट., शुक्लशुक्लं रूप पटुपटु· इतीष्ट सिद्धम् ।

छ प्रत्यय पर विचार

इव अर्थ विषयक समास से दूसरे इव के अर्थ मे पाणिनि ने छ प्रत्यय का विधान किया है—समासाच्च तदविषयात् ५।१।१०६ व्याकरण और साहित्य शास्त्र मे समान

३. गौर्वाहीकः में गुणगुणी में सदा अभेदोपचार मानने से भेद द्योतक षष्ठी विभक्ति नही होनी है—गुणगुणिनोश्चात्र विषये नित्यमभेदोपचाराद् भेदनिबन्धनषष्ठ्यभावः ।
—कैयट, भाष्यप्रदीप, ८।१।१२

४. वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ६२४

रूप से यह सूत्र चर्चा का विषय रहा है। इसके उदाहरण हैं—काकतालीयम्। अन्धकवर्तकीयम्। अजाकृपाणीयम्। जहाँ कुछ अतर्कित रूप में घटित हो जाता है, विस्मयकारी होता है उसके लिए काकतालीय जैसे प्रयोग लोक में प्रचलित थे। यहाँ दो इव के अर्थ हैं : काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालं काकतालमिव काकतालीयम्।

काक का आगमन यादृच्छिक है, ताल का पतन भी याद्दच्छिक है, आकस्मिक ताल के पतन से काक का का वध हो जाता है। इसी तरह देवदत्त का आगमन और दस्युओं का वहीं आगमन आकस्मिक है, दस्यु द्वारा देवदत्त का वध हो जाता है। यहाँ देवदत्त और दस्यु का समागम काक और ताल के समागम के सदृश है। यही द्वितीय उपमा का अर्थ है। पहले मे समास और दूसरे मे प्रत्यय होता है। यद्यपि ऐसे स्थलों मे समास विधायक कोई अन्य नियम नहीं है, उपर्युक्त सूत्र के ज्ञापन से ही समास सिद्ध हो जाता है। अथवा सुप् सुपा से समास माना जाता है। चन्द्रगोमी ने इसके लिए 'आकस्मिके' ४।३।८३ सूत्र पढा है।

काकतालीयम् मे काक का आगमन उपमान है, तालपतन भी उपमान है। दस्यु समागम उपमेय है। अतर्कितोपनतत्त्व दोनो मे समान धर्म है। दध्योदनः गुडधाना जैसे शब्दों में दधि और ओदन, गुड और धान सिद्ध पदार्थ हैं, सिद्ध पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए अन्यथानुपपत्ति के सहारे दधि शब्द की वृत्ति सेचन क्रिया मे मान ली जाती है और इस तरह सम्बन्ध उपपन्न होता है। इसी तरह काकताल शब्द स्वसमवेत व्यापार के बोधक हैं। काक शब्द का अर्थ काक का आगमन है। ताल शब्द का अर्थ ताल का पतन है। इसलिए इसका अर्थ हुआ—काक के आगमन सदृश अतर्कित ताल का पतन, ताल के पतन की तरह अतर्कित उपपन्न काक का आगमन। इस तरह परस्पर उपमान के रूप मे पूर्व पदार्थ और उत्तरपदार्थ में समन्वय की उपपत्ति होने से प्रत्ययार्थ विशेषण की उपपत्ति हो जाती है। काक के आगमन और ताल के पतन मे समन्वय की उपपत्ति हो जाने पर उनसे देवदत्त का आगमन और दस्यु का उपनिपात के उपमेय रूप में लिए जाने के कारण इव के अर्थ में समास की उपपत्ति होकर उसके वध से देवदत्त के वध रूप उपमेय मे छ प्रत्यय की प्रवृत्ति होती है।

नागेश भट्ट ने यहाँ लक्षणा का सहारा लिया है और सामानाधिकरण्य के सहारे उनके अर्थ में अन्वय माना है। इस तरह जो लोग कहते थे कि पूर्व पद और उत्तर पद मे अन्वय न होने के कारण, असामर्थ्य के आ जाने से समास नहीं हो सकता उनका समाधान हो जाता है। अप्पय दीक्षित ने इसे उपमानलोप का उदाहरण माना है।[1]

---

१. अत्र पूर्वोत्तरपदयोः काकागमनसदृशतालपतनसदृशयोः लक्षणा, सामानाधिकरण्येन च तदर्थयोरन्वयः एतेन पूर्वोत्तरपदयोरनन्वयेनासामर्थ्यात् समासो दुर्लभ इत्यपास्तम्। उपमेयवाचक तत् तत् पदसमभिव्याहारेण कदाचित् काकमरणे, कदाचित् तत्कृतोपभोगे लक्षणा। उपमानमात्रवाचकाभावाच्चेदृशे विषये उपमानलोप-व्यवहार आलङ्कारिकाणाम्।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ५।३।१०६

समास स्वार्थिक आदि में संघात के कारण विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। इस विषय में प्राचीन आचार्यों में विवाद था। पतंजलि ने वीरः पुरुषः जैसे पदों के विश्लेषण से आधिक्य अर्थ की अभिव्यक्ति की थी। कुछ लोग अवयव शक्ति से ही समुदाय शक्ति की व्याख्या करते हैं। उनके मत मे संघात में विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। भर्तृहरि ने दोनों मतों का संकेत नीचे लिखी कारिका में किया है :

अर्थवद्भ्यो विशिष्टोऽर्थः संघात उपजायते ।
नोपजायत इत्येके समासस्वार्थिकादिषु ॥

—वाक्यपदीय २।२१०

कुछ लोग मानते थे कि राजपुरुष जैसे पदो में राज शब्द अर्थवान् है, पुरुष शब्द अर्थवान् है, इनसे घटित राजपुरुष जैसे समस्त पद भी विशिष्ट रूप मे अर्थवान् है। अर्थात् अर्थवत्ता अवयव के अर्थ के बल से व्यक्त होती हुई भी समुदाय मे भी है और विशिष्ट रूप मे है। स्वार्थिक प्रत्ययो में अवयवार्थ से अतिरिक्त अर्थान्तर नही व्यक्त होता। अत. वहा अवयवार्थ से अतिरिक्त कोई सघातार्थ नही है।

भर्तृहरि के अनुसार राजपुरुष', अश्वकर्ण. जैसे समस्त पदों मे समुदाय से जो अर्थ उत्पन्न होता है वह अवयव के अर्थ पर आधारित होता हुआ भी अवयवशक्ति का अतिक्रमण कर जाता है·

राजपुरुषः अश्वकर्ण. नीलोत्पलम् गौरखर इति व्यतिक्रान्तावयवशक्तिरप्यतिक्रान्तावयवशक्तिश्चार्थवद्भ्योऽवयवेभ्यः समुदायार्थं उपजायते ।

वाक्यपदीय २।२१० हरिवृत्ति, हस्तलेख

भर्तृहरि ने इस प्रसंग मे संग्रहकार के दो उद्धरण उद्धृत किए हैं :

तथाहि संग्रहकार पठति—" 'त्रिविधा. समुदाया शब्दान्वयिनोऽर्थान्वयिनः शब्दार्थान्वयिनश्च। शब्दान्वयिनो गौरखर. अश्वकर्ण इति। अर्थान्वयिनः ओत्रियो वैडूर्यं पारशव इति। शब्दार्थान्वयिनो राजपुरुषः नीलोत्पलम् ब्राह्मणकम्बल इति।'

स एवाह—'निरन्वयानपि समुदायान् रूढिरनुगच्छन्तीति तद् यथा मुसलम् उलूखलो बलाहक इति।'

—वाक्यपदीय २।२१० हरिवृत्ति, हस्तलेख।

संग्रहकार के अनुसार समुदाय तीन प्रकार के होते हैं। शब्दान्वयी, अर्थान्वयी और शब्दार्थान्वयी। शब्दान्वयी वे समुदाय हैं जिनकी परिसमाप्ति शब्द के अन्वय मे ही होती है। जैसे गौरखर, अश्वकर्ण शब्द मे समुदाय से जात्यन्तर का बोध होता है। इन पदो का अपना कोई अर्थ नही है। जात्यन्तर अर्थ अवश्य ही इन पदो के सस्पर्श से ही होता है। गौरखर शब्द का अर्थ कोई जंगली जीव होता है।[1] उसका गौर शब्द अथवा खर शब्द से कोई सम्बन्ध नही है। अश्वकर्ण शब्द वृक्षविशेष,

१. महाभाष्य में ६।२।२१ में गौरखरवदरण्यम् वाक्य मिलता है। मानिअर विलियम ने गौरखर शब्द का अर्थ जंगली गदहा दिया है।

चाम्र का वृक्ष, का वाचक है। उसका अश्व और कर्ण शब्द के अर्थ से सम्बन्ध नहीं है। कुछ सादृश्य हो सकता है। इनमें पद के अर्थ के समन्वय न होने पर भी समुदाय के अर्थ की उपलब्धि होती है। इसलिए संग्रहकार के शब्दान्वयी शब्द का अभिप्राय यह हो सकता है कि जहां समुदाय का अन्वय तो शब्द में होता हो किन्तु उसका अवयव शब्द के अर्थ पर निर्भर न करता हो। अर्थान्वयी समुदाय वे हैं जिनका अन्वय अर्थ से होता हो, शब्द से नहीं। जैसे श्रोत्रिय शब्द। छन्द अध्ययन करनेवाले के अर्थ में पाणिनि ने इसका निपातन किया है। यह शब्द दो-चार उन शब्दों में से है जो वाक्य का अर्थ अपने में समेटे रहते हैं और इसलिए 'वाक्यार्थे पदवचन' कहे जाते हैं। यहां समुदाय-अर्थ का श्रोत्र शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। वैडूर्य अथवा वैदूर्य की उत्पत्ति वालवाय में होती थी। विदूर नगर में इनका केवल संस्कार होता था अथवा जित्वरी की तरह यह उपचरित शब्द है। इसी तरह पारशव (मोती निकलने का स्थान) का परशु शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्दार्थान्वयी समुदाय का सम्बन्ध अवयवगत शब्द और उनके अर्थ दोनों के साथ होता है जैसे राजपुरुष, नीलोत्पल और ब्राह्मण-कम्बल शब्दों मे।

संग्रहकार ने यह भी कहा है कि ऐसे भी समुदाय होते हैं जो निरन्वय होते हैं। उनका अवयवगत शब्दो या उनके अर्थों से किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं बैठ पाता। ऐसे शब्दों मे मुसल, उलूखल, बलाहक हैं। मुसल शब्द सभवत: कुशल की तरह आरंभ में लाति क्रिया से सम्बन्ध रखता था। संग्रहकार का अभिप्राय यह है कि मुसल के अर्थ का न तो मुस और न ल से सम्बन्ध है, न उनके अर्थ से, न किसी से। मुसल शब्द समुदाय तो है किन्तु निरन्वय है। यही बात उलूखल और बलाहक के लिए भी है।[1]

किन्तु एक वर्ग ऐसा भी था जो इनमें भी एक देशान्वय मानता था :

एकदेशान्वयस्तु तेष्वपि विद्यते नोपजायत इत्येके।

—वाक्यपदीय ३।२१० हरिवृत्ति, हस्तलेख।

स्वार्थिक दो प्रकार के है—असत्वभूतार्थ और सत्वभूतार्थ। इनमे से प्रत्येक वाचक, द्योतक, विशेषक, सहाभिधायक, सार्थक और निरर्थक भेद से छः प्रकार के होते हैं।

सार्थक स्वार्थिक के सम्बन्ध मे भर्तृहरि ने ध्यानग्रहकार के मत का उल्लेख किया है। उनके मत में स्वार्थिकों की अर्थवत्ता के पक्ष मे शेष समुच्चयादि क्रिया-कारक विशेषणविशेष्य सम्बन्ध के अभाव मे स्वार्थिको मे उपचय सम्बन्ध होता है :

स्वार्थिकानामर्थवत्तापक्षे शेषसमुच्चयादि क्रियाकारकविशेषणविशेष्य

१. वर्धमान ने इन शब्दों की व्युत्पत्ति दी है—मुहुः स्वनं लातीति मुसलः। उर्ध्वं खं बिलं यस्यास्तीति उलूखलम्। वारिणो वाहकः बलाहकः। गणरत्नमहोदधि पृ० १०१, १०२ पं० भीमसेन संपादित। ये वैयाकरणों की बौद्धिक क्रीडाएं हैं।

सम्बन्धाभावे स्वार्थिकानामुपचयसम्बन्ध इति ध्यानकारदर्शनम् ।[1]

—वाक्यपदीय २।२१० हरिवृत्ति, हस्तलेख

---

१. भर्तृहरि का ध्यानकार दर्शन से अभिप्राय ध्यानग्रहकार के दर्शन से है। ध्यानग्रहकार का उल्लेख भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में भी किया है—इहोभयं प्राप्नोति। उभये इति ध्यानग्रहकारेणोक्तम्। महाभाष्य त्रिपादी (दीपिका) पृ० ३६० हस्तलेख, मद्रास ओरिएण्टल मेनुस्क्रोप्ट लाइब्रेरी। ध्यानग्रहकार का उल्लेख भामह ने भी किया है—

सत्राम्भसं पदावर्तं पारायणरसातलम्।
धातूणादिगण ग्राहं ध्यानग्रहबृहत्प्लवम्॥ ६।१)

मेरे विचार में भामह का ध्यानग्रह से अभिप्राय ध्यानग्रहकार से अथवा ध्यानग्रह व्याकरण से है। रोम से प्रकाशित उद्भट वृत्ति में यह अंश खंडित है। अन्य लोगों ने ध्यान से समाधिवाला ध्यान अर्थ लिया है।

११

स्फोटवाद

सस्कृत व्याकरणदर्शन मे स्फोटवाद का स्वरूप अविवादात्मक नही है। स्फोट का स्वरूप बदलता गया है और वह भौतिक से अभौतिक बन गया है। उसका मूल अज्ञात है। हरदत्त और नागेश ने स्फोट का सम्बन्ध स्फोटायन से जोडा है।[1] किन्तु इस कल्पना के पीछे कोई प्रौढ आधार नही है। दूसरे दर्शनों मे स्फोटवाद की चर्चा व्याकरणदर्शन के सिद्धान्त के रूप मे की गई है। स्फोटवाद के प्रवर्तक के रूप मे बहुधा भर्तृहरि का नाम लिया जाता है। किन्तु स्वय भर्तृहरि ने स्फोट के प्रसंग मे मतभेदो की चर्चा की है। स्फोट शब्द का उल्लेख श्लोकवार्तिक मे और महाभाष्य मे भी है।[2] इसलिए स्फोट सिद्धात के मूल प्रवर्तक आचार्य का अभी तक पता नही चला है। भर्तृहरि के समय तक स्फोट स्फोटवाद का स्वरूप नही ग्रहण कर सका था। मल्लवादि क्षमाश्रमण ने भर्तृहरि के कई मतो का उल्लेख किया है, किन्तु स्फोटवाद का उल्लेख नही किया है। भर्तृहरि की दृष्टि मे स्फोट के स्वरूप पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। महाभाष्य के बाद स्फोट की कुछ अधिक चर्चा वाक्यपदीय मे होने के कारण स्फोटवाद का वाक्यपदीय से सबध कर दिया गया है। वस्तुत. भर्तृहरि स्फोटवाद के आदि आचार्य नही जान पड़ते। उन्होंने स्फोट की व्याख्या ध्वनि के प्रसंग में की है और उसका आदि और अन्त ध्वनि से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त उसके पीछे कोई रहस्य नही है। किन्तु कैयट, पुण्यराज, हेलाराज जैसे मूर्धन्य विद्वान् स्फोटवाद का स्रोत वाक्यपदीय मे ही मानते हैं। जिन आचार्यों ने स्फोटवाद के खण्डन किए हैं उनके लक्ष्य भी भर्तृहरि ही जान पडते हैं।

अस्तु, स्फोट का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में व्याकरणदर्शन से है और

१. 'स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः'—पदमंजरी, ६।१।१२३, पृ० ४८४ 'वैयाकरण नागेशः स्फोटायन ऋषेर्मतम्' मंजूषा, पृ० १५७३

२. किन्तु कई वैयाकरणों ने महाभाष्य को स्फोटप्रतिपादक ग्रन्थ नहीं माना है— तदेतस्मिन् महासमुद्रदर्शने सर्ववाद विमर्दसहे स्फोटाख्यभाववर्णनप्रतिपादने न काचित् क्षतिः सिद्धान्तस्य वैयाकरणानाम्—महाभाष्यव्याख्या, हस्तलेख, मद्रास नं० आर० ४४३६

अपेक्षाकृत अर्वाचीन व्याकरणदर्शन में स्फोटवाद का पर्याप्त विवेचन किया गया है। यदि पतंजलि से लेकर नागेश तक के स्फोट-साहित्य को सामने रखकर स्फोट पर विचार किया जाय तो निम्नलिखित रूप सामने आते हैं :

१—स्फोट ध्वनि रूप में।

२—स्फोट शब्द रूप में।

३—स्फोट नित्य शब्द रूप में।

४—स्फोट जाति रूप में।

५—स्फोट वाक् रूप में।

६—स्फोट शब्दब्रह्म के रूप मे।

ये भेद एक-दूसरे से सर्वथा विभक्त नहीं हैं। केवल विकास क्रम की दृष्टि से इस रूप में उल्लेख किया गया है। इनमें स्फोट के ध्वनि स्वरूप का विवरण महाभाष्य मे है। पतंजलि ने स्फोट और ध्वनि में केवल यह भेद दिखाया है कि स्फोट ज्यो का त्यों रहता है जबकि वृद्धि, विस्तार ध्वनि से होता है। ध्वनि का आभास स्पष्ट होता है। जबकि स्फोट लक्षित नहीं होता :

स्फोटश्च तावान् एव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः।"

ध्वनि· स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।

अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत् स्वभावतः॥—महाभाष्य, १।१।७०

महाभाष्य के इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्फोट और शब्द समानार्थक नहीं हैं। स्फोट ध्वनि के सदृश ही शब्द का गुण है। स्फोट के ध्वनि रूप का स्पष्ट संकेत महाभाष्य के इस वाक्य मे है·

अथवोभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते। रश्रुतेः लश्रुतिः भवतीति।

—महाभाष्य, भाग १, पृ० २८, कीलहार्न संस्करण

महाभाष्यकार ने र ध्वनि के स्थान पर ल ध्वनि को स्फोटमात्र कहा है। टीकाकारों मे यहाँ विवाद है। भर्तृहरि के अनुसार स्फोट से अभिप्राय उसके ध्वनिहीन स्वरूप से है। अथवा आद्य ध्वनि, केवल रूपमात्र का, प्रत्यायक ध्वनि, यहाँ स्फोट शब्द से विवक्षित है। जो स्वतंत्र है, समुदायस्थ है और विशेष का प्रतिपादक है वह ध्वनि यहां विवक्षित नही है। अथवा, र श्रुति और ल श्रुति में ईषत् साम्य (आरूपमात्र) है, वही विवक्षित है। अथवा कार्यपक्ष मे, संयोग से अथवा विभाग से अथवा सयोगविभाग दोनों से जो निष्पन्न होता है वह स्फोट है। करण-व्यापार स्फोट का निष्पादक है। अथवा स्फोटमात्र शब्द से आकृति अभिप्रेत है। ध्वनि के बिना आकृतिनिर्देश सम्भव नही है, अतः द्रव्य का उपादान नान्तरीयक रूप मे होता है·

अध्वनिकः स्फोटः इत्युक्तं भवति। ननु च ध्वनिमन्तरेण स्फोटस्योपलब्धिरेव नास्ति। एवं तर्हि य एवासौ आद्यो ध्वनि. रूपमात्रस्य प्रतिपादकस्तावानेवाश्रीयते। यस्त्वसौ विशेषस्य प्रतिपादकः यः समुदायस्थो यः स्वतंत्र इति नासावाश्रीयते। विद्यमानेऽपि तत्राविशेषेआरूपमात्रं यथा गोविशेषेऽश्वोपलब्धिराकृपमात्रेण वोपलब्धिः, तस्माद् आरूपमात्रग्रहणमुभयोः। अथवा कार्यवत्

बुद्धिकृत्वा इदमुच्यते। तत्र कार्यपक्षे स्फोट एव संयोगात् विभागात् संयोग-विभागाभ्यां वा निष्पद्यते। यस्त्वनुरणन तद् ध्वनत एव। तेन च एवास्ते स्फोटस्य निष्पादक करणस्य व्यापारस्तावद् एवाश्रयणम्। अथवा स्फोट-मात्रमिति आकृतिनिर्देशोऽयमित्युपपन्न भवति।

—महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ, ७६

अपने इन्ही विचारो को भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे भी कुछ विस्तार से दिया है।[1] अनित्यपक्ष मे प्रथम अथवा आदि मे निर्वृत्त शब्द का नाम स्फोट है जोस्थान, करण आदि के सहारे स्वरूप ग्रहण करता है। नित्यपक्ष मे संयोगज और विभागज ध्वनियो से व्यङ्ग्य स्फोट है

'अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुक प्रथमाभिनिर्वृत्त य शब्द स स्फोट इत्युच्यते। नित्यपक्षे तु संयोगजविभागजध्वनिव्यङ्ग्य स्फोट।

—वाक्यपदीय, १।१०२ हरिवृत्ति, पृ० ६८

ऐसा जान पड़ता है संग्रहकार ने प्राकृतध्वनि और स्फोट को समान माना था। भर्तृहरि ने प्राकृतध्वनि को स्फोट का परिच्छेदक माना है। उनके अनुसार प्राकृतध्वनि स्फोट का व्यंजक भी है। भर्तृहरि के अनुसार करण-संघात से जो ध्वनि उत्पन्न होती है और उससे जो ध्वनि उत्पन्न होती है वे दोनो प्राकृत ध्वनि है। इन दोनो से विशेष (शब्दस्वरूप) की उपलब्धि होती है। जो ध्वनि ध्वनि से उत्पन्न होती है वह वैकृत ध्वनि है। उससे विशेष की उपलब्धि नही होती

"य करणसंनिपातादुत्पद्यते यश्च तस्मात तौ प्राकृतौ। ताभ्या विशेषोपलब्धि। यस्तु ध्वनितो ध्वनिरुत्पद्यते स वैकृत। ततो विशेषाभावात।

—महाभाष्यदीपिका, पृ० ४६

संभवत संग्रहकार ने शब्द के नित्य रूप को सामने न रखकर शब्द के सामान्य विचार से प्राकृत ध्वनि और वैकृत ध्वनि का विवेचन किया था और प्राकृत ध्वनि को शब्द का ग्राहक माना था। प्राकृत ध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति न होने मे प्राकृत ध्वनि का काल ही स्फोट का काल मान लिया गया था। भर्तृहरि ने इसे उपचार रूप मे स्वीकार किया था

स च प्राकृतध्वनिकालो व्यतिरेकाग्रहणादध्यारोप्यमाण स्फोटे स्फोटकाल इत्युपचर्यते शास्त्रे। —वाक्यपदीय, १।७७ हरिवृत्ति

किन्तु भर्तृहरि ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि स्फोट की उपलब्धि सदा ध्वनि से संसृष्ट रूप मे ही होती है

---

१ भर्तृहरि ने पहले महाभाष्यत्रिपादी (दीपिका) की रचना की थी। बाद में वाक्यपदीय लिखा था। इसका संकेत उनके इस वाक्य में है—क्रमेण तु वर्णतुरीयग्रहणे सति समुदायाभावात् अविषयत्वम्-यावा बुद्धे प्राप्नोतीति संहितासूत्रभाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्—

—वाक्यपदीय, १।८१ हरिवृत्ति

संभवत भाष्यदीपिका का मूल नाम भाष्यविवरण था।

ध्वनिना तु संसृष्ट स्फोटस्य स्वरूपमुपलभ्यते ।

—वाक्यपदीय, १।७६ हरिवृत्ति ।

यह वाक्य इस तथ्य का निदर्शक है कि भर्तृहरि का शब्ददर्शन और स्फोटदर्शन सर्वथा समान नहीं है। स्फोट ध्वनिनिरपेक्ष नहीं है। शब्द, भर्तृहरि के मत मे, ध्वनिनिरपेक्ष भी है, उसका अन्त सनिवेशी, आन्तरिक, बौद्धिक रूप भी है। अवश्य ही इस विषय मे विवाद के लिए स्थान है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भर्तृहरि ने शब्द ग्रहण की प्रक्रिया के प्रसग मे ही स्फोट पर विचार किया है। शब्दग्रहण की प्रक्रिया से शब्द का स्वरूप सस्पृष्ट है। अत स्फोट और शब्द का परस्पर पर्याय के रूप मे प्रयोग जहाँ-तहाँ वाक्यपदीय मे मिल जाते है।[४] इसी तरह शब्द और ध्वनि शब्द का पर्याय के रूप मे प्रयोग महाभाष्य और वाक्यपदीय मे मिलते है।[५] किन्तु इसमे ऐसा निष्कर्ष निकालना युक्तिसगत नही है कि इनका स्वरूप भी एक है। अखण्डस्फोट, सखण्डस्फोट, निरवयवस्फोट, बाह्यस्फोट आन्तरस्फोट आदि शब्दो के स्पष्ट उल्लेख वाक्यपदीय मे नही है। दूसरे लेखको ने शब्द और स्फोट को एक समझकर शब्दनित्यत्व के स्थान पर स्फोटनित्यत्व जैसे शब्दो के प्रयोग आख मूद कर किए है। अवश्य ही भर्तृहरि ने स्फोट को ध्वनि से व्यड्ग्य माना है, उसे एक माना है और स्फोट की आत्मा को नित्य माना है किन्तु बहुत ही सावधानी के साथ उन्होने शब्दतत्त्व को स्फोटतत्त्व से अलग रखा है। भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व शब्द के स्थान पर स्फोटतत्त्व शब्द का व्यवहार नही किया है। उन्होने स्पष्ट रूप से शब्द और स्फोट के भेद पर विचार नही किया है। ध्वनि से जो व्यड्ग्य है वही स्फोट है, वही शब्द है। किन्तु स्फोट शब्द का एक पहलू एक पक्ष मात्र है। शब्द का एक स्फोटात्मक रूप है और उसका एक रूप स्फोटरूप से अधिक गहराई मे है। भर्तृहरि का शब्ददर्शन स्फोट से परे प्रतिभा के तल तक जाता है। सक्षेप मे एक स्थान पर शब्ददर्शन का चित्र उन्होने दे दिया है

> **इह द्वौ शब्दात्मानौ नित्य कार्यश्च। तत्र कार्यो व्यावहारिक पुरुषस्य वागात्मन प्रतिबिम्बोपग्राही। नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनि, सहृतक्रम:, सर्वेषामन्त सन्निवेशी, प्रभवो विकाराणाम्, आश्रय कर्मणाम्, अधिष्ठान सुखदु खयो, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्ति घटाविनिरुद्ध इव प्रकाश परिगृहीत-भोगक्षेत्रावधि, सर्वमूर्तीनामपरिणामा प्रकृति, सर्वप्रबोधरूपतया सर्वप्रमेय-रूपतया च नित्यप्रवृत्तप्रत्यवमासस्वप्नप्रबोधानुकारी प्रवृत्तिनिवृत्तिपदाभ्या पर्जन्यवद् वायाग्निवच्च प्रसवोच्छेद शक्तियुक्त सर्वेश्वर सर्वशक्ति महान् शब्दवृषभ।**
>
> —वाक्यपदीय, १।१३१, हरिवृत्ति[६]

---

४ जैसे, प्राकृतस्य ध्वने काल शब्दस्येत्युपचयते, वाक्यपदीय, १।७६

५ 'लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते'—महाभाष्य, कीलहार्न सस्करण, भाग १, पृ० १ 'न भेदो ध्वनि: शब्दयो:।
—वाक्यपदीय, १।९९

६ भर्तृहरि का यह अष्टद्गक पाचवी शताब्दी के सस्कृत गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है और बाणभट्ट की शैली के पूर्वरूप इसमें देखे जा सकते है।

इस प्रघट्टक में शब्द को नित्य, सभी व्यवहार का मूल, संहतक्रम, अन्तः संनिवेशी, विकार-सृष्टिक्रम का उत्पत्तिस्थान, कर्म के आश्रय, सुख-दुःख का अधिष्ठान आदि कहा गया है और उसे सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान के रूप में व्यक्त किया गया है। भर्तृहरि ने स्फोट के लिए इस तरह की शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है। अस्तु, वाक्यपदीय में व्यवहृत स्फोट, स्फोटवाद के ध्वनिसम्बद्धरूप को प्रमुख रूप में व्यक्त करता है। स्फोट के भेद जैसे वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट इनका भी परिच्छेद भर्तृहरि ने ध्वनि के आधार पर ही किया है :

वर्णपदवाक्यविषया हि विशिष्टाः प्रयत्नाः, तत् प्रेरिताश्च वायवः स्थानान्यभिहृनन्ति।

—वाक्यपदीय, १।८६ हरिवृत्ति

अर्थात् वर्ण, पद और वाक्य ध्वनियों के प्रयत्न-सापेक्ष इकाई मात्र हैं। इनका विभाग ध्वनि के परिच्छिन्न स्वरूप पर निर्भर करता है। भर्तृहरि के शब्दों में वर्ण स्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट-ध्वनि के अपचित और उपचित अवस्था से संबद्ध हैं :

सर्व एव प्रचिताप्रचितरूपा वर्णपदवाक्यस्फोटाः।

—वाक्यपदीय, १।१०२, हरिवृत्ति

भर्तृहरि ने भागशब्द और निर्भागशब्द का व्यवहार किया है। ये दोनों शब्द क्रमशः सखण्ड स्फोट और अखण्डस्फोट (निरवयवस्फोट) के आदि रूप हैं। भागशब्द का सिद्धान्त भेदवादियों का है। निर्भागशब्द का सिद्धान्त जातिस्फोट मानने वालों का है। भेदवादी प्राचीन मीमासक थे जो शब्द को नित्य मानते थे किन्तु शब्द मे भाग स्वीकार करते थे। उनके मत मे गौः शब्द में गकार, उकार और विसर्जनीय हैं। इनसे अतिरिक्त वर्णग्राहक कोई अन्य धर्म गौ शब्द में नही है और न इसके पीछे निर्भाग जैसा कोई दर्शन है। उपवर्ष इसी मत को माननेवाले थे। वे वर्ण को ही शब्द मानते थे।[७] इस मत मे कुछ विप्रतिपत्तियो का निर्देश भर्तृहरि ने स्वय किया है और उनका समाधान भी दिया है। भागपक्ष मे पद के स्वरूप का अवधारण ठीक से नहीं हो सकेगा, क्योकि क्रम से अभिव्यक्ति दशा मे वर्णतुरीयांश की अभिव्यक्ति अव्यपदेश्य होने के कारण ठीक से नहीं हो सकेगी। वृषभ के अनुसार वर्णतुरीय ध्वनि अव्यपदेश्य इसलिए मानी जाती है कि ध्वनि अपकर्ष की काष्ठा तक पहुँचाई गई रहती है। वर्णतुरीयांश की अव्यपदेश्यता उसकी सीमा के ठीक परिज्ञान न होने के कारण भी मानी जा सकती है। कौनसी अंतिम ध्वनि है, इसका निर्णायक भागपक्ष मे, क्रमपक्ष मे कोई वस्तु नही है। इसी आधार पर, अन्त्य सीमा के ठीक परिज्ञान न होने के कारण अन्त्यध्वनि परिच्छेद का विषय भी नही हो सकेगा अर्थात् कहाँ से कहाँ तक इकाई मानी जाय इसके निर्णायक किसी तत्त्व के न होने के कारण शब्द के स्वरूप का परिच्छेद संभव न हो सकेगा। यदि एक साथ, युगपत्, सभी वर्णों (अवयवों)

७. 'वर्णा एव तु शब्द इति भगवान् उपवर्षः'—शांकरभाष्य, १।३।२८

की अभिव्यक्ति मानी जायगी : गवै, वेग, तेन, न ते, आदि शब्दों में श्रुतिभेद नहीं मानना पड़ेगा। इसका समाधान भर्तृहरि ने भेदवाद की दृष्टि से अर्थान्तर के आधार पर शब्दान्तर की कल्पना के सहारे किया है। शंकराचार्य ने पिपीलिका पंक्ति के दृष्टान्त के आधार पर समाधान किया है। पिपीलिका क्रम से चलती है फिर भी देखने वाले के मन में एक पंक्ति का भान करा देती है। इसी तरह क्रम के आधार पर प्रवर्तित वर्ण भी पद बुद्धि जगा देते हैं। वर्णों के अविशेष होने पर भी क्रमविशेष के आधार पर पदविशेष का अवधारण हो जाता है।[८] अभिव्यंजक ध्वनिक्रम के आधार पर भेद की प्रतीति के लिए भर्तृहरि ने मण्डूकवसा आदि से प्रज्वलित दीप से रज्जु आदि में सर्प आदि की प्रतिपत्ति का दृष्टान्त दिया है। जो शब्दात्मा को निर्भाग मानते हैं, उनके लिए भागभेद प्रकल्पित उपाय मात्र है, वास्तविक नहीं है।

—वाक्यपदीय, १।९३ हरिवृत्ति

शब्द के निर्भाग पक्ष के समर्थक जातिस्फोट का आश्रय लेते हैं। वे शब्द की नित्यता आकृतिनित्यता के माध्यम से मानते हैं। जातिस्फोट से अभिप्राय शब्दाकृति से है। उनके अनुसार स्फोट शब्द से शब्द की आकृति का ही बोध होता है। शब्दाकृति शब्दत्व से भिन्न है। दोनों में भेद यह है कि शब्दत्व सर्वशब्दसाधारण है जबकि शब्दाकृति का सम्बन्ध शब्दविशेष के रूप से है। शब्दाकृति क्रम से उत्पन्न एक साथ न होनेवाले वर्णों के आश्रय से अभिव्यक्त होती है। उसके उपलब्धिनिमित्त संस्कार कल्पित होते हैं। इस मत मे शब्दशक्ति उत्पन्न होती है, किन्तु स्वयं अव्यपदेश्य है। फिर भी व्यपदेश्य स्फोट का द्योतन करती है और उस दशा मे शब्द-व्यक्ति का नाम ध्वनि हो जाता है (वाक्यपदीय, १। ४ हरिवृत्ति)।

कुछ आचार्यों ने माना है कि शब्द अविकार है। शब्दव्यक्ति भी नित्य है। शब्द की अभिव्यक्ति मे ध्वनि निमित्त मात्र है। किन्तु ध्वनिगत विकार से शब्द भी अनुरंजित रहता है। जैसे प्रकाशगत धर्म से वस्तु अनुरंजित रहती है। वृषभ के अनुसार इस मत में आकाशगत एक स्फोटवर्ण है। करण के अभिघात से ध्वनि भेद होता है, वह ध्वनिभेद मे निमित्त है किन्तु उससे बाह्यस्फोट मे भेद नहीं होता।[९]

ध्वनि से शब्द (स्फोट) की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु एक अभाववादी संप्रदाय था जो शब्द की अभिव्यक्ति को स्वीकार नही करता था।[१०] अभाववाद के प्रथम विकल्प के अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति नही होती। अभिव्यक्ति के लिए समान

---

८. अत्राह—यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युस्ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात। त एव वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति। अत्र वदामः—सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पंक्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति।—शांकर भाष्य १।३।२८।

९. वृषभ, वाक्यपदीय, १।९५

१०. आनन्दवर्धन ने ध्वनि के अभाववादियों के भी तीन विकल्प दिए हैं। आनन्दवर्धन के विचार के आधार भर्तृहरि द्वारा प्रदर्शित अभिव्यंजना के विषय में तीन तरह के अभाव जान पड़ते हैं।

देश का होना आवश्यक है। दीपक घट का अभिव्यंजक तभी होता है जबकि घट और दीप एक स्थान पर हों, उनकी उपलब्धि एक स्थान पर हो। इसलिए समानदेशता अभिव्यंजना के लिए आवश्यक है। शब्द के विषय में समानदेशता नहीं है। शब्द के व्यंजक करण के संयोगविभाग हैं और उसकी उपलब्धि अन्यत्र (आकाश में) होती है। अतः देशभेद होने के कारण शब्द का अभिव्यंजन नही होता। इस आक्षेप का उत्तर भर्तृहरि ने दिया है। उनके अनुसार अभिव्यक्ति के लिए देश की एकता का नियम केवल मूर्त पदार्थों के लिए है। अमूर्त पदार्थों के लिए यह नियम नही है। ध्वनि और शब्द, भर्तृहरि की दृष्टि मे, अमूर्त हैं। अमूर्त पदार्थों के लिए देशभेद विचार अनुपयुक्त है। देशभेद के आधार पर उनमें भेद नहीं किया जा सकता। फिर, मूर्त पदार्थ मे भी आदित्य की तरह कुछ पदार्थ होते हैं जो एक देश मे होते हुए भी परिच्छिन्न रूप मे अनेक देशो मे उपलब्ध होते हैं। इसलिए देशभेद के आधार पर अभिव्यक्ति का अभाव नही माना जा सकता।

दूसरे अभाववादी के मत मे भी शब्द की अभिव्यक्ति नही होती। उनके अनुसार जहाँ अभिव्यक्ति होती है वहाँ अभिव्यंग्य के लिए नियत अभिव्यंजक अपेक्षित नही होता। घट आदि की अभिव्यक्ति दीप से भी होती है, मणि से भी होती है, ओषधि से भी हो सकती है और आकाशीय ज्योति से भी होती है। इसलिए जिसे अभिव्यक्त करना है उसके नियत अभिव्यंजक नहीं है और अभिव्यंजक के लिए भी नियत अभिव्यंग्य नही है। जहाँ तक शब्द का प्रश्न है इसकी अभिव्यक्ति नियत नियम के अनुसार है। वह नाद से ही अभिव्यक्त होता है और विशेष नाद से ही विशेष शब्द की अभिव्यक्ति मानी जाती है। जो ध्वनि गो शब्द का अभिव्यंजक है वही अश्व शब्द का अभिव्यंजक नही है। इसलिए नियत नियम के कारण शब्द अभिव्यक्त नहीं होता। इसके उत्तर में भर्तृहरि ने कहा है कि नियत नियम भी अभिव्यक्ति मे हेतु होते हैं। जैसे चक्षुसमवेत रूप ही बाह्यरूप का अभिव्यंजक होता है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा गुण, अथवा इन्द्रिय अथवा इन्द्रिय-गुण रूप का व्यंजक नही होता। तुल्येन्द्रियग्राह्य विषय मे भी यह नियम देखा जाता है। गन्ध शैलेय (शिलाजीत) जैसे द्रव्य किसी विशेष द्रव्य से मिलकर गन्धविशेष की अभिव्यक्ति में समर्थ देखे जाते हैं। भावशक्तियाँ विचित्र होती हैं।

तीसरे अभाववादी भी शब्द की अभिव्यक्ति नहीं स्वीकार करते हैं। अभिव्यंजक के वृद्धि अथवा ह्रास से अभिव्यंग्य में वृद्धि अथवा ह्रास नही देखा जाता। दीप की वृद्धि अथवा उसके ह्रास से घट की वृद्धि अथवा ह्रास नहीं होता। अभिव्यंजक के सख्या भेद से अभिव्यंग्य में संख्या भेद नहीं होता। एक दीप से यदि एक घट अभिव्यक्त हो रहा है तो दो दीप जला देने पर भी घट एक ही रहता है। इस दृष्टि से शब्द अभिव्यंग्य नही है, क्योंकि ध्वनि की वृद्धि अथवा उसके ह्रास से शब्द मे वृद्धि और ह्रास प्रतीत होते हैं। अभिघात भेद से भी शब्द भेद देखा जाता है, एक अभिघात से एक शब्द, दो से दो देखे जाते हैं। इस आक्षेप का परिहार भर्तृहरि ने किया है। अभिव्यंजक के भेद का अभिव्यंग्य पर भी प्रभाव पड़ता है। निम्न (गहरे)

आदर्श मे मुख का प्रतिबिम्ब उन्नत दिखाई देता है और उन्नत दर्पण मे निम्न दिखाई देता है। यहाँ सस्थान भेद है। खड्ग मे प्रतिबिम्ब दीर्घ होता है। यह प्रमाणभेद है। प्रियगु तैल मे प्रतिबिम्ब श्याम दिखाई देता है। यह वर्णभेद है। बिम्ब एक और अभिन्न है फिर भी अभिव्यजक के राग से अनुरजित होकर विभिन्न जान पडता है। स्फोट भी अभिव्यजक भेद से भिन्न जान पडता है। भर्तृहरि प्रतिबिम्ब दर्शन के उस पक्ष को मान्य नही समझते जिसके अनुसार बिम्ब से प्रतिबिम्ब भावान्तर स्वतन्त्र सत्ता रखता है। क्योकि विरुद्ध परिणाम वाले वज्र(हीरा)आदर्शतल आदि मे पवत के सरूप भावो की उत्पत्ति सभव नही है। इसलिए शब्द की अभिव्यक्ति होती है। और वर्णस्फोट, पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट मे भेद वृत्तिभेद के आधार पर होता है। सर्वथा स्फोट की अभिव्यक्ति होती है।—वाक्यपदीय, १।९७-१०१

अभाववादियो के सदृश ही एक ऐसा भी वर्ग था जो शब्द की अभिव्यक्ति तो मानता था किन्तु अभिव्यक्ति को अनित्य का समानधर्मा मानता था फलत शब्द को अनित्य मानता था। उनके मत मे अनित्य घट आदि का प्रदीप आदि से अभिव्यक्ति देखी जाती है। शब्द भी घट की भाँति अभिव्यग्य है। अत वह भी घट सदृश अनित्य है। यदि शब्द की अभिव्यक्ति नही स्वीकार की जाती तो शब्द की उत्पत्ति माननी होगी। और उत्पत्तिपक्ष मे भी शब्द (स्फोट) अनित्य ही होगा। इसका समाधान यह है कि यह नियम नही है कि जो अभिव्यग्य होते है वे अनित्य ही होते है। व्यक्ति से जाति अभिव्यग्य है। फिर भी जाति नित्य है। जो जाति की सत्ता नही मानते उनके लिए यो तर्क दिया जाता है—जिस तरह से अनियवादी नित्यत्व को अगीकार न कर अनेकान्तिक दोष का परिहार करता है उसी प्रकार अभिव्यक्तिवादी भी जाति को नित्य मानकर व्यतिरेकासिद्धि का आश्रय लेता है। —वृषभ वाक्यपदीय १।९६

जो लोग शब्द (स्फोट) की अभिव्यजना स्वीकार करते थे उनमे भी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के विषय मे, दो त्रिकदर्शन थे अर्थात् दो प्रकार से तीन तीन वाद थे। इन्हे भर्तृहरि ने '**वादा अयोऽभिव्यक्तिवादिनाम**'[११] और '**अथापरेऽभिव्यक्ति वादिनां त्रयो दर्शनभेदा**'[१२] के रूप मे व्यवहृत किया है। प्रथम तीन वाद के अनुसार क्रमश ध्वनि से इन्द्रियसस्कार, ध्वनि से शब्द सस्कार, ध्वनि से शब्द इन्द्रिय उभय सस्कार होते हैं। द्वितीय तीन वाद के अनुसार क्रमश स्फोट से अविभक्त रूप मे ध्वनि का ग्रहण, अगृह्यमाण रूप मे ही ध्वनि अभिव्यजक, ध्वनि का स्वतन्त्र रूप मे ग्रहण—ये अभिव्यक्ति के प्रकार हैं।[१३]

अभिव्यक्ति के सम्बन्ध मे एक तीसरा भी त्रिक वाद है जो अभिव्यजक के आधार पर है। एक के मत मे स्फोट का व्यजक ध्वनि है। दूसरे मत मे स्फोट का व्यजक ध्वनिजन्य नाद है। तीसरे मत मे ध्वनि से स्फोट आविर्भावकाल से ही सहज

---

११ वाक्यपदीय, १।७९

१२ वही १।८२, हरिवृत्ति।

१३ इनके विवरण इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में दिये गये है।

भाव से वैसे ही सम्बद्ध रहता है जैसे गन्ध से पुष्प :

> नित्यपक्षे तु संयोग विभागजध्वनिव्यङ्ग्यः स्फोटः ।
> एकेषां संयोग-विभागजध्वनिसंभूतनादाभिव्यङ्ग्यः ।
> इह केचिदाचार्याः व्यक्तं स्फोटं सहजनेन ध्वनिना सर्वतो दूरव्यापिना प्रकाशस्थानीयेन गन्धेन युक्तं द्रव्यविशेषमिवाविर्भावकाल एव संबंध मन्यन्ते ध्वनिना ।

—वाक्यपदीय हरिवृत्ति, १।१०३, १०५

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि के मत में ध्वनि और स्फोट अत्यन्त समीप की वस्तु हैं। स्फोट एक तरह से वाचक शब्द के लिए व्यवहृत हुआ है और उसके पीछे कोई उपनिषद् (रहस्य) नहीं है।

कैयट ने भर्तृहरि के मत का, अपने ढंग से, यों सारांश दिया है—"वैयाकरण वर्ण से व्यतिरिक्त पद अथवा वाक्य में वाचकत्व मानते हैं। प्रत्येक वर्ण के वाचक मानने पर द्वितीय आदि वर्णों के उच्चारण अनर्थक होंगे। प्रत्येक वर्ण के अनर्थक मानते हुए भी वर्ण के समुदाय में वाचकता मानने पर भी काम नहीं चलेगा। समुदाय के उत्पत्तिपक्ष में दोष है, क्योंकि समुदाय की युगपत् उत्पत्ति नहीं होती। समुदाय के अभिव्यक्तिपक्ष में वर्णों की क्रम से अभिव्यक्ति होगी, फलतः पूरे पद का आकलन नहीं हो सकेगा। वर्णों मे एक स्मृति उपारूढ़ रूप मे वाचकता मानने पर 'सरः' 'रसः' जैसे स्थलों में अर्थविशेष की प्रतिपत्ति में बाधा पड़ने लगेगी, दोनो पदो से समान अर्थ झलकने लगेंगे। इसलिए वाक्यपदीय में वर्ण से व्यतिरिक्त नाद से अभिव्यंग्य स्फोट का वाचक रूप में प्रतिपादन किया गया है" (महाभाष्यप्रदीप, पस्पशाह्निक, पृ० १२, गुरुप्रसादशास्त्री सपादित)।

नागेश के अनुसार पद अथवा वाक्य का एकाकारक ज्ञान स्फोट की सत्ता और उसके ऐक्य में प्रमाण है। अनुभव क्रम से ही वर्णों की स्मृतिरूढता में, नागेश के अनुसार, दृढ प्रमाण नहीं है। क्रम से अनुभूत के व्युत्क्रम रूप में भी स्मृति देखी जाती है :

> इदमेक पदम् एकं वाक्यमिति प्रत्यय, स्फोटसत्त्वे तदैक्ये च प्रमाणम् ।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत, पस्पशाह्निक, पृ० १३

भोज ने भी वाचक ध्वनिसमूह को ही स्फोट नाम दिया है और प्रकृत्यादि-स्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट के रूप मे उसके प्रभेद किए है :

> प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णजनितध्वनिसमूहोऽभिव्यङ्ग्यस्फोटलक्षणः अर्थात्मा अर्थावसायप्रसवनिमित्तं शब्दः । तद्विशेषाश्च प्रकृत्यादिस्फोटः, पदस्फोटो वाक्यस्फोट इति ।

—शृंगारप्रकाश, पृ० १२५

स्फोट शब्द रूप में

शब्द रूप में स्फोट का प्रथम उल्लेख किसी श्लोकवार्तिककार ने किया है—
'स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायते।'[१४]
शब्द का आकारग्रहण बुद्धि में होता है। महाभाष्यकार ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है जिसमें शब्द का पौर्वापर्य बुद्धिगत माना गया है। प्रेक्षाकारी मनुष्य पहले अपनी बुद्धि में ही अर्थ की दृष्टि से शब्द का, शब्द की दृष्टि से वर्ण का आकलन कर लेता है। ये सभी व्यापार बौद्ध होते है :

बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्॥[१५]

भर्तृहरि ने भी शब्द के स्वरूप का अवधारण बुद्धि मे माना है। अन्त्य ध्वनि, परिपाक-प्राप्त बुद्धि मे शब्द के स्वरूप का संनिवेश करती है। किसी के मत मे शब्दाकृति का संनिवेश होता है। इसमें भी दो तरह के मत है। एक शब्द में कई वर्ण होते है। वक्ता उनका उच्चारण क्रम से करता है। अन्त्यवर्ण के उच्चारण के बाद एक विशेष संस्कार या ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को अन्त्यवर्णावलम्बन ज्ञान कहा जाता है। इसे अन्त्यबुद्धि भी माना जाता है। पूर्व के वर्णों से भी कुछ-न-कुछ संस्कार होता, परन्तु वह संस्कार धुँधला होता है अथवा अस्पष्ट होता है। अन्त्यवर्णजन्यज्ञान पूर्ववर्णजन्य-ज्ञान की सहायता से जाति का ग्राहक होता है। दूसरा मत अन्त्यवर्णज्ञान को महत्त्व नही देता। उसके अनुसार सभी वर्णो से बुद्धि में संस्कार होता है। अन्त्यवर्ण के ज्ञान के बाद जातिग्राहक ज्ञान उत्पन्न होता है :

> **अत्रानेकं दर्शनम्। केचिन् मन्यन्ते, अन्त्यवर्णावलम्बन यत् ज्ञानं तत् पूर्ववर्ण-ज्ञानाहितसंस्कारसहायं जातेः ग्राहकम्। अपरे मन्यन्ते, अन्त्यवर्णज्ञानसहितैः सर्वैरेवपूर्ववर्णज्ञानैः संस्कारारम्भः। अन्त्यवर्णज्ञानानन्तरं तु जातिग्राहक ज्ञान-मुत्पद्यते।**
>
> —वृषभ, वाक्यपदीय, १।२३, पृ० ३३

महाभाष्यकार ने भी शब्द को बुद्धिग्राह्य माना है :

> **श्रोत्रोपलब्धि. बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः।**
>
> —महाभाष्य, पस्पशाह्निक

कैयट ने बुद्धिनिर्ग्राह्य शब्द का अभिप्राय भर्तृहरि के आधार पर ध्वनिजन्य संस्कार से परिपाकप्राप्त अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य माना है :

> **पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनितसंस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाकान्त्यबुद्धि-निर्ग्राह्य इत्यर्थः।**
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप, पृ० ६५, गुरुप्रसाद शास्त्री सपादित

---

१४. वाक्यपदीय, १।२३ हरिवृत्ति में अनुतंत्रवाक्य के रूप में उद्धृत।
१५. महाभाष्य १।४।१०६

अभिनवगुप्त ने भी, व्याकरणदर्शन की दृष्टि में, वाक्यस्फोट को बुद्धिनिर्ग्राह्य माना है :

वैयाकरणैरपि वाक्यस्फोटस्य प्रायशः बुद्धिनिर्ग्राह्यतैव दर्शिता ।[१६]

हेलाराज ने भी अभ्यास के आधार पर स्फुट, स्फुटतर-रूप मे चरम बुद्धि में स्फोट तत्त्व की झलक मानी है और शब्दतत्त्व को ही जातिस्फोट के रूप में दो में विभक्त स्वीकार किया है :

चरमचेतसि चकास्ति रत्नतत्त्ववत् स्फोटतत्त्वम्···शब्दतत्त्वं जातिव्यक्तिभेदेन भिन्नं स्फोटस्वभावमेवाङ्गीकर्तव्यम् ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय, ३, जातिसमुद्देश ६

वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट तीनों का बुद्धि में अध्यारोप प्रयत्नविशेष से उद्बुद्ध ध्वनियों द्वारा होता है :

वर्णपदवाक्यविषया. प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुन पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वाध्यारोपयन्ति: ।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति, १।८३

शब्द की बुद्धिनिर्ग्राह्यता और उसकी वाचकता के आधार पर शब्द को स्फोट माना जाता है । इस दृष्टि से स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति 'स्फुटत्यर्थो यस्मात्'—इस रूप मे की जाती है ।

स्फोट शब्दनित्यत्व के रूप में

भर्तृहरि ने शब्द के निरवयव दर्शन पर प्रकाश डाला था । और उसके एक, निर्विभाग, नित्यस्वरूप की भी चर्चा की थी । ऐसे प्रसंगो मे भर्तृहरि ने स्फोट शब्द का व्यवहार नही किया है । किन्तु पुण्यराज जैसे टीकाकारो ने ऐसे स्थलो मे शब्द और स्फोट को एक माना है । पुण्यराज ने स्फोट के दो भेद किए हैं—बाह्य और आभ्यंतर । पुनः बाह्य स्फोट के दो भेद किए हैं—जातिस्फोट और व्यक्तिस्फोट ।[१७] शब्द का एक, अनवयव स्वरूप, पुण्यराज के अनुसार, व्यक्तिस्फोट का प्रतीक है ।[१८] सघातवर्तिनी जाति जातिस्फोट का प्रतीक है । भर्तृहरि ने जिसे बुद्ध्यनुसंहारलक्षण आन्तर शब्द कहा है उसे ही पुण्यराज ने आभ्यतरस्फोट माना है ।[१९] और एक अखण्ड व्यक्तिस्फोट अथवा जातिस्फोट को सिद्धात रूप मे, वाचक के रूप मे स्वीकार किया है :

एक एव नित्य: पदाभिव्यङ्ग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा वाचको-ऽङ्गीकार्य इति सिद्धान्तः ।

—पुण्यराज वाक्यपदीय, २।२९

---

१६. ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, भाग २, पृ० १८८

१७. स्फोटश्च द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन द्विविधः ।—पुण्यराज, वाक्यपदीय, २।१

१८. अनेन 'एकोऽनवयवः शब्दः' इत्युद्दिष्टस्य व्यक्तिस्फोटस्य स्वरूपमुक्तमिति बोद्धव्यम् ।—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१९

१९. आभ्यन्तरस्य तु 'बुद्ध्यनुसंहृतिः' इत्यनेनोद्देशः ।—पुण्यराज, वाक्यपदीय, २।१

शब्दनित्यत्व के पक्ष में 'शब्दस्य न विभागोऽस्ति'[२०] 'नित्येषु तु कुतः पूर्वम्'[२१] जैसे भर्तृहरि के कई वक्तव्यों को स्फोटवादियों ने स्फोट के पक्ष में ले लिया है। स्फोटवाद के कतिपय समीक्षकों ने भी स्फोट का खण्डन शब्दनित्यत्व के खण्डन के आधार पर किया है।

स्फोट जाति रूप में

किसी आचार्य ने शब्दनित्यत्व का आधार आकृतिनित्यत्व माना था। उनके मत में स्फोट शब्दका वाच्य शब्दाकृति है। शब्दाकृति शब्दत्व से भिन्न है,। शब्दाकृति शब्दव्यक्ति (ध्वनि) से अभिव्यंग्य मानी जाती है। शब्दव्यक्ति उत्पन्न होनेवाली और स्वतः अव्यपदेश्य होती है किन्तु व्यपदेश्य रूप स्फोट के द्योतक होने के कारण ध्वनि संज्ञा पाती है। वह स्फोट शब्दाकृति है। इसी शब्दाकृति को भर्तृहरि ने दर्शनभेद के आधार पर अनेकव्यक्ति से अभिव्यंग्य जाति माना था और उसे स्फोट के रूप मे निर्दिष्ट किया था।[२२] किन्तु बाद मे स्फोट का जति से, विशेषकर सत्ताजातिवाद से संबंध कर दिया गया। सायण ने जातिस्फोट का उल्लेख 'परमार्थसवित्लक्षणसत्ताजाति' के रूप में किया है।[२३] इस मत में सभी शब्दों का अर्थ सत्ता लक्षण जाति है। उपरंजक द्रव्य से स्फटिक की तरह संबंधिभेद से सत्ता में भेद प्रतिभासित होता है। इसीलिए सभी शब्द पर्याय नहीं हो पाते। गो, अश्व आदि मे सत्ता ही महासामान्य है। गोत्वादिक अपरसामान्य महासामान्य से भिन्न नही है। सभी शब्द वाचक रूप में उसी सत्ता मे अवस्थित हैं। प्रातिपदिकार्थ भी सत्ता ही हैं। भाव भी सत्ता है। त्व, तल आदि भावप्रत्यय से वही सत्ता व्यक्त की जाती है। क्रिया भी जाति है। वह सत्ता नित्य है। उसमे ह्रास अथवा विकास नही होता। वह देश, काल अथवा वस्तु के परिच्छेद से रहित है और इसीलिए उसे महानात्मा कहा जाता है :

सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमानागवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ।।
तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ।।

—वाक्यपदीय, ३, जातिसमुद्देश, ३३, ३४

बाद के वैयाकरणो ने जातिस्फोट को ब्रह्म पद तक पहुंचा दिया है : तथा च शक्त्यांश इव शक्तांशेऽपि न्यायसाम्येनाकृत्यधिकरणरीत्या ब्रह्मतत्त्वमेव तत्तदुपहितं वाच्यं वाचकं च। अविद्यावधिक धर्मविशेषो वा जातिरिति

२०. वाक्यपदीय, २।१३

२१. वही, २।२२

२२. अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।

—वाक्यपदीय, १।९४

२३. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३०४

पक्षे तु सैव वाचिकास्त्वित्याहुः ।

—शब्दकौस्तुभ, पृ० १०

कैयट ने व्यवहारनित्यता के आधार पर वर्ण-पद-वाक्य स्फोट अथवा जातिस्फोट को नित्य माना है :

तच्च ब्रह्मतत्त्वं परमार्थतो नित्यम् । व्यवहारनित्यतया वर्णपदवाक्यस्फोटानाम् नित्यत्वम्, जातिस्फोटस्य वा ।

—महाभाष्यप्रदीप(झभञ्) पृ० १४७, निर्णयसागर १२

शेषनारायण ने सखण्ड अखण्डभेद से पद, वाक्य और व्यक्तिस्फोट का विभेद किया है । जातिस्फोट भी दो तरह का माना है और किसी अन्य मत से वर्णस्फोट को भी जाति और व्यक्तिभेद से दो तरह का माना है । इनमें वाक्यस्फोट और जातिस्फोट को अधिक महत्त्व दिया है । जातिस्फोट एक ही साथ ब्रह्म और अविद्या दोनो हैं :

यद्यप्यत्रानेके स्फोटाः प्रतिपादिता, तथापि वाक्यस्फोट एव परमार्थः । तत्रापि जातिस्फोट इति । जातिश्च सर्वाधिष्ठानस्वरूपात्मकं ब्रह्मं व अविद्यं व चेति ।

मूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख

शेषनारायण के मत मे वेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्म और स्फोटब्रह्म मे केवल यही अन्तर है कि वेदान्त मे शब्द निमित्तकारण के रूप मे (सृष्टि के लिए) गृहीत है जबकि व्याकरण मे उपादान कारण के रूप मे माना जाता है :

वेदान्तिभिरपि निमित्तकारणत्वं शब्दस्याभीष्टम् । अस्माभिस्तु उपादानत्वम् अभ्युपेयत इति विशेष ।

—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख ।

वाक् के रूप में स्फोट

आगमो मे परा, पश्यन्ती आदि का संबध मूलाधार चक्र आदि से माना जाता है । भर्तृहरि आदि ने तो परावाक् का विवेचन नही किया है और न वाक् का सबध चक्र-विशेष से जोडा है, किन्तु बाद के कुछ वैयाकरणो ने, तंत्र के प्रभाव के कारण, परावाक् को महत्त्व दिया है और वाक् को तंत्रप्रसिद्ध नादबिन्दु के क्षेत्र मे देखा है । सायण ने, किसी आगम के आधार पर, लिखा है कि जब कोई व्यक्ति अभिलषित अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग करना चाहता है, इच्छावशजन्य प्रयत्न से मूलाधार में प्राणवायु का परिस्पन्द होता है । उस परिस्पन्द से मूलाधार में सूक्ष्म परावाक् प्रकट होती है, जो सकल शब्द समुदाय का कारण है और स्वयं निष्पन्द है । वही परावाक् मूलाधार से ऊर्ध्व नाभिदेश मे आकर पश्यन्ती कहलाती है । वह सामान्यज्ञानरूपा मानी जाती है । विवक्षित पदार्थ के दर्शाने के कारण उसे पश्यन्ती कहा जाता है । वही हृदयदेश मे प्राप्त होकर मध्यमा कहलाती है । उसमे अर्थविशेष की भावना व्यक्त हो गई रहती है । मध्यदेश मे अवस्थान के कारण उसे मध्यमा कहा जाता है । वही वर्णरूप से कण्ठ-तालु आदि स्थानों मे व्यजित होती हुई वैखरी कहलाती है । विशेष रूप से (वि) दूसरों को अवबोध करने मे प्रचण्ड(खर) होने के कारण उसे वैखरी कहा जाता है ।[२४]

२४. अथर्ववेद, सायणभाष्य, ७।१. सायण ने इस संदर्भ में निम्नलिखित आगम उद्धृत किए हैं—

नागेश ने मध्यमा वाक्य को स्फोट का प्रतिनिधि माना है :

"तत्र मध्यमायां यो नादांश: तस्यैव स्फोटात्मको वाचकत्वेनाभ्युपगतिः ।"

—मंजूषा, पृ० १८०

उसके अनुसार प्रलयकाल में माया चेतन ईश्वर में लीन हो जाती है। एक तरह से सुप्त-सी अवस्थित रहती है। पुनः परमेश्वर में सिसृक्षात्मिका मायावृत्ति उदित होती है। उससे बिन्दु रूप अव्यक्त त्रिगुण उत्पन्न होता है। यही शक्ति तत्त्व है। उस बिन्दु का अचित् अंश बीज है। चित्-अचित् मिश्र अंश नाद है। चित् अंश बिन्दु है। अचित् शब्द से अभिप्राय अविद्या से है जो शब्द और अर्थ उभय संस्काररूपा है। उस बिन्दु से चेतनमिश्र नादमात्र उत्पन्न होता है। वह वर्ण आदि विशेष ज्ञान से रहित है, ज्ञानप्रधान है और सृष्टि के उपयोगी अवस्थाविशेषरूप है। उसका दूसरा नाम शब्दब्रह्म है। वह जगत् का उपादान है। उसे रव, परा आदि शब्द से भी कहा गया है। वह प्राणी में सर्वगत होते हुए भी मूलाधार मे संस्कृतपवन के घर्षण से अभिव्यक्त होता है। संस्कृतपवन से अभिप्राय पवन के सस्कार से है। पवन का संस्कार व्यक्ति की विवक्षा से जन्य प्रयत्न के योग से होता है। उससे अभिव्यक्त निष्पन्द शब्दब्रह्म परावाक् कहलाता है। वही नाभिपर्यन्त पहुँचकर उस पवन से अभिव्यक्त पश्यन्ती कहलाता है जिसका विषय मन है (मनोविषयः)। परा और पश्यन्ती ये दोनों सूक्ष्मतर हैं। इनके अधिदेवता ईश्वर हैं और ये समाधि मे योगियों के निर्विकल्प और सविकल्प के विषय बनती है। पुनः हृदयप्रदेश मे पहुँचकर उस पवन द्वारा हृदय देश मे अभिव्यक्त होकर वह मध्यमा वाक् कहलाता है। मध्यमा में शब्द और उसके अर्थ का आकार स्पष्ट हो गया रहता है। उसका विषय बुद्धि है अथवा बुद्धि से वह ग्राह्य है (बुद्ध्या विषयीकृता)। उसका देवता हिरण्यगर्भ है। मध्यमा भी सूक्ष्म है, क्योंकि दूसरे के श्रवणेन्द्रिय से अभी ग्राह्य नहीं है। किन्तु स्वय दोनो कानो को बन्द कर सूक्ष्मतर वायु के अभिघात से सुनी जा सकती है और उपांशुशब्दप्रयोग मे भी श्रूयमाण होती है। इस मध्यमा वाक् में जो नादांश है वही स्फोट है।[२५] कलाटीकाकार वैद्यनाथ के अनुसार नादांश से अभिप्राय नाद से सम्बद्ध विमर्शक मे है।[२६]

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी ।
यस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते ॥
अविभागेन वर्णानां सर्वत्र संवृतक्रमा ।
प्राणाश्रयात् तु पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा ।
मध्यमा बुद्ध्युपादाना कृतवर्णपरिग्रहा ॥
अन्तः संजल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति ।
ताल्वोष्ठव्यापृतिव्यंग्या परबोधप्रकाशिनी ।
मनुष्यमात्रसुलभा बाह्या वाग् वैखरी मता ॥

२५. वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, पृ० १६८-१८०

२६. "नादांशः—नादसम्बन्धिविमर्शकशब्दरूपोऽशः। तस्यैव विमृश्यांशस्यार्थस्य वाचकत्वमभ्युपगच्छति।"—मंजूषा, कलाटीका, पृ० १८०

शारदातिलक के लेखक लक्ष्मणदेशिकेन्द्र के अनुसार 'परमेश्वर से शक्ति उद्भूत होती है। शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है। शक्तिमय परमेश्वर पुनः तीन रूपों में विभक्त होता है। बिन्दु, नाद और बीज उसके तीन भेद हैं। बिन्दु शिव है। बीज शक्ति है। नाद शिव और शक्ति का मिश्र रूप है। बिन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा उत्पन्न होती हैं जो क्रमशः शिव, ब्रह्मा और विष्णु के प्रतीक हैं। पर बिन्दु के स्फोट से रव उत्पन्न होता है। उस रव को आगमों मे शब्द ब्रह्म कहा जाता है। अन्य विचारक शब्दार्थ को शब्द ब्रह्म मानते हैं। पुनः कुछ अन्य आचार्य शब्द को ही शब्दब्रह्म मानते हैं। इन दोनों मतो मे जडत्व है। सर्वभूत मे अवस्थित चैतन्य को शब्दब्रह्म समझना चाहिए।'[२७]

पश्यन्ती और स्फोट की एकता की भी चर्चा आगमो मे है। यद्यपि भर्तृहरि ने कहीं स्फोट और पश्यन्ती की समानता का उल्लेख नही किया है फिर भी सोमानन्द ने उनके ऐक्य की संभावना मानकर भी उनकी समीक्षा की है। उत्पल के अनुसार, स्फोटवादी पश्यन्ती और स्फोट दोनों को नित्य मानते हैं। इस दशा मे स्फोट और पश्यन्ती दोनों एक हो सकते हैं, दोनो मे केवल शब्द का भेद है। दोनो मे भेद मानने पर द्वैत होता है। असत्य पद आदि से सत्य अथवा कूटस्थनित्य स्फोट की व्यजकता भी संदिग्ध है। पश्यन्ती और स्फोट के ऐक्य मानने पर आप्तवाक्यविचार और अनाप्तवाक्यविचार में भेद संभव नहीं हो सकेगा। दोनो प्रकार के वाक्यो के स्रोत एक होने से दोनो में पूर्णता माननी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त पश्यन्ती और स्फोट दोनों मे बहुत्व मानना पडेगा (शिवदृष्टि, पृ० ७५-७६)। पहले कहा जा चुका है कि ये विचार सोमानन्द के कल्पित हैं। वाक् विचार के अवसर पर कश्मीर शैवागम और व्याकरण-दर्शन दोनो की दृष्टि से पश्यन्ती पर विचार किया जा चुका है। भर्तृहरि ने अथवा किसी अन्य वैयाकरण ने पश्यन्ती और स्फोट की एकता का प्रतिपादन नही किया है।

स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के आरम्भ मे शब्दतत्त्व को अक्षर ब्रह्म के रूप मे निर्देश किया और उससे अर्थरूप में जगत् का विवर्त माना है। कुछ लोग इस शब्दतत्त्व

---

२७. शारदातिलक, १।७—१३, शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट के अनुसार शब्दार्थ संज्ञक शब्दब्रह्म से अभिप्राय आन्तरस्फोट से है और आन्तरस्फोट सिद्धान्त आचार्यों का है। शब्द संज्ञक शब्दब्रह्म मत वैयाकरणों का है।

एके आचार्याः शब्दार्थं आन्तरस्फोटं शब्दब्रह्मेत्याहुः। यथाह—'निरंश एवाभिन्नो नित्यो बोधस्वभावः शब्दार्थमयः आन्तरस्फोटः' इति। अपरे वैयाकरणाः पूर्वपूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्तं तत् तत् पदसंस्कारसहायचरमपदप्रहोद्‌बुद्धं वाक्यस्फोटलक्षणं शब्दब्रह्मैकैककार्यप्रकाशकं शब्दब्रह्मेति वदन्ति। यदाह—'एक एव नित्यो वाक्याभिव्यंग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो वा बहीरूप इति।—शारदातिलक टीका, पृ० ११, तुलना कीजिए—"इह निरंश एवाभिन्नो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा बहीरूप आन्तरः शब्दार्थमयो वा बुद्ध्यनुसंहारो वाक्यमिति स एव वाचक उपपन्नः।"

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१९

को स्फोट मानकर स्फोट को शब्दब्रह्म कहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी प्राचीन आगम के आधार पर भर्तृहरि ने अभिधान रूप में विवर्त और अभिधेय रूप में विवर्त का संकेत किया है। इस प्रसंग में उन्होंने प्राचीन ग्रंथ से एक उद्धरण भी दिया है जिसका अभिप्राय यों है—

जो सब तरह की कल्पनाओं के आभास से भी नहीं आता उसकी तर्क, आगम और अनुमान के द्वारा अनेक प्रकार से कल्पना की जाती है। वह भेद और संसर्ग से परे है। उसमें न भाव है और न अभाव, न क्रम है और न अक्रम। वह सत्य और अनृत से भी परे है। वह विश्वात्मा केवल प्रविवेक से प्रकाशित होता है। वह भूतों के अन्त: में अवस्थित है। वह समीप भी है, दूर भी है। वह स्वयं अत्यन्त मुक्त है। मुमुक्षु मोक्ष के लिए उसकी उपासना करते हैं जिस तरह ग्रीष्म के अन्त में इन्द्र शून्य आकाश में मेघ भर देता है, वैसे ही वह प्रकृतिगत विकारों को बिखेर देता है, उत्पन्न करता है। उसका चैतन्य यद्यपि एक है फिर भी अनेक रूप में उसी तरह विभक्त हो जाता है जैसे उत्पात के अवसर पर समुद्र का जल (अङ्गाराङ्कितं उदकम्)[२७क]। जैसे मारुत से जल बरसाने वाले बादल उत्पन्न होते हैं वैसे ही सामान्य रूप में अवस्थित उससे विकारमय व्यक्तिमय व्यक्तिसमूह उत्पन्न होते हैं। वह परम ज्योति त्रयी (वेद) के रूप में विवर्तित होती है। और अनेक दर्शनों में पृथक्-पृथक् रूप में दृष्टिभेद का आधार होती है। शान्तविधात्मक उसी का अंश है किन्तु वह अविद्या से ग्रस्त हो जाता है। अविद्या अनिर्वचनीय है। उसके परिणमित रूपों का अन्त नहीं है। उससे प्रभावित व्यक्ति अपने-आप में अवस्थित नहीं रह पाता। जिस तरह कोई व्यक्ति दृष्टिदोष के कारण विशुद्ध आकाश को भी अनेक आकारों से चित्रित देखता है उसी तरह निर्विकार अमृत ब्रह्म भी अविद्या से आच्छन्न मति के कारण विकारयुक्त और विभक्त रूप में परिणमित दिखाई देता है। वह ब्रह्म शब्द है। जो कुछ है सब शब्द से निर्मित है। सबका मूल आधार शब्द है। शब्दमात्राओं से ही सबका विवर्त होता है और पुन शब्दमात्राओं में ही सबका लय होता है।[२८]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने किसी आगम के आधार पर शब्दविवर्त का प्रतिपादन करना चाहा था। कुछ लोग शब्दविवर्त में शब्द से प्रणव अभिप्रेत

---

२७ क. 'अङ्गाराङ्कितमुत्पाते वारिराशेरिवोदकम्' का अभिप्राय सिंहसूरगणिवादिक्षमाश्रमण ने यों दिया है—यथा उदन्वताम् तोयम् उत्पाते अङ्गारराशिवत् प्रज्वलदुपलक्ष्यते तथास्यानेकरूपता मिथ्यैव प्रकृतित्वमिति—द्वादशारनयचक्र, पृ० ३००

२८. ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥

—वाक्यपदीय, १।१ हरिवृत्ति में उद्धृत।

वृषभ ने इसका एक दूसरा अर्थ भी यों दिया है—

'अथवा ब्रह्मेदमिति विकारग्राममाह, अव्यतिरेकात्। ततः शब्दनिर्माणमिति, शब्दतत्त्व-निर्माणं, तेन निर्मितत्वात्। शब्दशक्तिनिबन्धनमिति। शब्दशक्तयो यतस्तत्रासते प्रतीयन्ते वा तत्रैवेति।''

—वृषभ, वाक्यपदीय, १।१

मानते हैं। सभी शब्दों और सभी अर्थों की प्रकृति प्रणव है। भर्तृहरि ने स्वयं भी द्रव्यनित्यत्व के प्रतिपादन के अवसर पर प्रणव को ब्रह्म कहा है .

> नित्य पृथिवीधातु। पृथिवीधातौ किं सत्यम्। विकल्पः। विकल्पे
> किं सत्यम्। ज्ञानम्। ज्ञाने किं सत्यम्। ओ३म्। अथ तद् ब्रह्म।[२९]

प्रणव सभी शब्द और सभी अर्थ की प्रकृति है। सभी भाव शब्दाकारानुगत हैं। वस्तु ज्ञान शब्दज्ञानानुगत होता है। सभी ज्ञान वाक् रूप के अनुगत होते हैं। ज्ञानशून्य अवस्था (असम्वेतित अवस्था) में भी वाणी के सूक्ष्म धर्म अनुस्यूत रहते हैं।[३०] वाह्य अर्थ का सर्वप्रथम परिचय (शिशु को) वस्तु के स्वरूप मात्र के रूप में होता है। वस्तुनिमित्त के ठीक से परिज्ञान न होने के कारण 'इदं तत्' जैसे भाव उसके मन मे नही उठ पाते हैं। अर्थ शब्द का विवर्त है। शब्दब्रह्म और स्फोट, इस दृष्टि से, एक है।

भोज ने किसी अन्य आगम के आधार पर शब्द के अध्यास, विवर्त और विपरिणाम इन तीनों पक्षों में अर्थ की उपपत्ति की है। शब्द से भिन्न रूप मे अर्थतत्त्व की उपलब्धि नही होती। अर्थ (जगत्) शब्द का अध्यास है। एक ही शब्द ग्राह्य, ग्राहक और संवित्ति रूप मे, विपर्यास अथवा दृष्टिभेद के कारण अलग-अलग जान पड़ता है। परमानन्दमय ज्योतिरूप शब्द (सरस्वती) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप मे प्रकट होता है।[३१] जैसे जल कल्लोल रूप में, नीलादि चित्र आदि रूप में विवर्तित होते हैं, शब्द, अविद्या-उपाधि के सहारे, भिन्न-भिन्न रूप मे विवर्त प्राप्त करता है। भोज के अनुसार, जैसे शब्द से अर्थ के विवर्त का प्रतिपादन किया जाता है वैसे ही अर्थ मे शब्द के विवर्त की प्रक्रिया दिखाई जा सकती है। किन्तु शब्दाद्वैत प्रकाश को महत्त्व देने के लिए शब्द से अर्थ का विवर्त दिखाया जाता है। भोज की दृष्टि में, अभिधीयमान अर्थ के अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए शब्द के विपरिणाम पक्ष को अंगीकार करना चाहिए। जैसे मिट्टी से घट, क्षीर से दधि, शैशव से यौवन विपरिणाम के प्रतीक हैं, उसी तरह शब्द ब्रह्म से, अविद्या उपाधि के सहारे, अर्थ रूप मे विपरिणाम होता है।[३२]

---

२९ महाभाष्यदीपिका, पृ० २९ (पूना संस्करण) इस अंश को हेलाराज ने वाक्यपदीय ३।३२ की टीका में उद्धृत किया है। द्वादशारनयचक्र पृ०४६५ पर भी ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया गया है।

३० 'यात्वसंचेतितावस्था तस्यामपि वाग्धर्मानुगमोऽस्त्यावर्तते'
—वाक्यपदीय, १।१२५ हरिवृत्ति, वृषभ ने असंचेतित अवस्था को स्वप्नावस्था माना है।

३१ अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥
ग्रहीतृग्रहणग्राह्यभावापथपरिच्युताम्।
नमामि परमानन्दज्योतिरूपां सरस्वतीम्॥—शृङ्गारप्रकाश, पृ० २२० पर उद्धृत।

३२. 'इदं शब्दब्रह्माव्यविद्योपाधेः तेन तेनार्थरूपेण तथा तथा विपरिणमते' भोज ने इसका एक रोचक उदाहरण दिया है—'तद् यथा, अस्ति मे पञ्च पुत्राः। मातरं पितरं शुश्रूषितवान् अस्मि। सोऽहं युवा द्रमिडदेशे द्रमिडकन्याभिः सहावसं सोऽहं पश्चिमे वयसि गंगातीरे तपश्चरामीति।
—शृंगारप्रकाश, पृ० २२१

शब्दविवर्त की आलोचना करते हुए शान्तरक्षित ने आपत्ति की है कि शब्द से जगत् का परिणाम अपेक्षित है अथवा उत्पत्ति। परिणाम पक्ष अनुपपन्न है। क्योंकि शब्दात्मक ब्रह्म जब नील आदि रूप में परिणत होता है, अपने स्वाभाविक शब्दरूप को छोड़ देता है अथवा साथ रखता है? प्रथम पक्ष में (छोड़ देने के पक्ष में) शब्द ब्रह्म के अनादिनिधनत्व, अक्षरत्व आदि की हानि होती है, क्योंकि पूर्व के स्वभाव का विनाश झलकता है। यदि अपने स्वाभाविक शब्दरूप को छोड़ नहीं देता है यह पक्ष अभिप्रेत है, तो नील आदि के संवेदन के अवसर पर बधिर व्यक्ति को भी अश्रुत शब्द का संवेदन होने लगेगा, क्योंकि नील के संवेदन से शब्द का संवेदन भिन्न नहीं है।[३३]

वस्तुतः भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म की प्रतिष्ठा कुछ भिन्न रूप में की है।

स्फोटवाद की समीक्षा

स्फोट सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्फोट का प्रकृत रूप प्राचीन काल से ही अस्पष्ट रहा है। जैसे उसके स्वरूप भिन्न-भिन्न रूप मे सामने लाए गये हैं, उसकी आलोचना भी विभिन्न दृष्टिकोण से की गई है। आलोचको के स्फोट संबंधी विवरण से स्फोट का स्वरूप जटिलतर होता गया है। स्फोटसिद्धान्त के प्राचीन आलोचकों में उल्लेखनीय भामह, धर्मकीर्ति, शंकर, कुमारिल, वादिदेव सूरि और जयन्तभट्ट हैं।

भामह ने स्फोट के स्वरूप का निर्देश नहीं किया है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उनके मत में स्फोटवाद कूटस्थ, अनपायी, नाद से भिन्न शब्द के रूप में गृहीत था। भामह के अनुसार शपथ लेकर भी स्फोटवादियों की बात नही माननी चाहिए। स्फोटवाद आकाश-कुसुम सदृश है। अनादिकाल से वर्णव्यवहार द्वारा अर्थ-अवबोध का एक समय (परिपाटी) निश्चित हो चुका है। अर्थ केवल सांकेतिक होते हैं, पारमार्थिक नहीं होते।[३४]

शब्द और अर्थ के संबंध को एक कल्पित समझौता के रूप में व्यक्त करना भामह की महत्त्वपूर्ण उक्ति है। किन्तु वर्ण अथवा नाद से सूक्ष्म किसी ध्वनितत्त्व की सत्ता को सर्वात्मना अनङ्गीकार करना अवैज्ञानिक है।

धर्मकीर्ति ने भी स्फोट का विवरण नहीं दिया है। ऐसा जान पड़ता है उनके सामने स्फोटवाद वर्ण से अतिरिक्त एक आनुपूर्वी के रूप में और अपौरुषेय के रूप मे था। आनुपूर्वी, उनके मत मे, अतद्रूप मे तद्रूप की कल्पनामात्र है, बुद्धि का एक विभ्रम है। न तो बुद्धिविभ्रम अपौरुषेय हो सकता है और न सबके शब्द अपौरुषेय हो सकते हैं।[३५] धर्मकीर्ति ने संभवतः मीमांसादर्शन के अपौरुषेय और वैयाकरणों

---

३३. तत्त्वसंग्रह, तथा पंजिका, १२९-१३१।

३४. काव्यालंकार ६।११-१४

३५. प्रमाणवार्तिक, कारिका २७१, पृ० ९४ काशी संस्करण

के वर्णविचार को एक में गूंथ कर स्फोट की चिन्ता की है और इसलिए वह चिन्त्य है।

आचार्य शंकर ने वर्णों में क्रम के आधार पर स्फोटपक्ष में गरीयसी कल्पना, दृष्टहानि और अदृष्टकल्पना मानी है। इसका उत्तर शेषकृष्ण ने नित्य और विभु में क्रम के अभाव दिखाकर दे दिया है।[३६]

कुमारिल ने स्फोट की आलोचना कुछ विस्तार से किन्तु विशृंखल रूप में की है। मीमांसकों को अपनी स्फोट-समीक्षा पर अभिमान है और वे इसे वैयाकरणों की चिकित्सा-सी मानते हैं।[३७]

मीमांसा दर्शन में स्फोट का खण्डन विशेष दृष्टिकोण को सामने रखकर किया गया है। स्फोटवाद की सत्ता मान लेने पर पद, वर्ण आदि अवयव की सत्ता व्यर्थ हो जाती है। फलत. पद और उसके अवयवाश्रित ऊह आदि भी मृषा जान पड़ेंगे; महावाक्य में अवान्तरवाक्य सिद्ध नहीं हो पायेंगे; प्रयाजादि आश्रित प्रसग, तन्त्र आदि व्यर्थ जान पड़ेंगे। इसलिए उनके लिए स्फोटवाद का निराकरण आवश्यक हो जाता है।[३८] मीमांसकों के अनुसार दृढस्मृतिबद्ध वर्णों में वाचकता है। वर्णों से अतिरिक्त शब्द की कल्पना तथा अनेक संस्कारों की कल्पना गौरवग्रस्त है। उनकी मान्यता में नाद वायुस्वरूप नहीं है और न संयोगविभागमय है। किन्तु वायुगुणवाले शब्दविशेष को ही नाद कहा जाता है और ध्वनि भी कहा जाता है। शब्द दो तरह का होता है वर्ण और ध्वनि। दोनों में शब्दत्व अनुगत रहता है। वर्णत्व और ध्वनित्व अवान्तर सामान्य हैं। गकार आदि वर्णविशेष हैं, शंखघोष आदि ध्वनिविशेष हैं। ध्वन्यात्मक शब्द वायुगुण वाला है। जैसे प्रभारूप भावान्तर का अभिव्यंजक होता है, शब्द वर्णात्मक गकार आदि का व्यंजक होता है। वायु के कर्णविवर में प्रवेश से शब्द का ग्रहण संस्कृत श्रोत्र द्वारा होता है। कभी वर्णरहित केवल घोष आदि का ग्रहण होता है कभी वर्णसहित, वर्ण से उपश्लिष्ट ध्वनि का ग्रहण होता है।[३९] पद अथवा वाक्य में वर्तमान वर्ण या ध्वनि स्फोट के व्यंजक नहीं होते। वर्ण से व्यतिरिक्त रूप में स्फोट अर्थ का वाचक नहीं होता।[४०]

वाक्यों के अवयवाश्रय कार्यों की सिद्धि के लिए कुमारिल का आयास आयास-मात्र है। भर्तृहरि ने स्फोट की सत्ता मानते हुए भी वाक्यधर्म के रूप में स्वयं प्रसग, तत्र आदि का विवेचन किया है। वर्णों में वाचकता मानना जैसे एक मान्यता है, वर्णों

---

३६. नित्यानां च विभूनां च क्रमो नास्त्येव वास्तवः।
उपलब्धिनिमित्तोऽस्ति सा चेदेका कुतः क्रमः।
—स्फोटतत्त्व निरूपण ७

३७. चिकित्सेव कृता शब्दविदां मीमांसकैरियम्।
—शास्त्रदीपिका, युक्तिस्नेहप्रपूरणी, पृ० ९७

३८. न्यायरत्नाकर व्याख्या, पृ० ५४४

३९. श्लोकवार्तिक, न्याय रत्नाकर, पृ० ५१९

४०. श्लोकवार्तिक, स्फोटवाद १३१, १३२

से व्यतिरिक्त स्फोट में वाचकता मानना भी एक मान्यता है। मान्यता विचारक के तर्क, कल्पना और स्वतंत्रता से परिचालित होती है। इस दृष्टि से मीमांसादर्शन और व्याकरणदर्शन दोनों स्वतंत्र हैं। कुमारिल के स्फोट की समीक्षा मण्डन मिश्र ने और योगसूत्र के टीकाकार किसी अर्वाचीन शंकर ने भी की है।

वादिदेवसूरि ने अनुषंग रूप में उक्त भर्तृहरि के कई मंतव्यों पर विचार किया है किन्तु मूल स्फोट के विषय में ऊहापोह कम है। उनकी मौलिक आलोचनाओं में दो उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि यदि अर्थप्रत्यायकत्व मात्र के आधार पर स्फोट को शब्द माना जायगा तो प्रत्यायक धूम में भी शब्दत्व माना जायगा। दूसरा यह कि नालिकेर द्वीप निवासी जिसे गो शब्द का संकेत नही ज्ञात है, कभी भी गो शब्द से अर्थ-बोध नही कर सकेगा। इस तरह लोक व्यवहार विच्छिन्न हो जायगा।[४१] ये दोनो ही तर्क आपातरमणीय हैं। भर्तृहरि ने ध्वनि से सर्वथा निरपेक्ष रूप मे स्फोट का प्रतिपादन नही किया है। अतः केवल प्रत्यायक धूम को शब्द नहीं माना जायगा। स्फोट सिद्धान्त का यह अभिप्राय नही है कि जो भाषा जो नही जानता हो उसके श्रवण से भी उसे अर्थ बोध हो। ध्वनि के साथ ध्वनि की प्रतीतपदार्थकता है।

जयन्तभट्ट ने स्फोट को प्रत्यक्षगम्य अथवा अनुमेय नही माना है। किन्तु यदि ध्वनि से संसृष्ट रूप मे ही स्फोट की उपलब्धि होती है, स्फोट को ध्वनि की तरह श्रोत्रग्राह्य रूप मे प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। प्रतीति वैचित्र्य भी ध्वनि-वैचित्र्य के कारण होती है, अथवा मणि कृपाण, आदि मे एक ही मुख की अनेकवा अभिव्यक्ति की तरह एक ही स्फोट की अनेकधा अभिव्यक्ति सभव है।

शब्द ब्रह्मवाद

प्रतिभातत्व और वाक् तत्व एक ही वस्तु है। और वाक् तत्त्व और ब्रह्म एक ही वस्तु है। भर्तृहरि के अनुसार ब्रह्म आदि-अन्त से रहित है। सब तरह की कल्पनाओं से परे है। सब तरह के भेद और संसर्ग से परे विद्या-अविद्या आदि सभी तरह की शक्तियो से समाविष्ट है। शब्दतत्त्व और ब्रह्म की एकता दिखाने के लिए भर्तृहरि ने श्रुति का आधार अधिक लिया हैं। अपने मंतव्य की परिपुष्टि मे केवल एक तर्क उन्होने उपस्थित किया है। शब्द ब्रह्म का उपग्राह्य है और उपग्राही है। अतः शब्द को ब्रह्मतत्त्व कहते हैं। शब्द उपग्राह्य इस रूप मे है कि शब्द ब्रह्म द्वारा स्वीकृत होता है, वह शब्दस्वभाववाला है। शब्द ही रूप आदि के रूप में विवर्त प्राप्त करता है। विकार का प्रकृति मे अन्वय देखा जाता है। रूप आदि विकार हैं, उनकी प्रकृति, भर्तृहरि के अनुसार, शब्द है। रूप आदि मे सूक्ष्म शब्द का परिज्ञान होता है, यह तभी संभव है जबकि रूप आदि की प्रकृति शब्द हो। रूप आदि सभी शब्दमय हैं। वे ही ब्रह्म के उपग्राह्य हैं। शब्द ब्रह्म का उपग्राही भी है अर्थात् उसकी प्रतिपत्ति शब्दनिबन्धना है, शब्द द्वारा उसका बोध होता है। इसलिए ब्रह्म शब्द तत्त्व है :

---

४१. स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ६६१

"तत्तु (ब्रह्म) भिन्नशक्त्यविभक्ततामपि विकाराणां प्रकृतत्वमित्याम्नायोप-
प्राकृतत्वा शब्दोपग्राहितया च शब्दतत्त्वमित्यभिधीयते ।"

—वाक्यपदीय १।१, हरिवृत्ति

अभिप्राय यह है कि वाक्यपदीयकार ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके अनुसार ब्रह्म का स्वरूप शब्दमय है। शब्दस्वरूप होने के कारण ब्रह्म को शब्दतत्त्व कहा जाता है। ब्रह्म को शब्दस्वरूप मानने का मूल आधार 'विकार अपनी प्रकृति से संस्पृष्ट होते हैं' यह सिद्धान्त है। रूप आदि विकारों में शब्दभावना अन्वित रहती है। इसलिए उन सब विकारों की प्रकृति शब्द है। अपने इस मंतव्य के समर्थन में भर्तृहरि ने श्रुतियों का सहारा लिया है। "नामैवेद रूपत्वेन ववृते" जैसे श्रुति-वाक्य शब्द को प्रकृति और गवादि अर्थ को विकार घोषित करते हैं।

शब्द ब्रह्म से विश्व का विकास

भर्तृहरि विवर्तवाद के आधार पर शब्द से विश्व के विकास का समर्थन करते हैं। उनके मत में विवर्त की परिभाषा निम्नलिखित है :

"एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः।

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१

मूल तत्त्व एक है। वह कई रूपों में दिखाई पड़ सकता है। परन्तु इस विक्रिया से उसके मूलरूप मे कोई भेद नही पडता। वह ज्यों-का-त्यों रहता है। संसार मे अन्य पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के संसर्ग से अपने स्वरूप खोते हुए जान पड़ते हैं। पट हरित, पीत आदि विभिन्न रंगों के सपर्क से हरित पीत आदि विभिन्न रंग का हो जाता है। स्फटिक लाल रंग आदि के साहचर्य से लाल आदि रूप में दिखाई देता है। पर वह मूल तत्त्व कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नही होता। केवल भेद के अवभास के कारण एक होता हुआ भी वह अनेक रूप में विभक्त जान पड़ता है। अनेक रूप मे उसका अवभास असत्य होता है। भेद के सहारे एक के अनेक रूप में अवभास को विवर्त कहते हैं। भर्तृहरि ने "परिणाम" शब्द का भी विवर्त के अर्थ मे प्रयोग किया है। "शब्दस्य परिणामोऽयम्" (वाक्यपदीय १।१२१) मे भी परिणाम शब्द विवर्त-बोधक है जिसे एतद् विश्व विवर्तते (व्यवर्तत) से स्वयं भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है। कई स्थानों पर हेलाराज ने भी परिणाम को विवर्त के रूप में लेने का अनुरोध किया है :

नेदं सांख्यमयवत् परिणामवर्णनमपि तु विवर्तपक्षः।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, द्रव्यसमुद्देश १५

प्राचीन श्रुति के आधार पर भर्तृहरि ने दो तरह का विवर्त माना है। मूर्ति विवर्त और क्रिया विवर्त। दिक्-शक्ति से अवच्छिन्न विवर्त मूर्ति विवर्त है। क्रिया-शक्ति से अवच्छिन्न विवर्त क्रिया-विवर्त है। दूसरे शब्दों में, सिद्ध पदार्थों के लिए मूर्ति-विवर्त और साध्य-पदार्थों के लिए क्रियाविवर्त का व्यवहार किया जाता है। साध्य (क्रिया) और साधन (कारक, सिद्धरूप) के रूप में विभक्त होकर शब्द ब्रह्म का विवर्त होता है :

प्रविभक्तसाध्यसाधनरूपो हि शब्दब्रह्मणो विवर्तः ।
—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१२८, पृ० १२५

महाप्रलय के बाद जबकि सब-कुछ अस्त हो गया रहता है, शब्द ब्रह्म से पुनः सृष्टि का विकास होता है। उस समय शब्द में सम्पूर्ण भाव जगत् संहृतक्रम रूप में रहता है। सभी भावों के एकत्र उपसंहार के कारण उनका अलग-अलग अवधारण उस समय नहीं होता। विवर्त के कारण विकारों का आभास होने लगता है। सृष्टि के अन्त में प्रलय के समय सभी विकार पुनः उसी शब्द तत्त्व में लीन हो जाते हैं :

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः ।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥[४२]

विवर्त का आधार किसी प्राचीन आगम के आधार पर भर्तृहरि ने अविद्याशक्ति को माना है। अविद्याशक्ति की प्रवृत्ति से सिद्ध और साध्य रूप में शब्द से विवर्त होने लगते हैं। हेलाराज ने भी इस मत का समर्थन किया है। अविद्याशक्ति में अनेक तरह के विकार-प्रदर्शन की शक्ति है :

सर्वशक्त्यात्मभूतत्वात् ब्रह्मणः अनेकविकारप्रदर्शनसामर्थ्यलक्षणा अविद्याख्या शक्तिः कार्यभेदादुपचरितनानात्वा समस्तीत्यागमविदः ।[४३]

विवर्त की प्रक्रिया दर्शाने के लिए भर्तृहरि ने सत्ता-विवर्त का आश्रय लिया है। पहले कहा जा चुका है कि भर्तृहरि शब्द तत्त्व, सत्ता अथवा महासामान्य को समान समझते हैं। परब्रह्मस्वभावा सत्ता शक्तियों के आश्रय से षड्भावविकारों में परिणत (विवर्तित) हो जाती है। यही साध्यविवर्त है। जब क्रम रूप का संहार—निष्पन्दावस्था—अभिप्रेत होती है वही सत्ता सत्त्व (द्रव्य) रूप में प्रकट होती है। यही मूर्त्ति, सिद्ध अथवा साधन विवर्त्त है। सत्ता में ही सब शब्द व्यवस्थित हैं। उसी को धात्वर्थ कहते हैं। उसी को प्रातिपदिकार्थ कहते है। त्व, तल् आदि प्रत्यय भी उसी के व्यंजक हैं। वह नित्य है। महान् आत्मा है :

साधनसम्पर्कहेतुकप्रतीयमानरूपापरामर्शे सत्तैव सत्त्वं द्रव्यमित्युच्यत इति सिद्धसाध्यरूपो द्विधा विवर्तः सन्मात्ररूपस्य परस्य ब्रह्मणः प्रतिपादितः ॥[४४]

पहले वाक्-विचार के प्रसंग में मध्यमा, वैखरी आदि के रूप में वाक् तत्त्व के विवर्त का विवेचन किया जा चुका है। भर्तृहरि के अनुसार पश्यन्ती और शब्द-ब्रह्म एक ही तत्त्व है। और शब्दब्रह्म और ब्रह्म में वे भेद मानते नहीं हैं। केवल विवर्त दशा में, वैखरी रूप में ही उनमें भेद है। पश्यन्ती में सम्पूर्ण भाव अविभक्त रूप में संनिविष्ट रहते हैं और उससे विवर्त द्वारा विश्व का विकास होता है। अतः सब तरह से शब्द ब्रह्म से विश्व के विकास का वाक्यपदीय में प्रतिपादन किया गया है। हेलाराज

---

४२. वाक्यपदीय १।१ हरिवृत्ति में उद्धृत। कुछ लोग इसे भर्तृहरि की ही कारिका मानते हैं।
४३. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश ३६
४४. वही, जातिसमुद्देश ३५

ने इसे स्पष्ट कर दिया है :

> **संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकात् न भिद्यते। विवर्तदशायां तु वैखर्यात्मना भेदः।**[४५]
>
> **अविभागदशायां तु पश्यन्त्यभिधानायां वाच्यवाचकभेदानुल्लासान्नाध्यासं विना काचित्। इत्थं च कृत्वा शब्दैकजीवितत्वाद् व्यवहारेऽप्यर्थस्य तद्वियोगात् तद् विवर्तरूपं विश्वं सिद्धम्।**[४६]

अद्वैतवाद

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे प्रायः सभी तरह के दार्शनिक विचारों का उल्लेख किया है। उनकी यह शैली है कि वे गम्भीर विचारो के प्रसग मे दार्शनिक प्रवादो का उल्लेख करते हैं और व्याकरणदर्शन के सर्ववेदपारिषद् होने के कारण ऐसी शैली अपनाना सर्वथा उचित था। परन्तु हेलाराज के अनुसार, उनका झुकाव अद्वैतवाद की ही ओर रहा है। कई स्थानो पर हेलाराज ने उनके अपने सिद्धान्त को अद्वैतनय कहा है :

> **परमार्थदृष्ट्या सर्वपार्षदत्वात् पुनरस्य शास्त्रस्य दर्शनान्तरोपन्यास। एव च सर्वत्रैवास्य ग्रंथकारस्याभिप्रायः। पदार्थचर्चाविचारे ब्रह्मदर्शननयेनैव सम्बन्धादिविचारे विनिगमनात्।**[४७]
>
> **अर्थोविवर्ताश्रयेणाद्वैतनयं स्वमतेन सिद्धान्तयितुमुपक्रमते।**[४८]

इसमे सन्देह नही कि वाक्यपदीय मे अद्वैतविचारपरक तथ्यों की कमी नहीं है। उनका विवर्तवाद अद्वैतवाद का ही पोषक है। 'अद्वये चैव सर्वस्मिन् स्वभावादेकलक्षणे'[४९] जैसे वाक्य स्पष्ट रूप मे अद्वैतवाद का अभिधान करते हैं। जब वे कहते हैं "तत्त्व और अतत्त्व में कोई भेद नही है"[५०] वे अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन करने जान पडते हैं। सत्य और असत्य दो रूप मानने से अद्वैतवाद की सगति न बैठेगी।

"एक ही सत्ता सर्व रूप मे स्थित है। वही साध्य है। वही साधन है। वही फल है। वही फल का भोक्ता है।"[५१]

"त्रयी के रहस्य को जानने वाले उसी को सत्य मानते हैं जहाँ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन सब अविकल्पित हैं।"[५२] विकल्पपरिघटित सब-कुछ असत्य है। अविकल्प तत्त्व अनादिनिधन ब्रह्म है।

सागर, पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य, दिशाएँ आदि सभी अन्तःकरण तत्त्व की

---

४५. वाक्यपदीय, द्रव्यसमुद्देश ११
४६. वही, सम्बन्धसमुद्देश २
४७. वही, जातिसमुद्देश ३५
४८. वही, संबध समुद्देश ६१वीं कारिका की अवतरणिका।
४९. वही, संबंध समुद्देश ६४
५०. वही, द्रव्य समुद्देश ७
५१. वही, क्रिया समुद्देश ३५
५२. वही, संबंध समुद्देश ७०

बाह्य अभिव्यक्ति है :

द्यौः क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरवस्थिताः ।।[५३]

आदि उक्तियां अद्वैतवादपरक हैं। परन्तु भर्तृहरि ने अद्वैत ब्रह्म को शब्द ब्रह्म से अलग रख कर नहीं देखा है। उनका अद्वैत ब्रह्म शब्द अद्वैत ब्रह्म कहा जा सकता है। कुछ विचारकों ने "शब्दाद्वैतवाद" शब्द का प्रयोग भी किया है। हेलाराज ने भी उपर्युक्त कारिका का भावार्थ बताते हुए शब्द ब्रह्म का ही समर्थन किया है :

परमार्थे तु कीदृशोऽन्तर्बहिर्भावः। एकमेव सच्चिन्मयं परं शब्दब्रह्म यथा—तथमवस्थितम्।

इस प्रौढ आधार पर भर्तृहरि ने व्याकरण-दर्शन को सुव्यवस्थित किया है। "महाभाष्याब्धिपीयूषच्छटाच्छुरितविग्रह" वाले वाक्यपदीय की यही विशेषता है। उसमे विवेचित प्रातिपदिकार्थ अथवा आख्यातार्थ, पद अथवा वाक्य, शब्द अथवा प्रतिभा सब का अनूठा सौन्दर्य है। गाभीर्य और सौष्ठव की छाप सर्वत्र है। अत्यन्त शील के साथ विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख करते हुए और अपने आगम की रक्षा करते हुए भर्तृहरि ने व्याकरण-दर्शन की मान्यताओ को परिपुष्ट किया है।

व्याकरणदर्शन वाणी का परम रस है, पुण्यतम ज्योति है। मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है। एक शब्द का भी सम्यक् ज्ञान कामधुक् है। शब्दसस्कार परमात्मा की सिद्धि है। शब्दतत्त्व के अनुशीलन से ब्रह्मामृत की प्राप्ति होती है। सस्कृत के वैयाकरण इन मान्यताओ को सजीव रखते आए है और उन्हे सिद्ध करते रहे हैं।

□□□

---

५३. वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ४१

चुने संदर्भ-ग्रन्थ तथा निबन्ध

अन्नंभट्ट	महाभाष्यप्रदीपोद्योतन, २ भाग, मद्रास, १९४८, १९५२
अभिनवगुप्त	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, ३ भाग, श्रीनगर, १९३८—४३
,,	मालिनीविजय वार्तिक, श्रीनगर, १९२१
,,	परात्रिंशिका, श्रीनगर, १९१८
,,	अभिनवभारती (नाट्यविवृति) ४ भाग, बड़ौदा
अय्यर, के० ए० एस०	भर्तृहरि, ए स्टडी आफ वाक्यपदीय इन द लाइट आफ एन्शेन्ट कमेन्ट्रीज, पूना, १९६९
,,	स्फोटसिद्धि का आंग्ल अनुवाद, पूना, १९६६
,,	द प्वाइण्ट आफ व्यू आफ वैयाकरणाज, जरनल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, वाल्यूम १८, पार्ट २, १९५१
,,	प्रतिभा ऐज द मीनिंग ऑफ सेन्टेन्स, आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस, १९४०
उम्वेक भट्ट	श्लोकवार्तिकव्याख्या तात्पर्यटीका, मद्रास, १९४०
ऋषिपुत्र परमेश्वर	स्फोटसिद्धिटीका, गोपालिका, मद्रास, १९३१
कमलशील	तत्त्वसंग्रहपंजिका, २ भाग, बड़ौदा १९२६
कर्णकगोमी	प्रमाणवार्तिकटीका, राहुल, सांकृत्यायन संपादित, इलाहाबाद, १९३०
कविराज, गोपीनाथ	डाक्टरिन ऑफ प्रतिभा इन इण्डियन फिलासफी, एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च, वाल्यूम ५
कीलहार्न, एफ०	भर्तृहरि, इण्डियन एण्टीक्वरी, वाल्यूम १२, १८८३
कुमारिल	श्लोकवार्तिक, चौखम्बा सस्कृत सीरिज, बनारस, १८९८
कृष्णमित्र	वैयाकरणभूषणकारिका टीका (हस्तलेख)

कृष्णमित्र	कुञ्जिका टीका (लघुमंजूषा), बनारस, १६२५
कैयट	महाभाष्यप्रदीप, ५ भाग, निर्णयसागर, बम्बई, १६१७—१६४५।
	—गुरुप्रसाद शास्त्री संपादित, बनारस १६३६
कौण्डभट्ट	वैयाकरण भूषण, बम्बई, १६१५
गोकुलनाथ	पदवाक्यरत्नाकर, बनारस
चक्रवर्ती, प्रभातचन्द्र	फिलासफी आफ संस्कृत ग्रामर, कलकत्ता, १६३०
,,	लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन आफ द हिन्दूज, कलकत्ता, १६३३
चटर्जी, क्षितीशचन्द्र	टेकनिकल टर्म्स एण्ड टेकनीक ऑफ संस्कृत ग्रामर, कलकत्ता, १६४८
चन्द्रकीर्ति	प्रसन्नपदा (माध्यमिक कारिका टीका) पीटर्सबर्ग, १६१२
जगदीश भट्टाचार्य	शब्दशक्तिप्रकाशिका, कलकत्ता १६१४
जयन्त भट्ट	न्यायमंजरी, बनारस, १६३६
जयादित्य-वामन	काशिकावृत्ति (बालशास्त्री संपादित) द्वितीयावृत्ति, बनारस, १८६८
जिनेन्द्रबुद्धि	काशिकाविवरणपञ्जिका (न्यास) राजशाही, १६१३—१६२५
,,	प्रमाणसमुच्चयटीका, अड्यार
दुर्गाचार्य	निरुक्त भाष्य, २ भाग, बम्बई, १६४२
धर्मकीर्ति	प्रमाणवार्तिक, पटना; बनारस, १६५६
नागेश भट्ट	बृहच्छब्देन्दुशेखर, ३ भाग, काशी, १६६०
	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमजूषा, बनारस, १६२५
	परमलघुमंजूषा, बनारस, १६४६
	महाभाष्यप्रदीपोद्योत, निर्णयसागर १६१७—१६४५; गुरुप्रसाद शास्त्री संपादित, बनारस, १६३६
	स्फोटवाद, अड्यार, १६४६
पतंजलि	महाभाष्य ३ भाग, कीलहार्न संपादित, बम्बई, १८६२
पाठक, के० बी०	द डेट आफ भर्तृहरि एण्ड कुमारिल, जरनल आफ बंगाल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८६३
पाणिनि	अष्टाध्यायी, बम्बई, सम्वत् १६८५
,,	पाणिनीय शिक्षा, मनमोहन घोष संपादित, कलकत्ता, १६२८
पाण्डेय, रामाज्ञा	व्याकरणदर्शनभूमिका, काशी, १६५४

पाण्डेय, आर० सी०	प्राब्लेम ऑफ मीनिंग इन इण्डियन फिलासफी, दिल्ली, १९६३
पार्थसारथि मिश्र	न्यायरत्नाकर (श्लोकवार्तिकटीका) बनारस
पिषारटि, के० राम	द डाक्टरिन आफ स्फोट, अन्नामलै यूनिवर्सिटी जरनल, वाल्यूम १, पार्ट २
पुण्यराज	वाक्यपदीय द्वितीयकाण्ड की टीका, बनारस, १८८७
पुरुषोत्तमदेव	भाषावृत्ति, राजशाही, १९१८
	ज्ञापकसमुच्चय
	कारकचक्र
	परिभाषावृत्ति
	राजशाही, १९४६
प्रज्ञाकरगुप्त	प्रमाणवार्तिकटीका, पटना
प्रभाचन्द्र	प्रमेय कमलमार्तण्ड, बम्बई, १९४१
प्रभाकर मिश्र	बृहती, ५ भाग, मद्रास, १९३६—१९६७
बिर्द्, मदलीने	स्फोटसिद्धि, फ्रेंच अनुवाद, पाण्डिचेरी, १९५८
बेलवाल्कर, श्रीपदकृष्ण	सिस्टम्स आफ संस्कृतग्रामर, बम्बई, १९१५
भट्टाचार्य, गिरिधर	विभक्त्यर्थनिर्णय, बनारस, १९०२
भट्टाचार्य, गौरीनाथ	ए स्टडी इन द डाइलैक्टिस आफ स्फोट, जरनल आफ द डिपार्टमेन्ट आफ लेटर्स, कलकत्ता, १९३७
भट्टाचार्य, विष्णुपद	स्टडी इन लैंग्वेज एण्ड मीनिंग, कलकत्ता, १९६२
भट्टोजिदीक्षित	शब्दकौस्तुभ, बनारस, १९२७
भरत मिश्र	स्फोटसिद्धि, त्रिवेन्द्रम, १९२७
भर्तृहरि	महाभाष्य त्रिपादी (दीपिका) श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा की गई प्रतिलिपि।
"	महाभाष्यटीका (त्रिपादी), डॉ० वी० स्वामीनाथन् द्वारा संपादित, बनारस, १९६५
"	महाभाष्य दीपिका (त्रिपादी) श्री के० वी० अभ्यंकर तथा आचार्य वी० पी० लिमये द्वारा संपादित, पूना, १९६४—७१
"	वाक्यपदीय काण्ड १,२ (प्रथम काण्ड पर संक्षिप्त भर्तृहरिवृत्ति तथा द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की टीका सहित) मानवल्ली गंगाधर शास्त्री संपादित, बनारस, १८८७
"	वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड श्री द्रव्येश झा प्रणीत प्रत्येकार्थ प्रकाशिका सहित, वृन्दावन, १९२५

भर्तृहरि — वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्री सूर्यनारायण शुक्ल विरचित भावप्रदीप व्याख्यान सहित, बनारस, १९३७

„ — वाक्यपदीय, स्वोपज्ञटीका तथा वृषभटीका सहित, प्रथमकाण्ड, श्री चारुदेव शास्त्री संपादित, लाहौर, १९३४

„ — वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड (१८४ कारिका तक) स्वोपज्ञवृत्ति तथा पुण्यराज की टीका सहित, श्री चारुदेव शास्त्री सपादित, लाहौर, १९३९

„ — वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड स्वोपज्ञवृत्ति सहित, हस्तलेख, ओरियण्टल मनुस्क्रीप्ट लाइब्रेरी, मद्रास

„ — वाक्यपदीय, प्रथम काण्ड, भर्तृहरिवृत्ति तथा वृषभदेव टीका सहित, प्रोफेसर के० ए० एस० अय्यर सपादित, पूना १९६६

„ — वाक्यपदीय प्रथम तथा द्वितीयकाण्ड, प० रघुनाथ शास्त्री विरचित अम्बाकर्तृ सहित, काशी १९६३—१९६९

„ — वाक्यपदीय तृतीय काण्ड, प्रकीर्णक प्रकाश सहित, बनारस (चौखम्बा), १९०५—१९३५

„ — वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड, भाग १ (साधन-लिङ्गसमुद्देश) हेलाराज की टीका सहित, श्री साम्बशिव शास्त्री सपादित, त्रिवेन्द्रम, १९३५

„ — वाक्यपदीय, तृतीयकाण्ड, भाग २ (वृत्तिसमुद्देश), रवि वर्मा द्वारा सपादित, त्रिवेन्द्रम, १९४२

„ — वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड भाग १, हेलाराज की टीका सहित, प्रो० के० ए० एस० अय्यर द्वारा संपादित, पूना, १९६३

„ — वाक्यपदीय श्री के० वी० अभ्यंकर तथा आचार्य वी० पी० लिमये द्वारा संपादित, पूना १९६५

„ — वाक्यपदीय सवृत्ति प्रथम काण्ड, प्रो० के० ए० एस० अय्यर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित, पूना, १९६५

„ — वाक्यपदीय, काण्ड १-२, डॉ० के० राघवन् पिल्ले द्वारा अंग्रेजी मे अनूदित, दिल्ली, १९७१

भोज — शृंगार प्रकाश ३ भाग, मैसूर १९५५—६९

मण्डन मिश्र — स्फोटसिद्धि, मद्रास, १९३१

„ — भावनाविवेक, काशी, १९२२—२३

मल्लवादि क्षमाश्रमण — द्वादशारनयचक्र, ४ भाग, अहमदाबाद

„ — द्वादशारनयचक्र, भाग १, मुनि जम्बूविजय संपादित,

भावनगर, १९६६

माधवाचार्य — सर्वदर्शनसंग्रह, बम्बई, संवत् १९८२

मुकुलभट्ट — अभिधावृत्तिमात्रिका, बम्बई, १९१६

मीमांसक युधिष्ठिर — संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, २ भाग, अजमेर, विक्रम संवत् २०२०, २०२५

मौनी श्रीकृष्णभट्ट — स्फोटचन्द्रिका, बम्बई, १९१३

" — लघुविभक्त्यर्थ निर्णय, बम्बई, १९१५

" — वृत्तिदीपिका, बनारस, १९३०

यास्क — निरुक्त, बम्बई, १९१२

रघुनाथ — लघुभाष्य, बम्बई

राघवन्, वी० — भोजाज श्रृंगार प्रकाश, मद्रास, १९६३

राज, के० कुञ्जुनी — इण्डियन थियरीज आफ मीनिंग, अड्यार, १९६३

राज, सी० कुन्हन — भर्तृहरि, एस० कृष्णस्वामी अय्यंगर कामेमोरेशन वाल्यूम

वाचस्पति मिश्र — तत्त्वबिन्दु, काशी

वादिदेवसूरि — स्याद्वादरत्नाकर, अहमदाबाद, वीर सम्वत् २४५३

विट्ठल — प्रक्रियाप्रसाद, २ भाग, बम्बई, १९२५

व्यास — व्यासभाष्य (पातजल योगसूत्र) पूना, १९१९

शबरस्वामी — शाबरभाष्य, काशी

शर्मा के० एम० — ग्लीनिंग्स फ्राम द कमेण्टरीज आन वाक्यपदीय, एनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च, १९४२

शान्तरक्षित — तत्त्वसंग्रह, २ भाग, बडौदा १९२६

शालिकनाथ — प्रकरणपञ्चिका, बनारस १९०३

शास्त्री, गौरीनाथ — फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग, कलकत्ता, १९५९

शास्त्री, चारुदेव — भर्तृहरि, ए क्रिटिकल स्टडी, आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस, १९३०

शास्त्री, एस० सूर्यनारायण — वाचस्पतिज क्रिटिसिज्म आफ स्फोटवाद, जरनल आफ ओरियटल रिसर्च, मद्रास, वाल्यूम ६, १९३२

" — वर्ड्स एण्ड सेन्स, एनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च, १९४२

शेष नारायण — सूक्तिरत्नाकर (महाभाष्य टीका) हस्तलेख

शेष श्रीकृष्ण — पदचन्द्रिका विवरण (हस्तलेख)

" — प्रक्रिया प्रकाश (हस्तलेख)

शेष श्रीकृष्ण — स्फोटतत्त्व निरूपण, बम्बई, १९१३

सीरदेव — परिभाषा वृत्ति, बनारस, १८८७

सुचरित मिश्र	काशिका (श्लोकवार्तिकटीका) ३ भाग, त्रिवेन्द्रम, १९२७—४३
,,	काशिका (हस्तलेख)
सोमनाथ	शिवदृष्टि (उत्पल की टीका सहित) श्रीनगर, १९३४
स्कन्दस्वामी	निरुक्तभाष्य, लाहौर, १९३०
हरदत्त	पदमंजरी, २ भाग, काशी, १८९८
हरिराम	काशिका (वैयाकरणभूषण की टीका) बम्बई, १९१५
हीमन, बेथी	स्फोट एण्ड अर्थ के० बी० पाठक कामेमोरेशन वाल्यूम
,,	वाक् बिफोर भर्तृहरि, इण्डियन फिलासाफिकल कान्फ्रेंस, अड्यार
,,	डाक्टरिन आफ स्फोट, गंगानाथ झा रिसर्च जरनल, इलाहाबाद, १९४८
हेलाराज	प्रकीर्णक प्रकाश

अनुक्रमणिका